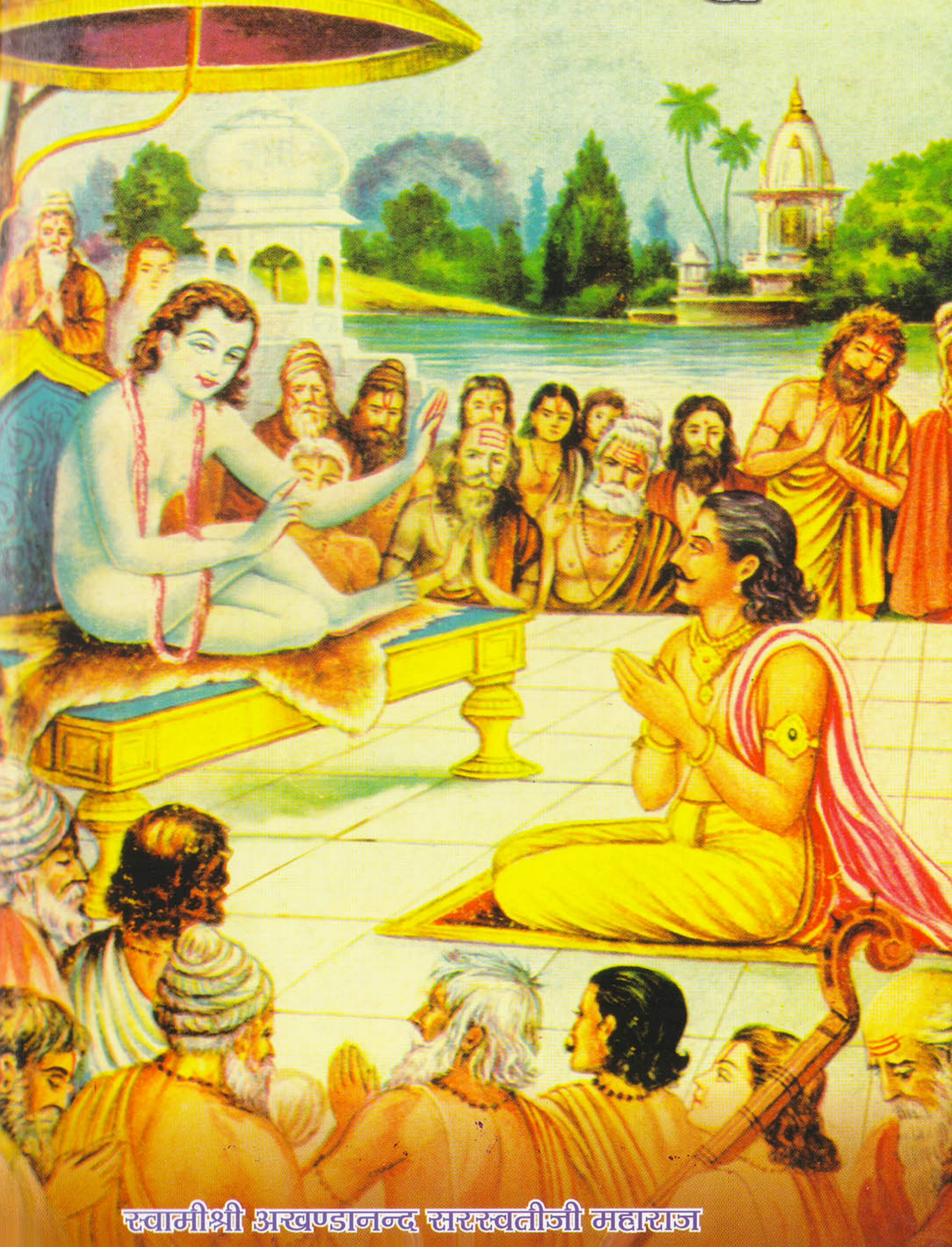
भागवतामृत



स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

भागवतामृत

•

प्रवचन

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज

प्रकाशक व पुस्तक प्राप्ति स्थान :

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

'विपुल' 28/16 बी. जी. खेरमार्ग
मालाबार हिल
मुम्बई - 400 006
फोन : (022) 23682055
मो.: 09619858361

स्वामीश्री अखण्डानन्द पुस्तकालय
आनन्द कुटीर, मोतीझील
वृन्दावन - 281 121
फोन : (0565) 2913043, 2540487
मो. : 09837219460

●

षष्ठ संस्करण : 1100
रामनवमी, 3 अप्रैल 2009
सप्तम संस्करण : 1100
होली, 20 मार्च 2011
अष्टम संस्करण : 1100
मई 2014
नवाँ संस्करण : 500
अप्रैल 2018
दसवाँ संस्करण : 500
गुरुपूर्णिमा, जुलाई 2021

●

मूल्य : रु. 170/-

●

मुद्रक :
आनन्दकानन प्रेस
डी. 14/65, टेढ़ीनीम
वाराणसी - 221001
मो. : 9415624020

प्रकाशकीय

सद्गुरुदेव स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीके श्रीमुखसे निःसृत 'भागवतामृत'का आठवाँ संस्करण ऋषिकेश में आयोजित **स्वामीश्री श्रवणानन्द सरस्वती** द्वारा की जा रही श्रीमद्भागवत-कथा के अवसर पर प्रकाशित किया जा रहा है।

श्रीमद्भागवत-कथा व आयोजन भागवतामृत के प्रकाशन व्यय का प्रायोजन महाराजश्रीके कृपा-पात्र **ज्योत्स्ना बेन** व **सुरेन्द्र भाई शाह,** बड़ौदाने बड़े ही प्रेम भक्ति भावसे किया है।

महाराजश्रीकी कृपा इस परिवार पर बनी रहे–

–सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

प्रकाशकीय

अतीव हर्षका विषय है कि 'भागवतामृत'का सप्तम संस्करण प्रकाशित होने जा रहा है।

दिल्लीके बिरला मन्दिरमें सन् 1980में आयोजित इस ज्ञानयज्ञके पाक्षिक प्रवचनोंके आयोजक श्रीलक्ष्मीविास बिरलाने अपनी प्रस्तावनामें कहा-

'महाराजश्रीके प्रवचनका विषय 'श्रीमद्भागवत' है, जिसको आचार्योंने भगवान्‌का वाङ्‌मयविग्रह और 'पञ्चमवेद' घोषित किया है। इसके श्रोता परीक्षित जैसे राजर्षि और वक्ता शुकदेव जैसे परमहंस हैं। जिनकी जोड़का व्यक्तित्व सम्पूर्ण विश्वके इतिहासमें नहीं मिलेगा। इसलिए भागवतपर प्रवचन करना किसी साधारण विद्वान्‌के वशकी बात नहीं है। हमारा सौभाग्य है कि स्वामीजी सरीखे विशिष्ट विद्वान् हमारे बीचमें विद्यमान हैं, जो बचपनसे ही भागवतके ज्ञान एवं भक्तिकी गहरी गंगामें गोते लगा-लगाकर इसमें छिपे हुए अनमोल रत्नोंको निकालते और बाँटते आ रहे हैं।'

साथ ही, कथा समापनके अवसर पर अपने हृदयोद्‌गार प्रकट करते हुए वे कह उठे-

रामकथा जे सुनत अघाहीं। रस विशेष पावा तिन्ह नाहीं।।

'राजा परीक्षितको निमित्त बनाकर परमहंस श्रीशुकदेवजीने जैसे मानव-मात्रको भागवत-तत्त्वका उपदेश दिया था, उसी प्रकार 'पूज्य स्वामीजीने सब श्रोताओंको भगवद् भक्तिका और साथ-साथ अद्वैतानन्दका रसपान कराया है। अद्वैत और द्वैतका, निराकार और साकारका अद्भुत विवेचन तथा समन्वय इतना सुन्दर और कहाँ सुननेको मिलेगा ?'

ज्ञान और भक्ति तथा स्वानुभवके दिव्यरसमें डुबो-डुबोकर स्वामीजीने अनूठे प्रवचन किये।

सचमुच भक्तजन भागवतका सुधापान तो इससे करते ही हैं, आजके भागवत-वक्ता अपने प्रवचनोंकी पूर्तिके लिए उससे मधुसंचय करते हैं और श्रोताओंको भावविभोर करते हुए अपना ज्ञान-रंजन भी। यह अंजनका काम तो उनको देता है जो आजके तिमिराच्छन्न जीवनसे ऊबकर इस 'ज्ञानदीप'की ओर एक बार झाँकते हैं।

इन प्रवचनों द्वारा जो भागवत-रसकी आनन्द-वर्षा पूज्य महाराजश्रीने की है, उसे जो जितना भी चाहे अपने हृदय-पात्रमें भर सकता है; पर यह आप सब सुधी पाठकजनोंकी श्रद्धा एवं भगवत्-कृपा पर निर्भर है।

'भागवतामृत' आप तक पहुँचानेमें परमपूज्य महाराजश्रीकी अनन्य भक्ता श्रीमती सतीशबालाने अथक परिश्रमकर इसे कैसेटोंसे सुनकर लिपिबद्ध किया है, एतदर्थ उन्हें धन्यवाद!

गुरुदेवका अनन्त प्यार एवं आशीर्वाद उन्हें भगवत्प्रीतिसें परिपूर्ण करें।

ट्रस्टीगण
सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

नम्र निवेदन

जब मैंने अपने पतिदेव डाक्टर महेन्द्रलाल जेठीकी पुनीत प्रेरणासे पूज्यपाद प्रातः–स्मरणीय महाराजश्रीके प्रवचनोंको टेप करना प्रारम्भ किया था तब उस प्रवृत्ति के पीछे उन प्रवचनोंका श्रवण ही लक्ष्य था और वह भी केवल 'स्वान्तः सुखाय'। हमलोग आज भी अपने घर में प्रायः प्रतिदिन महाराजश्रीके किसी–न–किसी प्रवचन का टेप सुनकर उसका रसास्वादन किया करते हैं।

यह कल्पना तो स्वप्न में भी नहीं हुई कि इन प्रवचनोंको लिपिबद्ध करके प्रकाशन–योग्य बनानेका गुरुतर कार्य मुझे करना पड़ेगा। क्योंकि यह कार्य मेरे लिए अशक्यानुष्ठान जैसा था। परन्तु भगवान्‌की अहैतुकी अनुकम्पा ऐसी है कि वह असम्भव को भी सम्भव बना देती है।

प्रस्तुत संकलन 'भागवतामृत' के प्रकाशनका सारा श्रेय श्रद्धेय श्रीलक्ष्मीनिवासजी बिरला का ही है। उन्होंने ही महाराजश्रीके इन लोकोपकारी प्रवचनोंका आयोजन करके राजधानीके अगणित अध्यात्म–प्रेमी नागरिकोंको लाभान्वित किया और अब उन्हींके आर्थिक सहयोगसे प्रकाशित होकर ये प्रवचन सत्साहित्य प्रकाशन–ट्रस्ट द्वारा पाठकोंको लागत मूल्यपर सुलभ होने जा रहे हैं। श्री बिरलाजीके सौहार्द–सौजन्य एवं औदार्य की जितनी भी सराहना की जाय और हमलोग उनके प्रति जितनी भी कृतज्ञता प्रकट करें थोड़ी है।

मेरा श्रेय 'भागवतामृत' के प्रवचनोंको टेप सुनकर लिपिबद्ध करनेतक ही सीमित रहा है। इनके संशोधन–सम्पादन–पुनर्लेखन आदिके सारे श्रम–साध्य कार्य हमारे पूज्य भाईजी पण्डितश्रीदेवधरजी शर्मा ने किये हैं। इसलिए मैं उनके लिए भी कृतज्ञ हूँ।

ये प्रवचन गत वर्ष संवत् २०३७ में आश्विन शुक्ल पक्ष प्रतिपदासे पूर्णिमा तक सम्पन्न हुए थे। परन्तु इनकी संख्या पन्द्रह न होकर चौदह इसलिए रह गयी कि चन्द्र गणितके अनुसार उस पक्षकी किसी एक तिथिका ह्रास हो गया था।

प्रवचन करते समय महाराजश्री श्रीमद्भागवत–ग्रन्थ का अवलोकन नहीं कर रहे थे। फिर भी न तो कोई प्रमुख प्रसंग छूटा और न कथा–प्रवाहमें

किसी प्रकारका व्यवधान पड़ा। स्मृति–शक्ति के इस अद्भुत चमत्कार का साक्षात्कार विज्ञ पाठक महानुभाव इन प्रवचनों को मूल ग्रन्थके साथ पढ़ते समय कर सकते हैं।

अन्तमें मैं गुरुपूर्णिमाके पावन पर्वपर साक्षात् ब्रह्मा, विष्णु, महेश एवं परब्रह्मस्वरुप सद्गुरुदेवके चरण–कमलों में सर्वात्मना नमन करती हूँ। मैं पुनः–पुनः प्रणाम करती हूँ अपने उन सद्गुरुदेवके श्रीचरणों में जो अपने ज्ञानाञ्जनकी शलाकासे अज्ञानान्धकारका निवारण करके चक्षुओंमें दिव्य ज्योति भर देते हैं–

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात्परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः।।
अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः।।

गुरुपूर्णिमा, संवत् २०३८
१५/२५ पूर्वी पंजाबी बाग
नयी दिल्ली ११००२६

–सतीशबाला महेन्द्रलाल जेठी

मंगलाचरण

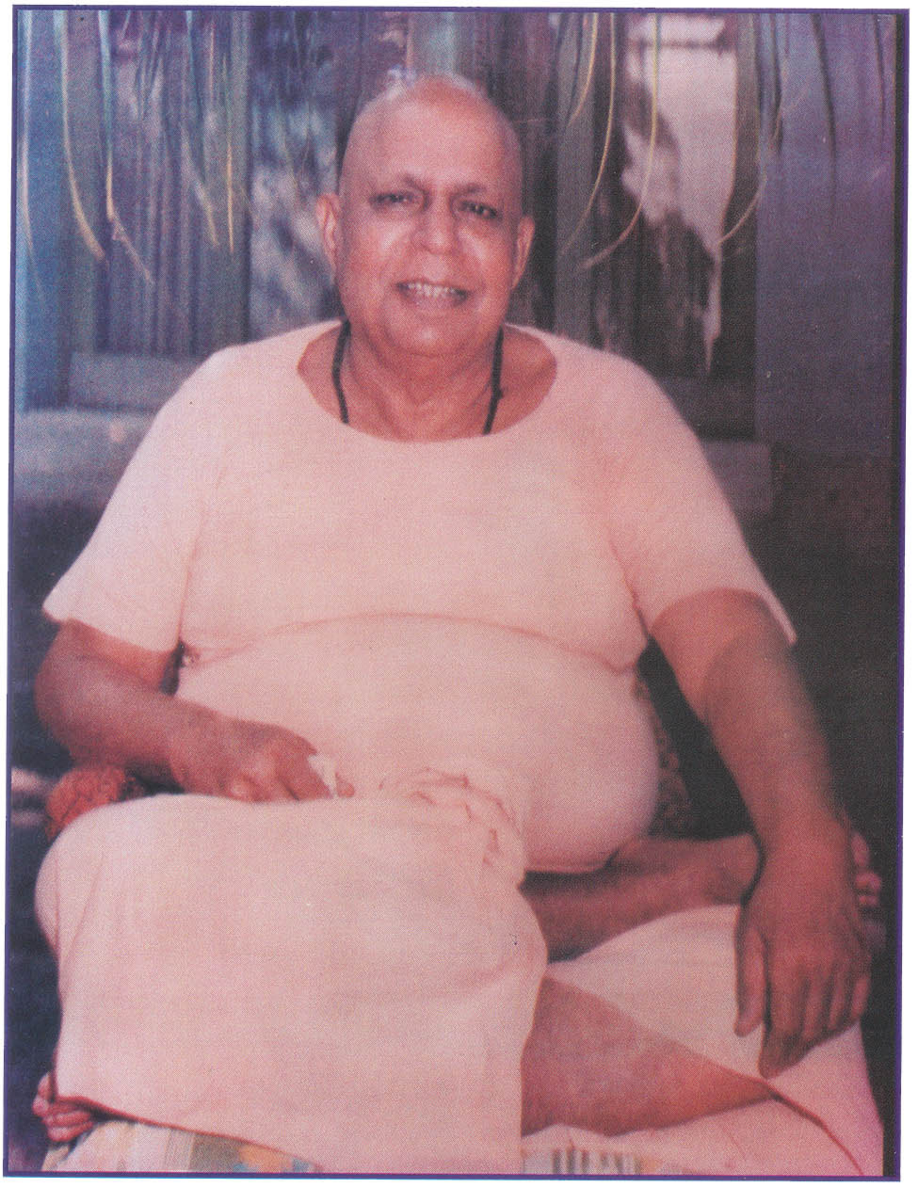
विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतं
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया।
यः साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयं
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये।।

पूर्णानन्ददया दृशा रसदया शश्वत्प्रसादोदया,
ब्रह्मज्ञानविनोदया जनमनोमोदाय निःखेदया।
विश्वप्रेमविकासहासमुदया त्रैलोक्यसम्पद्दया,
पूर्णनन्ददया मदीयमनसे काञ्चित्कणां यच्छतु।।

ॐ नमः श्रीपरमहंसास्वादित-चरणकमलचिन्मकरन्दाय
भक्तजनमानसनिवासाय श्रीरामचन्द्राय।
वागीशा यस्य वदने लक्ष्मीर्यस्य च वक्षसि।
यस्यऽऽस्ते हदये संवित् तं नृसिंहमहं भजे।।

विश्वसर्गविसर्गादि — नवलक्षणलक्षितम्।
श्रीकृष्णाख्यं परं धाम जगद्धाम नमाम तत्।।

ॐ जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्महृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि।।



स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

भागवतामृत

: १ :

उद्धवजीने भगवान् श्रीकृष्णसे प्रार्थना की कि महाराज, आप तो अपने भक्तोंका कार्य पूरा करके, उनको सुख देकर अन्तर्धान हो जायेंगे। फिर आपका, आपकी लीलाका, आपके द्वारा प्रतिपादित धर्मका दर्शन कहाँ होगा ?

भगवान् श्रीकृष्णने कहा कि उद्धवजी मैं पहले तो अन्तर्धान होकर वैकुण्ठ या क्षीरसागरमें चला जाया करता था। पर अबकी बार अन्तर्धान होने पर मैं वैकुण्ठ या क्षीरसागरमें नहीं जाऊँगा, श्रीमद्भागवत-रूप समुद्रमें ही निवास करूँगा -

तिरोधाय प्रविष्टोऽयं श्रीमद्भागवतार्णवम्।

अतः भगवान् श्रीकृष्ण बाहरसे तो अन्तर्धान हुए, परन्तु श्रीमद्भागवत-रूप अमृत समुद्र में आकर बैठ गये। वही भगवान्की प्रत्यक्ष वाङ्मयी, शब्दमयी मूर्ति हम लोगों की आँखों के सामने है -

तेनेयं वाङ्मयी मूर्तिः प्रत्यक्षं वर्तते हरेः।

भक्तलोग श्रीकृष्णावतारके समय अपने नेत्रों और अन्य समग्र इन्द्रियोंके द्वारा जिस रसका आस्वादन करते हैं, वही रस आज भी हम श्रीमद्भागवतके श्रवण द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। वह सुख परोक्षका विषय नहीं, प्रत्यक्ष का विषय हैं, क्योंकि भगवान् कहीं परलोक में नहीं गये, अन्तर्धान नहीं हुए, श्रीमद्भागवतके रूप में स्वयं प्रकट हैं।

इसीसे जब यह प्रश्न उठा कि भागवतामृत किसे पिलाया जाय - परीक्षितको या देवताओंको; तो श्री शुकदेवजी महाराजने देवताओंको उपेक्षित कर दिया, और परीक्षितको ही भागवतामृत पिलाया । भला कहाँ तो श्रीमद्भागवतका अमृत और कहाँ स्वर्गका अमृत ? दोनों की कोई तुलना नहीं है।

एक बात ध्यान देने योग्य है, जिसपर पहले लौकिक—दृष्टिसे विचार करते हैं। नारदजीने सम्पूर्ण पृथिवीमें भ्रमण किया और फिर धर्मप्रधान भारतवर्षमें,

भरतखण्डमें आये। यहाँ उन्होंने भिन्न-भिन्न तीर्थोंकी यात्रा की, लेकिन उन्हें कहीं भी शान्ति, सुख तथा धर्मपरायणता के दर्शन नहीं हुए। अत्यन्त व्याकुल होकर जब वे वृन्दावनमें यमुनाजीके तटपर आये तब वहाँ उनको अलौकिक अनुभूति हुई। जो वस्तु आँखोंसे नहीं दिखती, वह उन्हें वृन्दावनमें देखनेको मिली।

देखो, भक्ति-ज्ञान-वैराग्य— ये सब अमूर्त्त भाव हैं। इनकी मूर्तिका नहीं, इनके भावका ही दर्शन होता है। हृदयमें ही भक्ति आती है, ज्ञान आता है, वैराग्य आता है। लौकिक दशा में इन अलौकिक देवताओंका साक्षात्कार किसी को नहीं होता।

परन्तु नारदजी जब वृन्दावनमें आये तो वहाँ उनके सामने अमूर्त्त भी मूर्त्त होगया, भाव भी साकार हो गया, उन्होंने देखा कि वहाँ भक्ति तो है युवती-सुन्दर, भगवन्मयी, किन्तु उसके पुत्र ज्ञान और वैराग्य वृद्ध हैं अर्थात् वृन्दावनमें भक्ति का तो बहुत आदर है, परन्तु ज्ञान-वैराग्य का आदर नहीं है। लोगोंने ज्ञान-वैराग्यसे रहित भक्तिको स्वीकार किया है।

नारदजीने सोचा कि ज्ञान और वैराग्यके बिना तो भक्ति पूर्ण होती ही नहीं। यदि भक्तिमें ज्ञान और वैराग्य नहीं है तो भक्ति किसकी ? जिस भगवान्‌की भक्ति की जाती हैं उनका ही दर्शन नहीं हो रहा है, ज्ञान नहीं हो रहा है और जिस प्रपञ्चसे, संसारसे मनको हटाकर भगवान् की भक्ति की जाती है, उसके प्रति वैराग्य नहीं है। यदि भगवान्‌से प्रेम हो तो संसारसे अर्थात् ममतासे, मोहसे और उन समस्त सम्बन्धोंसे, जिनमें हम फँसे हुए हैं, हमें वैराग्य होना चाहिए।

पर नारद जी को न तो वहाँ जाग्रतावस्थामें वैराग्य दिखा और न ज्ञान। ये दोनों भक्तिके पुत्र हैं, फल हैं। जब भक्तिभाव हृदयमें आता है तब भजनीय भगवान्‌का ज्ञान होता है और उसके सिवाय किसी दूसरेसे राग-द्वेष नहीं होता। राग-द्वेष की शिथिलता, राग-द्वेष के अभाव का नाम ही वैराग्य है। हम किसी एक से तो प्रेम करें और दूसरे से द्वेष करें तो इसका फल यह होगा कि हम जिससे राग-द्वेष करेंगे वह आकर भगवान् की जगह हमारे हृदय में बैठ जायेगा। फिर भगवान् नहीं दिखेंगे, हमारे हृदय में वह शत्रु दीखेगा- जिससे द्वेष है, वह मित्र दिखेगा- जिससे राग है। इसप्रकार भगवान् के स्थान पर संसार की वस्तुएँ दिखेंगी। इसलिए भक्तिके साथ संसार की मुहब्बत और संसार की नफरत, दोनों नहीं चलतीं। वहाँ तो हृदयमें शुद्ध रुप से भगवान् होने चाहिए।

नारदजी एक ओर तो संसार की अशान्तिसे, संघर्षसे, वैमनस्यसे,

तीर्थादि पवित्र स्थानोंमें भी काम-क्रोध की अधिकता से दुःखी थे ही, दूसरी ओर भक्तिकी अपूर्णता, अस्वस्थता तथा अप्रसन्नता देखकर और भी दुःखी हो गये। नारदजी ने भक्तिकी प्रार्थना पर उसे सुखी करने का उपाय सोचा, ध्यान किया। इतने में आकाशवाणी हुई कि तुम्हारे मन में जो दुःख है, भक्ति को जो क्लेश है, ज्ञान वैराग्य की जो मूर्च्छा है, उसके निवारण का उपाय जब तुम्हें सन्त मिलेंगे तब बतायेंगे।

इसके बाद नारदजी अपने गुरु सनकादिकों की शरण में गये। सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार—ये चारों श्रुति-प्रसिद्ध मुनीश्वर हैं। इन्होंने तत्त्वोपदेश करके नारदजीका शोक दूर किया। छान्दोग्योपनिषद्में भी यह प्रसंग बहुत स्पष्ट रुप से आता है। सनकादिकोंने भक्ति, ज्ञान, वैराग्यको जाग्रत करनेके लिए यह उपाय बताया कि श्रीमद्भागवतका श्रवण करो। फिर उन्होंने स्वयं ही श्रीमद्भागवतका श्रवण कराया और उसके फलस्वरुप भक्ति, ज्ञान और वैराग्य पुष्ट-तुष्ट हो गये।

यह श्रीमद्भागवत मुख्य रुप से भगवत्पुराण नहीं है-भागवत पुराण है। 'भागवतानां पुराणं भागवतपुराणम्'-जिसमें भगवान्से भी अधिक उनके भक्तोंकी महिमाका वर्णन होता है उसका नाम भागवतपुराण होता है। स्वयं भगवान्ने श्रीमुखसे अपने भक्तोंकी महिमा कही है, इसलिए 'भगवता प्रोक्तं'से भी 'भागवतम्' बनता है। इसलिए भगवान्के द्वारा कहा हुआ भक्तोंकी महिमा-रूप यह श्रीमद्भागवत है।

श्रीमद्भागवतका मुख्य प्रतिपाद्य विषय यह है कि यह सृष्टि भगवान्से हुई है, भगवान्में है और भगवान्में मिल जायेगी। जो वस्तु जिससे पैदा होती है, जिसमें रहती है और जिसमें लीन हो जाती है, उससे अलग नहीं होती। श्रीमद्भागवतका कहना है कि यह प्रपञ्च परमात्मा से पृथक् नहीं है, परमात्मा का स्वरूप है, परमात्माका विलास है, परमात्माका उल्लास है, परमात्मा की लीला है।

असलमें हमलोगोंके हृदयमें जो राग-द्वेष आता है, वह क्या है ? रागके कारण पक्षपात होता है। जिससे राग हो जाता है, उसके लिए हम बेईमानी भी करते हैं, अन्याय भी करते हैं। राग हमारे हृदयको पक्षपातसे दूषित करता है और जब हमारे जीवनमें किसीसे द्वेष आता है, तो उसके प्रति क्रोध आता है, हिंसा होती है, विद्रोह आता है। द्वेष हमारे हृदयको दग्ध कर देता है। जब हम संसारमें किसीसे राग-द्वेष करेंगे तब हमारा हृदय कलुषित हो जायेगा। फिर हमको शत्रु-दिखेगा, मित्र दिखेगा। परिणाम यह होगा कि इस सृष्टिमें जो आभूषणोंमें सोनेकी तरह, घटादिमें मृत्तिकाकी तरह और लौह-उपकरणोंमें

लोहेकी तरह सच्चिदानन्द-घन भगवान् भरपूर हैं, उनका ध्यान छूट जायेगा और हमारे हृदयमें राग-द्वेष आजायेगा।

श्रीमद्भागवत हमें इस धर्मका उपदेश करता है कि सभी वस्तुओंमें सभी व्यक्तियोंमें सभी स्थानोंमें जो भगवान् विद्यमान हैं, उनका दर्शन करो और अपने हृदयको पवित्र बनाओ। इस संसारमें कोई भी डण्डेके बलपर, सिपाहीके बलपर, फौजसे डराकर, कानूनसे डराकर सद्भावकी स्थापना नहीं कर सकता। लोगोंके मनमें यह उलझन है कि संसारमें इतना दोष क्यों है, इतना दुःख क्यों है और इतना वैमनस्य क्यों है ? इसका एक ही उत्तर है कि जो सृष्टिका मूल कारण परमात्मा है, उसको लोग भूल गये हैं और जब परमात्मा भूल जाता है तो धर्मके टिकनेका कोई भी स्थान अपने हृदय में नहीं रहता।

श्रीमद्भागवतका मुख्य प्रश्न है 'धर्मः कं शरणं गतः ?' आज धर्म कहाँ है ? आज धर्म किसकी शरणमें है ? इसका उत्तर है कि धर्मके प्रेरक, धर्मके रक्षक, धर्मके परम फल स्वयं भगवान् हैं। उन्हीं भगवान्के प्रति जब लोगोंके हृदयमें प्रीति नहीं रही, भक्ति नहीं रही, श्रद्धा नहीं रही, तब उनकी दृष्टि संसारमें इधर-उधर बिखर गयी।

इसलिए सबको ऐसी पैनी नजरसे देखो, दृष्टिको इतना पवित्र करो कि वह कहीं बीचमें न फँसकर सबमें भगवान्का दर्शन कर सके। यह समझो कि जो हमें दुःख देता है, वह हमें वैराग्य देता है और जो हमें सुख देता है, वह हमको संसारमें फँसाता है। इसलिए संसारकी ओर दृष्टि नहीं करनी चाहिए। इसीसे श्रीमद्भागवत-माहात्म्यमें बताया गया है कि जो लोग अपने हृदयको शुद्ध करना चाहते हैं, उनके लिए इससे बढ़कर दूसरा कोई उपाय नही हैं—

एतस्मात् अपरं किंचिन्मनःशुद्ध्यै न विद्यते।

तो, यह श्रीमद्भागवत हमारे हृदयको शुद्ध करनेके लिए आया है। जब हमारा हृदय शुद्ध होता है, तब हमारी इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ शुद्ध होती हैं और इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ शुद्ध होती हैं तो हमारा व्यवहार शुद्ध होता है। इस तरह एक-एकका व्यवहार शुद्ध हो जाये तो सम्पूर्ण प्रपञ्च, सम्पूर्ण संसार ही सुखसे, आनन्द से भर जाये।

श्रीमद्भागवत इसी आनन्दका सन्देश लेकर आया है। वह मनुष्यके हृदयमें ज्ञान जाग्रत करके उसको पाप से, तापसे मुक्त करता है। यह केवल पापको ही निवृत्त नहीं करता, उसके फल तापको भी निवृत्त करता है। श्रीमद्भागवतके प्रारम्भमें ही यह बात कही गयी है—

तापत्रयविनाशाय श्रीकृष्णाय वयं नुमः।

पाप तो साधन हैं, करण हैं, जिनसे दुःखकी उत्पत्ति होती है। दुःखके साधनका नाम पाप है। हम पाप करेंगे तो आगे हमको ताप मिलेगा। यह ठीक है कि भागवत सुननेके लिए बैठ गये तो पाप नहीं होगा। उससे पापकी निवृत्ति हो गयी, लेकिन पहलेके किए हुए पापसे जो ताप उत्पन्न होता है, उसका क्या होगा ? यह होगा कि वह ताप ही शान्त हो जायेगा जिस समय आप श्रीमद्भागवतका श्रवण करेंगे। इसीलिए कहते हैं—

प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम्।
धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरत्।।

जब आपके कर्णछिद्रसे, कर्णरन्ध्रसे भगवान् हृदयमें आयेंगे तो हृदयमें जो अशुद्धियाँ हैं, उनको वे स्वयं दूर कर देंगे।

आपको यह बात ज्ञात होगी और न ज्ञात हो तो आप अपने ध्यानमें ले आइये कि जो वस्तु आपके सामने है, परन्तु पहचानी हुई नहीं है, उसको आप कैसे पहचानेंगे ? तभी पहचानेंगे, जब कोई बतायेगा। जो वस्तु बिल्कुल ही नित्य-अपरोक्ष है, परन्तु पहचानी हुई नहीं है, उसको भी बिना बताये आप पहचान नहीं सकते। यदि वह नित्य-परोक्ष है तो भी बिना बताये आप पहचान नहीं सकते। वहाँ आपकी आँख काम नहीं कर सकती, नाक काम नहीं कर सकती। जीभ काम नहीं कर सकती, त्वचा काम नहीं कर सकती। जब कोई जानकार आपको बतायेगा तभी आप उसको समझ सकते हैं। इसलिए जैसे रूप-दर्शनमें आँख प्रमाण है, वैसे ही अज्ञातका ज्ञापन करनेमें वाक्य प्रमाण होता है, वह वाक्य जो सत्यका साक्षात्कार करा दे। मतलब यह है कि हमारे हृदयमें जो पाप है, तापहै और जिसके निवारणका उपाय हम नहीं जानते, उसको निवृत्त करनेका उपाय श्रीमद्भागवत-श्रवणसे ही होता है।

एक बात और है। यदि हम चाहें कि हमको पीनेको पानी मिल जाये तो क्या चाहने मात्र से पानी हमारे पास आजायेगा ? नहीं आयेगा। इसलिए नहीं आयेगा कि पानी हमसे दूर है, जड़ है, नासमझ है। हमारे चाहने मात्र से वह हमारे पास नहीं आता। लेकिन भगवान्के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है। क्यों कि वे हमसे दूर नहीं है। जहाँ चाह है, वहीं भगवान् बैठे हुए हैं। जब देखते हैं कि यह चाहता है तो चाहके पीछे बैठे हुए भगवान् झट हमारी चाहमें आजाते हैं। पानी नहीं जानता कि यह हमको चाहनेवाला है, परन्तु भगवान् जानते हैं कि यह हमको चाहनेवाला है। इसलिए जब हमारे मनमें इच्छा होती है कि आओ-आओ भगवान् के पास चलें, वृन्दावनविहारी भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाका श्रवण करें तो कहीं जाना नहीं पड़ता, वहीं भगवान् प्रकट हो जाते हैं। शंकराचार्य भगवान् कहते हैं कि देखो, यह यमुनाजी का तट है, वंशीवट

है। इसके नीचे त्रिभङ्गललित भावसे पीताम्बरधारी श्यामसुन्दर मुरली-मनोहर मन्द-मन्द मुस्कुराता हुआ प्रेमभरी चितवनसे देखता हुआ, इशारेसे हमको बुला रहा है कि आओ,आओ, प्यारे ! मेरे पास आओ। देखो, उसकी मुस्कान ! देखो उसकी चितवन ! आओ हम श्रीकृष्णकी लीला का श्रवण करें।

इस प्रकार जिस समय आपके मनमें भगवान्‌की लीला श्रवण करने की इच्छा होगी, उसी समय भगवान् उस इच्छाके अन्दर आकर बैठ जायेंगे। भगवान् के आते ही उस इच्छामें-से शत्रु निकल जायेंगे, मित्र निकल जायेंगे, संसारके सगे-सम्बन्धी निकल जायेंगे, केवल रह जायेंगे साक्षात् भगवान्। इसलिए श्रीमद्भागवतका कहना है—

सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्। १.१.२

कथा-श्रवणसे बढ़कर कोई साधन नहीं, कोई पात्र नहीं। कथा-श्रवण मात्रसे ही भगवान् आकर हृदयमें प्रकट हो जाते हैं। आँखोंमें आँसू आता है, शरीरमें रोमाञ्च आता है, कण्ठ गद्‌गद् होता है और प्रत्यक्ष, इसी समय, अभी-अभी यहीं बैठे-बैठे, इसी रूपमें हमारे हृदयमें आकर भगवान् क्रीड़ा करने लगते हैं।

इसीलिए बताया गया कि यह श्रीमद्भागवत निगमसार-सर्वस्व है। किसीने वेदरूप कल्पवृक्ष के नीचे जाकर माँगा कि हमको द्वैत चाहिए। उसने कहाकि लो भाई ! इसी तरह अद्वैत चाहिए तो लो, द्वैताद्वैत चाहिए तो लो, शुद्धाद्वैत चाहिए तो लो।

लेकिन एक बार श्रीशुकदेवजी महाराज घूमते-घूमते वेदोंके कल्प-वृक्षके नीचे पहुँच गये तो क्या हुआ ? वेदने कहा कि महात्माजी, आपको क्या चाहिए ? शुकदेवजी ने कहा कि हमको तो कुछ नहीं चाहिए। हम तो 'स्वप्रकाशे चिदात्मनि ब्रह्मणि सुखमास्महे'-स्वप्रकाश चिदात्मा ब्रह्ममें आनन्दसे बैठे हुए हैं। फिर हमें क्या चाहिए ? कल्पवृक्षने कहा कि तुम मेरे नीचे आये हो, फिर मैं तुम्हारे जैसे ब्रह्मरूप अतिथिको खाली हाथ कैसे जाने दूँगा ? लो, हमारा जो सबसे उत्तम स्वारसिक फल है— 'निगमकल्पतरोर्गलितं फलं' वह मैं तुम्हें देता हूँ। यह तुम्हारे मुखके संयोगसे और भी मीठा हो जायेगा।

इसीलिए व्यासजीने कहा-'पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः।'-संसारके रसिक-जो इसी समय सुख चाहते हैं, उनको निमन्त्रण है और जो परलोकमें सुख चाहते हैं उन भावुकोंको भी निमन्त्रण है। वे आयें और इसी जन्ममें सुख लें।

देखो धर्म अदृष्ट फल देता है, लेकिन भक्ति दृष्टादृष्ट फल देती है। इस लोकमें भक्ति करनेका सुख, भगवान्‌को याद करनेका सुख, पूजा करनेका

सुख, नाम लेनेका सुख, स्मरण करनेका सुख—इस प्रकार भक्ति तत्काल सुख देती है और इससे अन्तःकरणका ऐसा निर्माण होता है कि परलोकमें भी सुख मिलता है। ज्ञान तत्काल अभिमानकी निवृत्ति कर देता है और भक्ति लोक-परलोक में सर्वत्र साथ जाती है।

इसलिए एक बार अज्ञानकी निवृत्ति हो जानेपर ज्ञानके त्यागका भी वर्णन आता है-'ज्ञानं च मयि संन्यस्तं।' यह ज्ञान परमात्माके स्वरूपसे अलग नहीं है, इसको अलग रखने की जरूरत भी नहीं है। परन्तु भक्ति ऐसी है, जो परमात्माके मिलनेसे पहले भी होती है, परमात्मासे मिलते समय भी होती है, परमात्मासे मिलनेके बाद भी होती है। जीवनको रसमय बनानेके लिए ही भगवान्‌की भक्ति है।

इस भक्तिका वर्णन श्रीमद्भागवतमें लौकिक कल्याणकी दृष्टिसे भी है, पारलौकिक कल्याणकी दृष्टिसे भी है और तुरन्त भगवत्तत्त्वके साक्षात्कारके लिए भी है। इसीलिए श्रीमद्भागवतके सम्बन्धमें यह कहा गया—

यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे।
भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा।। १-७-७

तो आइये, आप श्रीमद्भागवतका श्रवण कीजिये। श्रवण करते समय ही आपके हृदयमें आकर भक्ति बैठ जायेगी और जब भक्ति बैठ जायेगी तब पिछली बातोंको याद कर-करके आप शोकग्रस्त नहीं होंगे। अगली बातोंकी कल्पना कर-करके आप भयभीत नहीं होंगे और वर्तमान में जिनसे मोह है वह सब छूट जायेगा। इसलिए अन्तःकरणको तत्काल शुद्ध करनेके लिए श्रीमद्भागवतसे बढ़कर, श्रीमद्भागवतके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

अब आइये, श्रीमद्भागवतपर स्कन्धोंकी दृष्टिसे विचार करें। एक बात आप समझ लें, भागवतमें बत्तीस-बत्तीस अक्षरों वाले अनुष्टुप् छन्दकी दृष्टिसे अट्ठारह हजार श्लोक बनते हैं। हमारे सामने जो समय है, वह कोई बीस-इक्कीस घण्टों का है। यदि संस्कृत भाषा में भागवतका मूलपाठ भी किया जाये तो वह तीस घण्टों से कममें पूरा नहीं होगा। जो लोग भागवतका अखण्ड पाठ-पूजा करते हैं, उनको इतना ही समय लगता है। इसलिए हम बीस-इक्कीस घण्टोंमें श्रीमद्भागवतपर एक विहगंम—दृष्टि ही डाल सकते हैं। इसी रूपमें आप श्रीमद्भागवतका दर्शन कीजिये।

श्रीमद्भागवतके प्रथम स्कन्धका नाम है अधिकारी स्कन्ध। उसके श्रोता और वक्ता कैसे-कैसे होते हैं, इसका वर्णन करने के लिए पहला स्कन्ध है। पहले स्कन्धमें जो सूत हैं, वे याज्ञिक है। जब पारिप्लव कर्म होता है तब वहाँ जो यजमान हैं, यजमान के साथी हैं, उनको पुराणकी कथा सुनाई जाती है।

याज्ञिकोंका यह नियम है कि जहाँ-जहाँ यज्ञ हो, वहाँ-वहाँ अवकाश के समय और कोई बात न होने पाये, इसके लिए वे भागवत सुनाते हैं।

यहाँ शौनकादि ऋषि यज्ञ कर रहे हैं और श्रीमद्भागवतका श्रवण भी करते हैं। इससे यज्ञ सांगोपांग परिपूर्ण हो जाता है। अन्त में सूतजीको भी भक्ति होती है और शौनकादिकों को भी भक्ति होती है। शौनकजीको तो ऐसी भक्ति हुई कि उन्होंने कह दिया—

कर्मण्यस्मिन्ननाश्वासे धूमधूम्रात्मनां भवान्।
आपाययति गोविन्दपादपद्मासवं मधु।। १-१८-१२

हम तो लग रहे हैं यज्ञ-यागादि कर्ममें। धुआँ निकलता है और मुखमें, नासिकामें, नेत्रमें प्रवेश करता है। उससे हमारा अन्तःकरण धुँअरठ गया है। लेकिन आप गोविन्द-पादपद्मासव मधुका पान कराकर हमको रसमय बना रहे हैं। इसप्रकार शौनकके चित्तमें भक्ति आजाती है, पुराणोंका श्रवण करते-करते।

लेकिन वहाँ यज्ञांगके रूपमें भागवत सुना गया। इसलिए भागवत हो गया गौण और यज्ञ हो गया प्रधान। सुनानेवाले हो गये सूत और सुननेवाले हो गये शौनकादि ऋषि।

अब एक दूसरी भूमिका उपस्थित हुई। लोकहित के चिन्तक व्यग्र हैं, व्यासजी। उन्होंने वेदोंका विभाग किया। उपनिषदोंका अभिप्राय स्पष्ट करनेके लिए ब्रह्मसूत्रका निर्माण किया। जिनके द्वारा साधारण-से-साधारण लोग भी जीवनका रहस्य, धर्मका रहस्य, कामका रहस्य, अर्थका रहस्य, मोक्षका रहस्य समझ जायँ। इसलिए उन्होंने महाभारत की रचना की—'सर्वार्थपरिबृंहितम्।' ऐसी कोई बात नहीं, जो महाभारतमें छूट गयी हो-'यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्।'

इसलिए कहा गया कि 'व्यासोच्छिष्टं जगत् सर्वम्।' महाभारत जैसा ग्रन्थ विश्वसृष्टिमें न हुआ, न है और न आगे होनेवाला है।

परन्तु व्यासजीको सत्रह पुराणोंकी रचना करके भी यह सन्तोष नहीं हुआ कि मैंने अपना काम पूरा कर लिया। अतः उन्होंने लोकहितके लिए श्रीमद्भागवतकी प्रवृत्ति की। धर्म पूरा करनेके लिए श्रीमद्भागवत है। बिना भागवतके धर्म पूरा नहीं होता।

श्रीमद्भागवतके बिना लोकहित पूर्ण नहीं होता, मनुष्यके हृदयको शान्ति नहीं मिलती-यह बात बतानेके लिए नारद और व्यासका संवाद है। नारदजी महाराज भगवान्के ही प्रेमी हैं, साक्षात् भक्त हैं, बल्कि भगवान्के ही रूप हैं। भगवान् सृष्टिका निर्माण करनेके लिए, इसमें विधान प्रवृत्त करने के लिए, वेदोंके विस्तारके लिए ब्रह्माजीको बनाते हैं। इसका अर्थ हुआ कि ब्रह्माजीके

रूप में भगवान् स्वयं आते हैं। ब्रह्माजी भगवान् के ही अवतार है। फिर वही भगवान् भक्तिका, प्रेमका प्रचार-प्रसार करनेके लिए नारदजीके रूप में आते हैं। वही भगवान् वाङ्मयके रूपमें धर्म-अर्थ-काम-मोक्षका उपनिबन्धन करने के लिए व्यासजीके रूपमें आते हैं और वही भगवान् अपनी शब्दमयी, वाङ्मयी भागवती मूर्तिको प्रकट करनेके लिए शुकदेवके रूप में आते हैं। जो परब्रह्म ब्रह्मामें है, नारदमें है, व्यासमें है, शुकदेवमें है, वही श्रीमद्भागवतके रूपमें प्रकट हुआ है। एक चैतन्यके ही, एक चित्तत्त्वके ही अनेक नाम हैं-नारायण, ब्रह्मा, नारद, शुकदेव, भागवत। जब व्यासजीने श्रीमद्भागवतकी रचना की तब उनको शान्ति मिली।

भगवान् नारदने कहा कि व्यासजी, तुमने अनेक शास्त्र बनाये, उनमें लोगोंकी मनोवृत्तिका अनुवाद तो किया। पति कैसा हो, पत्नी कैसी हो, राजा कैसा हो, प्रजा कैसी हो, उसका व्यवहार कैसा हो, उनमें संघर्ष कैसा, व्यंग्य कैसा, इनका समाधान कैसा—इन सबका वर्णन किया। परन्तु भगवान्की महिमा का जैसा वर्णन करना चाहिए, वैसा वर्णन नहीं किया—

न तथा वासुदेवस्य महिमा ह्यनुवर्णितः। १.५.६

इसलिए व्यासजी, अब तुम भगवान्का स्मरण करो—

समाधिनानुस्मर तद्विचेष्टितम्। १.५.१३

इसके बाद नारदजीने अपना अनुभव सुनाते हुए बताया कि मैं तो महात्माओंका तिरस्कार करनेके कारण दासी-पुत्र हो गया था।

देखो, नारदजी पहले गन्धर्व थे, फिर दासी-पुत्र हुए और इसके बाद ब्रह्माजी के पुत्र हुए। इस प्रकार नारदजीके तीन जन्मोंकी कथा श्रीमद्भागवतमें है।

उन्होंने बताया कि जब मैं दासी-पुत्र था, तब जिन ब्राह्मणोंके घर मेरी माता काम करती थी, उनके यहाँ महात्मा लोग चातुर्मास्य कर रहे थे। वहाँ मुझे उन महात्माओंका सत्संग मिला। उनसे धर्ममें रुचि हुई। मैंने भजन किया। मुझे भगवान्के दर्शन हुए। भगवान्ने मुझको यह वीणा दी और मैं उनकी कीर्तिका गान करने लगा।

अहो देवर्षिर्धन्योऽयं यत्कीर्तिं शाङ्‌र्गधन्वनः।
गायन्माद्यन्निदं तन्त्र्या रमयत्यातुरं जगत्।। १-६-३९

सूतजीने शौनकादि ऋषियोंको बताया कि नारदजी धन्य हैं, जो वीणा बजाते हुए, भगवन्गुणानुवाद करते हुए और सबमें आनन्द भरते हुए, इस सृष्टिमें विचरण करते हैं।

ऐसे नारदजी श्रीमद्भागवतके वक्ता और व्यासजी श्रोता हैं। शौनकादि श्रोताओंमें तो कर्त्तव्य-पालनकी भावना है, किन्तु व्यासजीमें लोक-कल्याणकी इच्छा है। परीक्षित ऐसे श्रोता हैं जो निर्गुण हैं। उनके मनमें कोई वासना नहीं है।

उनमें आनुवंशिक पवित्रता थी। इसीलिए यहाँ कौरव-पाण्डव-युद्धका संक्षिप्त वर्णन करते हुए बताया गया कि महाभारत-युद्धके अन्तमें अश्वत्थामाने द्रौपदीके पाँच छोटे-छोटे बेटोंका सिर काट दिया। कितना अद्भुत और कारुणिक दृश्य था ! अर्जुनने रथ जोड़ा, श्रीकृष्ण सारथि बने और अर्जुन अश्वत्थामाको पकड़कर ले आये। जिसने पाँच-पाँच सोते हुए बच्चोंको मार डाला, वह अपराधी जब उन बच्चोंकी माँ द्रौपदीके सामने लाया गया, तब उसने क्या कहा, इसपर ध्यान दीजिये। दर्शन कीजिये द्रौपदीके मातृ हृदय का। उसने कहा—

मुच्यतां मुच्यतामेष ब्राह्मणो नितरां गुरुः। १-७-४३

x x x

मा रोदीदस्य जननी गौतमी पति देवता। १-७-४७

इसको छोड़ दो, छोड़ दो। ये ब्राह्मण हैं, हमारे गुरु हैं। जैसे मैं अपने पुत्रोंके मर जानेसे रो रही हूँ, वैसे ही इन अश्वत्थामाकी माता भी इनके मर जानेपर रोयेगी। बेटेके मरनेपर कितना दुःख होता है, यह मैं अनुभव कर रही हूँ। अब यह दुःख अश्वत्थामाकी माँको कभी अनुभव न करना पड़े।

यहाँ देखो, भीम कहते थे कि इसको मत छोड़ो, मार डालो और द्रौपदी कहती थी कि छोड़ दो। इसपर युधिष्ठिरादि द्रौपदीके पक्षमें हो गये। भगवान्ने दोनोंका निवारण किया।

आप जानते हैं कि यह द्रौपदी परीक्षितकी कौन है ? दादी है। ऐसी दादीके वंशमें राजा परीक्षितका जन्म हुआ।

अब आप जरा परीक्षितकी माता उत्तरापर ध्यान दीजिये। जब उनके ऊपर अश्वत्थामाने ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया, तब वह युधिष्ठिरके पास नहीं गयीं, भीमसेनके पास नहीं गयीं, अर्जुनके पास नहीं गयीं। वे गयीं भगवान् श्रीकृष्णके पास। उन्होंने प्रार्थना की कि प्रभो, मैं मरनेसे नहीं डरती। मैं भले ही मर जाऊँ परन्तु मेरे पेटमें आपके भक्तों का वंश है, उसका लोप न हो जाय। उसका लोप हो जायेगा तो लोग आपकी भक्ति कैसे करेंगे ? तब आपकी भक्ति परम्पराका ही नाश हो जायेगा। इसलिए मेरे पेटमें जो बालक है, उसकी आप रक्षा कीजिये, भक्ति-परम्परा की रक्षा कीजिये।

भगवान्‌ने सोचाकि परीक्षित नहीं बुलाता है तो क्या हुआ, उसकी माँ तो बुलाती है। अब भी यदि रक्षा नहीं करूँगा तो कब करूँगा ? पहले उत्तराके पास जाऊँगा। फिर उत्तराके पेटमें घुसकर एक अस्त्रसे नहीं, गदा और चक्र दोनोंसे परीक्षितकी रक्षा करूँगा –

जुगोप कुक्षिंगत आत्तचक्रो मातुश्च मे यः शरणं गतायाः। १०-१६

भगवान् इतने उतावले, इतने उतावले हो गये कि परीक्षितकी माँके पेटमें घुस गये। उन्हें जहाँ नहीं जाना चाहिए था, वहाँ जाकर उन्होंने परीक्षितकी रक्षा की। वही भगवान्‌के द्वारा सुरक्षित परीक्षित हैं।

अब आप परीक्षितकी दादी सुभद्रापर ध्यान दें। सुभद्राके पुत्र अभिमन्यु और अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित् थे। सुभद्राने अपने पुत्रकी मृत्यु होनेपर भी श्रीकृष्णसे एक शब्द नहीं कहा। वे मौन रहीं। क्यों मौन रहीं ? उन्होंने सोचा कि श्रीकृष्ण मेरे भाई हैं, परमेश्वर हैं, वे सब-कुछ जानते हैं। उनके सामने जो कुछ हो रहा है, उसको वे देख रहे हैं। फिर मेरे बोलनेकी जरूरत ही क्या है ? ऐसी मूक भक्त हैं सुभद्रा और उसके पौत्र हैं परीक्षित।

परीक्षितकी परदादी कुन्ती तो भगवान्‌की ऐसी भक्त हैं, जिनकी कोई तुलना नहीं। जैसा वरदान वे भगवान्‌से माँगती हैं, वैसा वरदान सृष्टिमें कभी किसीने माँगा है या नहीं—यह आप लोग स्वयं ढूँढ़िये। उनका वरदान यह है—

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्।। १-८-२५

हे, प्रभो, हमारे जीवनमें बार-बार विपत्ति आती रहे, क्योंकि उस विपत्तिमें आपके दर्शन होते हैं। पाण्डवोंको वनवास हो गया तो आप वहाँ आये, द्रौपदीको नग्न करने लगे तो आप वहाँ आये, भीमसेनको विष दे दिया तो आप वहाँ आये, लाक्षागृहमें जला दिया तो आप वहाँ आये। इस प्रकार जब-जब हमारे ऊपर विपत्ति आती है, तब-तब आप हमारी रक्षा करनेके लिए आजाते हैं और वह विपत्ति हमारे लिए सम्पत्ति एवं सुखका साधन बन जाती है।

तो कुन्ती, सुभद्रा, द्रौपदी और उत्तरा जैसी भक्त देवियोंके वंशमें राजा परीक्षितका जन्म हुआ। उनके बाप-दादाको देखें तो वे भी कितने महान् भक्त हैं। भीष्म पितामह कैसे मरे। युधिष्ठिरजी श्रीकृष्णको कितना मानते हैं। अर्जुन श्रीकृष्णसे कितना प्रेम करते हैं। भीमसेनकी कितनी श्रद्धा भगवान् श्रीकृष्ण पर है। नकुल-सहदेव भी कैसा पूज्य मानते हैं भगवान्‌को। सारा पाण्डव-वंश भगवान्‌का परम भक्त है। ऐसे भक्तवंश में राजा परीक्षित पैदा हुए, जिन्हे गर्भमें ही भगवान्‌का दर्शन प्राप्त हुआ।

एक ओर राजा परीक्षित जवान हैं। सप्तद्वीपवती पृथिवीके एकमात्र स्वामी हैं। बड़े-बड़े देवता लोग उनके चरणोंमें भेंट लाकर अर्पित करते हैं। दूसरी ओर शुकदेवजी महाराज किसी गृहस्थके घरमें नहीं जाते। केवल गोदोहन मात्र-काल किसी गृहस्थके घरमें जाते हैं। गृहस्थ उनके सामने गाय दुह ले और वे दूध पी लें, उतने ही कालतक वहाँ ठहरते हैं। शुकदेवजी परम विरक्त हैं, परम ज्ञानी हैं, परम समाधिस्थ हैं। सर्वोपरि अवधूतोंमें हैं शुकदेवजी और सर्वोपरि भक्तोंमें हैं परीक्षित। ये ही दोनों भागवतके उत्तम वक्ता-श्रोता हैं।

श्रीमद्भागवत ऐसा है कि यह यज्ञमें भी चलता है, लोक-कल्याणमें भी चलता है, वैराग्यमें भी चलता है। इसीलिए भगवान्ने विचार किया कि राजा परीक्षितको कोई तलवार तो मार नहीं रही है, कोई तीर तो मार नहीं रहा है। उनको यदि कोई अस्त्र-शस्त्र मारता होता तो मैं भी अपना गदा-चक्र लेकर पहुँच जाता और उनकी रक्षा करता। लेकिन जो परीक्षितको मार रहा है, वह तो शब्दोंसे मार रहा है, शाप देकर मार रहा है। फिर वहाँ चक्र क्या काम करेगा, गदा क्या काम करेगी, ब्रह्मास्त्र क्या काम करेगा ? शब्दके बदले तो शब्दही चाहिए। शब्दके द्वारा ही चाहिए। शब्दके द्वारा आयी हुई जो विपत्ति है, संकट है, उसके निवारणके लिए शब्द ही चाहिए। इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण शब्दमय शापसे परीक्षितकी रक्षा करनेके लिए शब्दमय वाङ्मय श्रीमद्भागवतके रूपमें प्रकट हुए।

अब भागवतमें राजा परीक्षितके वैभवका, ऐश्वर्यका वर्णन है, उसपर ध्यान देते हुए देखो कि उनमें कितना सामर्थ्य था। भगवत्कृपा होनेपर मनुष्यमें कितनी सामर्थ्य आजाती है, यह बात यहाँ देखनेकी है। राजा परीक्षितने सप्तद्वीपवती पृथिवीमें भ्रमण किया। वे जहाँ जाते वहाँ उनके सामने जो भी आता, उसमें देखते कि वह वही भगवान् हैं कि नहीं, जिसने गर्भमें मेरी रक्षा की थी। परीक्षितकी दृष्टि ऐसी शुद्ध थी कि सर्वत्र उसीको ढूँढ़ते , जो गर्भमें उनकी रक्षा करने को आया था। उनकी ऐसी परीक्षा थी कि वे अलौकिक वस्तुको ही देखते थे।

संसारमें लोग अपने शत्रुपर विजय करते हैं, दिग्विजय करते हैं, लेकिन परीक्षितने तो कलियुगपर विजय प्राप्त की थी। कलियुग माने काल। कालपर विजय कर लेना कोई सरल ,सहज बात नहीं है। जब परीक्षित कलियुगपर विजय प्राप्त करके दिग्विजय करनेके लिए गये, तब जहाँ-जहाँ जायें वहाँ-वहाँ उनको श्रीकृष्णकी महिमा सुननेको मिले। लोग कहें कि यह वही परीक्षित हैं जिनकी रक्षा श्रीकृष्णने गर्भमें की थी। ओहो ! इनके पिता साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णकी बहन सुभद्राके पुत्र थे। ओहो ! श्रीकृष्ण इनके पूर्वजोंकी सेवा करते थे। परीक्षित धन्य हैं, धन्य हैं।

देखो भाई, आप बुरा मानो चाहे अच्छा, ऐसा भगवान् संसारके किसी मजहबमें नहीं है। कहाँ है कोई दूसरा भगवान् जिसको उसके प्रेमियोंने, भक्तोंने अपने बीच इसप्रकार रख दिया हो। वे राजा युधिष्ठिर की सभामें पार्षद होकर, साधारण-से-साधारण सदस्य होकर बैठे थे। जब राजा युधिष्ठिर चलते थे तो श्रीकृष्ण उनके पीछे-पीछे चलते थे। उन्होंने उनको दूत बनाकर भेज दिया तो दूत बनकर चले गये। वे जब द्वारकासे आते थे तो न केवल युधिष्ठिरको बल्कि भीमसेनको भी प्रणाम करते थे। श्रीमद्भागवतमें ऐसा वर्णन है कि जब रातको पाण्डव लोग सो जाते थे तब श्रीकृष्ण जाकर पहरा देते थे। ईश्वरका ऐसा साधारणीकरण और कहाँ है ? जीवनके एक-एक अंगसे ईश्वरको मिला देना और इस प्रकार उसके रसका आस्वादन करना, चर्वण करना, सृष्टिके किसी भी दूसरे मजहबमें नहीं है। हमारा भगवान् ऐसा कृपालु है कि वह किसी भी परिस्थितिमें हमसे अलग नहीं रहता।

तो परीक्षित जहाँ-जहाँ जायें वहाँ-वहाँ उन्हें भगवद्-गुणानुवाद श्रवण करनेको मिले। वे बार-बार यह सुनकर गद्गद् हो जायें कि भगवान् हमारे दादाके सारथि बने थे। सचमुच रथपर बैठकर नौकरकी तरह रथ चलाना और रथीकी आज्ञा मानना क्या कोई साधारण बात है ? हमारे दादा अर्जुनने कहा कि हमारी आज्ञाका पालन करो और भगवान्ने उसका पालन किया। राजा परीक्षित यह सब सुनकर विभोर हो जायें, उनकी आँखोंमें आँसू आजायें, शरीरमें रोमाञ्च हो जाये, उनका हृदय द्रवित हो जाये और उनके हृदयमें भक्तिका प्रवाह बहने लगे।

इस प्रकार राजा परीक्षित सब देशोंमें विजय करते हुए एक ऐसे स्थानपर पहुँचे, जहाँ गाय और बैल आपसमें बातें कर रहे थे। गाय और बैलकी आवाज तो सब लोग सुन सकते हैं, लेकिन परीक्षितको उनकी भाषा समझनेकी, उनके भाव समझनेकी शक्ति थी। उन्होंने यह भी समझ लिया कि गाय तो पृथिवी है और धर्म बैल है, जिसके तीन पाँव टूटे हुए हैं।

देखो, जिस पृथिवीपर हम रहते हैं, वह भी समय-समयपर सुखी-दुःखी होती रहती है। पृथिवी प्रसन्न तब होती है जब उसपर धर्माचरण होता है। वह तभी होता है जब हमारे जीवनमें इन्द्रियोंकी वृत्तियोंको रोकनेकी शक्ति हो, आँख कुमार्गमें न जाये, हाथ कुकर्म न करें, पाँव बुरे स्थानमें न जायें, हमारी जीभ वह न बोले, जो नहीं बोलना चाहिए। अपने जीवनमें जो नियन्त्रण का सामर्थ्य है, वही धर्म है। धर्म माने धृति-'धृत्या यया धारयते।' जब यह धृति रहती है मनुष्यके जीवनमें तब वह उसको कुमार्गमें जानेसे रोकती है। यदि हमारी इन्द्रियोंमें, वाणीमें, मनमें, संयम है, तब हम जहाँ चाहेंगे वहाँ जा

सकेंगे। किन्तु यदि हमारे जीवनमें संयम न हो, धर्म न हो, धृति न हो, तो पता नहीं हमारी वासनाएँ कहाँ ले जाकर पटक देंगी।

पृथिवी दुःखी तभी होती है, जब उसके निवासियोंमें संयमकी, नियमकी, धर्मकी कमी आती है और लोग उच्छृङ्खल हो जाते हैं। समग्र दुःखोंकी जननी जीवनकी उच्छृङ्खलता ही है, अनियम ही है। जो मनमें आया सो खा-पी लेना, बोल देना और कर बैठना, कभी भी सुखका हेतु नहीं हो सकता। क्या आप अपने मनपर इतना विश्वास करते हैं कि वह जो कुछ करता है सो ठीक करता है ? हमारी इन्द्रियोंके लिए भी मर्यादा चाहिए ! इसी मर्यादा, इसी नियन्त्रण और इसी संयमका नाम धर्म है।

इस धर्ममें जब निर्बलता आ जाती है तब पृथिवीमें दुःख फैल जाता है। परीक्षितने यहाँ देखा कि बैल-रूप धर्मके तीन पाँव टूट चुके हैं, केवल एक पाँव रह गया है और वह बड़ा निर्बल हो गया है। उन्होंने पृथिवी और धर्मका संवाद सुनकर यह चिन्तन किया कि क्या करना चाहिए ?

परीक्षित जब और आगे बढ़े तो उन्होंने देखा कि एक व्यक्ति-जिसके शरीरपर राजाके चिह्न हैं, सिरपर मुकुट है, वस्त्राभूषण हैं, हाथमें तलवार है, बैलको मार रहा है, धर्मका नाश कर रहा है। उन्होंने उसे मारनके लिए शस्त्र उठा लिया और उसको ललकारा कि तू मेरे राज्यमें इस बैलको, वृषभको, धर्मको मारने वाला कौन है ? तुम्हें मालूम नहीं कि मै पाण्डव वंश का हूँ, जिसके रक्षक श्रीकृष्ण हैं। मैं तुमको मार डालूँगा।

अब तो यह सुनते ही उस व्यक्तिने प्रशासकका, राजाका चिह्न छोड़ दिया और साधारण पुरुषकी तरह राजा परीक्षितके चरणोंमें गिर पड़ा। परीक्षितने कहा कि 'अच्छा, अब तू शरणागत हो गया तो तुझे मारूँगा नहीं, लेकिन तू मेरे राज्यमें मत रह।'

वह व्यक्ति कलि था। कलि माने होता है कलह—जैसे बाप-बेटेमें कलह, गुरू-चेलेमें कलह, भाई-भाईमें कलह, पति-पत्नीमें कलह। इसीको कलिकाल बोलते हैं। राजा परीक्षितने कलिपर अर्थात् कालपर काबू पा लिया और कहा कि 'मेरे राज्यसे निकल जाओ।'

कलिने कहा कि महाराज, 'आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, लेकिन आपका राज्य तो सब जगह है, मैं उसको छोडकर कहाँ जाऊँ ?' तब परीक्षितने उसको स्थान देते हुए कहा कि 'जहाँ शराबी रहते हों, जुआ होता हो, परस्त्री गमन होता हो, वहाँ जाकर रहो।' कलियुगने कहा कि 'महाराज' आपके राज्यमें तो यह सब नहीं होते, फिर मैं कहाँ रहूँगा ?' इसके बाद परीक्षितने कहा कि 'अच्छा जो स्वर्ण है, धन-सम्पत्ति है, वह मदका कारण है। इसलिए

जहाँ स्वर्ण हो, वहाँ जाकर तुम रहो। कलियुगने कहा कि 'अच्छा महाराज, जैसी आपकी आज्ञा'।

तो राजा परीक्षित् इतने प्रभावशाली थे कि उन्होंने कलियुग पर भी शासन कर लिया था और सप्तद्वीपवती पृथिवी भी उनके वशमें हो गयी थी। उनके अर्थ और धर्ममें किसी प्रकारकी त्रुटि नहीं थी। वे चाहे जो कुछ भी कर सकते थे, फिर भी उन्होंने सब कुछ त्यागकर भागवतका श्रवण किया। उनमें अद्‌भुत था त्यागका सामर्थ्य।

श्रीमद्भागवतमें बताया गया है कि यदि आप अपना मंगल चाहते हैं तो पहले चारों पुरुषार्थोंका अर्थात् धर्म-अर्थ-काम-मोक्षका विभागकर लीजिये। यह देखिये कि आपका धर्म किसलिए है ? यह आपको सम्पूर्ण बन्धनोंसे मुक्त करने के लिए है। धर्म इसलिए है कि आपके जीवन में पराधीनता न हो, आप स्वाधीन हो जायँ। धर्म पानेकी सफलता ही इसमें है कि आपकी पराधीनता निवृत्त हो जाये। पराधीनता किसकी ? विषयोंकी पराधीनता, इन्द्रियोंकी पराधीनता मन की पराधीनता, अपने दुराग्रहकी पराधीनता, अहंकारकी पराधीनता, अज्ञानको ज्ञान मानने की, भ्रमकी पराधीनता। मुक्ति उसको कहते हैं कि आप सम्पूर्ण पराधीनताओंसे सर्वथा मुक्त होकर, अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जायें। 'स्वातन्त्र्यं परमं पदम्'- स्वातन्त्र्य ही परमपदका प्रदायक है। यह परमपद आपको प्राप्त होना चाहिए। हम जितना भी धर्म करते हैं, उसका उद्देश्य सब प्रकारकी परतन्त्रताओंसे मुक्ति पाना ही है।

हमने धर्म करके धन कमा लिया तो वह धर्मका फल नहीं है, बन्धन है। यदि आप पूछें कि धनका फल क्या है तो इसका उत्तर है कि धनका फल धर्म है—'धनात् धर्म। धर्मस्य धर्मार्थस्य धर्मैकान्तस्य।' यदि आपके पास धन है तो आप ऐसा अभ्यास कीजिये कि उससे लोगोंका भला हो, आप अपना कल्याण-साधन कर सकें, आपके जीवनमें धर्मका अवतरण हो, धनका फल धर्म है, भोग नहीं और धर्मका फल मोक्ष है, धन नहीं। तब भोगका फल क्या है ? भोगका फल है जीवन-निर्वाह। जीवन-निर्वाहके लिए आप खाइये-पीजिये, अपने शरीरको स्वस्थ रखिये। संसारकी वस्तुएँ केवल जीवन-निर्वाहके लिए हैं, इन्द्रियोंको तृप्त करनेके लिए नहीं, क्योंकि इन्द्रियाँ कभी तृप्त होती नहीं हैं—

कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।

इसलिए जितनेसे अपना निर्वाह हो जाय, उतना ही भोग आवश्यक है। उससे अधिक नहीं। यह फिरसे सुन लीजिये कि धर्म है मोक्षके लिए, धनके लिए नहीं। धन है धर्मके लिए-भोगके लिए नहीं और, भोग है जीवन-निर्वाहके लिए, इन्द्रियोंको तृप्त करनेके लिए नहीं।

यहाँ यदि आप पूछें कि जीवन किसलिए हैं, इसका उत्तर हैं—

जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः।

जीनेका अर्थ यह नहीं है कि बहुत-सा काम किया जाय। सबसे बड़ा काम सत्यको जानना है। सत्यका ज्ञान ही जीवनका फल है। सत्यका ज्ञान प्राप्त किये बिना आप जो-कुछ भी बोलते हैं, उसके बारेमें स्वयं आपको पता नहीं कि आपका बोला हुआ झूठ है या सच है ? जब आपको सत्यका ज्ञान ही नहीं है तब आपका बोलना अन्ध-परम्परा ही तो है। आप जो -कुछ भी करते हैं, उसमें क्या पुण्य है, क्या पाप है, आपको मालूम है ? जबतक सत्यका ज्ञान नहीं होगा तबतक पाप-पुण्यका ज्ञान नहीं होगा। इसी तरह परलोकका, जीव-ईश्वरका ज्ञान सत्यका ज्ञान हुए बिना नहीं हो सकता। जब हम सत्य बोलेंगे तब सत्यका पालन करेंगे और जब सत्यका पालन करेंगे तब सत्यको प्राप्त करेंगे। यदि हमारे जीवनमें सत्यका ज्ञान नहीं हुआ तो हमें समझना चाहिए कि हम अन्धकार में भटक रहे हैं। इसलिए जीवनको सत्यमय बनाना आवश्यक है, अनिवार्य है।

सत्य अन्ध-परम्पराका सत्य नहीं हाता। जो सुन लिया, सोच लिया और मान लिया, वही सत्य नहीं होता। सत्य वह है, जो ईश्वरकी दृष्टिमें सत्य है। उसी सत्यको जान लेना, प्राप्त कर लेना जीवनकी सफलता है। ईश्वरकी दृष्टिमें सत्य क्या है, इसको जाननेके लिए ईश्वरकी आँख-से-आँख मिलाइये। जिस आँख से ईश्वर दीखता है, उसी आँखसे देखनेपर सत्य दिखाई देता है। ईश्वरकी पहचान यह है कि वह सबको अपने में देखता है, अपनेसे देखता है और अपना स्वरूप देखता है। ऐसे ईश्वरकी आँखसे जब आपकी आँख मिलेगी तभी आप सत्यको पहचानेंगे, अन्यथा आपको अन्धकारमें ही भटकना पड़ेगा। आपको यह पता नहीं चलेगा कि आप जो कुछ कर रहे हैं, वह सत्य है या झूठ है ? जो बोल रहे हैं, वह सत्य है या झूठ है ? जो सोच रहे है, वह सत्य है या झूठ है ? अरे बाबा ! अपने आप सच-झूठका पता नहीं चलता है। महात्माओंने उसका जो स्वरूप बताया हैं, उसको जाननेका प्रयास करना चाहिए।

अब आप देखो कि भागवत किसको सत्य कहता है ? इसके प्रथम स्कन्धमें ही एक क्रमसे उसका वर्णन हैं—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।। १-२-११

तत्त्वज्ञानी महापुरुष सत्यको तत्त्व कहते हैं। तत्त्वका ही दूसरा नाम सत्य है। उस तत्त्व या सत्यके ज्ञानका स्वरूप यह है कि ज्ञानीपनेका तो

अभिमान न हो और जो-जो ज्ञेय वस्तु संसारमें मालूम पड़ती हैं, वह परमात्मासे भिन्न नहीं दिखायी दें।

वस्तुतः न ज्ञानी भिन्न है और न ज्ञेय भिन्न है। एक परमात्मा ही सर्वस्वरूप है, सर्वातीत है, सर्वसाक्षी है, सर्वाधिष्ठान है, उसके सिवाय और कुछ है ही नहीं। उसीका नाम है ब्रह्म, उसीका नाम है परमात्मा, उसीका नाम है भगवान्। उस सत्यको यदि जान लिया जाय तो जीवन सफल हो जाता है। इसीमें जीवनकी सफलता है। यह सफलता जीवनमें किस प्रकार आये, इसके लिए भागवतमें यह क्रम बताया गया है—

शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः।
स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात्।।
शृण्वतां स्वकथां कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम्।।
नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया।
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी।।
तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये।
चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति।।
एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते।।
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे।। १.१.१६-२१

इसका तात्पर्य यह है कि पहले पवित्र स्थानमें जाओ। वहाँ महात्माओंका सत्संग करो। उनसे भगवान्‌की कथा सुनो। उसपर श्रद्धा करो। जब हृदयमें श्रद्धा आती है और कानसे श्रवण होता है तब भगवान्‌में रुचि उत्पन्न होती है। उसके बाद जब भगवान्‌का भजन होने लगता है तब संसारमें अनर्थ करनेवाले हृदयके काम-क्रोध-लोभ आदि विकारोंका निवारण हो जाता है। ये विकार ही हमें हमारे हृदयमें रहनेवाले भगवान्‌को देखने नहीं देते। काम परस्त्री या परपुरुषको दिखाता है, लोभ धनको दिखाता है, क्रोध शत्रुको दिखाता है। परिणाम यह होता है कि हम अपनेको, भगवान्‌को देखना भूल जाते हैं और संसारको देखने लगते हैं।

भागवत कहता है कि यदि आपके हृदयमें भक्ति आजाय तो काम-क्रोध-लोभ आदि जो रजोगुणी और तमोगुणी भाव हैं, वे चित्तको वेधते नहीं, घायल नहीं करते, दुःखी नहीं करते। क्योंकि चित्त सत्यमें स्थित हो जाता है और

हृदय भगवद्भावसे प्रसन्न एवं निर्मल हो जाता है। संसारकी चिन्ता मनको मलिन बनाती है और सर्वत्र, सबमें परमात्मभाव हृदयको शुद्ध बनाता है। हृदय की शुद्धि ही सब कुछ है, सर्वस्व है। जब हम दूसरोंको देखने लगते हैं तब दूसरे आकर हमारे हृदयमें बैठ जाते हैं, जो काम लेकर आते हैं, क्रोध लेकर आते हैं, लोभ लेकर आते हैं। किन्तु यदि हमारी दृष्टि भगवान्‌के साथ बँधी रहे तो भगवान् हमारे हृदयमें हैं, उनको कहीं बाहरसे आना नहीं पड़ता।

भगवद्भक्तिसे हमारा हृदय निर्मल हो जाता है। निर्मल हृदयके बिना परमात्मा का दर्शन नहीं हो सकता। जब भगवत्तत्त्वका विज्ञान होता है तब हृदयमें जो गाँठ पड़ गयी है, वह नष्ट हो जाती है। संसारका जो सम्बन्ध है, यही ग्रन्थि है, सांसारिक सम्बन्ध ही बन्धन है। आप सबसे मिलिये-जुलिये, सबके साथ शिष्ट व्यवहार कीजिये, लेकिन अपने मनमें यह गाँठ न पड़ने दीजिये कि अमुक हमारा दुश्मन है, अमुक हमारा दोस्त है। इस संसारमें जो दुश्मन है, वह दोस्त बन जाता है, और जो दोस्त है, वह दुश्मन बन जाता है। यहाँ दुश्मन ,दुश्मन ही रहे और दोस्त, दोस्त ही रहे, इसका कोई नियम नहीं है। यहाँतो केवल भगवान् ही ऐसे हैं, जो सदा एक रूप रहते हैं। इसलिए समझिये कि वही आपके दोस्त हैं, सर्वस्व हैं।

हमारे हृदयमें शत्रु-मित्रकी जो गाँठ या ग्रन्थि पड़ती है, वह क्या है ? जैसे मनुष्यके शरीरमें कैंसरका रोग गाँठके रूपमें होता है ; वैसे ही हमारे मनमें हमारी बुद्धिमें सांसारिक पदार्थोंके प्रति जो ग्रन्थि हैं, वह कैंसर जैसा ही भयावह रोग है। लेकिन जब हमारे हृदयमें परमात्माका दर्शन होता है, तब वह ग्रन्थि छूट जाती है। सारी शंकाएँ-सारे संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, और पूर्व कर्म, जिनके कारण जीवन में सुख दुःख आते हैं, क्षीण हो जाते हैं।

तो, जैसा कि आपको बताया गया, श्रीमद्भागवत अद्‌भुत ग्रन्थ है। यह आपको अर्थोपार्जनकी भी विधि बताता है, कामोपभोगकी भी विधि बताता है, धर्मानुष्ठानकी भी विधि बताता है और सबसे मुक्त होनेकी भी विधि बताता है। यह आपको भगवान्‌की भक्ति बताता है। भगवान् का मिलना बताता है, भगवान् के प्रेममें डूब जाना बताता है। यह समग्र पुरुषार्थोंको, परम पुरूषार्थको, पञ्चम पुरूषार्थ को सिद्ध करनेवाला है।

बस, अब आज इतना ही। कलसे इसपर क्रमपूर्वक दृष्टि डालनेका प्रयास किया जायेगा, जिससे कि आपके सामने इसकी एक झाँकी प्रस्तुत हो जाय।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

: २ :

महाभारत-युद्धमें विजय प्राप्त होनेके बाद जब युधिष्ठिरका राज्याभिषेक हुआ तब उनको प्रसन्नता नहीं हुई, वे दुःखी हो गये। उनके मनमें विचार आया कि राज्य तो चार दिनकी चाँदनी है। आज मिला है, कल चला जायेगा। लेकिन इस राज्यके लिए जो इतनी बड़ी हिंसा हुई है, इससे जो विश्वका अमंगल हुआ है और जो हमारी अन्तरात्मा अशुद्ध हुई है, उसका कोई प्रतिवाद इस सृष्टिमें नहीं है। इस पापसे हम कभी मुक्त नहीं हो सकते।

भगवान् श्रीकृष्णने पहले व्यासादि महर्षियोंके द्वारा और उसके बाद स्वयं भी युधिष्ठिरको बहुत समझाने-बुझाने का प्रयास किया। लेकिन युधिष्ठिरके हृदयमें जो शोक था, उसकी निवृत्ति नहीं हुई। इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने कहा कि अच्छा, हम सब लोग भीष्म-पितामहके पास चलें, जो इस समय शर-शय्यापर पड़े हैं।

यहाँ देखो भगवान्‌का महत्त्व ! वे अपने भक्तको स्वयं धर्मोपदेश न करके दूसरे भक्तके द्वारा धर्मोपदेश करवाते हैं, स्वयं उसका शोक दूर न करके अपने भक्तके द्वारा शोक दूर करवाते हैं, इसीलिए भागवतको भागवत-पुराण कहते हैं।

अब जरा शर-शय्यापर पड़े भीष्मपितामहका दर्शन करो ! उनके शरीरमें जितने बाण लगे थे, उनमें-से कोई उनकी पीठ पर नहीं लगा था। सामनेसे लगे बाण उनके शरीर को छेदकर, पीठकी ओर निकले हुए थे और उन्हींके सहारे भीष्मपितामह, चित्त पड़े हुए थे। उनके गिरनेपर पीछेकी ओर निकले बाण धरतीमें धँस गये और उनके ऊपर भीष्मपितामह पड़ गये। श्रीकृष्ण-स्मरणके प्रभावसे उनके शरीरमें कोई पीड़ा नहीं थी।

देखो, योगाभ्यासी लोग अपने मनका निरोध करके अपनी पीड़ाका निवारण कर लेते हैं। वेदान्ती लोंगोको पीड़ाका भान होता रहे, तब भी वे अपने ज्ञानमें फर्क नहीं मानते। लेकिन जिस हृदयमें भगवान्‌का स्मरण होता रहता है, उसमें पीड़ा नही होती। पीड़ाका अनुभव और भगवान्‌का स्मरण दोनों एक साथ नहीं रह सकते। 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसोलिङ्ग'-एक मनमें दो ज्ञान एक साथ नहीं रहते। जब भगवान्‌का स्मरण होता है तब सारे दुःख मिट जातेहैं-'हरिस्मृतिःसर्वविपद्विमोक्षणम्।' परन्तु जब दुःखका स्मरण होता हैं तब भगवान्‌का विस्मरण हो जाता है।

तो, भीष्मपितामह शर-शय्यापर पड़े हुए थे। उन्होंने मन-ही-मन समागत ऋषि-महर्षियों और भगवान् श्रीकृष्णका स्वागत किया, उनकी पूजा की। उसके बाद युधिष्ठिरके पूछनेपर उन्होंने सर्वव्यापक हृदयसे धर्मका उपदेश किया। महाभारतके शान्ति और अनुशासन पर्व भीष्मपितामहके उपदेशोंसे भरे पड़े हैं। उनमें वर्ण-धर्म, आश्रम-धर्म, राज-धर्म, गृहस्थ-धर्म सबका वर्णन है। उन धर्मोंका वर्णन सुनकर युधिष्ठिरका मोह निवृत्त हो गया।

भागवतमें एक बात बड़ी विलक्षण कही गयी है, जिसकी ओर मैं आपका ध्यान खींचना चाहता हूँ। क्योंकि धर्मका ऐसा विभाग दूसरे मजहबोंमें नहीं है। उसमें कहा गया है-

वैराग्यरागोपाधिभ्यामाम्नातोभयलक्षणात्।

इसका अर्थ यह है कि जिसके हृदयमें राग है, उसके लिए प्रवृत्ति धर्म है और जिसके हृदयमें वैराग्य है, उसके लिए निवृत्ति धर्म है। मतलब यह कि हमारा धर्म वस्तु या क्रियाके गुणसे नहीं होता, अधिकारीकी स्थितिके अनुसार होता है। चेतनकी प्रधानतासे धर्म होता है, जड़ वस्तु या जड़ क्रियाकी प्रधानतासे नहीं होता। जहाँ चैतन्यपर दृष्टि है, वहाँ उसके प्रकाश-विकाश और आवरण भंगके लिए तदनुरूप धर्मका उपदेश होता है।

भीष्मपितामह ने भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुए कहा कि प्रभो, मैंने तो आपकी बहुत प्रतीक्षा की। अब आप मेरे सामने खड़े हो जाइये और पीताम्बरी, मुकुटी तथा चतुर्भुजी रूपमें खड़े होकर तबतक मुस्कुराते रहिये, जबतक मेरे प्राण इस शरीरको छोड़ न दें। आप मेरे प्राण-प्रयाणकी प्रतीक्षा कीजिये।

इति मतिरुपकल्पिता वितृष्णा भगवति सात्वतपुङ्गवे विभूम्नि।
स्वसुखमुपगते क्वचिद्विहर्तुं प्रकृतिमुपेयुषि यद्भवप्रवाहः।। १-९-३२

प्रभो, मैंने अपने जीवनमें एक वस्तु पा ली है, अपनी बुद्धिको तृष्णा-रहित बनाया है और जीवनभर अपने पास रखकर बेटीकी तरह पाला-पोसा है। अब जीवनके अन्तमें अपनी इस मतिरूप पुत्रीका विवाह आपके साथ करता हूँ। मुझे मालूम है कि आपको मेरी मतिकी कोई आवश्यकता नहीं है। परन्तु जैसे कभी-कभी आप प्रकृतिको स्वीकार करके संसारका प्रवाह चलाते हैं, वैसे ही कभी आपकी मौज हो तो मेरी इस समर्पित मति-पुत्रीको भी अपने साथ मिला लीजियेगा।

इसके बाद भीष्मपितामह भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान करने लगे। उन्होंने गोपियोंका भी ध्यान किया, युद्ध-भूमिका भी ध्यान किया, घोड़ोंके टापसे उड़-उड़कर श्रीकृष्णके बालोंपर पड़ी हुई धूलका भी ध्यान किया, अर्जुनके मोहकी

निवृत्तिका भी ध्यान किया और हाथमें रथ-चक्र लेकर उनको मारनेके लिए दौड़ने वाले भगवान्का भी ध्यान किया। वे बोले—

स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञामृतमधिकर्तुमवप्लुतो रथस्थः।१-९-३७४४
धृतरथचरणोऽभ्ययाच्चलद्गुर्हरिरिव हन्तुमिमं गतोत्तरीयः।। १-९-३७

प्रभो, जब मेरे बाणोंकी वर्षासे आपका प्रिय भक्त अर्जुन, जिसके आप सारथि बने हुए थे, व्याकुल हो गया तब आपसे सहा नहीं गया। उस समय आपने मेरी प्रतिज्ञा सत्य सिद्ध करनेके लिए अपनी शस्त्र ग्रहण न करनेकी प्रतिज्ञा तोड़ दी, आप रथसे कूद पड़े और हाथमें रथका पहिया लेकर मुझे मारने के लिए दौड़े वह दृश्य देखकर धरती काँप गयी, आपका पीताम्बर शरीरसे गिर गया और आप निरावरण होकर हाथीपर झपटने वाले शेरकी तरह मेरी ओर दौड़ पड़े।

भीष्मपितामहका अन्तिम ध्यान तो और भी विलक्षण है। वे कहते हैं।

तमिममहमजं शरीरभाजां हृदि हृदिधिष्ठितमात्मकल्पितानाम्।१-९-४२
प्रतिदृशमिव नैकधार्कमेकं समधिगतोऽस्मि विधूतभेदमोहः।। १-९-४२

प्रभो, मैं जानता हूँ कि प्रत्येक हृदयमें आप एक ही अजन्मा परमात्मा भरपूर बैठे हुए हैं। सबके अन्तरालमें बैठ-बैठकर आपही मैं-मैं-मैं बन रहे हैं। जैसे एक ही सूर्य हर आँख में दीखता है, वैसे एक ही आप सब हृदयोंमें दीखते हैं। प्राणी-प्राणीमें; आत्मा-आत्मामें, वस्तु-वस्तुमें कहीं भी भेद नहीं है। मैं भेदके मोहसे मुक्त होकर आपका अधिगम प्राप्त कर रहा हूँ।

इसके बाद वर्णन है कि 'सोन्तः श्वास उपारमत्' अर्थात् भीष्मपितामहके शरीरमें-से प्राण नहीं निकले। यह हुआ कि उनकी साँस जहाँ-की-तहाँ हो गयी। उनके शरीरके पञ्चभूत अर्थात् आग-हवा-आकाश-मिट्टी-पानी जहाँ-के-तहाँ विलीन हो गये। उनकी आत्माको कहीं जाना-आना नहीं पड़ा।

ऐसा ही वर्णन धृतराष्ट्रकी मुक्तिका भी है। वे विदुरकी सलाहसे हरिद्वार चले गये और वहाँ उन्होंने अपने आपको, शरीर,इन्द्रिय,प्राणको पंञ्चभूतोंमें मिला दिया। फिर पञ्चभूतोंको अहंमें, अहंको महत्में, महत्को प्रकृतिमें और प्रकृतिको परमात्मामें विलीन करके धृतराष्ट्र मुक्त हो गये। विदुरकी मुक्ति भी ऐसी ही हुई।

युधिष्ठिर जब द्वारिकासे लौटे अर्जुन द्वारा भगवान् श्रीकृष्णके परमधाम-गमनका समाचार मिला तब उन्होंने वीर संन्यास ग्रहण करके-स्वर्गारोहण कर दिया।

लेकिन गीताश्रोता अर्जुनकी दशा यह थी कि वे भगवान् श्रीकृष्णके

विरहमें बहुत व्याकुल थे और रो रहे थे, भागवतमें उनका वर्णन विचित्र है। बताया गया है कि भगवान्के विरहमें पीड़ित होकर ध्यान करते-करते अर्जुनकी आँखोंसे इतने आँसू निकले कि उनके भीतर संसारका जो कुछ भी संस्कार शेष रह गया था, वह सब धुल गया और फिर श्रीकृष्ण द्वारा उपदिष्ट गीता-ज्ञान प्रकट हो गया। अबतक वह ज्ञान बहुत समय बीत जाने, कर्ममें लगजाने और त्रिगुणके प्रवाहके कारण रुक गया था। लेकिन जब अर्जुनके हृदयमें भगवद्भक्तिका प्रवाह आया तब वह विशोक, ब्रह्मसे एक, द्वैत-संशय-विहीन, प्रकृति-लीन, निर्गुण और जन्म-मरण-मुक्त हो गया। यह भागवतके शब्दों में सुनिये —

गीतं भगवता ज्ञानं यत्तत् संग्राममूर्धनि।
कालकर्मतमोरुद्धं पुनरध्यगमद् प्रिभुः।।
विशोको ब्रह्मसम्पत्त्या संछिन्नद्वैतसंशयः।
लीनप्रकृतिनैर्गुण्यादलिंगत्वादसम्भवः।। १-१५-३०-३१

इसप्रकार राजा परीक्षितके जितने भी पूर्वज थे, सब-के-सब्र मुक्त हो गये। क्योंकि वे सब भगवान्के कृपा पात्र थे, भक्त थे। उनके जीवनमें, प्राणमें भगवान् श्रीकृष्ण बसे हुए थे। असलमें जहाँ भगवान् नहीं हैं, वहीं संसार है और जहाँ संसार है, वहाँ गमनागमनका, राग-द्वेषका झगड़ा लगा हुआ है। हमको राग पक्षपातसे और द्वेष क्रूरतासे बाँध देता है। अतः राग-द्वेषके मधुकैटभको हृदयसे निकालनेके लिए भगवान्के चरणारविन्द का ध्यान आवश्यक है।

हस्तिनापुरमें कुन्तीके रोकनेपर भगवान् श्रीकृष्ण कुछ दिनों तक वहाँ रूक गये और उसके बाद द्वारका पहुँचे। द्वारका पहुँचनेपर वहाँ जितने भी छोटे-बड़े लोग स्वागतार्थ खड़े थे, उन सबसे भगवान् श्रीकृष्ण मिले। उन्होंने किसीको प्रणाम किया, किसीके पाँव छुये, किसीसे हाथ मिलाया, किसीको देखकर मुस्कराये, किसीके पास जाकर उससे बात-चीत की, उसको आश्वासन दिया और जिसको जिस चीजकी जरूरत थी, वह दी। इसके बाद ही उन्होंने द्वारकाके भीतर प्रवेश किया। यह भगवान् श्रीकृष्णकी सर्वात्मताका उदाहरण है।

भगवान् श्रीकृष्णको परीक्षितके जन्म-कर्मकी सारी कथा पहलेसे ही मालूम थी। उनको ज्ञात था कि असावधानीमें एक महात्माका तिरस्कार करनेके कारण परीक्षित शापग्रस्त होंगे। इसीलिए उन्होंने उत्तराके गर्भमें अश्वत्थामाके अस्त्रसे उनकी रक्षा की।

परीक्षितने गर्भमें रक्षा करनेके लिए भगवान्को पुकारा नहीं था। भगवान्

तो स्वयं ऐसे हैं कि वे असाधनकी भी रक्षा करते हैं-जैसे परीक्षितकी, कुसाधनकी भी रक्षा करते हैं-जैसे कुब्जा, पूतना आदिकी और सुसाधनकी भी रक्षा करते हैं-जैसे बड़े-बड़े तपस्वी, महात्माओंकी ! कृपा भगवान्‌का स्वरूप है। भगवान् चाहते तो ब्राह्मणकुमारके शापसे परीक्षितकी रक्षा कर सकते थे। परन्तु उनको तो केवल परीक्षितकी ही रक्षा नहीं करनी थी, रक्षा तो समग्र जीव-जातिकी करनी थी और इसके लिए उन्हें श्रीमद्भागवतके रूपमें प्रकट होना था।

देखो, श्रीशुकदेवजी महाराज क्या हैं ? वे 'परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये'-निर्गुणनिष्ठ होनेपर भी भगवान्‌की भक्तिमें मग्न रहते थे। वे शैवपरम्पराके भी हैं और वैष्णव-परम्पराके भी हैं। कौशिकी संहितामें वर्णन आया है कि एक बार जब श्रीशंकरजी गौरीजीको श्रीमद्भागवत सुना रहे थे तब वहाँ तोतेका, शुकका एक अण्डा मरा हुआ पड़ा था। यह श्रीशंकरजीके श्रीमुखसे श्रीमद्भागवतका उच्चारण होते ही जीवित हो गया था, मानों उसपर मृतसंजीवनी विद्याका, मृतसंजीवनी मन्त्रका प्रयोग हुआ हो। इस प्रकार श्रीमद्भागवत शिवोक्त होनेसे तन्त्र है, शैवीपरम्परा का ग्रन्थ है और श्रीशुकदेवजी महाराज उसके वक्ता हैं।

इसके अतिरिक्त श्रीशुकदेवजी महाराज अपनी माताके गर्भमें अनेक वर्षोंतक रहनेके बाद प्रकट हुए थे। आत्माराम होनेपर भी, कोई ग्रन्थि न होनेपर भी उनके जीवनमें भगवान्‌के चरणोंके प्रति अटूट भक्ति थी। यह कहा जा सकता है कि भगवान्‌के प्रेमी श्रीशुकदेवजी नहीं हुए स्वयं भगवान्‌ने ही शुकदेवजीसे प्रेम किया और जब राजा परीक्षितके सामने सर्प-दंशका संकट आया तब स्वयं भगवान्‌ही श्रीशुकदेव बनकर प्रकट हुए-'तत्राभवद्भगवान् व्यासपुत्रः।'

परीक्षितकी सभामें प्रकट होनेके पहले श्रीशुकदेवजी महाराजको कोई पहचानता नहीं था। अबोध बालक उनके पीछे-पीछे दौड़ रहे थे उनको चिढ़ानेका प्रयास कर रहे थे। लेकिन जब उन्होंने देखा कि श्रीशुकदेवजी बड़े-बड़े महापुरुषोंकी सभामें समादृत हो रहे हैं तब वे सब लौट गये।

सभामें राजा परीक्षितने श्रीशुकदेवजी महाराजका स्वागत-सत्कार करनेके बाद प्रश्न किया कि मुनिवर, मनुष्यका उसके जीवन और मृत्यु-कालमें, मुख्य कर्त्तव्य क्या है ? उसे क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए ? क्या बोलना चाहिए, क्या नहीं बोलना चाहिए ? क्या सोचना चाहिए, क्या नहीं सोचना चाहिए ? आप इन सब प्रश्नोंका उत्तर विभाग करके देनेकी कृपा कीजिये।

अब श्रीशुकदेवजी महाराजके उत्तरसे दूसरा स्कन्ध प्रारम्भ होता है। वे

राजा परीक्षितके प्रश्न से प्रसन्न हो गये। उन्होंने कहा कि परीक्षित तुमने अपने कल्याणके लिए ही नहीं, सम्पूर्ण विश्वके कल्याणके लिए यह प्रश्न किया है–

वरीयानेष ते प्रश्नः कृतो लोकहितं नृप। २-१-१

देखो, राजा, आयु क्षण-क्षण छीज रही है। मनुष्यके शरीरका कुछ ठिकाना नहीं है। फिर भी यह प्राप्त हो गया है और अपने पास बहुत थोड़ा समय है। इसलिए समयका सदुपयोग कर लेना चाहिए। इस संसारमें जितने भी महापुरूष हुए हैं, उनका हृदयकी शुद्धि पर मुख्य ध्यान रहा है। जो मनमें आये वह बोल देना, कर देना और इन्द्रियोंमें जिस भोगकी रुचि हो, उसको भोग लेना-ऐसा तो पशुभी नहीं करते। जिसके जीवनमें संयम नहीं है, वह मनुष्य कहलानेका अधिकारी कहाँ है ?

परीक्षित, मनुष्य चाहे तो थोड़े समयमें भी अपना कल्याण कर सकता है। इसलिए जो बड़े-बड़े निर्गुण-निष्ठ महात्मा होते हैं, जिनके लिए कोई विधि-निषेध नहीं होता, वे भी भगवान्‌के गुणानुवादसे प्रेम करते हैं।

मनुष्यके जीवनमें पूर्णताकी भावना होनी चाहिए, परिच्छिन्नताकी नहीं, क्योंकि परिच्छिन्नता भ्रम है अपने सम्प्रदायका श्रवण, अपनी जातिका श्रवण-ये सब परिच्छिन्नताएँ हैं। कोई परिवारमें अटक जाता है और कोई परगनेमें अटक जाता है और कोई प्रान्त या राष्ट्रमें अटक जाता है। लेकिन मनुष्यका दृष्टिकोण ऐसा उदार होना चाहिए कि उसमें मानव-मात्रका, प्राणिमात्रका, सम्पूर्ण विश्वका सन्निवेश हो। ऐसा केवल ईश्वर ही है। इसलिए मनुष्यका सबसे बड़ा कर्त्तव्य ईश्वरपरायणता है।

तस्मात् सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यो भगवान्नृणाम्।। २-२-३६

इसका अर्थ है कि यदि आप अभयपदकी प्राप्ति करना चाहते हैं, निर्भय होना चाहते हैं, अभयपदमें प्रतिष्ठित होना चाहते हैं तो श्रवण कीजिये सर्वात्मा भगवान्‌का, कीर्त्तन कीजिये सर्वात्मा भगवान्‌का और स्मरण कीजिये सर्वात्मा भगवान्‌का !

देखो, जो वस्तु अपरोक्ष होने पर भी ज्ञात नहीं है, उसका ज्ञान वाक्यके द्वारा, श्रवणके द्वारा ही होता है। नितान्त परोक्ष वस्तुका ज्ञान भी वाक्य और श्रवणके द्वारा ही होता है। इसलिए बिना श्रवण किसीको भी ईश्वरके बारेमें कोई पता नहीं चल सकता। आँखोंसे देखकर ईश्वरकी पहचान नहीं हो सकती, नाकसे सूँघकर ईश्वर पहचाना नहीं जाता। फिर कैसे पहचाना जाता है ? कानोंके द्वारा महापुरुषोंके अनुभवका, श्रुति-वचनोंका, वेदमन्त्रोंका श्रवण

करके ही परमात्माको पहचाना जाता है। परमात्माकी पहचानके लिए श्रवणही मुख्य साधन है। जबतक आप परमात्माके सम्बन्धमें श्रवण नहीं करेंगे, मनन नहीं करेंगे, निदिध्यासन नहीं करेंगे, तबतक वह आपके हृदयमें प्रवेश नहीं करेगा।

इसीलिए दूसरे स्कन्धके दस अध्यायोंमें सांगोपांग श्रवणका निरूपण है। सांगोपांग श्रवणका अर्थ है कि श्रवण तो है अंगी, मुख्य, प्रधान और उसके अंग-उपांग हैं दूसरे साधन ! आज वेदका , वैदिक शास्त्रोंका, भगवच्चरित्र वर्णित करनेवाले लौकिक विषयोंका श्रवण महापुरुषोंके द्वारा कीजिये। यदि आपको सुनानेवाला मिले तो सुनिये, सुननेवाला मिले तो सुनाइये, वह भी न बने तो स्वयं संकीर्तन कीजिये और यह भी न मिले तो एकान्तमें अपने-आप गुनगुनाते रहिये श्रवण करने, सुनाने और गुन-गुनानेसे भगवान्का होगा स्मरण तथा अपने आनन्दमें आप स्वावलम्बी हो जायेंगे।

अमुक वस्तु, अमुक व्यक्ति अथवा अमुक्त परिस्थिति मिले तब हमको आनन्द मिलेगा- यह विचार ठीक नहीं है। आनन्द-प्राप्तिका साधन तो आपके हृदयमें ही है। यदि आप भगवान्का श्रवण-कीर्तन-स्मरण करने लगे तो आपके भीतर जो आनन्द बन्द है, वह खुल जाएगा। आनन्दकी गंगा बहती है आपके हृदयमें, आनन्दका समुद्र उमड़ता है आपके हृदयमें और आनन्दके झरने बहते हैं आपके हृदयमें। आपको इसका अनुभव इसलिए नहीं होता कि उसका द्वार अवरुद्ध हो गया है। उस द्वारको खोलनेके लिए आपको भगवान्का श्रवण, स्मरण, कीर्तन करना चाहिए और अपने-आपमें आनन्दित होना चाहिए। भागवतका कहना है कि श्रवण-स्मरण-कीर्तनसे ही भगवान्की प्राप्ति होती है।

श्रवणके कई अंग हैं। एक अंग तो यह है कि व्यक्तिका ध्यान न करके परमात्माका ध्यान करना चाहिए। भगवान् प्रकृतिके रूपमें मालूम पड़ते हैं। उनसे सत्यबुद्धि होती है, सत्यबुद्धिसे अहंकार होता है, अहंकारकी पाँच तन्मात्राएँ होती हैं। फिर पञ्चभूत बनते हैं। पञ्चभूतोंसे कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड बनते हैं, कोटि-कोटि व्यक्ति बनते हैं, पशु, पक्षी, मनुष्य, देवता, ब्रह्मा, विष्णु, महेश जितनेभी व्यक्ति हैं, सबके सब परमात्माके स्वरूपमें धरतीके कणोंकी तरह मालूम पड़ते हैं। इनमें न कोई राग करने योग्य है, और न द्वेष करने योग्य है। यहाँ जो कुछ भी है, सब भगवान्का स्वरूप है। हमारे शरीर सहित समग्र विश्व-सृष्टि परमात्मामें भास रही हैं और परमात्मामें ही मिल जाती है। ऐसा चिन्तन होनेपर शत्रु-मित्रका ध्यान छूट जाता है, अपने-परायेका ध्यान छूट जाता है और तात्त्विक रूपसे सब प्रभुका स्वरूप प्रतीत होते हैं—

स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्व आत्मा यथा स्वप्नजनेक्षितैकः। २-१-३९

जैसे स्वप्नकी सारी-की-सारी सृष्टि अपने-आपसे ही, अपने-आपमें ही मालूम पड़ती है; और मिटती है, वैसे ही परमात्मामें, आत्मामें यह सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न होती है। इसमें न कोई अपना है, न पराया है और न हेय है, न उपादेय है। अतएव अपने हृदयको शुद्ध करनेके लिए सर्वरूपमें भगवान्का ध्यान होना चाहिए।

श्रीमद्भागवतमें यह भी बताया गया है कि यदि आपके मनमें कोई कामना है और आप उसकी पूर्तिके लिए अलग-अलग देवताओंका ध्यान कर रहे हैं तो ठीक है, आप ऐसा कीजिये। इससे आपकी कामना पूर्ण होगी। लेकिन यदि आप भगवान्का पूर्णका ध्यान करेंगे तो आपको भगवान्की, पूर्णकी प्राप्ति होगी।

अद्भुत है भागवतका यह दर्शन। यह किसी एक जाति या राष्ट्रकी सम्पत्ति नहीं है, भगवान्के जितने भी बालक हैं, बच्चे हैं, उन सबके लिए है यह। इसीलिए आप देखेंगे कि भागवतमें वृक्ष भी भक्त हैं, पक्षी भी भक्त हैं, लताएँ भी भक्त हैं, सरोवर भी भक्त हैं, सब-के-सब भक्त हैं यहाँ पृथिवीको रोमाञ्च होता है, जलमें कमल खिलते हैं और नदियोंका प्रवाह रुक जाता है। भगवान्की भक्तिमें यहाँकी सारी सृष्टि ओतप्रोत है। इसमें बुरा देखने योग्य कुछ भी नहीं है। बुरा देखने से बुरी वस्तु अपने हृदयमें आजाती है और उससे अपना हृदय गन्दा हो जाता है। इसलिए तत्त्वका ध्यान करके अन्वय-व्यतिरेक द्वारा यह निश्चित करना चाहिए कि परमात्माके सिवाय कुछ भी नहीं है। जन्म भी वही, मरण भी वही, रोग भी वही, आरोग्य भी वही, वियोग भी वही, संयोग भी वही-उसके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है। जब आप तत्त्वका ध्यान करेंगे तब श्रवण किया हुआ पदार्थ आपके हृदयमें जम जायेगा। यदि आपके हृदयमें कामना हो तब भी आप भगवान्का ध्यान कीजिये—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरूषं परम्।। २-३-१०

आपके हृदयमें भक्ति होनी चाहिए। आप अकाम हैं कि सकाम हैं-इससे कोई मतलब नहीं। भगवान् जब आपके हृदयमें आयेंगे तब उसमें पूर्णताका प्रकाश हो जायेगा।

इस संसारमें हम जिन वस्तुओंको बहुत महत्त्वपूर्ण समझते हैं, वे वस्तुतः महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। महत्त्वपूर्ण तो केवल भगवान् ही हैं। आप उनके रूपका ध्यान कीजिये, आपका मन शुद्ध हो जायेगा। यदि आप चाहें कि आपकी क्रम-मुक्ति हो, आप ब्रह्मलोकमें जायेंतो वहाँ भी जा सकते हैं। यदि आपकी इच्छा

यहीं भक्त होने की है तो आपको यहीं सद्योमुक्ति मिल सकती है। भागवतमें क्रममुक्ति और सद्योमुक्ति इन दोनोंके मार्ग बताये गये हैं।

परन्तु कोई भले ही ब्रह्मलोकमें चला जाये, वहाँ जानेपर भी उसको दुःख होता है। उसे यह दुःख होता है कि वहाँ जानेपर यह धरती दिखाई पड़ती है, धरतीके लोग दिखायी पड़ते हैं और यह दिखाई पड़ता है कि संसारी लोग केवल धनके कारण दुःखी हैं। जब कि दुःख नामकी चीज सृष्टिमें कहीं नहीं है। केवल उनकी अपनी बुद्धि का यह भ्रम है कि इसमें उनको दुःख मालूम पड़ता है।

यच्चित्ततोऽदः कृपयानिदंविदां दुरन्तदुःखप्रभवानुदर्शनात्। २-२-२७

संसारके लोग बारम्बार इसीलिए दुःखी हो रहे हैं कि वे सचाईको जानते नहीं, सत्यको समझते नहीं और संसारके चक्रमें फँसे हुए हैं।

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे-दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्।।

स्वर्गारोहण पर्व ५-६१

दिनभरमें सैकड़ों-हजारों बार भय-शोकसे ग्रस्त होना मनुष्यकी विद्या-बुद्धिकी पहचान नहीं है, मूर्खताकी ही पहचान है। क्योंकि शोक-भय तो इस संसारमें आते-जाते रहते हैं। इनसे अपने चित्तको दुःखी नहीं करना चाहिए।

तो जैसा कि बताया, जीव ब्रह्मलोकमें जानेपर जब धरतीके लोगोंको दुःखी देखता है, तब उसके मनमें आता है कि इन सबको छोड़कर मेरा अकेला ब्रह्मलोक में आना ठीक नहीं हुआ। फिर तो वह जीव ब्रह्मलोकसे कूद पड़ता है और इस धरतीपर आकर उससे तादात्म्य स्थापित कर लेता है। वह अनुभव करता है कि सम्पूर्ण पृथिवीका सुख-दुःख मेरा अपना सुख-दुःख है। पहले उसका तादात्म्य जड़ से होता है फिर अग्निसे, वायुसे, आकाशसे, समग्र प्रकृतिसे तादात्म्य स्थापित करनेके बाद वह अपनेको साक्षात् परमात्माके रूपमें अनुभव करता हैं।

श्रीमद्भागवतकी यही प्रणाली है। इसके एक भक्त पात्रने भगवान्से यह वरदान माँगा कि प्रभो, मुझे ऐसी शक्ति दो, जिससे मैं सबके हृदयों में बैठ जाऊँ। भगवान्ने पूछा कि सबके हृदयोंमें तो मैं हूँ ही, तुम वहाँ बैठकर क्या करोगे ? भक्त ने कहा कि महाराज, आप तो बैठकर टुकुर-टुकुर दुनियाके लोगोंको दुःखी देखते रहते हैं। भगवान्ने कहा-अरे भाई, अपने हृदयमें तो सब बैठे हुए हैं और वे स्वयं दुःखी-सुखी होते रहते हैं। तुम वहाँ बैठकर क्या करोगे ? भक्तने कहा-भगवन्, मैं यह करूँगा कि आप तो देखते रहिये, आपके

देखनेमें कोई, बाधा न पड़े, लेकिन संसारके प्राणियोंके हिस्सेका सब-का-सब दुःख मुझको मिल जाय और सभी सुखी हो जायँ। मैं संसारके सभी प्राणियोंका दुःख अपने ऊपर लेनेके लिए तैयार हूँ। मुझे सबका दुःख दे दीजिये, किसीको दुःख न होने पाये, सबका दुःख मुझे मिल जाये और यह सब आपकी दृष्टिमें हो-'अन्तःस्थितो ये भवन्त्यदुःखाः।

जब भक्तने ऐसी प्रार्थना की तब भगवान् हँस पड़े और मन-ही-मन बोले कि मेरा भक्त कितना उदार है, इसके भाव कितने सुन्दर हैं। ऐसा ही भाव भक्तके हृदयमें होना चाहिए, परिच्छिन्नताका भाव नहीं होना चाहिए।

इस प्रकार भागवतमें मुक्तों और भक्तोंका वर्णन है। दूसरे स्कन्धके पहले वाले दो अध्यायोंमें तत्त्व-ध्यानका, बाद के दो अध्यायोंमें हृत्प्रसादका और अंत के छः अध्यायोंमें मननका प्रसंग है। हृत्प्रसाद माने हृदयकी प्रसन्नता। अतः प्रसादमें विनय होता है। जिसके जीवनमें विनय नहीं है, वह अहंकारी है और उसके अंहकारपर चोट-पर-चोट पड़ती रहती है। चोट कड़ेको ही लगती है। मुँहके दाँत जल्दी टूट जाते हैं और जिह्वा बहुत देर तक रहती है। इसलिए जिसके जीवनमें कोमलता है, वही चिरस्थायी होता है और जिसके जीवनमें कठोरता है, वह टूटता रहता है, टूट जाता है।

इसीलिए भागवतके जो वक्ता-श्रोता हैं-जैसे सूत-शौनक और शुकदेव-परीक्षित-उनके जीवनमें विनय है, भगवान्की भक्ति है, स्तुति है। जो संसारको देखेगा, वह आसक्त हो जायेगा, जो मैंको देखेगा, वह अहंकारी हो जायेगा और जो भगवान्को देखेगा, उसका संसार और मैं दोनों गल जायेंगे। संसारका अर्थ आप ईंट-पत्थर आदि न समझें। संसार माने होता है मैं और मेरा, ममता और मोह ! मैंने यह किया, वह किया, मैं ऐसे सुखी हुआ, वैसे दुःखी हुआ-इसीका नाम संसार है।

तो संसारमें जो अनेक बार सुखी-दुःखी होनेकी परम्परा चल रही है और मैं- मेरेकी फँसावट है, वह भगवान्से प्रेम होने पर नष्ट हो जाती है, गल जाती है। मनमें भरा हुआ अभिमान समाप्त हो जाता है। संसारको देखोगे तो उसके प्रति आसक्ति होगी, मैंको देखोगे तो अभिमान होगा और भगवान्को देखोगे तो संसार और मैं दोनों भगवद्रूप हो जायेंगे।

इसीलिए सूतजी और श्रीशुकदेवजी महाराज मंगलाचरण करके भागवतका वर्णन करते हैं। शौनकजी और परीक्षितजीके प्रश्नोंमें भगवान्के प्रति भक्ति-भावना भरी हुई है। भागवतमें भगवान्का जैसा वर्णन है, वैसा वर्णन अन्यत्र कहीं नहीं है। श्री शुकदेवजी महाराज कहते हैं—

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा
आभीरकङ्का यवनाः खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः
शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः।। २-४-१७

असल में पवित्र वही है, जिसके स्मरणसे अपवित्र पवित्र हो जाते हैं, पतित पावन हो जाते हैं, पिछड़े हुए आगे बढ़ जाते हैं और ऊपर उठ जाते हैं। भगवान्के स्मरणसे, उनका आश्रय ग्रहण करनेसे किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस माने कसाई सब-के-सब पवित्र हो जाते हैं। इसीलिए श्रीशुकदेवजी महाराज भगवान्को नमस्कार करके उनसे प्रार्थना करते हैं कि प्रभो, पधारो। मेरी इस वाणीपर बैठ जाओ और इसे अलंकृत करो-'सोऽलङ्कृषीष्ट भगवान् वचांसि मे।' भगवन्, मेरे शब्द गरुड़पर आरूढ़ होकर लोगोंके कानोंमें, हृदयोंमें प्रवेश करो।

सूतजीने स्पष्ट कह दिया कि भगवान्के प्रवेशके मार्ग हमारे कान ही हैं। जिस तरह शरद् ऋतु आती है तो सारा जल अपने-आप स्वच्छ हो जाता है, उसी तरह कानके रास्तेसे भगवान् हमारे हृदयमें प्रवेश करते हैं तो सारे कल्मष दूर हो जाते हैं-

प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम्।
धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरत्।। २-८-५

इस सम्बन्धमें मैं आपको एक लौकिक उदाहरण देता हूँ। कोई सज्जन अपने एक मित्रके यहाँ मिलने गये। मित्रके घरका दरवाजा भीतरसे बन्द था। उन्होंने बहुत पुकारा-खटखटाया, लेकिन दरवाजा नहीं खुला। दूसरी ओर एक खिड़की खुली दिखाई पड़ी। सज्जन उसी खिड़कीके रास्ते किसी प्रकार भीतर घुसे तो उन्होंने देखा कि उनका मित्र बीमार है, खाटपर बेहोश पड़ा है, घरमें कई दिनोंसे झाड़ू नहीं लगी है। खाने-पीनेका भी साधन नहीं है। सज्जनने पहले घरकी सफाई की, मित्रका हाथ मुँह साफ किया, उसके कपड़े बदले, उसको दवा दी, पथ्य दिया और इसप्रकार उस मित्रको स्वस्थ कर दिया। मित्रने पूछा कि भाई तुम घरमें आये कैसे ? न दरवाजा खुला था और न मैंने तुमको कोई सूचना दी थी। सज्जनने कहा कि मुझे बुलानेके लिए तुम्हारे निमन्त्रणकी जरूरत नहीं थी, इसलिए बिना बुलाये आगया और जब मैंने तुम्हारा दरवाजा बन्द देखा तो उस खुली खिड़कीसे भीतर आगया।

इसी तरह भगवान् करते हैं। जैसे कोई नकाब लगाकर किसीके घरमें घुस जाता है, उसी तरह भगवान् संसारकी भावनाओंसे भरे हुए मनुष्यके

हृदयमें उसके कानके छिद्रसे प्रविष्ट हो जाते हैं और उसके सारे दोष दूर कर देते हैं।

श्रवणमें एक तो चाहिए तत्त्वका ज्ञान, दूसरा चाहिए नियम, तीसरा चाहिए हृदयकी निर्मलता और चौथा चाहिए भगवान्‌का स्तवन। भगवान् सबसे बड़े हैं, उनसे बड़ा कोई नहीं है-ऐसा समझकर भगवान्‌के उत्कर्षका मनमें चिन्तन, वाणीसे भगवान्‌के चरित्रका वर्णन और कानसे भगवान्‌के गुणोंका श्रवण हृदयको निर्मल बनाता है।

अब जो पाँचवी बात श्रवणमें होनी चाहिए, वह है मनन। जब तत्त्व ध्यानपूर्वक निर्मल हृदयसे भगवान्‌के सम्बन्धमें मनन किया जाता है तभी श्रवण पूरा होता है।

मनन दो तरहसे होताहै-एक तो उत्पत्ति के द्वारा और दूसरा उपपत्तिके द्वारा। उत्पत्ति द्वारा किये जानेवाले मननके प्रसंगमें नारदजी ब्रह्माजीसे कहते हैं—पिताजी, मैं तो समझता हूँ कि दुनियामें आप सबसे बड़े हैं। फिर आप ध्यान किसका करते हैं ? क्या आपसे भी बड़ा दूसरा कोई है, जिसका आप ध्यान करते हैं ? यह सुनकर ब्रह्माजी हँस पड़े और बोले कि बेटा, तुमको अभी मालूम नहीं है। एक ऐसी वस्तु है; जो मुझसे, मेरी सारी सृष्टिसे,अनन्त-कोटि-ब्रह्माण्डोंसे और समग्र प्रकृतिसे भी निराली हैं। उसीसे हम लोग पैदा होते हैं।

इसके बाद ब्रह्माजीने उत्पत्ति-क्रमका वर्णन करते हुए बताया कि किस प्रकार भगवान्‌की मायाके द्वारा यह सृष्टि हुई। माया माने लोक-व्यवहारमें बोला जानेवाला जादूका खेल ! जहाँ जो चीज न हो उसको वहाँ दिखा देना, जहाँ जो चीज हो उसको ढक देना, देखनेवालेकी आँख बाँध देना-यही जादू है। इसी तरह जो नहीं है, वह दिखायी पड़ने लगे और जो है, उसका दीखना बन्द हो जाय- इसीका नाम माया होता है।

मायाके बिना अद्वितीय अनन्त परमात्मामें यह सृष्टि दिखायी नहीं पड़ सकती। उपासक लोग मायाको भगवान्‌की अचिन्त्य शक्ति कहते हैं और वेदान्ती लोग देहात्म-भ्रमके कारण सृष्टिकी। संगति लगानेके लिए भगवान्‌में मायाको अध्यारोपित मानते हैं। लेकिन चाहे अध्यारोपित मानो, चाहे भगवान्‌की अचिन्त्य शक्ति मानो, यह जो समग्र सृष्टि पैदा हुई है, भगवान्‌की माया ही है, भगवान्‌के जादूका खेल ही है।

जो अनित्यवस्तु होती हैं, उसीका जन्म होता है। यह सृष्टि आने-जानेवाली है, पैदा होनेके कारण मरने वाली है और परिवर्तनशील है। किन्तु इसमें जो जीव है, वह नित्य है।

दुनियामें ऐसा कोई माई का लाल नहीं है, जो यह अनुभव कर ले कि मैं नहीं हूँ। ऐसा कोई व्यक्ति न हुआ है, न है और न आगे होनेवाला है। यह भौतिक विज्ञान नहीं है कि इसमें न जाने क्या-क्या आविष्कार होने की संभावना है। यह तो अनुभवका क्षेत्र है। यहाँ सर्वथा सुनिश्चित है कि कोई भी'मैं नही हूँ'- ऐसा अनुभव नहीं कर सकता। कोई भी वस्तु चाहे वह ज्ञान हो, चाहे अज्ञान हो, ज्ञानसे ही विदित होती है। ज्ञानके बिना सुषुप्ति भी प्रकाशित नहीं होती, समाधि भी प्रकाशित नहीं होती, प्रलय भी प्रकाशित नहीं होता। यहाँतक कि ज्ञानका लोप भी ज्ञानसे ही मालूम पड़ता है।

यहाँ एक बातपर आप ध्यान दीजिये। पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिणकी जो चारों दिशाएँ हैं, कहाँसे पैदा होती हैं ? क्या आप बता सकते हैं कि पूर्व-से-पूर्व, पश्चिम-से-पश्चिम कहाँसे शुरू हुआ है ? इसी तरह पूर्व-पश्चिमका कहाँ अन्त होता है, कोई बता नहीं सकता है। ऊपर और नीचे कहाँ-कहाँसे प्रारम्भ होते हैं, किसीको मालूम है ? उसका एक मात्र उत्तर यही है कि किसीको भी पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण और ऊपर-नीचेकी दिशाओंके आदि-अन्तका पता नहीं है।

लेकिन अध्यात्म इसका उत्तर देता है। वह कहता है कि जहाँ आपका मैं है, वहींसे पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण और ऊपर-नीचेकी दिशाएँ शुरू होती हैं। यदि आप इनको दूसरी जगह ढूँढने जायेंगे तो ये आपको कहीं भी नहीं मिलेंगी। केवल आपको अज्ञान मिलेगा, और आप उसके अन्धकारमें डूब जायेंगे। इसलिए आपको पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ऊपर-नीचेकी दिशाओं तथा इतिहासका आदि ढूँढनेके लिए कहीं बाहर जानेकी जरूरत नहीं है। आपका जहाँ मैं है, वहीं सच्चा आदि है, वहीं अनादि बैठा हुआ है और वहीं उसी ज्ञान्स्वरूप मैंमें परमात्मा है। फिर आपको अज्ञानमें भटकनेकी क्या जरूरत है ?

यदि आप कहें कि सृष्टिकी उत्पत्ति मैंसे कैसे होती है ? क्योंकि मैं तो साक्षी है, ज्ञानस्वरूप है, उसके द्वारा किस प्रकार सृष्टि होगी, तो इसका उत्तर है कि सृष्टि इस प्रकार नहीं होती, मायासे सृष्टि होती है। जबतक सृष्टि दिखायी पड़ती है, उसके कारण ही कल्पना करनी पड़ती है।

भागवतमें सृष्टिकी उत्पत्तिका निरूपण क्रमसे किया गया है और फिर बताया गया है कि भगवान्का जन्म कैसे होता है ? जो अनित्य है, उसीकी उत्पत्ति होती है। जो नित्य और परिच्छिन्न जीव है, उसका अनित्यसे समागम होता है तथा जो नित्य अपरिच्छिन्न परमात्मा है, उसमें सारी-की-सारी सृष्टि मायासे आविर्भूत होती है। इसप्रकार उत्पत्तिके प्रसंगका निरूपण द्वितीय

स्कन्धके पाँच, छः और सात इन तीन अध्यायोंमें किया गया है। पहले मायासे जगत्की उत्पत्ति, फिर जीवका समागम और तत्पश्चात् भगवान्के अवतारका वर्णन।

इसके बाद द्वितीय स्कन्धके आठ, नौ, दस इन तीन अध्यायोंमें उपपत्ति द्वारा परमात्माका निरूपण है। उपपत्तिका दूसरा नाम मुक्ति है। हम बचपनमें भगवान्की नाभिसे ब्रह्माकी उत्पत्ति की कथा सुनकर समझते थे कि जैसे हमारी नाभि होती है, वैसे ही भगवान् नारायणकी नाभि होती होगी। वे वहीं सोते रहते होंगे, उनकी नाभिमें-से निकलकर एक कमल खिल जाता होगा और उस पर ब्रह्मा पैदा हो जाते होंगे। लेकिन वेदशास्त्रोंका अभिप्राय तो यह है कि जो समग्र व्यापक आकाश है, यह भगवान्की नाभि है-नभ एव नाभि। फिर जिनकी नाभि इतनी बड़ी है, वे भगवान् कितने बड़े होंगे ? उनकी नाभिमें, आकाशमें एक कमल, एक ख-पुष्प खिला और उसपर ब्रह्माजीकी उत्पत्ति हुई। लेकिन एक ब्रह्माही नहीं, कोटि-कोटि ब्रह्मा, कोटि-कोटि विष्णु और कोटि-कोटि रुद्र परमात्माके स्वरूपमें प्रकट होते हैं।

तो जब अनन्त नारायणकी नाभिसे एक कमल निकला और उस कमलपर ब्रह्मा उत्पन्न हुए तब ब्रह्माने चारों ओर देखनेका प्रयास किया। उनके चार मुँह हो गये। उनको यह विचार हुआ कि उनके सिवाय तो और कुछ है ही नहीं। फिर वह कौन है, जिससे मैं प्रकट हुआ हूँ। उन्होंने ढूँढनेका प्रयास किया, लेकिन उनको अपना कारण न बाहर मिला और न भीतर मिला। भला, अपने पिताका जन्म कोई कैसे जान सकता है-'पिताको जन्म कि जाने पूत ?' ब्रह्माजी को प्रयास करनेपर कुछ पता नहीं लगा।

इसके बाद ब्रह्मा जब अपनी उत्पत्तिका आधार जाननेके लिए व्यग्र हो गये तब उन्हें यह आकाशवाणी सुनाई पड़ी कि 'तप-तप-तप !' वर्णोंमें जो सोलहवें और इक्कीसवें अक्षर 'त' तथा 'प' हैं, वे दोनों उनको सुनाई पड़े। उन्होंने आलोड़न करके देखा कि जो व्यापक विश्व-तत्त्व है, नारायण है, परमेश्वर हैं वह और कहीं नहीं, यहीं हैं। फिर, ब्रह्माजीको भगवान्का दर्शन वहीं हो गया। उनपर भगवान् प्रसन्न हो गये और बोले कि ब्रह्माजी, तुमने बहुत तप किया; अब तुम्हारी जो इच्छा हो, वह वर मुझसे माँग लो।

यहाँ देखो, अन्तःकरणका जो अधिदैव है, इसमें चार प्रकारकी वृत्तियाँ होती हैं। यदि आपको अधिदैवका साक्षात्कार करना हो तो पहले अध्यात्मका साक्षात्कार करना होता है। हमारे हृदयके भीतर जो चीजें हैं, उनको तो हम देखते नहीं, बाहरकी चीजोंको देखनेके लिए निकल पड़ते हैं। जिस चीजको आपने अपने घरमें नहीं पहचाना, उसको बाहर जाकर कैसे पहचानेंगे ?

पहचानिये, ब्रह्माजीका रंग लाल है। सृष्टिके कर्ता हैं, इसलिए उनमें रजस्‌की प्रधानता है। फिर, बिना ज्ञानके सृष्टि नहीं हो सकती, इसलिए ज्ञान-विवेकका पक्षी हंस उनका वाहन है। चारों वेद उनके चारों मुखमें हैं। उनके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ हैं संकल्परूप मन, विकल्परूप चित्त, निश्चयरूप बुद्धि और अहंक्रियारूप अहंकार। इन सबसे सम्पन्न होकर ब्रह्माजी सृष्टिका निर्माण करते हैं।

जब भगवान्‌ने ब्रह्माजीको दर्शन दिया तब उनपर प्रसन्न होकर उनसे हाथ मिलाया-'करे स्पृशन्।' ब्रह्माजीने भगवान्‌को प्रणाम किया और वे बोले-'महाराज मुझे तो तत्त्वविज्ञान चाहिए।' इसपर भगवान्‌ने उनको चतुःश्लोकी भागवत का उपदेश किया, चार श्लोकोंमें पूरा भागवत सुना दिया। उनमें प्रवेश करनेके लिए शुद्ध बुद्धि चाहिए। ब्रह्माजीने जब तप किया तब उनको भगवान्‌के दर्शन हुए और उन्होंने उनके उपदेशको समझा।

इस प्रसंगमें आपको मैं एक सीधी-सी बात सुनाता हूँ। आप जो कुछ देखते या मानते हैं, उसको भगवान्‌की दृष्टिसे मिलाइये और फिर देखिये कि आपका देखना-मानना भगवान्‌की दृष्टिसे ठीक है या नहीं ? आप सोचिये कि ईश्वर सब-कुछ देख रहा है तब जैसा ईश्वरको दीखता है, वह सच है या जैसा आपको दीखता है, वह सच है ? आपकी इन छोटी-छोटी अक्षम आँखोंसे तो फलांग-दो-फलांगकी चीज भी ठीक-ठीक नहीं दिखाई देती, सूक्ष्म कण भी नहीं दिखाई पड़ते, फिर इन आँखोंसे जो दिखाई देता है, उसीको सच मानकर आप उसमें क्यों फँस जाते हैं ? पूर्णताकी दृष्टिसे क्या सत्य होता है, इसपर आपका ध्यान क्यों नहीं जाता ? अरे, जिसमें पूर्व पश्चिम, उत्तर-दक्षिण और ऊपर-नीचे नहीं है, भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों नहीं हैं, उसका आदि किसीने देखा है ? भविष्यका अन्त किसीने देखा है ? वर्तमानमें ही तो जो बीतता जाता है, उसका नाम भूत होता जाता है और जो आने वाला होता है, उसका नाम भविष्य होता जाता है। जैसा कि आपको बताया गया; जहाँ मैं है, वहीं कालका अन्त है और वहीं परमात्मा है। यदि वहाँ परमात्मा न हो तो किसी भी कालके आदि अथवा अन्तमें आपकी बुद्धि नहीं पहुँच सकती। इसी प्रकार देशके आदि-अन्तमें आपकी बुद्धि नहीं पहुँच सकती। इसलिए जब आप ईश्वरको दृष्टिसे देखेंगे, ईश्वरके साथ एक हो जायेंगे, तादात्म्यापन्न हो जायेंगे तभी इस सृष्टिका स्वरूप समझ सकेंगे। अभी तो आपका कोई है और कोई नहीं है, कोई अपना है, कोई पराया है; कोई मित्र है और कोई शत्रु है; कोई अच्छा है, कोई बुरा है; किन्तु जब आप ईश्वरकी दृष्टिसे देखेंगे तब यह जान सकेंगे कि इस सृष्टिका रहस्य क्या है ? भगवान् ब्रह्माजी से कहते हैं—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्।। २-९-३२

सृष्टिसे पहले मैं ही था, मैं ही हूँ, मैं ही रहूँगा। यह काल तो तुम मेरे अन्दर अपने देहकी दृष्टिसे कल्पित करते हो ! मैं तो ज्यों-का-त्यों रहता हूँ। मेरे सिवाय न कोई स्थूल है, न सूक्ष्म है, न चर है, न अचर है, सब मैं ही हूँ। पहले भी मैं हूँ, पीछे भी मैं और जो कुछ है सब मैं-ही-मैं। मैं ही अवशिष्ट तत्त्व हूँ। मेरे अतिरिक्त दूसरी किसी वस्तुकी सत्ता ही नहीं है।

जो चीज न हो, उसको दिखानेवाली और जो चीज हो, उसको ढकनेवाली माया ही तो है-'यथाऽऽभासो यथा तमः।' ये जितने भी पुतले बने हुए हैं-जैसे मनुष्यके, पशुके, पक्षीके, वृक्षके, लताके-इन सबमें पाँच भूत भरे हुए हैं। मिट्टीमें पानी है, पानीमें आग है, आगमें वायु है और वायुमें आकाश है। जब हम शान्त बैठे रहते हैं तब आकाशमें स्थित रहते हैं, जब हम दौड़ते हैं तब गति उत्पन्न होने के कारण शरीरमें गर्मी आती है, गर्मीसे पसीना आता है और पसीना जमकर माटी हो जाता है। समग्र विश्व-सृष्टि पञ्चभूतमें कल्पित है और बड़े भूत छोटे भूतोंमें कल्पित रहते हैं। आकाश वायुको, वायु अग्निको और अग्नि तेजको धारण करता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण विश्व-सृष्टिमें मैं भरपूर हूँ, मेरे अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा।। २-९-३५

देखो, यहाँ उस व्यक्तिकी बात नहीं कि जो केवल यह जानना चाहता है कि खाने-पहननेकी, पद-अधिकारकी चीज क्या है ? जिसके हृदयमें धन चले जानेसे, रोग हो जानेसे मृत्युकी कल्पनासे भय लगता है और जिसकी दृष्टि सत्यका अनुसन्धान करनेकी ओर नहीं जाती, उसका जीवन तो नशेमें बीत रहा है।

यहाँ बात की जा रही है उस एक जिज्ञासुकी; जो सत्यको, असलियतको जानना चाहता है, जिसके हृदयमें यह वेदना है कि हाय-हाय मुझको इतना अच्छा जीवन प्राप्त हुआ, बुद्धि प्राप्त हुई; लेकिन सच क्या है यह मुझे मालूम नहीं है। इस प्रकार अज्ञानकी पीड़ा जिसके हृदयमें है, उसके लिए भगवान् ब्रह्माजीको निमित्त बनाकर कहते हैं— जो चीज हर समय, हर जगह, हर रूपमें मौजूद है, जिसके होनेसे सब मालूम पड़ता है और सबके बिना भी जो मालूम पड़ता है उस चीजको तुम जान लो। उसको जान लेनेपर तुम देखोगे कि वह वस्तु तुम्हारी आत्मासे एक है और उसीसे वहीं सत्यका साक्षात्कार होता है।

इस प्रकार चतुःश्लोकी भागवतमें भगवान्ने ब्रह्माजीको निमित्त बनाकर समस्त जिज्ञासुओंको अपने अनन्त विस्तारका, अपनी मायाके खेलका, सृष्टिकी उत्पत्तिका और जीव-जगत्के अन्तिम ज्ञातव्यका वर्णन किया है।

देखो, जैसे चतुःश्लोकी भागवत है, वैसे ही चतुःश्लोकी महाभारत भी है। चतुःश्लोकी महाभारतको महाभारतकी गायत्री अथवा सावित्री भी बोलते है। जिस प्रकार चार श्लोकोंमें समग्र श्रीमद्भागवतके ज्ञानका वर्णन है, उसी प्रकार चार श्लोकोंमें महाभारत जैसे विशालकाय महाग्रन्थके प्रतिपाद्यका भी वर्णन है।

इसके बाद द्वितीय स्कन्धके अन्तिम दसवें अध्यायमें श्रीशुकदेवजी महाराज परीक्षितको यह बताते हैं कि इस भागवत महापुराणमें दस वस्तुओं द्वारा परमात्माके स्वरूपका वर्णन किया गया है। वे दस वस्तुएँ क्या हैं ? एक तो यह कि सृष्टि कैसे हुई ? दूसरी यह कि इसमें विविध योनियाँ कैसे बनीं ? एक ही तो तत्त्व, एक ही पञ्चभूत ! उसमें मनुष्य-पशु-पक्षी और कीड़े-मकोड़े आदि कैसे बन जाते हैं ? विविधता कहाँसे आजाती है ? तीसरी यह कि सृष्टि किस स्थानमें टिकी हुई है ? चौथी यह कि इसके सूखनेपर इसको सींचनेवाला कौन हैं ? पाँचवी यह कि वासनाएँ कैसे-कैसे होती हैं ? छठी यह कि कालका विभाग कैसे होता है ? सातवीं यह कि भक्तोंके चरित्र कैसे होते हैं ? आठवीं यह कि भगवान्के प्रेममें मनका निरोध कैसे होता है ? नवीं यह कि मुक्ति क्या है ? और, दसवीं यह कि सबके अधिष्ठान परमात्माका स्वरूप क्या है ? इन दस वस्तुओंके निरूपण द्वारा सारे श्रीमद्भागवतमें एक ही तत्त्व, एक ही परमात्माका वर्णन है।

यहाँतक तो हुआ श्रीमद्भागवतके पहले और दूसरे स्कन्धोंके विषयोंका सारांश। पहले स्कन्धमें बताया गया कि भागवतके अधिकारी वक्ता-श्रोता सूत-शौनक, नारद-व्यास और शुकदेव-परीक्षित कैसे हैं तथा दूसरे स्कन्धमें यह प्रतिपादित किया गया कि भगवत्प्राप्तिके लिए श्रवण ही मुख्य साधन है और उसके इतने अंग हैं।

अब आप लोग भागवतके तीसरे स्कन्धका सारांश सुनिये। तीसरे स्कन्धमें तैंतीस अध्याय हैं। इनमें विसर्गके द्वारा परमात्माका वर्णन है विसर्गका अर्थ है सृष्टिकी विविधता। ब्रह्मके प्रकाशमें गुणोंकी विषमतासे जो विविध प्रकारकी सृष्टि होती है, उसको विसर्ग कहते हैं।

परन्तु यहाँ विसर्ग शब्दका अर्थ बहुत विलक्षण है। आपने गीतामें पढ़ा है कि इस संसारमें दो प्रकारके भूतसर्ग होते हैं-एक दैव सर्ग और दूसरा आसुर सर्ग—

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।

इसलिए तीसरे स्कन्धके पूर्वार्द्धके उन्नीस अध्यायोंमें आसुर विसर्गका और उत्तरार्द्धके चौदह अध्यायोंमें दैव विसर्गका वर्णन है। आसुर विसर्गमें हिरंण्याक्ष, हिरण्यकशिपुकी कथा है और दैव विसर्गमें मनु-शतरूपा, कर्दम-देवहूति तथा कपिल-अदितिकी वंश-परम्पराका वर्णन है।

अब मैं आपको उसका थोड़ा-सा क्रम बताता हूँ। बात उस समयकी है, जब कौरव-पाण्डवोंकी ओरसे महाभारत-युद्धकी तैयारी हो रही थी। विदुरजी धृतराष्ट्रके पास बुलाये गये। क्यों बुलाये गये ? इसलिए बुलाये गये कि धृतराष्ट्रको चिन्ताके मारे नींद नहीं आ रही थी। उनको यह चिन्ता सता रही थी कि अब कौरव-पाण्डवोंमें युद्ध होगा और वंशका नाश हो जायगा ! ऐसी स्थितिमें हमें क्या करना चाहिए ?

धृतराष्ट्रका नाम बड़ा सार्थक था। उन्होंने दुनियाको बड़े जोरसे पकड़ रखा था। उनको परमात्मा तो सूझता ही नहीं था, केवल दुनिया सूझती थी। वे परमात्माके न सूझनेके कारण अन्धे थे और दुनियाको पकड़ रखनेके कारण धृतराष्ट्र थे।

इधर विदुरजी साक्षात् ज्ञानकी मूर्ति और धर्मराजके अवतार थे। आप लोगोंने सुना होगा कि जब भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवोंके दूत बनकर हस्तिनापुर गये थे तब दुर्योधनने उनके लिए अपने महल सजा दिये, उनको भेंटमें देनेके लिए बहुमूल्य हीरे-मोतियोंका ढेर लगा दिया और उनसे प्रार्थना की कि आप हमारे यहाँ विश्राम कीजिये और भोजनपर पधारिये।

परन्तु भगवान् श्रीकृष्णने यह उत्तर दिया कि दुर्योधन, मुझे कोई प्रेमसे खिलाता है तो मैं उसके घर अवश्य खाता हूँ। यदि भूखा होऊँ तो कहीं माँगकर भी खा लेता हूँ। लेकिन तुम न तो मुझे प्रेमसे खिलाना चाहते हो और न मैं भूखा हूँ। इसलिए मैं तुम्हारे घरमें न तो ठहरूँगा और न भोजन करूँगा—

सप्रीति भोज्यान्यन्यानि आपद्भोज्यानि वा पुनः।
न च त्वं प्रीयसे राजन् न चैवापद्गतोऽह्यहम्।। –महाभारत

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण बिना बुलाये ही विदुरके घर चले गये। भागवतके इसी तीसरे स्कन्धके प्रारम्भमें श्रीशुकदेवजी महाराजने परीक्षितसे कहा कि भगवान् विदुरके घरको अपना ही घर समझते थे, इसलिए वे दुर्योधनके निमन्त्रणको ठुकराकर अपने आप वहाँ चले गये-

पौरवेन्द्रगृहं हित्वा प्रविवेशात्मसात्कृतम्। ३.१.२

वही विदुरजी जब बुलाये जानेपर धृतराष्ट्रके पास गये तब उन्होंने उनको न्यायकी, सत्यकी, निष्पक्षताकी बात समझायी और कहाकि तुम्हें अपने तथा पाण्डुके पुत्रोंके साथ विषमताका व्यवहार नहीं करना चाहिए। तुम्हारे घरमें दुर्योधनरूपी कलियुगका अवतार हुआ है और यह वंशका नाश करनेके लिए आया है।

यह बात जब दुर्योधनको मालूम हुई तब वह विदुरजी पर बहुत नाराज हुआ। इसपर विदुरजीने अपना धनुष-बाण वहीं धृतराष्ट्रके दरवाजेपर रख दिया, जिससे कि कोई यह न समझे कि मैं पाण्डव-पक्षमें मिलकर कौरवोंके साथ युद्ध करूँगा और फिर वे घर-नगर छोड़कर तीर्थाटनके लिए निकल पड़े। विभिन्न तीर्थोका भ्रमण करते हुए जब वे यमुना-तटपर पहुँचे तब वहाँ उनकी भेंट उद्धवजीसे हो गयी। उनसे विदुरजीने द्वारकाका कुशल-मंगल पूछा।

तबतक भगवान् श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो चुके थे। सिर्फ उद्धवजी ही बचे थे। उद्धवजी विदुरजी द्वारा कुशल-मंगल पूछनेपर श्रीकृष्णके स्मरणमें मग्न हो गये, उनकी आँखोंसे आँसू गिरने लगे और उनके शरीरमें रोमाञ्च हो गया।

आपने सुना होगा कि जब उद्धवजी पाँच वर्षके थे, तभीसे श्रीकृष्णकी पूजा करते थे। उनकी माँ, पुकारती कि बेटा, आओ कलेवा कर लो तो कहते कि नहीं माँ, अभी मैं श्रीकृष्णकी पूजा कर रहा हूँ। जब पूजा पूरी हो जायेगी तब कलेवा करने आऊँगा। वह उद्धवजी आज श्रीकृष्णसे बिछुड़ गये थे। इसलिए बहुत बड़े विद्वान्, विज्ञ मन्त्री, गुप्त रहस्योंके ज्ञाता ओर तत्त्वज्ञानी होते हुए भी उद्धवजीको जब विदुरजीके द्वारा श्रीकृष्णका स्मरण हुआ तब वे उनके प्रेमभावमें निमग्न हो गये।

थोड़ी देर बाद जब उद्धवजी होश में आये तब विदुरजी के प्रश्नोंका उत्तर देने लगे। उन्होंने कहा कि विदुरजी, अब न तो देवकी-वसुदेव हैं और न प्रद्युम्न-अनिरुद्ध आदि है। भगवान्की ऐसी माया है कि इस संसारमें जो चीज ऊँचे चढ़ती है, वह नीचे भी गिर जाती है। यही यहाँका नियम है कि जो इकठ्ठी की जाती है, वह बिखर जाती है और जिससे संयोग होता हैं, उससे वियोग भी होता है। यही सब देखकर और श्रीकृष्णका उपदेश सुनकर मैं यहाँ आया हूँ। अब यमुनाके किनारेसे गंगा-किनारे जाकर उसी मार्गसे चलकर बदरीनाथकी यात्रा करूँगा और वहाँ तपस्या द्वारा भगवान्की आराधना करके फिर जैसी भगवान्की आज्ञा होगी, वैसा करूँगा। अभी तो उनकी यही आज्ञा है।

इसके पश्चात् जब विदुरजीने अनुरोध किया कि आप मुझे वह ज्ञान

सुनाइये, जो श्रीकृष्णने आपको दिया है तब उद्धवजी बोले कि विदुरजी भगवान् श्रीकृष्ण परमधाम-गमन करते समय आपका स्मरण कर रहे थे।

यह सुनते ही विदुरजीका हृदय भर आया। वे इस बातसे गद्‌गद् हो गये कि भगवान् श्रीकृष्णने स्वधाम पधारते समय उनका स्मरण किया। उद्धवजी ने कहा कि विदुरजी, भगवान् श्रीकृष्ण आपके लिए यह आज्ञा कर गये हैं कि आप मैत्रेयजीके पास चले जाइये। क्योंकि मैत्रेयजी भी मेरे साथ ही श्रीकृष्ण का उपदेश सुन रहे थे। उन्होंने उपदेश देनेके बाद मैत्रेयजीको यह आज्ञा की कि जब विदुरजी तुमसे मिलें, तब तुम उन्हें मेरे ज्ञानका उपदेश कर देना।

इसके बाद विदुरजी तो वहाँसे गंगा-तटकी ओर चले गये और परीक्षितने यह प्रश्न कर दिया कि महाराज, जब सारे यदुवंशका नाश हो गया तथा त्रिगुणमयी नर्तकी मायाको नचानेवाले भगवान् भी अपनी आकृति छोड़कर स्वधाम चले गये तब उनके चचेरे भाई उद्धवजी यदुवंशमें कैसे बच गये ?

इस प्रश्नका उत्तर देते हुए श्रीशुकदेवजी महाराजने कहा कि देखो परीक्षित, जब भगवान् काँटे से काँटा निकल जानेपर यह निश्चय कर चुके कि इस यदुवंशरूप शरीरको छोड़ना है तब उनके मनमें यह विचार आया कि मेरा ज्ञान कहाँ रहेगा ? संसारमें कैसे फैलेगा ? इसी समय उनको उद्धवजीकी याद आयी और वे बोले-

नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनो यद्‌गुणैर्नार्दितः प्रभुः। ३-४-३१

देखिये, संसारके विषय मनुष्यको रौंद देते हैं, अपने नीचे दबा देते हैं। चेतन हो जाता है नीचे और संसारकी सम्पत्ति हो जाती है ऊपर ! स्वयं सोचिये कि जब आप कुर्सीपर बैठे रहते हैं तब आप कुर्सीपर बैठे रहते हैं या कुर्सी आपपर बैठी रहती है ? जब आप विचार करके देखेंगे तब आपको दिखायी देगा कि आपके दिल-दिमागपर तो कुर्सी बैठी हुई है और आपका शरीर मात्र कुर्सी पर बैठा हुआ है। इसीलिएसंसारके वैभव और विषय-भोगको आप अपने पाँव के नीचे नहीं रौंदते, वे स्वयं आपके दिल-दिमाग और जीवात्मा को रौंदकर रख देते हैं, उनका अर्दन-मर्दन कर देते हैं।

इसीलिए भगवान् श्रीकृष्णने कहा कि उद्धवजी तो साक्षात् मेरे सरीखे ही हैं। क्योंकि संसारके विषयोंने इनको अपने नीचे दबाया नहीं है, कुचला नहीं है। मेरा ज्ञान-धारण करने योग्य उद्धवजी ही हैं। उनको मेरे अन्तर्धान होनेके बाद भी इस धरतीपर रहना चाहिए।

श्रीमद्भागवतके इसी तृतीय स्कन्धके तीसरे अध्यायमें यह वर्णन आया है कि भगवान् श्रीकृष्णको सोनेकी बनी द्वारकासे, वहाँके असीम भोग-सुखसे,

यहाँतक कि अपनी अनिन्द्यसुन्दरी सद्गुणवती पत्नियोंसे भी वैराग्य हो गया था। यह बात स्वयं उद्धवजी कहते हैं-

तस्यैवं रममाणस्य संवत्सरगणान् बहून्।
गृहमेधेषु योगेषु विरागः समजायत।। ३-३-२२

देखो, भगवान्के वैराग्यका कारण क्या था ? उनकी पत्नियाँ आपसमें राग-द्वेष रखने लगी थीं। बलरामजी से भी उनका थोड़ा मतभेद हो गया था। बेटों-पोंतोका यह हाल कि कोई उनकी सुनता नहीं था। वे सब वही खायें-पीयें और करें, जिसके लिए श्रीकृष्ण मना करें। उनका आपसमें लड़ना-झगड़ना भी होता रहता था। वे इतने उद्दण्ड हो गये थे कि जब श्रीकृष्ण किसी बातके लिए मना करें तब उनके ऊपर प्रहार करने का प्रयास करने लगे।

इसलिए भगवान् श्रीकृष्णने सोचा कि मैंने राग तो बहुत प्रकट किया, अब वैराग्य भी प्रकट करना चाहिए। भगवान्के जीवनमें राग-वैराग्य, धर्म-अधर्म, ज्ञान-अज्ञान और सुख—दुःख सब-के-सब रहते हैं। इसलिए उन्होंने वैराग्य प्रकट किया और विरक्त होकर उद्धवजी को ज्ञान-दान करनेके बाद अन्तर्धान हो गये।

अब आगे यह वर्णन आता है कि जब विदुरजी उद्धवजीके पाससे चलकर गंगा-तटपर पहुँचे तब वहाँ अगाध बोधस्वरूप मैत्रेयजी विद्यमान मिले—'मैत्रेयमासीनमगाधबोधम्।' विदुरजीने मैत्रेयजीके साधु-स्वभावसे आप्यायित होकर उनसे पूछा कि महाराज, संसारके लोग सुखके लिए काम करते हैं- 'सुखाय कर्माणि करोति लोकः।' सब चाहते हैं कि सुख मिले, लेकिन उस सुखका स्वरूप क्या है ?

अब आप यहाँ सुखके स्वरूपपर ध्यान दीजिये। आपको कितने दिनोंके लिए सुख चाहिए ? इसका उत्तर आप यही देंगे कि हमेशाके लिए सुख चाहिए। लेकिन हमेशाके लिए सुख चाहिए तो आप जब हमेशा रहनेवाली चीजमें उसको ढूँढेंगे तब न वह हमेशा रहेगा। अन्यथा यदि मरने वाली चीज में हमेशा बना रहनें वाला सुख ढूँढेंगे, तब वह कैसे मिलेगा !

इस प्रश्नपर भी विचार कीजिये कि आपको कहाँ-कहाँ सुख चाहिए ? इसका उत्तर आप यह देंगे कि सब जगह। लेकिन यदि आपको सब जगह सुख चाहिए तो जब आप सब जगह रहनेवाली चीजमें सुख लेंगे तब वह सब जगह मिलेगा। अथवा कहीं-कहीं रहनेवाले पदार्थमें सुख लेंगे तब वह सब जगह कैसे मिलेगा ?

यदि आपको सबसे सुख चाहिए तो जो सब हो, उससे सुख चाहेंगे तब

न वह सबसे मिलेगा ! जो सब नहीं होगा, उससे सुख चाहनेपर सबसे सुख कैसे मिलेगा ?

यदि आप बिना परिश्रम किये सुख चाहते हैं तो जो आपके घरमें, हृदयमें बैठा है, उससे सुख क्यों नहीं चाहते ? यदि आप पराधीन नहीं, स्वाधीन सुख चाहते हैं, तो जो स्वाधीन है उससे सुखकी चाह कीजिये। इसी तरह आपको ज्ञात सुख, मालूम पड़ता हुआ सुख, जगमगाता हुआ सुख चाहिए तो वह वैसे ही पदार्थ से मिलेगा।

कहनेका मतलब यह हैं कि आप जो चाहते हैं कि आपको सब जगह सब समय, सबसे, बिना परिश्रमके, पराधीनताके, पराधीनता रहित और जगमग-जगमग मालूम पड़ता हुआ सुख मिले तो ऐसा सुख भगवान्‌के सिवाय और कहीं भी नहीं मिल सकता।

इसीलिए विदुरजीने कहा कि मुनिवर मैत्रेयजी, दुनियामें लोग सुखके लिए तो काम करते हैं, लेकिन उनको मिलता है दुःख। न तो उन्हें सुखकी प्राप्ति होती है और न उनके दुःखकी निवृत्ति होती है। इसलिंए आप कृपा करके बताइये कि इसका कारण क्या है ? यदि सब-कुछ ईश्वर ही है तो जीवन दुःखी क्यों है ? बन्धनमें क्यों है ? जीव ईश्वर भी हो, बन्धनमें भी हो, परमात्माका स्वरूप भी हो और दुःखी भी हो तथा अपनेको मरनेवाला भी मानता हो, यह सब कैसे हो गया ?

मैत्रेयजीने उत्तर दिया-विदुरजी, यह सब भगवान्‌की माया है-

सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते। ३-७-९

जहाँ दुःख नहीं है, वहाँ दुःख मालूम पड़ रहा है और जहाँ सुख है, उसको हम जानते ही नहीं हैं। हमलोग तो उस दुनियामें भटक रहे हैं, जहाँ अन्धकार ही अन्धकार है और जो प्रकाशकी सृष्टि है, उससे हम विमुख हो रहे हैं। भगवान्‌की माया ऐसी है, जो विचारसे सिद्ध नहीं की जा सकती। विचारसे सिद्ध होनेवाली चीज माया नहीं होती, वह तो स्वाभाविक होती है। वैज्ञानिक रीतिसे जो चीज पैदा की जाये, उसको माया नहीं कहते। माया उसको कहते हैं, जो किसी विज्ञानसे तो सिद्ध न हो, परन्तु मालूम पड़े। मैत्रेयजीने आगे कहा—

अशेषसंक्लेशशमं विधत्ते गुणानुवादश्रवणं मुरारेः।
कुतः पुनस्तच्चरणारविन्दपरागसेवारतिरात्मलब्धा।। ३-७-१४

आओ, विदुरजी, बैठ जाओ। तुम सुनो और मैं तुम्हें सुनाऊँ भगवान्‌की कथा ! जब भगवत्कथाके श्रवणमें तुम्हारा मन लग जायेगा तब तुम्हारे जितने

भी अशेष क्लेश हैं, उन सबकी निवृत्ति हो जायेगी। समस्त क्लेशोंकी निवृत्तिका उपाय भगवान्‌की कथाका श्रवण ही है।

अब आजका समय पूरा हो चुका है कल आपको संक्षेपमें विदुर-मैत्रेयके संवादके साथ-साथ यह सुनाया जायेगा कि शेष भगवान् किस प्रकार भगवत्कथा कहते हैं, वराह भगवान्‌का अवतार कैसे हुआ और उन्होंने हिरण्याक्षको कैसे मारा ? कपिल-देवहूतिका प्रसंग भी कल ही आयेगा।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

: ३ :

एक ओर नैमिषारण्यमें सूत-शौनक संवाद हो रहा है और दूसरी ओर गंगाजीके तटपर दो संवाद चल रहे हैं-शुक-परीक्षित-संवाद तथा विदुर-मैत्रेय-संवाद। जब एक ही बातको भिन्न-भिन्न स्थानोंपर, भिन्न-भिन्न समयमें, भिन्न-भिन्न सन्त महात्मा दुहराते हैं तब वह बात अत्यन्त परिपुष्ट और प्रामाणिक मानी जाती है। जब कोई भी बात दो बार कही जाती है तब मीमांसक लोग मानते हैं कि वह बहुत गंभीर बात है।

जब मैत्रेयजीने भागवतकी चर्चा प्रारम्भ की तब सबसे पहले अपनी गुरु-परम्परा बतायी। उन्होंने कहा कि प्रलयमें भी जो शेष रह जाता है, वहाँसे हमारे ज्ञानकी परम्परा प्रारम्भ है और वह हमको सनत्कुमार, सांख्यायन, बृहस्पतिके द्वारा प्राप्त हुआ है।

देखो, नये-नये सत्योंके लिए तो नया-नया ज्ञान होता है, लेकिन जो अद्वितीय अनन्त सत्य होता है, उसके लिए अनादि अनन्त सत्य ही ज्ञान होता है। इस संसारमें जो नये-नये आविष्कार होते हैं, उनमें सबसे बादका वैज्ञानिक आविष्कार ही प्रामाणिक माना जाता है। औषधियोंके विचारके प्रसंगमें भी जो अन्तिम औषधि होती है, उसीको प्रामाणिक मानते हैं। परन्तु जहाँ शाश्वत सत्यका विचार होता है कि अनादि-अनन्त-निर्विकार-निर्धर्मक-निर्विषयक परम तत्त्व क्या है, वहाँ वह ज्ञान प्रामाणिक माना जाता है, प्रमाण होता है, जिसमें ज्ञातापनका अभिमान न हो और परिवर्तनशील ज्ञेयका कोई संस्कार न हो।

यदि कहो कि जब सब-कुछ ईश्वर ने बनाया तब ज्ञान भी बनाया होगा तो यह ठीक नहीं है। क्या ज्ञान बनानेके पहले ज्ञान नहीं था ? क्या ईश्वरने अज्ञानसे ज्ञान बनाया ? नहीं, ज्ञानका निर्माण न तो जीव करता है और न ईश्वर करता है। विषयोंकी उत्पत्ति और उनके विनाशको लेकर ही ज्ञानपर उत्पत्ति-विनाशका आरोप होता है। अन्यथा वह अनादि ही होता है। कालका जन्म कब हुआ ? कालमें कि अकालमें ? देशका जन्म कब हुआ ? देशमें कि अदेशमें ? वस्तुतः इस शाश्वत सत्यके ज्ञानका एकमात्र आधार है ज्ञाता और ज्ञेयके भेदसे शून्य अनादि-अनन्त-अपौरुषेय ज्ञानराशि वेद।

मैत्रेयजीने अपनी ज्ञान-परम्पराका वर्णन करते हुए विदुरजीसे कहा कि जब अखण्ड-ज्ञान-सम्पन्न आदिदेव भगवान् संकर्षण पाताललोकमें विराजमान

थे तब सनकादि ऋषियोंने परम पुरुषोत्तम ब्रह्मका तत्त्व जाननेके लिए अपनी जिज्ञासा प्रकट की। इसपर शेष भगवान्ने कहा कि पहले यह सम्पूर्ण विश्व कारण-वारिमें निमग्न था। फिर भगवान् नारायणके नाभि-कमलसे ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई-

उदाप्लुतं विश्वमिदं तदाऽऽसीद यन्नि द्रयामीलितदृङ् न्यमीलयत्।
अहीन्द्रतल्पेऽधिशयान एकः कृतक्षणः स्वात्मरतौ निरीहः।। ३-८-१०

देखो, एक होता है ब्राह्मकल्प, दूसरा होता है पाद्मकल्प और तीसरा होता है, वाराहकल्प ! ये सब कालके भेद हैं। पृथिवी कभी भगवान्की जाँघसे उत्पन्न होती है और कभी पाँवसे। कभी पानीके मन्थनसे निकलती है और कभी स्वतन्त्ररूपसे परमात्मा द्वारा प्रकट होती है। इस प्रकार पुराणोंमें भिन्न-भिन्न कल्पोंकी रीतिसे पृथिवीके प्राकट्यका वर्णन होता है।

पद्मकल्पमें जब ब्रह्माजी नारायण भगवान्के नाभिकमलपर उत्पन्न हुए और उनके मनमें सृष्टि बनानेका संकल्प हुआ तब उनका शरीर दो भागोंमें विभक्त हो गया। ब्रह्माजीका शरीर स्थूल भौतिक शरीर नहीं होता, समस्त सूक्ष्म-समष्टि ही ब्रह्माजी का शरीर है। इसलिए उनके शरीरके दो भाग हो गये तब एकसे स्वयंभू-पुत्र स्वायंभुव मनु और दूसरे से शतरूपा प्रकट हुई। उनका अर्धभाग शक्तिकी प्रधानतासे, श्रद्धाकी प्रधानतासे परम सुन्दर, परम मधुर, परम कोमल शतरूपाके रूपमें प्रकट हुआ है और अर्धभाग स्वायंभुव मनुके रूपमें पुरूष हो गया। वही दोनों पति-पत्नीके रूपमें परिणित हो गये।

अब मनु-शतरूपाने ब्रह्माजीसे हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि पिताजी, आपकी क्या आज्ञा है ? हमलोग क्या काम करें इसपर ब्रह्माजी प्रसन्न हो गये। क्योंकि पिताके लिए सबसे अधिक प्रसन्नताका अवसर तब होता है, जब सन्तान अपने कर्त्तव्यके लिए उससे आज्ञा माँगे और कहे कि हम आपकी आज्ञाके अनुसार काम करेंगे, बोलिये, हम आपकी क्या सेवा करें ?

इसलिए ब्रह्माजीने प्रसन्न होकर कहा कि तुमलोग सृष्टि बढ़ाओ। मनुने कहा कि पिताजी, हम आपकी आज्ञानुसार सृष्टि तो बढ़ायेंगे। परन्तु उसके रहनेके लिए पहले स्थान तो चाहिए। यदि स्थान नहीं होगा तो सृष्टिको बढ़ाया कहाँ जायेगा ? ब्रह्माजीने मनुकी बातका समर्थन किया और वे सृष्टिके आधारकी उत्पत्तिका विचार करने लगे।

अब आप देखिये कि पृथिवीकी उत्पत्ति कैसे होती है ? जैसा कि पहले बताया गया, उपनिषदोंमें जलसे पृथिवीकी उत्पत्तिका वर्णन है—

अद्भ्यः पृथिवी।

इसी प्रकार ब्रह्मासे भी पृथिवीकी उत्पत्तिका वर्णन है—

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी।।

—मुण्डकोपनिषद्

इस तरह पृथिवी जलसे भी उत्पन्न होती है और साक्षात् परमात्मासे भी प्रकट होती है।

लेकिन यहाँ जो स्वतन्त्ररूपसे उत्पन्न पृथिवी जलमें दबी हुई थी, उसको प्रकट करनेके लिए ब्रह्माजीने विचार किया। उन्होंने सोचा कि वह धारिणी शक्ति कहाँ है ?

देखिये पृथिवीको धारिणी शक्ति, जलको आप्यायनी शक्ति, अग्निको तेजस्विनी शक्ति, वायुको गतिमती शक्ति और आकाशको व्यापिनी शक्ति बोलते हैं। ये सब आत्मदेवकी शक्तियाँ हैं। इसीलिए कहते हैं कि विश्व वहीं से प्रकट होता है, जहाँ आत्मदेवका मैं है। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ऊपर-नीचेकी दिशाएँ प्रकट होती हैं अतः परमात्माको ढूँढ़नेके लिए मैं-का ही अनुसन्धान करना पड़ता है।

तो, जब ब्रह्माजीके मनमें यह चिन्ता हुई कि वह धारिणी शक्ति पृथिवी कैसे प्रकट हो, तब उन्होंने भगवान्‌का ध्यान किया। उसी समय उनकी नासिकासे एक नन्हा-सा वराह प्रकट हुआ। वराह माने शूकर-सूअर। आप ध्यान देंगे तो आपको मालूम होगा कि पृथिवी गन्धगुण-वाली होती है। न्याय-वैशेषिक और योग-सांख्यके मतसे गन्ध तन्मात्रा द्वारा उत्पन्न होती है और गन्धका ग्रहण होता है, नासिकासे। इसलिए पृथिवी हुई अधिभूत, नासिका हुई अध्यात्म और उसमें-से परमात्मा अधिदेव वराह होकर प्रकट हुआ। वराह-मूर्तिको यज्ञ-मूर्ति भी बोलते हैं। उसके रोम-रोममें यज्ञका निवास है।

देखो, पृथिवीके प्रति वराहका कितना प्रेम है, इसका दर्शन आज भी किया जा सकता है। पृथिवीकी जो गन्दी-से-गन्दी अवस्था होती है, वह वराहका भोग्य होती है। वराह पृथिवीमें लोट-पोट करता है और पानी हींढ़कर पृथिवीको ऊपर कर देता है। यज्ञ क्या है ? सबके भरण-षोषण योग्य वस्तुओं को उत्पन्न करना ही तो यज्ञ है। संसारके मैलको अपना भोग्य बनाकर पृथिवीको स्वच्छ रखनेसे बढ़कर दूसरा यज्ञ क्या हो सकता है ?

तो जब ब्रह्माजीकी नाकसे ईश्वरकी अधिदैव शक्ति वराहके रूपमें प्रकट हुई तब वह थोड़े ही समयमें बढ़कर समुद्रमें जा घुसी। वहाँ जब उसने अपने बालोंको फहराया तब समुद्रमें ऐसी लहरें उठीं कि उनमें स्नान करके उर्ध्व लोकके ऋषि पवित्र हो गये।

अब ब्रह्माने वराह भगवान्‌की स्तुतिकी। वराह भगवान् सीधे वहाँ पहुँचे, जहाँ पृथिवी डूबी हुई थी, लीन थी। भगवान्‌ने वहाँसे पृथिवीको निकाला और अपने मुँह पर रख लिया। इसका अर्थ है कि भगवान्‌ने पृथिवीको मुख्य बना लिया। इसके बाद भगवान् बाहर निकले, पृथिवीको स्थापित कर दिया, जिससे कि स्वायंभुव मनु और शतरूपाकी सृष्टि उसपर निवास करे।

देखो, ये सब केवल किस्से-कहानी नहीं हैं। इनमें बहुत-से वैज्ञानिक रहस्य भरे पड़े हैं। परन्तु समयाभावके कारण यहाँ उनकी चर्चा नहीं की जा सकती।

इसी प्रसंगमें विदुरजीने मैत्रेयजीसे यह प्रश्न कर दिया-महाराज; हमने तो सुना है कि जब वराह भगवान् पृथिवीका उद्धार करने गये तब वहाँ उनकी भेंट आदिदैत्य हिरण्याक्षसे हो गयी। हिरण्याक्षसे उनका युद्ध हुआ और उन्होंने हिरण्याक्षको मार दिया। इसलिए जब आप पृथिवीके उद्धारकी कथा सुना रहे हैं तब कृपा करके विस्तारपूर्वक यह प्रसंग भी सुनाइये कि हिरण्याक्षने कैसे बाधा डाली और किस प्रकार वराह भगवान्‌ने उसको नष्ट किया ?

देखो, यहाँ यह प्रश्न उठता है कि उस समय तो ब्रह्माजीने सृष्टि प्रारम्भ की ही थी, उनसे केवल मनु-शतरूपा ही प्रकट हुए थे, दूसरी कोई सृष्टि नहीं थी, फिर वहाँ हिरण्याक्ष वराह भगवान्‌से युद्ध करने कहाँसे आगया ? हिरण्याक्ष तो दिति-कश्यपका पुत्र था और उनके समय तक तो बहुत-सी सृष्टि हो चुकी थी फिर हिरण्याक्ष-हिरण्यकशिपु कहाँसे निकल आये ?

इस प्रश्नका जो उत्तर पुराणोंमें मिलता है, वह श्रवण करने योग्य है। हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपुका जन्म इस कल्पमें नहीं हुआ था। पद्म कल्पमें ब्रह्माके एक दिनका जो कल्प होता है, उसमें सृष्टिका सम्पूर्ण नाश नहीं होता। जब आंशिक प्रलय होता है तब कश्यपजी अदितिके साथ स्वर्गमें चले जाते हैं। दिति पातालमें चली जाती है और उनके पुत्र हिरण्याक्ष-हिरण्यकशिपु तपस्या करनेके लिए प्रलय-जलमें विहार करने लगते हैं। उस समय वे अपनेको समग्र जलका स्वामी मानते हैं। इसीलिए जब वराह भगवान् पृथिवी निकालने के लिए गये तब हिरण्याक्षने यह कहते हुए बाधा डाली कि पृथिवी तो हमारी थाती है, सम्पत्ति है ? तुम इसे कहाँ ले जा रहे हो ?

दूसरा प्रश्न यह उठता है कि हिरण्याक्ष-हिरण्यकशिपुको इतना ऐश्वर्य, इतना वैभव प्राप्त कहाँसे हुआ ? इसका उत्तर है कि यह भी भगवान्‌की एक लीला है। आप यह बात ध्यानमें रखिये कि हिरण्याक्ष-हिरण्यकशिपु सनत्कुमारादिके शाप द्वारा वैकुण्ठ-लोकसे गिराये हुए हैं। सनत्कुमारादि स्वतः सिद्ध ज्ञानवान् होते हैं। कई लोग ऐसे होते हैं, जिनको गुरुकी जरूरत नहीं

पड़ती, वे स्वतः तत्त्वज्ञान लेकर ही प्रकट होते हैं। उनमें सनकादि ऋषि भी हैं। उन्होंने किसी गुरुसे तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं किया है। उनकी उत्पत्तिके साथ ही उनके अन्दर तत्त्वज्ञानका उदय हुआ है।

इस प्रसंगमें दिखाना यह है कि सृष्टि कर्मके बलपर नहीं, ईश्वरके बलपर टिकी हुई है। ईश्वर सर्व समर्थ है। यदि ईश्वर मुक्तको बद्ध न बना सके, बद्धको मुक्त न कर सके और असृष्टिमें सृष्टि न कर सके तो ईश्वरका सर्वसामर्थ्य प्रकट नहीं होता। इसलिए भगवान्‌ने दिखाया कि वैकुण्ठमें मुक्त-जय—विजयको भी हमारी इच्छासे संसारमें जाना पड़ता है। केवल जाना ही नहीं पड़ता, असुर हो जाना पड़ता है और वे मुक्त होकर भी बद्ध हो जाते हैं। फिर उनके बद्ध हो जानेपर भी हम उनको मुक्त कर देते हैं।

इस प्रकार सृष्टिका सारा दारोमदार और आधार ईश्वरपर है। यह बात भी देखने योग्य है कि जो वैकुण्ठसे गिरे हैं, उनकी आयु एवं शक्ति इतनी बड़ी है, उनका ऐश्वर्य एवं वैभव इतना अधिक है कि ब्रह्मादि भी उनके सामने झुक जाते हैं। उनपर कालकी दाल बिल्कुल नहीं गलती। उनकी इच्छासे तो क्या, उनकी प्रजाकी इच्छासे भी दूधकी नदियाँ बहती हैं, सारे रत्न प्रकट हो जाते हैं, बड़े-बड़े ऋषि-मुनि आकर उनकी स्तुति करते हैं और सम्पूर्ण आसमान आश्चर्यजनक हो जाता है।

तो, जब वैकुण्ठसे निकाले हुएको इतनी सम्पत्ति, इतना ऐश्वर्य दे दिया जाता है तब जो वैकुण्ठमें रहते हैं उनके पास कितना ऐश्वर्य, कितना वैभव, कितना भोग, कितना सुख रहता होगा, इसकी कल्पना कैमुतिक न्यायसे की जा सकती है।

इसलिए जब विदुरजीने यह प्रश्न किया कि जिस हिरण्याक्षका वध करनेके लिए वराह भगवान् आये थे, वह कहाँसे आगया, तब मैत्रेयजीने उसका इतिहास बताना प्रारम्भ किया। उन्होंने कहा कि एक बार परमर्षि सनकादि भगवान्‌की इच्छापर उनसे मिलनेके लिए वैकुण्ठ गये।

देखो, परमर्षि सनकादि भगवान्‌के धामके बिल्कुल पास रहते हैं। वे जब भी चाहें, उन्हें भगवान्‌का ध्यान हो जाता है। उनको भगवान्‌के तत्त्वका साक्षात्कार है। उनके मनमें कभी यह इच्छा नहीं होती कि हम वैकुण्ठमें जाकर भगवान्‌का दर्शन करें। भगवान् देशान्तरमें हैं, यह कल्पना कभी उनके मनमें नहीं आती। भगवान् इस कालमें नहीं मिल रहे हैं, दूसरे काल में मिलेंगे या भगवान् इस रूपमें हैं, दूसरे रूपमें नहीं हैं, यह विचार कभी उनके मनमें नहीं आता। इसलिए वैकुण्ठके बिल्कुल पास निवास होनेपर भी और समस्त लोकोंमें विचरण करनेकी सामर्थ्य होनेपर भी वे वैकुण्ठमें प्रायः नहीं जाते।

किन्तु जब एक विशेष लीलाके उद्देश्यसे भगवान्‌की यह इच्छा हुई, सिद्ध-सनकादि उनके पास आये तब वे वहाँ गये। उस समय भगवान् कोमल-कोमल शेष-शय्यापर, जो प्रलयकालमें भी शेष रह जाती है, शयन कर रहे थे। दूधका समुद्र उनके पास, कौस्तुभमणि उनके पास, लक्ष्मी उनके पास, सम्पूर्ण विश्वके पालन-पोषणकी सामग्री उनके पास और वे शयन करते रहते हैं।

एक दिन भगवान्‌के मनमें आया कि मैं भी कुछ दिनोंके लिए वैकुण्ठसे बाहर चलूँ और वहाँ कुछ खेल-वेल मेल करूँ। उनका ऐसा संकल्प हुआ कि मेरी जो ये चार भुजाएँ है, इनको मैं जरा तकलीफ दूँ और इनसे कुछ काम करूँ।

इधर भगवान्‌के जो जय-विजय नामधारी द्वारपाल थे, वे भी क्या थे ? एक इन्द्रिय-जय तो दूसरा मनो-विजय। उनमें इन्द्रियों और मनपर विजय प्राप्त करनेका सामर्थ्य था। उनके मनमें भी यह इच्छा हुई कि हम लोग भी भगवान्‌के साथ कोई क्रीड़ा करें।

एक दिन ऐसा हुआ कि लक्ष्मीजी वैकुण्ठसे कहीं बाहर विचरण करने गयी थीं। वैकुण्ठकी शोभाका तो कहना ही क्या है ! लक्ष्मीजी जहाँ जाती वहाँके मणिमय भीत और शुद्ध स्फटिक-जैसे जलमें उनकी मूर्ति, उनका प्रतिबिम्ब दिखायी पड़ता ! जब विचरण करके लक्ष्मीजी वापस लौटीं तब जय-विजयने कहा कि देवीजी, भगवान् अभी योग-निद्रामें शयन कर रहे हैं। इसलिए आप जरा ठहर जाइये।

अब तो लक्ष्मीजी जय-विजयपर बहुत नाराज हो गयीं। बोलीं कि मैं तो घरकी मालकिन हूँ, स्वामिनी हूँ और ये दोनों हमारे पार्षद होकर, नौकर होकर मुझे रोक रहे हैं, यह तो मेरा सरासर अपमान है। उन्होंने नारायणके पास जाकर क्रोधमें कहा कि आपके ये पार्षद तो बहुत बुरे हैं और ये मुझको भी भीतर आनेसे रोक रहे हैं।

नारायण भगवान्‌ने उत्तर दिया कि देवी, इस समय आप जरा चुप रहिये। क्योंकि केवल आपकी शिकायतपर अपने इन नित्यमुक्त सेवकोंको यहाँसे निकालना अच्छा नहीं रहेगा। लोग मुझको स्त्रैण समझेंगे। मेरी बदनामी हो जायेगी। इसलिए जब ये किसी सन्तका अपराध करेंगे तब इनको यहाँसे निकाल दिया जायेगा। इसके बाद लक्ष्मीजी शान्त हो गयीं। लक्ष्मीजी तो ऐसी हैं कि जो भगवान्‌की राय, वही उनकी राय !

इसके कुछ ही समय पश्चात् सनत्कुमारादि वहाँ पहुँच गये और जय-विजयने उनको भगवान्‌के पास जाने से रोक दिया। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, जय-विजय मुक्त जीव हैं, सर्वज्ञान-सम्पन्न हैं और सनकादिको अच्छी

तरह जानते हैं। लेकिन उस समय भगवान्‌की प्रेरणासे जय-विजयके मनमें सनकादिको बालक समझनेकी बुद्धि उत्पन्न हो गयी। इसलिए उन्होंने उनको बालक समझकर रोक दिया। सनकादिके मनमें जो वैकुण्ठ आने की इच्छा हुई, वह भगवान्‌की ही इच्छा थी और उनके पार्षदों द्वारा उनको रोका जाना भी भगवान्‌की इच्छासे ही हुआ। वैकुण्ठ में क्रोध उत्पन्न होनेके पीछे भी भगवान्‌की ही इच्छा थी। क्योंकि वैकुण्ठ विशुद्ध सत्त्वमय भगवान्‌का परम धाम है। वे सद्वस्तुकी प्रधानतासे अपने धाम, चिद्वस्तुकी प्रधानतासे रसास्वादन करनेवाले भक्त और रसकी प्रधानतासे अपने श्रीविग्रहकी सृष्टि स्वयं करते हैं। भगवान्‌का श्रीविग्रह रसमय है, उनके उस रसके प्यासे चिन्मय हैं और उनका नित्य धाम सन्मय है। अतः वहाँ क्रोध उत्पन्न होनेका कोई प्रश्न ही नहीं था। क्रोधतो वह करता है जिसके दिलमें जलन होती है। क्रोध द्वेषका बालक है। जब मनमें किसीके प्रति द्वेष रहता है तब वह क्रोधके रूपमें प्रकट होता हैं और जिसके दिलमें क्रोध जगता है, उसको जलाता है। आग जिस लकड़ीमें लगती है, उसीको जलाती है।

इसीलिए श्रीमद्भागवतमें क्रोधका नाम कामानुज है-वैसे ही, जैसे लक्ष्मणजीको रामानुज कहते हैं। जैसे रामके पीछे-पीछे लक्ष्मण, वैसे ही कामके पीछे-पीछे क्रोध ! इसलिए जय-विजयके दुर्व्यवहारपर सनकादि कामानुजके द्वारा अभिनिविष्ट हो गये। उनकी आँखें थोड़ी-थोड़ी लाल हो गयीं। उन्होंने कहा कि सारा विश्व तो भगवान्‌के पेटमें है, उनके संकल्पमें निवास करता है, फिर उनके लोकमें इस प्रकारकी भेद-बुद्धि ! 'उदरभेदि भयं'-संसारके लोग पेटके कारण परस्पर भेद-भाव करते हैं, एक दूसरेको तोड़ते-फोड़ते हैं ! इसमें स्वार्थके सिवाय और कोई हेतु नहीं है। तुमलोग वैकुण्ठमें आकर ऐसा भेद-भाव करते हो, इसलिए तुमलोग असुर-योनियोंमें रहने योग्य हो, वैकुण्ठमें रहने योग्य नहीं हो।

देखो, जो अपने अन्तःकरणको ठीक-ठीक न समझे, संसारका ज्ञान करनेवाली इन्द्रियोंमें फँस जाय, इसीका नाम असुर होता है—

असुषु प्राणेषु इन्द्रियेषु रमन्ते इति असुराः।

इसलिए सनकादिने कहा कि इन्द्रियोंमें फँसे हुए लोग जहाँ रहते हैं, वहीं तुमलोग चले जाओ। वहीं भेद-भाव करना, कामी बनना, क्रोधी बनना और लोभी बनना।

अब आप लोग हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु पर ध्यान दीजिये। वे दोनों लोभकी प्रधानतासे वैभवशाली हैं। 'हिरण्ये अक्षिणी यस्य'- जिसकी सोनेपर दृष्टि हो, वह हिरण्याक्ष और 'हिरण्यं कशिपुर्यस्य'-जो स्वर्णकी शय्यापर सोये,

उसका नाम हिरण्यकशिपु। लोभकी प्रधानतासे हिरण्याक्ष-हिरण्यकशिपु हुए, कामकी प्रधानतासे रावण हुआ और क्रोधकी प्रधानतासे शिशुपाल हुआ। इन चारों असुरोंका भगवान्‌के पार्षदोंमें अभिनिवेश हो गया।

भगवान् सनकादि महात्माओंके पास आये। उन्होंने उनका बड़ा आदर-सत्कार किया। फिर कहा कि 'आपलोगोंने इन दोनोंको जो शाप दिया है, वह बिल्कुल ठीक है।'

यहाँ देखिये भगवान्‌की व्यवहार-कुशलता। ऐसे अवसरोंपर मनुष्यको अपने आदमियोंका पक्ष बिल्कुल नहीं लेना चाहिए। यदि कोई बाहर का आदमी होतो पहले उसी को संतोष कराना चाहिए।

इसलिए नारायण भगवान्‌ने कहा कि ये हमारे पार्षद होकर भी हमारा मत नहीं जानते और उसके विपरीत महात्माओंका अनादर करते हैं, इसलिए इन्हें आपलोगों द्वारा जो शाप मिला है, वह सर्वथा उचित है।

महात्मन्, मैं तो महात्माओंको ही अपना सब-कुछ मानता हूँ। यदि महात्मागण मेरे गुणोंका वर्णन नहीं करते तो लक्ष्मी मुझे वरण नहीं करतीं, मैं वैकुण्ठनाथ भी नहीं होता, मुझे ईश्वरके रूपमें कोई जानता ही नहीं। मैं तो आपलोगोंके मुँहसे ही खाता हूँ और आपलोगोंके आधारपर ही जीता हूँ।

छिन्द्यां स्वबाहुमपिवः प्रतिकूलवृत्तिम्। ३-१६-६

यदि मेरे हाथ भी आपलोगोंके विरुद्ध आचरण करें तो मैं इनको काट-काटकर फेंक सकता हूँ। फिर इन पार्षदोंमें तो रक्खा ही क्या है ? अब ये दोनों आपलोगोंके कथानुसार मर्त्यलोकमें जायें और वहाँ आपके दिये शापको भोगकर जल्दीसे वैकुण्ठमें लौट आयें। अपने सेवकके बारे में मेरा नियम यह है कि यदि उससे कोई अपराध हो जाय तो मैं उसको अपना किया हुआ अपराध मानता हूँ। इसलिए ये तो असुर-भावापन्न होकर मर्त्यलोकमें तीन बार जायेंगे और मैं इनका उद्धार करने के लिए इनके पीछे-पीछे चार बार मर्त्यलोक में जाऊँगा। हिरण्याक्षके लिए वराह, हिरण्यकशिपुके लिए नृसिंह, रावणके लिए राम और शिशुपालके लिए कृष्ण बनकर मैं चार-बार धरतीपर अवतरित होऊँगा और इनका उद्धार करके इनको जल्दी-से-जल्दी अपने धाममें ले आऊँगा।

हिरण्याक्ष-हिरण्यकशिपुको जन्म देनेवाले कश्यप-दितिकी जो कथा है, वह बड़ी शिक्षाप्रद है। कश्यपजी महाराज परमात्माके स्वरूप ही हैं। निरुक्तमें कश्यप शब्दकी व्युपत्ति इस प्रकार दी हुई है-'कश्यपः कस्मात् ?' कश्यपको कश्यप क्यों कहते हैं ? 'यतः पश्यति, पश्यक एव कश्यपो भवति'- जो देवता-दैत्य सबको एक दृष्टिसे देखता है, दिति-अदिति; दोनों जिसकी एक सरीखी

पत्नियाँ है, उसका नाम है 'कश्यप। दिति शब्द- 'दीङ्-क्षये' अथवा 'दो-अवखण्डने' धातुसे बनता है। उसका अर्थ होता है टुकड़े-टुकड़े करने वाला! जो भेद-भाव उत्पन्न करें, उसको कहते है दिति और जो मेल-मिलाप पैदा करे, उसको कहते है अदिति। ये दोनों कश्यपकी पत्नियाँ हैं, भार्याएँ हैं अर्थात् उन्हींके सामने काम करने वाली वृत्तियाँ हैं, उन्हींसे परिपुष्ट होती हैं, उन्हींसे इनमें गर्भाधान होता है और उन्हींके द्वारा सन्तान उत्पन्न करती हैं।

एक दिनकी बात है। कश्यपजी महाराज सायंकाल समाधिमें बैठे हुए थे। उसी समय दितिके हृदयमें कामका उदय हुआ और उन्होंने कश्यपजीके पास जाकर उनसे निर्लज्जतापूर्वक प्रार्थना की कि आप मेरे साथ सहवास कीजिये। शास्त्रोंमें स्त्रियोंकी ऐसी भावनाकी बड़ी निन्दा की गयी है। 'धिक् तां या याचते स्वयम्'-उस स्त्रीको धिक्कार है, जो स्वयं पुरुषसे रतिकी प्रार्थना करती है। कामशास्त्रोंमें भी इसको गर्हित माना गया है।

दितिकी प्रार्थना सुनकर कश्यपजी ने कहा कि थोड़ी देर ठहर जाओ। इस समय पाँच कारण बाधक हैं-एक तो मैं सन्ध्या-वन्दनके लिए बैठा हूँ-भगवान्का ध्यान कर रहा हूँ। दूसरे सूर्यास्तके समय स्त्री-पुरुषका सहवास वर्जित है। तीसरे इस समय रुद्र भगवान् अपने अनुचरोंके साथ विचरण करते हैं। चौथे तुम्हारे मनमें इस समय काम-वासनाकी प्रबलता है और पाँचवी बात यह है कि मैं मना कर रहा हूँ। इसलिए ऐसी अवस्थामें सहवास करना कदापि उचित नहीं है।

परन्तु दितिने कश्यपजीकी बातोंपर ध्यान नहीं दिया और वह निर्लज्ज होकर दुराग्रह करने लगी। फिर तो कश्यपजीने भगवान्को नमस्कार करके, उनकी ऐसी ही इच्छा मानते हुए, दितिका गर्भाधान किया। वैकुण्ठसे गिराये गये जय-विजय दितिके पेटमें आगये।

यहाँ देखो एक लौकिक बात! गर्भधारण करनेकी शक्ति केवल स्त्रीमें ही होती है, पुरुषमें नहीं। वैसे तो पुरुष और स्त्री दोनों ही निमित्त कारण हैं, उपादान कारण तो पञ्चभूत ही होते हैं, फिर भी स्त्रीमें गर्भको अपने भीतर रखकर उसके पालन-पोषणकी शक्ति होती है, पुरुषमें यह शक्ति नहीं होती। इसलिए स्त्री-पुरुष राजनीतिक मञ्चपर या सामाजिक दृष्टिसे भले ही समान हों, परन्तु एकमें गर्भाधान करानेकी और दूसरेमें गर्भधारण करनेकी शक्ति है। हमारे संस्कृत-साहित्यमें वर्णित विज्ञानके अनुसार चान्द्रशक्ति-प्रधान स्त्री होती है, सौरशक्ति-प्रधान पुरूष होता है। और इन दोनों शक्तियोंके सम्मिलनसे ही सन्तानकी उत्पत्ति होती है। रज मे चन्द्रमा की शक्ति और वीर्य में सूर्य की शक्ति विशेष होती है। इसलिए पुरुषके शरीरमें जितनी कोमलता है, वह

स्त्रीके शरीरसे आती है। हड्डी आदि कठोर पदार्थ वीर्यकी प्रधानतासे उत्पन्न होते हैं। यह हमारे शास्त्रोंका निर्णय है।

अब जब परम शक्तिशाली जय-विजय दितिके गर्भमें आये तब सृष्टिमें बड़ा भारी उपद्रव हुआ। देवता लोग घबरा गये और सब-के-सब ब्रह्माजीके पास पहुँचे। ब्रह्माजीने उनको बताया कि दितिके गर्भमें भगवान्‌के पार्षद शाप-ग्रस्त होकर आगये हैं—

विश्वस्य यः स्थितिलयोद्भवहेतुराद्यो
योगेश्वरैरपि दुरत्ययोगमायः।
क्षेमं विधास्यति स नो भगवांस्त्र्यधीश-
स्तत्रास्मदीयविमृशेन कियानिहार्थः।। ३-१६-३७

लेकिन देवताओ, जो संसारकी सृष्टि-स्थिति-प्रलयका कारण है, वह सब-कुछ देख रहा है। इसलिए तुम लोग घबराओ मत। वही हमारा मंगल करेगा। जो प्रभु त्रिगुणमयी माया मृगीको नचानेवाला है, उसका अधिपति है, वही हमारा कल्याण करेगा। फिर हम लोग चिन्ता क्यों करें ? सब मंगल होगा, मंगल-ही-मंगल होगा।

इसके बाद देवता लोग शान्त होकर लौट गये। समयपर दितिके गर्भसे हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु प्रकट हुए। हिरण्याक्ष प्रलयके समय भी समुद्रमें तपस्या करता रहा और जब दूसरे वराह-कल्पमें उसको मालूम हुआ कि भगवान् पृथिवीको लेने आ रहे हैं तब उसने उनसे छेड़खानी की।

हिरण्याक्ष और वराह भगवान्‌का युद्ध बड़ा भीषण हुआ तथा बहुत समयतक चला। प्रायः ब्रह्माके एक दिन-पर्यन्त युद्ध हुआ। ब्रह्माका दिन बहुत बड़ा होता है। इसलिए ब्रह्माजी घबरा गये और उन्होंने भगवान्‌से प्रार्थना की कि अब आप इसको मार दीजिये। इसके बाद भगवान्‌ने हिरण्याक्षका पेट फाड़ दिया। उसका पेट फटते ही उसमें-से एक ऐसी ज्योति निकली, जो रावण होनेके लिए तैयार हो गयी। क्योंकि भगवान्‌की इच्छा ऐसी थी कि तीन बार उनका जन्म हो। इसके अतिरिक्त उन्हें ब्राह्मणोंका शाप भी प्रमाणित करना था।

इस प्रकार जब भगवान् वराहने हिरण्याक्षको मारकर पृथिवीकी स्थापना कर दी तब बह्माजी बहुत प्रसन्न हुए कि अब प्रजाके निवासके लिए आधार मिल गया। इसके बाद मनुजी शतरूपाके साथ ब्रह्माजीके पास आये और ब्रह्माजीने प्रसन्नतापूर्वक उनको आशीर्वाद देते हुए कहा कि अब तुम लोग सृष्टिको बढ़ाओ, इसका पालन करो और इसके राजा बनो।

वैसे तो ब्रह्माजीके और भी कई पुत्र हुए। परन्तु इस समय सृष्टि बहुत छोटी थी। अब उनके कहनेसे पृथिवीपर प्रजा बसने लगी। सृष्टिका बिस्तार होता गया। भागवतमें वर्णन आया है कि ब्रह्माजीने कैसे-कैसे सृष्टि बनायी। आप लोग मूल ग्रन्थमें उसे पढ़ सकते हैं।

वस्तुतः सृष्टिका रहस्य अद्भुत है कभी-कभी स्वयं भगवान् ही अपनेको सृष्टिके रूपमें बना लेते हैं। कभी पञ्चभूतोंसे सृष्टि होती है। कभी ब्रह्माजी सृष्टिका निर्माण करते हैं। कभी क्रमसे सृष्टि होती है और कभी विक्रमसे सृष्टि होती है। किसी एक बातको पढ़ लेनेमात्रसे सृष्टिकी संगति नहीं लगती। सृष्टिमें समय-समयका भेद होता है, स्थान-स्थानका भेद होता है, वस्तु-वस्तुका भेद होता है और कर्ता-कर्ताका भेद होता है। इस अनिर्वचनीय प्रसंगको ब्रह्मविद् पुरुष ही जानते हैं। जो लोग अपनी लाइब्रेरीमें 'स्टडी' करते हैं, उनकी समझमें पौराणिक प्रसंग बिल्कुल नहीं आते। क्योंकि ये प्रसंग आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक होते हैं।

अब जब मनु-शतरूपा द्वारा सृष्टि बढ़ने लगी तब उनसे तीन पुत्रियाँ उत्पन्न हुई। उनमें-से एक पुत्री थी देवहूति। जो स्वयं परमात्माको अपने पास बुला ले, उसका नाम देवहूति होता है। श्रीकृष्णाकर्षिणी भगवदाकार वृत्तिको ही देवहूति कहते हैं।

देवहूतिका विवाह हुआ कर्दम ऋषिसे, जो स्वयं तत्त्वज्ञान सम्पन्न होकर प्रकट हुए थे। वे जब भगवत्प्राप्तिके लिए तपस्या कर रहे थे तब ब्रह्माजीने उनसे भी विवाह करके सन्तान पैदा करने और सृष्टि बढ़ानेके लिए कहा ? कर्दमजीने सोचा कि यदि विवाह करना ही है तो उसके लिए भी तपस्या द्वारा शक्ति -संचय करना चाहिए।

देखो, प्राचीन कालमें लोग ब्रह्मचर्य-पालनको कितना महत्त्व देते थे ! जो ब्रह्मचर्यसे नहीं रहेगा, संयम नहीं रखेगा, तपस्या नहीं करेगा, उसका वीर्य अत्यन्त निर्बल हो जायेगा और निर्बल वीर्यसे जो सन्तान उत्पन्न होगी, वह भी निर्बल होगी।

इसलिए कर्दमजीने ब्रह्मचर्य-पालन और तपस्याके द्वारा आत्मबलकी वृद्धि करनेका निश्चय किया। उन्होंने गुजरात प्रान्तके सिद्धपुर नामक स्थानमें भगवान्‌की आराधना की। उनकी आराधनासे विष्णु भगवान् प्रसन्न हो गये और गरुड़पर चढ़कर उनके पास आये। कर्दमने उनकी स्तुति की। भगवान्‌ने उनको आशीर्वाद और वरदान दिया।

देखो, भगवान् गरुड़पर सवार होकर क्यों आये ? इसलिए आये कि गरुड़ साक्षात् शब्दमूर्ति हैं, सामवेद-स्वरूप हैं। जब वे उड़ते हैं तब उनके

पंखसे सामवेदकी ध्वनि निकलती है। इसी शब्द— गरुड़पर आरूढ़ होकर भगवान् दर्शन देने आते हैं। जिसके पास मन्त्र नहीं, जप नहीं, शब्द नहीं, उसको दर्शन देनेके लिए भगवान् कैसे आयेंगे ? शब्द ही भगवान्का वाहन है, उनको लानेवाला है।

विष्णु भगवान्ने कहा-कर्दमजी, तुमने जिस अभिप्रायसे तपस्या की है, वह मुझे मालूम है। मैंने पहले ही उसका जुगाड़ बैठा दिया है। सारी-की-सारी व्यवस्था कर दी है। परसोंके दिन स्वायम्भुव मनु और उनकी पत्नी शतरूपा दोंनो ही अपनी पुत्री देवहूतिको साथ लेकर तुम्हारे पास आयेंगे और तुमसे अपनी कन्याके विवाहका प्रस्ताव करेंगे। इसलिए तुम यहीं रहकर उनकी प्रतीक्षा करो। यह कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये।

तीसरे दिन स्वायम्भुव मनु अपनी पत्नी शतरूपा और पुत्री देवहूतिके साथ रथपर-सवार होकर कर्दमजी के निवास स्थान पर आगये। कर्दमजीने उनका स्वागत करते हुए पूछा-महाराज, आपके राज्यमें प्रजा सुखी है न ? जिस राजाके राज्यमें प्रजा सुखी रहती है, वही राजा राज्य करने योग्य होता है। कोई राजा प्रजाको दुःखी करके राजा नहीं हो सकता। बताइये, आपके राज्यमें जलका प्रबन्ध बढ़िया है न ? लोगों को खाना-पीना अच्छा मिलता है न ? प्रजा प्रसन्न है ? कोई ईति-भीति तो नहीं है ?

स्वायम्भुव मनुने कहा कि महाराज, आप तो कुशल-प्रश्नके बहाने राजाके धर्म का उपदेश कर रहे हैं। मेरे मनमें एक ही चिन्ता है कि हमारी इस पुत्रीका विवाह योग्य पुरुषके साथ हो जाय। हमें पता चला है कि आप विवाह करनेके लिए तैयार हैं। इसलिए हम दोनों अपनी पुत्री लेकर आपके पास आये हैं। आप इसको स्वीकार कीजिये। आप जो वस्तु चाहते हैं, वही लेकर हम आपके पास आये हैं। इसलिए आप इसका प्रतिवाद मत कीजिये—

उद्यतस्य हि कामस्य प्रतिवादो न शक्यते।

कर्दमजीने कहा कि महाराज, आपकी पुत्रीका आदर कौन नहीं करेगा ? यह तो इतनी सुन्दरी है, इतनी बुद्धिमती है, इतनी शीलसम्पन्ना है कि इसको देखकर एक बार विश्वावसु गन्धर्व मुग्ध हो गया और अपने विमानपरसे नीचे गिर पड़ा।

कर्दमजीके मुँहसे अपनी प्रशंसा सुनकर देवहूतिका मुँह लज्जासे लाल हो गया। क्योंकि वह सयानी हो चुकी थी। जैसा कि मैं अनेक बार कह चुका हूँ, श्रीमद्भागवतमें एक भी अल्पवयस्क अथवा अनजान कन्याके विवाहकी चर्चा नहीं है। इसमें जितनी भी कन्याओंके विवाहका वर्णन है, वे सब अपने वरपर

पहलेसे ही मुग्ध रही हैं। जहाँ कहीं-कहीं उनका हरण हुआ है, वहाँ भी कन्या तरुणी ही रही है।

तो कर्दमजीने स्वायम्भुव मनुका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और देवहूतिके साथ उनका विवाह हो गया। विवाहके बाद मनुजी शतरूपाके साथ अपने राज्यमें चले गये और देवहूति कर्दमजीकी सेवामें रह गयी। कर्दमजीके पास न कोई कुटिया थी और न कोई रसोई घर था। वे वृक्षके नीचे रहते थे। फिर भी उनकी सेवामें महाराजाधिराज चक्रवर्ती सम्राट् स्वायम्भुव मनुकी पुत्री देवहूति लग गयी। कितनी महानता थी उस सती सावित्री देवहूतिमें !

जब हम किसी कारीगरसे एक मूर्ति बनवाकर और हम उनको भगवान् मानकर उसकी पूजा उपासना-द्वारा मनोवाञ्छित फल प्राप्त कर सकते हैं तब स्वयं भगवान्‌के बनाये मनुष्य-शरीरमें यदि भगवद्‌बुद्धि हो जाय और वह भी शास्त्रोक्त विधिसे, तब क्या उसकी सेवासे इन्द्रियोंका संयम नहीं होगा, अन्तःकरणकी शुद्धि नहीं होगी और बड़े-बड़े तपस्वियोंको प्राप्त होनेवाला फल नहीं मिलेगा ? असलमें मनुष्यकी असफलताका कारण उसका अविश्वास ही होता है। मनुष्यके मन-इन्द्रिय तो यों ही चंचल हैं, अविश्वाससे और भी चंचल हो जाते हैं और इसको किसी एक स्थानपर टिकने नहीं देते।

देवहूतिका कर्दमजीकी शक्तिपर बड़ा भारी विश्वास था। वह उनकी सेवामें तन्मय हो गयी। उसने अपनी सेवासे अपने परम तेजस्वी पति कर्दमजीको सन्तुष्ट कर लिया-'तेजीयांसमतोषयत्' ।

देखो, जहाँ पवित्रता होती है। जहाँ श्रद्धा होती है, वहाँ विश्वास होता है। जहाँ परस्पर विश्वास होता है, वहाँ प्रेमका उदय हो जाता है और एक-दूसरेको सुख पहुँचानेकी इच्छा हो जाती है। ऐसे वातावरणमें खानेका है या नहीं, पहननेका है या नहीं, मकान है या नहीं, इस बातपर कभी दृष्टि ही नहीं जाती।

एक दिन कर्दमजी अत्यन्त प्रसन्न होकर बोले कि देवी, तुमने तो मेरी सेवामें अपने शरीर, इन्द्रिय और मनकी भी परवाह नहीं की। सच्चे हृदयसे मेरी सेवाकी। इसलिए मेरी तपस्याका फल तुमको भी प्राप्त हो और जो लोक मुझे मिले, वही तुम्हें भी मिलें। अब जरा तुम अपने मनकी बात मुझे बता दो कि तुम्हें और क्या चाहिए ?

देवहूतिने बड़े संकोचके साथ कहा कि महाराज, विवाह अंग-संगके लिए होता है- सकृदङ्गसङ्गो भूयात् । अतः एक बार मुझे आपकी सहधर्मिणी पत्नी होनेका सौभाग्य प्राप्त होना चाहिए-'प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता'।

यदि मेरा यह शरीर आपके काम आये और आपको सुखी, बना सके तो मेरा जन्म, जीवन और सौन्दर्य सफल-सार्थक हो जायेगा।

कर्दमजीने देवहूतिकी प्रार्थना तुरंत स्वीकार कर ली। फिर भी देवहूतिको बहुत प्रसन्न न देखकर कर्दमजीने एक विमान बनाया। इस विमानका वर्णन हमारे पौराणिक लोग बड़े विस्तारके साथ घण्टोंमें करते हैं। वे बताते हैं कि उसमें कितनी तो मंजिलें थीं, कैसे-कैसे कमरे थे और क्या-क्या भोग-विलासकी सामग्री थी। जब वह विमान बनकर तैयार हो गया तब देवहूतिने उसके अमृत-कुंडमें स्नान किया। दोनों दिव्य-रूप देवता होकर उस विमानमें विहार करने लगे।

देखो, तपस्या ऐसी चीज है, जो निस्सन्देह सफल होती है। उसमें पहले चाहे कितनी भी तकलीफ क्यों न उठानी पड़े, लेकिन उसका परिणाम सुखद होता है-क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते'। मनुष्य जब एक बार क्लेश सह लेता है तब उसे उसका फल मिलता है और उसके जीवनमें नवीनताका उदय हो जाता है। 'पीडोद्भवाः सिद्धयः'- जो कष्ट सहता है, उसीके जीवनमें सिद्धि आती है।

अब कर्दमजीने देवहूतिके साथ सिद्धरूपसे विहार करते हुए अपनी शक्तिसे विश्व-सृष्टिके विस्तारके लिए नवधा कार्य-व्यूहकी रचना करके अपनेको नौ कन्याओंके रूपमें प्रकट किया। उन कन्याओंका बड़े-बड़े ऋषियोंके साथ विवाह हुआ।

उसके बाद कर्दमजीने देवहूतिसे कहा कि देवी, अब तो तुम्हारा मनोरथ पूरा हो गया। तुम मुझे तपस्या करनेकी छुट्टी दे दो। क्योंकि मेरी रुचि भोग-विलासमें नहीं है। भोग वासना तो कभी किसी की तृप्त होती ही नहीं। जितना ही भोग मिलता है, उतनी ही उसकी वासना बढ़ती जाती है। 'हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते'-आगमें जितनी आहुति डालो, आग बुझती ही नहीं है। इसी तरह कामाग्नि भी कभी शान्त नहीं होती। 'अन्तो नास्ति पिपासायाः'-प्यासका कभी अन्त नहीं होता। इसलिए अब मैं तपस्या करने जाता हूँ।

देवहूतिने कहा कि स्वामी, आपने कन्याओंका विवाह तो कर दिया। अब यदि एक पुत्र भी हो जाता तो अच्छा रहता। पहले आपने स्वीकार किया था कि जब तक एक पुत्र होगा तब तक आप मेरे साथ रहें। भगवान्‌ने आपको वरदान दिया है कि वे स्वयं आपके पुत्र रूपमें प्रकट होंगे। इसलिए आप थोड़े दिन और ठहर जाइये।

कर्दमजीने देवहूतिकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और कहा कि हाँ, थोड़े दिनोंमें स्वयं भगवान् ज्ञानाचार्य कपिलदेवके रूपमें तुम्हारे गर्भमें आयेंगे।

देखो, आत्मा निराकार है या साकार-इसको लेकर लोगोंके मनमें झूठी शंका होती है। किसीके भी मतमें आत्मा साकार नहीं है, निराकार है परन्तु वही आत्मा अपने संकल्पके साथ जुड़कर शरीरमें आता है और प्रकट होता है। इसके साथ अविद्या लगी रहती है। इसलिए वह वासनाओंके अधीन होकर तरह-तरहकी योनियोंमें जाता है। भगवान् निराकर होते हुए भी सर्वत्र हैं, सर्वशक्तिमान् है, सर्वरूप हैं और स्वयं अपनी आत्म शक्ति मायाके बलपर निराकारसे साकार होते हैं। वे मनुष्यकी कल्पना अथवा कोई विशिष्ट महापुरुष नहीं हैं। ईश्वरका तो अवतरण होता है, अवतार होता है।

जैन और बौद्ध ये दोनों धर्म ईश्वरका अवतार नहीं मानते। जब वे ईश्वरको ही नहीं मानते तब उनके यहाँ अवतार होगा ही कहाँसे ? वे जीवका उत्थान या उतान मानते हैं, और कहते हैं कि वह शुद्ध होकर नीचेसे ऊपर जाता है। जितने बुद्ध हैं, जिन हैं, पारसनाथ हैं, महावीर हैं, ये सब जीवके शुद्ध रूप हैं। लेकिन हमारा वैदिक धर्म ईश्वरको स्वीकार करता है और कहता है कि ईश्वर जीवोंके कल्याणके लिए करुणा-परवश होकर अवतीर्ण होता है।

देखो, क्रियायोगकी प्रधानतासे वराह भगवान्का अवतार हुआ। उन्होंने हिरण्याक्ष और पृथिवी दोनोंका उद्धार किया। पृथिवी सन्मयी है और जड़ताके रूपमें रहती है। इसलिए उसका उद्धार उतान क्रिया-प्रधान, यज्ञ प्रधान वराहावतार द्वारा होता है। संसारमें जो भी उन्नति करनी हो, वह कर्मसे ही होती है।

लेकिन कपिलदेवजीका अवतार ज्ञानकी प्रधानतासे ही होता है। ज्ञानकी प्रधानता अविद्या-ग्रन्थिका विच्छेद करके जीवोंको मुक्त करने के लिए होती है। कपिलदेवजी भगवान्के ज्ञानावतार हैं। उनके प्रसंगमें आपको एक बड़ी अद्भुत बात देखनेको मिलेगी। इसे सुनकर साकारी लोग आश्चर्यचकित हो जायेंगे।

जब कपिलदेवजीका जन्म हुआ तब ब्रह्माने आकर स्तुति की और वे चले गये। फिर कर्दमजी आये और फिर उन्होंने पुत्रको नमस्कार करते हुए कहा—'प्रभो, मेरी तो इतनी ही प्रार्थना थी और आपने भी इतना ही आशीर्वाद दिया था कि आप हमारे पुत्र-रूपमें आयेंगे। अब जब आप आ गये तब मैं एकान्तमें जाकर अपने स्वरूपका ब्रह्मके रूपमें चिन्तन करूँगा। समग्र सृष्टि, जो दिखायी पड़ रही है, हमारे मन की कल्पना है। यह बिना हुए ही रज्जुसर्पवत् भास रही है। इसलिए मैं तो आत्मचिन्तन और ब्रह्मज्ञानके द्वारा इस सृष्टिका अभानापादन करूँगा। ऐसी स्थितिमें रहूँगा, विचरण करूँगा कि यह विश्वसृष्टि प्रतीत ही न हो ! आप यहाँ रहिये और अपनी माताका कल्याण कीजिये।

देखो, यह है महात्माओंकी महिमा ! इसीका नाम वैराग्य, इसीका नाम है त्याग, इसीका नाम है असंगता। स्वयं भगवान् पुत्ररूपसे घरमें आये हुए हैं। फिर भी कर्दमजी उनकी परिक्रमा करके और अपने स्वरूपमें स्थित होकर विचरण करनेके लिए निकल पड़े हैं।

अब देवहूतिने कपिलदेवजीसे कहा कि मेरा इतना जीवन 'इन्द्रियार्थ-प्रसंगेन'—इन्द्रियों और विषयोंके संसर्गमें व्यर्थ ही बीत गया। आप साक्षात् भगवान् हैं और हमारे पुत्ररूपमें प्रकट हुए है। इसलिए मुझे उस विद्याका उपदेश कीजिये, जो अविद्याको शान्त कर देती है। आत्मा वस्तुतः-तत्त्वतः परमात्मा ही है। जैसे घड़ा तत्त्वतः मिट्टी है, मृत्तिका है, उसमें घड़ेकी आकृति गढ़ी गयी है और भिन्न-भिन्न नाम उसके रखे हुए हैं, वैसे ही आकृतिमें उपादान रहता है और नाम बाहरसे कल्पित किया जाता है।

देखिये, आप अपनेको घड़ा समझते हैं या मिट्टी ? यदि आप अपनेको घड़ा समझते हैं तो आपका जन्म हुआ है। उसमें कहीं काला दाग भी हो सकता है। वह टूट-फूट भी सकता है और उसमें शराब या गंगाजल भरा जा सकता है। लेकिन यदि आप अपनेमें घड़ा-बुद्धि या देह-बुद्धि न करके मृत्तिका-बुद्धि कर लें कि मैं घड़ा नहीं मिट्टी हूँ तो न मिट्टीका जल हुआ, न मिट्टीमें शराब या गंगा-जल रक्खा गया, न पाप हुआ, न पुण्य हुआ, न राग हुआ, न द्वेष हुआ, न सुख हुआ और न दुःख हुआ। जब घड़ा है तब भी माटी और जब फूट गया तब भी माटी। माटीके सिवाय और कुछ नहीं।

इसीलिए देवहूतिने कपिल भगवान्से प्रार्थना की कि आप मुझे तत्त्वज्ञानका उपदेश कीजिये। कपिल भगवान्ने कहा कि माता, देखो-

चेतः खल्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम्।

आत्माके स्वरूपमें न बन्धन है, न मुक्ति है। अपने मनमें बन्धनकी जो कल्पना हो गयी है, वह आविद्यक है। अपने स्वरूपको न जाननेके कारणही अपनी परिच्छिन्नता और अपने बन्धनकी कल्पना होती है। इसलिए चित्तसे जब अपनी परिच्छिन्नताका भ्रम निवृत्त हो जाता है तब मुक्ति तो अपने आप ही प्राप्त है।

गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये।। ३-२५-१५

यदि विषयोंमें तुम्हारी आसक्ति है, तब तो बन्धन है और आसक्ति टूट गयी तो बन्धन नहीं है।

इस विषयको कपिलदेवजीने अनेक प्रकारसे समझाया। उनका और देवहूतिका संवाद सांख्य-शास्त्रका सार है। इसमें उन्होंने प्रकृति-पुरुषका विवेक करके बताया कि दृश्य प्रकृति है और द्रष्टा आत्मा है। दृश्यके तीन

भेद होते हैं- एक तो केवल कार्य और दूसरा कारण और तीसरा है कार्य—कारण। जिसका कोई दूसरा कारण न हो, उसको कहते है कारण। वह प्रकृति है। जिसका कोई दूसरा कार्य न हो, उसको बोलते है कार्य। वह पञ्चभूत है पञ्चभूतका कार्य नहीं होता। वृक्ष, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि पञ्चभूतके कार्य नहीं है। ये तो पञ्चभूत रूप ही है। दिखाई पड़नेवाले पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश अन्तिम कार्य हैं। इनमें जितनी भी शक्ल-सूरतें बनती हैं, वे सब-की-सब कल्पित हैं।

तो, सांख्यके मतमें भी मनुष्य, पशु, पक्षी आदिके शरीर पञ्चभूतमें कल्पित हैं, सच्चे नहीं हैं। आकाश कहाँ अलग होता है ? वायु कहाँ अलग होती है ? अग्नि कहाँ अलग होती है ? जल कहाँ अलग होता है ? मिट्टी कहाँ अलग होती है ? जिसके शरीरमें साँस एक है, आकाश एक है, ऊष्मा एक है, जल एक है और पृथिवी एक है। इसलिए शरीरोंके अलगावसे तत्त्वमें किसी प्रकारका अलगाव नहीं होता।

इसीलिए पञ्चभूतको कार्य बोलते हैं और प्रकृतिको उसका कोई कारण न होनेसे कारण बोलते हैं। अब कार्य और कारण इन दोनोंके मध्यकी जो अवस्था है, उसको कार्य-कारण बोलते हैं। यह पञ्चभूतकी दृष्टिसे तो कारण और प्रकृतिकी दृष्टिसे कार्य है। इसलिए दृश्यकी तीन अवस्थाएँ होती हैं- कार्य, कारण, और दोनोंका मिश्रण कार्य-कारण।

असंग आत्मा सर्वथा द्रष्टा होता है। प्रकृतिके परिवर्तनसे, प्रमाणसे इसपर किसी भी प्रकारका प्रभाव नहीं पड़ता। परन्तु प्रकृतिका लोप साधारण दृष्टिसे नहीं होता। इसके लिए योगाभ्यास करना चाहिए। यदि योगाभ्यास न हो सके तो भगवान्की भक्ति करनी चाहिए। भक्तिके लिए कपिलदेवजीने भगवान्के स्वरूपका ध्यान करते हुए कहा-

ध्यायेच्चिरं भगवतश्चरणारविन्दम्।

चरणारविन्दसे लेकर मुखारविन्द पर्यन्त और मुखारविन्दसे लेकर चरणारविन्दपर्यन्त भगवान्की आकृतिका, उनके श्रीविग्रहका चिन्तन करना चाहिए। मनको दौड़ाना चाहिए भगवान्के शरीरमें। मन दौड़ता तो है ही। उसको बाहर न दौड़ाकर धरणायोगके द्वारा भगवान्की आकृतिमें ले आओ। वह दर्शन करे भगवान्के मुखारविन्दका, मुकुटका, कुण्डलका, विस्तीर्ण ललाटका, भौंहोंका प्रेमभरे नेत्रोंका, शुकके समान नासिकाका, होठोंका, मुस्कानका, पीताम्बरका, वृक्षःस्थलका, बाजूबन्दका, कंकणका, वैजयन्ती मालाका, नूपुरका और चरणारविन्दके उभरे नखोंका। इसप्रकार मन भगवांन्के विग्रह और वस्त्राभूषणोंका चिन्तन बार-बार ऊपरसे नीचे तथा नीचेसे ऊपर करें । फिर

अन्तमें 'सुस्मितं भावयन्मुखं'-भगवान्‌के केवल मुस्कान युक्त मुखारविन्दका चिन्तन करे।

ऐसा ध्यान करते-करते होता यह है कि मन अपनी मनोरूपता छोड़ देता है। जब मन सर्वथा एकाग्र हो जाता है तब कोई भी रूप पूरा दिखाई नहीं पड़ता। जब आँख भी दिखाई दे, नाक भी दिखाई दे तब समझ लो कि मन पूरा एकाग्र नहीं है, क्योंकि एक बार आँखकी ओर जाता है तो दूसरी बार नाककी ओर जाता है। किन्तु जब मन एक जगह एकाग्र हो जाता है तब उसमें आकृति नहीं दिखती—

मुक्ताश्रयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं
निर्वाणमृच्छति मनः सहसा यथार्चिः। ३-२८-३५

जब मनके आश्रय अहंका लोप हो जाता है तब उसके सामने विषयरूप आकृति नहीं रहती। जब मनमें कोई राग-द्वेष नहीं होता, तब जैसे आग ईंधन न रहनेपर बुझ जाती है, वैसे ही मनकी जो वृत्तियाँ अथवा बत्तियाँ हैं, उसकी चंचलताएँ हैं, जगमग-जगमग ज्योति है, वे सब-की-सब शान्त हो जाती हैं। शान्त मन अपनेको परमात्मासे अलग नहीं दिखाता। जैसे आग बुझ जाती है, वैसे ही मन बुझकर शान्त हो जाता है और फिर परब्रह्म परमात्मा प्रकट हो जाता है।

इस प्रकार जब भगवान् कपिलदेवजीने ध्यानकी विधि बतायी तब देवहूतिने भक्तियोगके सम्बन्धमें प्रश्न किया क्योंकि अभ्यासके बलपर भगवान्‌का ध्यान कर लेना एक बात है और भगवान्‌में भक्ति होना प्रेम होना, प्रीति होना दूसरी बात है। इसलिए भक्तिके बारे में कपिलदेवजी ने बताया—

देवानां गुणलिंगा नामानुश्रविककर्मणाम्।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या।।
अनिमित्ता भागवति भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा ।। ३-२५-३२-३३

हमारे इन्द्रियरूप जो देवता हैं, उनमें-से-कोई शब्दको, कोई रूपको, कोई स्पर्शको, कोई रसको और गन्धको प्रकाशित करनेवाले हैं। इसलिए इनको अच्छे ढंगसे काममें लगाओ। जैसे हाथके द्वारा जो काम हो, वह शास्त्रोक्त रीतिसे संयमपूर्वक हो। पाँव जहाँ जाना चाहें, अनुशासित गतिसे जायें। इसीप्रकार आँख, नाक, कान-ये सब वासनानुसार विषयोंमें प्रवृत्त न हों, अनुशिष्ट होकर, धर्मानुसार, भक्ति-शास्त्रानुसार अपना काम करें। ऐसा करने से मनमें सत्त्व आजाता है। जब सत्त्व आ जाता है तब एकाग्रता आजाती है और एकाग्रता आनेपर निष्काम भक्ति हो जाती है।

निष्कामताके अभावमें इन्द्रियों विषयोंके लिए चंचल भी होती रहें और हृदयमें भगवान्‌की भक्तिभी आजाय-ऐसा कभी नहीं होता। जब मन निष्काम होता है, शान्त होता है तब भगवान्‌की प्रीति अपने हृदयमें उदय होती है और वह हमारे अन्नमय, मनोमय, प्राणमय तथा विज्ञानमय कोश-बन्धनोंको जला देती है। कोशके जल जानेपर जीव अपने जीवत्वसे विनिर्मुक्त होकर परमात्मासे एक हो जाता है।

भक्तिके तीन प्रकार हैं –तामसिक, राजसिक और सात्त्विक। तामसिक भक्ति किसीको ठगने या मारनेके लिए होती है, राजसिक–भक्ति संसारके विषयोंको प्राप्त करनेके लिए होती है और सात्त्विक–भक्ति भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिए होती है। किन्तु सात्त्विक–भक्तिसे भी ऊपर एक भक्ति और होती है–

लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे।। ३-२९-१२

वह भक्ति क्या है ? गुणातीत भक्ति है। उसका स्वरूप यह है कि भगवान्‌के गुणोंका श्रवण होते ही वृत्ति भगवान्‌के गुणोंमें विलीन हो जाती है-तह देखो, सुदामाजी आरहे हैं, उनको देखते ही भगवान् श्रीकृष्णने रुक्मिणीजीको अलग किया है, वे पलंगपर से उठकर सुदामाजीकी ओर दौड़े हैं, उन्होंने सुदामाजीको गलेसे लगा लिया है और उनकी आँखोंसे झर-झर आँसू गिर रहे हैं। ऐसे ब्राह्मण-भक्त और दीन-प्रतिपालक भगवान्‌के गुणानुवादका श्रवण करते ही जब भक्तके मनकी वृत्ति समुद्रमें गिरनेवाली गंगा-धाराकी तरह बिना किसी निमित्त या कारणके अपने हृदयकी गुहामें विराजमान परमात्माकी ओर बहने लगती है-टूट-टूटकर नहीं, अविच्छिन्न गतिसे, लगातार-तब वह भक्ति भगवान्‌को वश में कर लेती हैं–

मद्‌गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसोऽम्बुधौ।। ३-२९-११

देखो, इस प्रसंगमें भगवान् कपिलदेवने कुछ बातें ऐसी बतायी हैं, जो दूसरी जगह देखनेको नहीं मिलती। वे भक्तिका स्वरूप बताते हुए कहते हैं–

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम्।। ३-२९-२१

मैं सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीरोंको अपना मन्दिर बनाकर उनमें उनकी आत्माके रूपसे बैठा हुआ हूँ। इसलिए जो मेरे इस स्वरूपको तो मनसे भुला देता है, इसका तिरस्कार कर बैठता है और पूजाका बड़ा भारी ढोंग रचता है तो यह एक विडम्बना ही है।

द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः।
भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति।। ३-२९-२३-

जो दूसरेके हृदयमें बैठे हुए मुझसे तो करता है द्वेष, अपनेको मानता है बड़ा और जिसकी दृष्टि भेददर्शी है, उसके मनको कभी शान्ति नहीं मिलेगी।

अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयानघे।
नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः।। ३-२९-२४

जो संसारके किसी भी प्राणीका अपमान करता है वह चाहे कितनी भी मूर्ति-पूजा करे, मैं उसपर प्रसन्न नहीं होता। क्योंकि मैं साक्षात् प्राणियोंके हृदयमें बैठा हूँ, इसलिए दूसरोंका अपमान करनेवाला मेरा ही अपमान करता है।

अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम्।
अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा।। ३-२९-२७

इसलिए कहना यह चाहिए कि मैं जो सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीरोंको अपना मन्दिर बनाकर बैठा हुआ हूँ, उस रूपमें मुझे कुछ दे, मेरा सत्कार करे, मुझसे मैत्रीकी भावना रखे और ऐसा समझे कि जैसा इसका आत्मा, वैसा ही उसका आत्मा !

देखो, गीतामें भी भगवान् श्रीकृष्ण ऐसा समझने वालेको परम योगी, परम भक्त और अपना सच्चा पुजारी मानते हैं-

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।। गीता ६-३२

देवहूतिके पूछनेपर भगवान् कपिलदेवजीने जन्म-मृत्युकी भी बढ़िया व्याख्या की है और ऐसी व्याख्या अन्यत्र दुर्लभ है। वे कहते हैं-

द्रव्योपलब्धिस्थानस्य द्रव्येक्षायोग्यता यदा।
तत्पञ्चत्वमहंमानादुत्पत्तिर्द्रव्यदर्शनम्।। ३-३१-४५

शरीरके भीतरके संसारिक पदार्थोंको जानने की एक योग्यता होती है। जैसे बिजलीको प्रकाशित करनेकी क्षमता बल्बमें रहती है, वैसे ही इस शरीरके भीतर की चेतनाको, अन्तःकरणको पकड़कर रखनेके लिए एक योग्यता होती है। वह योग्यता जब शरीरमें नहीं रहती, द्रव्य-दर्शनकी अयोग्यता हो जाती है, तब इस शरीरके पाँचों भूत पंचभूतोंमें मिल जाते हैं अर्थात् मृत्यु हो जाती है।

इसी प्रकार जब हम किसी भी पदार्थको, दृश्यको मैं मानकर देखने

लगते हैं तब इस दृश्यके रूपमें हमारा जन्म हो जाता है। जैसे स्वप्नमें एक शरीर दीखता है, देखने वाला जानता है कि वह मैं नही हूँ, फिरभी उसे शरीर दीखता है और वह उसको मैं मान लेता है, वैसे ही हमारे मनको जो एक शरीर दीखता है, उसको हम अपना शत्रु-मित्र मान लेते हैं।

देखो, जब हम गंगा-स्नान करते हैं तब अपना पूर्व जन्म-उत्तर जन्म देखते हैं, क्योंकि उस शरीरको हमने अपना मैं मान रखा है। जैसे स्वप्न में जन्म होता है, वैसे ही जाग्रतावस्थामें भी एक शरीरको मैं मान लेनेके कारण उसका जन्म हो जाता है। एक शरीरको भूलकर दूसरे शरीर में तन्मय हो जानेका ही नाम जन्म होता है। भगवान् श्रीकृष्णने ग्यारहवें स्कन्धमें उद्धवजीको यही बात बतायी है-

विषयाभिनिवेशेन नात्मानं यत्स्मरेत् पुनः।
जन्तोर्वै कस्यचिद्धेतोर्मृत्युरत्यन्तविस्मृतिः।।
जन्म त्वात्मतया पुंसः सर्वभावेन भूरिद।
विषयस्वीकृतिं प्राहुर्यथा स्वप्नमनोरथः।। ११-२२-३८-३९

इसलिए कपिलदेवजीने भगवान्‌के स्वरूपकी व्याख्या करते हुए बताया कि कोई एक पदार्थ अपने हाथमें ले लो। जैसे तुम्हारे हाथमें गुलाबका फूल है। उसको आँखोंने देखकर बताया कि उसका रंग गुलाबी है, त्वचाने स्पर्श करके बताया कि वह बड़ा कोमल है, जिह्वाने चखकर बताया कि वह बड़ा कड़वा है, नासिकाने सूँघकर बताया कि वह सुगन्धित है और वह सूखने लगा तब कानने बताया कि वह चुर-मुर करके टूट रहा है।

इसप्रकार गुलाबका फूल तो एक ही है, पर कान बताता है उसका शब्द, त्वचा बताती है उसका स्पर्श, नेत्र बताते हैं उसका रूप, जीभ बताती है उसका स्वाद और नाक बताती है उसकी गन्ध। इसी प्रकार—

यथेन्द्रियैः पृथग्द्वारैरर्थो बहुगुणाश्रयः।
एको नानेयते तद्वद्भगवान् शास्त्रवर्त्मभिः।। ३-३२-३३

ईश्वर तो एक है, परन्तु लोग उसको अपने हृदयके जिस रंगसे रंगकर देखते हैं, वही शब्द, वही स्पर्श, वही रस और वही गन्ध उनके सामने प्रकट होती है। सच्चिदानन्दघनमें चाहे वराहकी आकृति हो जाय, चाहे मत्स्य आदिकी आकृति हो जाय, है एक ही उपादान सच्चिदानन्दघन। जैसे आपके पास सोना है तो चाहे आप उसको जिस साँचेमें ढाल लीजिये, वैसे ही भगवान्‌का रूप दीखने लगता है। भगवान् एक रस, एक रूप होते हैं और वे सबके आत्मा ही हैं, आत्माके अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं।

कपिलदेवजीने जगत्की सृष्टिमें वैराग्यके लिए यह बताया कि मनुष्य जिन्दगी भर विषयासक्त रहता है। परन्तु अन्तमें जिसके आसक्ति होती है, उसको छोड़कर उसे मरना पड़ता है, मरकर अपने कर्मोके अनुसार वह परलोकमें-स्वर्ग या नरकमें जाता है और फिर उसका जन्म होता है। इस प्रकार वह जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़ा रहता है। जीव गर्भमें यह प्रतिज्ञा करके संसारमें आता है कि यहाँ भगवान्का भजन करेगा, लेकिन अविद्यामें फँसकर अपनी प्रतिज्ञा भूल जाता है।

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि।।
पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यम्ब सन्तः प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि।
रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति।।

३-२५-३४-३५

इसीलिए सन्त लोग कहते हैं कि आओ, हमलोग खुली आँखोंसे परमात्माको देखें और उसका आनन्द लें। अद्वैत स्थितिमें जानेसे कोई लाभ नहीं; हम समाधि लगाकर क्या करेंगे ? समाधि तो अव्यावहारिक है और विषय-विक्षेपमें कोई सुख नहीं है। इसलिए आओ हम चार दीवाने मिलकर बैठ जायें।

इस प्रकार जब सन्त लोग मिलकर बैठ जाते हैं तब वे चिन्तन करते हैं कि विश्व भगवान्का चरणारविन्दरूप है। हमलोग इसकी सेवा करें। कभी वे हिरण्यगर्भका, ब्रह्मलोकका, गोलोकका , साकेतलोकका भाव करके उनकी सेवा करते हैं, कभी भगवान्के प्राज्ञ, अन्तर्यामीरूप परमेश्वरकी सेवा करते हैं और कभी तुरीयपाद ब्रह्मात्मैक्यका अनुभव करते हैं। उनकी सारी चेष्टा भगवान्के लिए होती हैं, वे भगवच्चरित्रके वर्णन और श्रवणमें अपना सारा कालक्षेप कर देते हैं। उनके सामने भगवान्का प्रसन्न और मुस्कराता हुआ मुखमण्डल होता है, उनकी प्रेम बिखेरती आँखें होती हैं। आनन्द प्रदायिनी मुस्कान होती है। उनको भगवान्के स्पष्ट दर्शन होने लगते हैं और वे उनके साथ बातचीत भी करते हैं। इस प्रकार उनका सारा व्यवहार भगवन्मय हो जाता है।

कपिलदेवजीने अपनी माता देवहूतिको सारे ज्ञान-विज्ञान सुनाते हुए कहा कि आत्मा-परमात्मा बिल्कुल एक हैं, अविद्याके कारण ही दोनों अलग-अलग दीखते हैं। अविद्याका अर्थ किम्भूत-किमाकार नहीं होता, अविद्या माने होता है अज्ञान-नासमझी। भ्रम कहते हैं उल्टी समझको और अज्ञान कहते हैं नासमझीको। किसी वस्तुको ठीक-ठीक न समझनेका नाम ही अज्ञान है। जैसे

रस्सीको ठीक नहीं समझा तो रस्सीका अज्ञान हुआ। लेकिन उसे साँप या माला समझ लिया तो उसका नाम भ्रम हो जाता है। अज्ञान कारण होता है और भ्रम अनेक रूप अज्ञानका कार्य होता है। संसारी जीव अविद्या और भ्रमके चक्करमें पड़े हुए हैं।

इस प्रकार अपनी माता देवहूतिको उपदेश करनेके बाद कपिलदेवजी उन्हें प्रणाम करके गंगा-सागर चले गये। वहाँ समुद्रने उनका सत्कार किया।

इधर देवी देवहूतिने अपने पति कर्दमजी द्वारा निर्मित पुष्पक विमानमें निवास करना छोड़ दिया और वे पहलेकी तरह तपोमय जीवन व्यतीत करने लगीं। उनको अपने शरीरका कुछ भी ध्यान नहीं रहता, उनके साथ जो सेविकाएँ थीं, वे ही उनको खिलाने-पिलाने और पहनानेका ध्यान रखतीं। पहले तो उनको अपने पुत्र कपिलदेवके वियोगका थोड़ा शोक हुआ, परन्तु बादमें आत्मबोध द्वारा सारा शोक दूर हो गया और वे जीवन्मुक्त हो गयीं।

इस प्रकार भागवतके तृतीय स्कन्धमें विसर्ग-सर्ग अर्थात् दैव-सर्ग एवं आसुर-सर्ग प्रसंगोंका वर्णन है। इसमें स्त्रीकी भी मुक्ति है और पुरुषकी भी मुक्ति हैं। लेकिन हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपुकी, उनके भगवत्पार्षद होनेके बावजूद मुक्ति नहीं है। क्योंकि जो असुर भावमें संलग्न हो जाता हैं, उसकी मुक्ति नहीं होती। किन्तु जो दैव-भावसे युक्त हो जाता है, वह चाहे स्त्री हो या पुरुष हो, उसकी मुक्ति हो जाती है।

अब आप लोग भागवतके चतुर्थ स्कन्धमें प्रवेश कीजिये। इसमें बहुत बढ़ियाँ बातें हैं। प्रायः लोग उनको कहानीकी तरह पढ़ जाते हैं। समझने-बूझनेकी कोशिश नहीं करते। यदि वे दूसरेसे पूछकर समझनेकी चेष्टा करें तो उनके अभिमानमें बाधा पड़ती है। लेकिन मुझे आशा है आप लोग समझनेकी चेष्टा करेंगे।

चतुर्थ स्कन्धमें चार विभाग हैं- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। पहले धर्म-विभागका वर्णन है, जो सात अध्यायोंमें है और जिसमें सप्त तन्तु यज्ञ होता है। उसके बाद पाँच अध्यायोंमें अर्थ-विभाग है। फिर कामना विभाग ग्यारह अध्यायोंमें है और मुक्तिका विभाग अष्टधा प्रकृतिसे मुक्त होनेके लिए आठ अध्यायोंमें है।

धर्म-विभागमें यह बात बतायी गयी है कि भगवान्‌का आश्रय लेकर धर्म किया जायेगा तब तो वह सफल होगा। अत्रिने बड़े भारी यज्ञ और तपस्यारूप धर्मका आचरण किया तब स्वयं भगवान् उनके पुत्ररूपमें प्रकट हुए।

भागवतमें ऐसा वर्णन नहीं हैं, परन्तु दूसरे पुराणोंमें यह वर्णन आया है कि एक बार सती, लक्ष्मी और सावित्री बैठकर आपसमें यह चर्चा चला रही

थीं कि इस सृष्टिमें सबसे बड़ी सती कौन हैं ? वे तीनों स्वयं को ही सबसे बड़ी सती मानती थीं। इतनेमें नारदजी वहाँ पहुँचे और उन्होंने सबसे बड़ी सतीके रूपमें अत्रि-पत्नी अनसूयाजीका नाम ले लिया।

देखो, अनसूया कहते हैं, जिसके चित्तमें किसीके प्रति दोष-दृष्टि न हो। असूया माने 'गुणेषु दोषाविष्करणं' और अनसूया माने असूयारहितं-परमात्माको अपने पुत्ररूपमें उत्पन्न करने वाली। अत्रि माने त्रिगुणातीत। इसका अर्थ यह भी है कि अत्रैव अत्रि—जो यहीं है अर्थात् यहाँ रहकर भी त्रिगुणातीत है, जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्तिसे परे हैं, उसी परमात्माको, ब्रह्मको अत्रि कहते हैं और अनसूया किसीमें दोष न देखने वाली रति है।

तो, नारदजीके कहनेपर सावित्री, लक्ष्मी और सतीने अपने-अपने पति ब्रह्मा-विष्णु-महेशको अनसूयाकी परीक्षा लेनेके लिए प्रेरित किया। वे तीनों अपनी-अपनी पत्नियोंकी प्रेरणासे अनसूयाजीके पास उनकी परीक्षा लेने आये। अनसूयाने अपने सतीत्वके बलसे उन तीनोंको अपना पुत्र बनाकर रख लिया। शंकरजी दुर्वासा हो गये, ब्रह्माजी चन्द्रमा हो गये और विष्णु भगवान् दत्तात्रेय हो गये।

कहने का मतलब यह कि भगवान्के आश्रयसे जो धर्म होता है, वह समग्ररूपसे सम्पन्न होता है। भगवान् भी उसके अधीन हो जाते हैं। किन्तु जो धर्म अभिमानपूर्वक होता है, वह सिद्ध नहीं होता, जैसा कि दक्षके प्रसंगमें हुआ। दक्ष अभिमानकी मूर्ति था। ब्रह्माका पुत्र और प्रजापतियोंका स्वामी होते हुए भी उसने शंकरजीका तिरस्कार करके यज्ञ किया। फलस्वरूप उसका यज्ञ सफल नहीं हुआ। बादमें जब उसका अभिमान छूट गया और उसने विष्णु भगवान् तथा शंकरजी का आश्रय लेकर यज्ञ किया तब उसका यज्ञ सफल हुआ। इसी तरह नृगने भी भगवान्का आश्रय लिये बिना गोदान किया तो उनके धर्मको सफलता नहीं मिली। इसलिए धर्म तभी सफल होता है, जब वह ईश्वरपर श्रद्धा-विश्वास करके उनकी भक्तिके साथ किया जाता है। अभिमानसे दिखानेके लिए किया हुआ धर्म कभी सफल नहीं होता।

अब कल आपको ध्रुव, पृथु, प्राचीनवर्हि तथा प्रचेताके चरित्र सुनाये जायेंगे। उनके पहले सती और दक्षके धर्मानुष्ठानके बारेमें भी बताया जायेगा।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

: ४ :

कोई बात जब बार-बार कही-सुनी जाती है तब दिल-दिमागपर अच्छी तरह बैठ जाती है। पहले आपको बताया जा चुका है कि श्रीमद्भागवतके प्रथम स्कन्ध को 'अधिकारी स्कन्ध' बोलते हैं। उसमें बताया गया है कि सूत-शौनकका, नारद व्यासका और शुक परीक्षितका कितना-कितना अधिकार है। कोई धर्मके रूपमें भागवतका वर्णन-श्रवण करते हैं, कोई लोक-कल्याणके लिए भागवतका वर्णन-श्रवण करते हैं और कोई निर्गुण-निष्ठ होकर ब्रह्मात्मैक्य-बोधके लिए भागवतका वर्णन-श्रवण करते हैं।

आपको यह भी बताया जा चुका है कि द्वितीय स्कन्धको 'साधन-स्कन्ध' क्यों बोलते हैं। उसमें श्रवण ही भगवत्प्राप्तिका मुख्य साधन है और उस श्रवणके मुख्य कारण साधन हैं, अंग है-ध्यान,श्रद्धा तथा मनन !

यह भी बताया जा चुका है कि तृतीय स्कन्धमें धर्मके द्वारा सृष्टिका विस्तार कैसे होता है और उसमें असुर तथा देवताका विभाग कैसे होता है ? हिरण्याक्ष-हिरण्यकशिपु आदिकी सृष्टि आसुर सृष्टि है और कर्दम-देवहूति, स्वायम्भुव मनु-शतरूपाकी परम्परा दैव सृष्टिकी है। इन सबके कारण हैं भगवान् !

अब लो चतुर्थ स्कन्ध हमारे सामने है, इसको 'विसर्ग स्कन्ध' कहते हैं। विसर्ग माने विशिष्ट सर्ग, विविध सर्ग। इनमें-से मनुष्य अपने पौरुष द्वारा क्या-क्या प्राप्त कर सकता है, इसका वर्णन है। विसर्ग भी परमात्माके द्वारा ही प्राप्त होता है। इसलिए विसर्गका निरूपण करके परमात्माका निरूपण करते हैं।

जैसा कि कल बताया गया, श्रीमद्भागवतके चतुर्थ स्कन्धमें धर्म-अर्थ-काम-मोक्षके चार प्रकरण हैं। अर्थ शरीरसे बाहर रहता है, इसको सबलोग चाहते हैं, परन्तु यह गतिशील होता है। जो चलता रहे, किसी एकके हाथमें न रहे, उसका नाम अर्थ होता है। काम रहता है, मनमें। जितने भी सुख-दुःख और भोग होते हैं, वे सब मनमें रहते हैं। अर्थकी अपेक्षा काम अन्तरंग होता है। अर्थ तथा काम दोनोंका नियन्त्रण करनेके लिए धर्म बुद्धिमें रहता है।

यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि हम जो चाहते हैं, जिससे सुख भोगते हैं; उसमें हमारे ज्ञानका नियन्त्रण है या नहीं ? हम अपने मन और इन्द्रियोंको

जब चाहें तब रोक सकते है या नहीं ? हमारे मन-तनकी मोटरमें ब्रेक है या नहीं ? यदि ब्रेक नहीं है तो हमारा यह वाहन हमें न जाने कहाँ ले जाकर गिरा देगा। इसलिए उसको नियन्त्रित करनेवाले धर्मका निवास बुद्धिमें होता है। बुद्धि अगर ठीक है तो मनसे जो चाहेंगे और तनसे जो पायेंगे उसपर विवेकका नियन्त्रण बना रहेगा। अथवा हम उनमें फँस जायेंगे। जहाँतक मोक्षका प्रश्न है, वह आत्माका स्वरूप है। उसको पाया नहीं जाता, जाना जाता है। हमारा आत्मा सम्पूर्ण भेदों-परिच्छेदोंसे मुक्त है और ये सारे भेद-परिच्छेद अपने अत्यन्ताभावके अधिकरण आत्मामें ही भास रहे हैं। वही उनका अधिष्ठान और प्रकाशक है। इसलिए आत्मा नित्यमुक्त है।

धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष चारों पौरुषकी प्रधानतासे सिद्ध होते हैं, पुरुषार्थ-साध्य हैं। आजकल हिन्दीमें जो पुरुषार्थ शब्द चलता है, उसका अर्थ होता है कि अमुक व्यक्ति बड़ा पुरुषार्थी है, बड़ा काम करता है। लेकिन संस्कृतमें पुरुषकी इच्छाके विषयको पुरुषार्थ कहते हैं-'पुरुषैः अर्थ्यते इति पुरुषार्थः।' उससे इस बातका पता चलता है कि हम क्या चाहते हैं-अर्थ चाहते हैं या भोग चाहते हैं या धर्म चाहते हैं या मोक्ष चाहते हैं ? हमारी बुद्धि कहाँ काम कर रही है ? हमारा जीवन किस दिशामें चल रहा है ?

चतुर्थ स्कन्धके प्रारम्भमें जो सात अध्याय धर्मके सम्बन्धमें हैं, इसका क्या अर्थ है ? धर्म धृति-प्रधान होता है। एक ही धातु'धृ'से धर्म शब्द भी बनता है और 'धृति' शब्द भी बनता है। मनुजीने मानवधर्मका वर्णन करते समय धृतिको ही पहले लिखा, जैसे 'धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।' अतः हमारे अन्तःकरणमें जो धारणानुकूल शक्ति है, उसको धर्म कहते है।

अब आप देखिये कि दक्षका धर्म धारणानुकूल है कि नहीं ? दक्ष प्रजापतियोंका पति था। वह ब्रह्माका बेटा, ब्राह्मण, ज्ञानसम्पन्न, बड़ा शक्तिशाली और तपस्वी था। प्रजापतियोंके पतिरूपमें अभिषिक्त हुआ था। सभा जुड़ी थी, ब्रह्मा, शिव आदि बैठे हुए थे। वहाँ जब दक्षप्रजापति आये तब ब्रह्मा और शंकरजीको छोड़कर सब उनके स्वागत-सत्कारमें खड़े हो गये।

दक्षने कहा कि ब्रह्माजी तो हमारे पिता हैं, ये सभामें बैठें रहें तो कोई बात नहीं। लेकिन शिव तो मुझसे छोटे हैं, मैंने ब्रह्माजीके कहनेपर इनसे अपनी लड़कीका ब्याह कर दिया तो क्या हुआ ? इस नाते भी ये मुझसे छोटे ही हुए। इसलिए इनको चाहिए था कि जब मैं सभास्थलमें आया तो ये उठकर खड़े हो जाते ,मुझको प्रणाम करते और मेरा स्वागत करते। इसके बाद वहाँ भरी सभामें दक्षने शंकरजीको जली-कटी सुनायी। उसने समझ लिया कि शंकरजीके न उठनेसे भरी सभामें उसका मान-भंग हुआ है और

अभिमानी जब ऐसा समझ लेता है तब उसका बुद्धि भ्रंश हो जाता है—

सभामध्ये मानभङ्-गात् बुद्धिभ्रंशो भवेत् ध्रुवम्।

इसलिए दक्षका भी बुद्धि-भ्रंश हो गया और वह गाली-गलौज करने लगा। उधर शंकरजीके पक्षके जो लोग थे, वे भी बोलने लगे। दोनों पक्षोंसे शापाशापी होने लगी। शैव और वैष्णव आपसमें लड़ने लगे। वैष्णव कहें कि जो शिवकी भक्ति करेगा, वह भ्रष्ट हो जायेगा और शैव कहें कि जो विष्णुकी भक्ति करेगा,वह भ्रष्ट हो जायेगा।

परन्तु शंकरजी बीचमें कुछ नहीं बोले। उन्होंने कहा कि अच्छा, तुमलोग जो करते हो, वह करो। मैं तो यहाँ से जाता हूँ। वे वाक् आउट (Walk-Out) कर गये। वहाँसे चुपचाप उठकर चले गये। परन्तु उन्होंने घर जाकर अपनी पत्नी सतीको कुछ नहीं बताया। उन्होंने सोचा कि इन बातोंसे सतीको दुःख होगा। इसलिए दुःखको बढ़ाना नहीं चाहिए। जब कोई दुःखदायी बात सामने आजाय तो उसे अपने भीतर पचा लेना चाहिए। जिस बातसे परिवारवालों तथा मित्रोंका मन बिगड़े, उसको कहना धर्म नहीं होता। इसलिए शंकरजी चुप लगा गये और भजन करने लगे। बात आयी-गयी हो गयी।

लेकिन दक्षको चैन कहाँ ? उसने शंकरजीको नीचा दिखानेके लिए एक यज्ञका आयोजन किया। जिसके पीछे ईर्ष्या-द्वेष हो, स्पर्धा हो; वह यज्ञ भी कभी सुफल नहीं देता। जिसका मूल ही खराब है, वह धर्म कैसे होगा ? दक्षने अपने द्वारा आयोजित यज्ञमें अन्य सब देवताओंको तो आमन्त्रित किया, परन्तु शंकरजीको आमन्त्रित नहीं किया।

इसीसे सिद्ध होता है कि दक्षके मनमें अपने पुराने अपमानका बदला लेनेकी बात बैठी हुई थी, प्रतिशोधकी भावना धर्मको पूर्ण नहीं होने देती। वह न अन्तःकरणको शुद्ध करती है, न अहिंसामें प्रतिष्ठित होने देती है और न व्यवहारमें सफलता आने देती है। वह तो सर्वथा धर्मके विपरीत होती है।

इधर जब सतीजीने सुना कि उनके पिता यज्ञ कर रहे हैं और उसमें भाग लेनेके लिए सभी देवता जा रहे हैं, तब उनके मनमें भी वहाँ जानेकी इच्छा हुई। उन्होंने शंकरजीसे कहा और धर्मकी यह बात बतायी कि अपने पिता, पति तथा गुरुके घरसे आमत्रण न आवे तब भी वहाँ जानेमें कोई हानि नहीं होती। इसलिए मैं वहाँ जाऊँगी। मेरी सब बहनें भी वहाँ आयेंगी। वहाँ माँ होगी; पिता होंगे। उन सबसे मिलकर बड़ा आनन्द मिलेगा।

शंकरजीने कहा कि देखो देवी, यदि अनजानमें आमन्त्रण न आया हो तो वहाँ जानेमें कोई हर्ज नहीं है। परन्तु जहाँ जान-बूझकर आमन्त्रित नहीं किया गया हो, मन भी साफ नहीं हो, मैला हो तो वहाँ नहीं जाना चाहिए।

इस प्रकार शंकरजीने सतीजीको साफ-साफ मना कर दिया, लेकिन सतीजी नहीं मानी। उनके मनमें यही बात बैठी रही कि मैं तो पिताके घर जाऊँगी ही। इसका परिणाम यह हुआ कि सती और शंकरजीमें मतभेद हो गया। दोनोंके मन अलग-अलग हो गये।

देखो, पत्नीका यह धर्म है कि यदि कभी पति और पितामें मतभेद हो जाय तो पत्नीको अपने पतिका साथ देना चाहिए, पिताके पक्षमें नहीं जाना चाहिए। क्योंकि पत्नी सर्वात्मना पतिके साथ जुड़ी होती है।

लेकिन यहाँ तो सतीजी शंकरजीके मना करनेपर क्रोधके मारे आग-बबूला हो गयीं। उनको ऐसी नजरसे देखने लगीं, मानो भस्म कर देंगी। अन्तमें पिताके घर जानेके लिए स्वयं अपने घर से निकल पड़ीं। जब वे घरसे निकलीं तब उनके सेवक उनकी सवारीके लिए बैल ले आये। जब सतीजी शंकरजीके साथ बैलपर चढ़ती हैं तब तो उनकी शोभा होती है। लेकिन आज वह शंकरजीके बिना ही बैलपर सवार हो गयीं। बृषभ केवल शक्तिका वाहन ही नहीं है, स्वयं धर्म भी है। शक्तिके साथ-साथ विवेक और ज्ञानका भी रहना आवश्यक है। जहाँ शक्ति और ज्ञान अलग-अलग हो जाते है, वहाँ वृषभ आधा हो जाता है।

जब सती शंकरजीकी अवज्ञा करके दक्षके यहाँ गयीं तब वहाँ किसीने भी उनका आदर नहीं किया। माँ जरुर प्रेमसे मिलीं, लेकिन बहनें हँसती हुई सी, कुछ तिरस्कार पूर्वक मिलीं। दक्ष तो मिले ही नहीं।

अब सतीजीका माथा ठनका। यज्ञ-मण्डपमें गयीं। लेकिन उनको शंकरजीके बैठनेके लिए कोई आसन या सिंहासन नहीं दिखाई पड़ा। फिर वे सब-कुछ समझकर क्रुद्ध हो गयीं। उन्होंने अपने पिता को सुनाना प्रारम्भ किया। उनकी उक्तियोंमें एक उक्ति ऐसी है, जो वैष्णवोंके पढ़ने योग्य है –

यद्-द्व्यक्षरं नाम गिरेरितं नृणाम्
सकृत्प्रसंगादघमाशु हन्ति तत्।
पवित्रकीर्तिं तमलंघ्यशासनं
भवानहो द्वेष्टि शिवं शिवेतरः।। ४-४-१४

पिताजी, देखिए तो सही, केवल दो ही अक्षरोंका तो नाम है शिव। यदि कोई एक बार, किसी प्रसंगवश भी भगवान् शंकरका यह दो अक्षरों वाला नाम उच्चारण कर ले तो वह सारे पाप-तापका नाश कर देता है। लेकिन आप हमारे अलंघ्यशासन प्रभुको शिवेतर दृष्टिसे देखते हैं और उनसे द्वेष करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि आप स्वयं अमंगलरूप हैं। इसलिए अब आप-जैसे

पितासे उत्पन्न शरीरको मैं धारण नहीं करुँगी। क्योंकि लौटनेपर यदि शंकरजीने मुझे-'दक्ष कुमारी, दाक्षायणी' कहकर पुकार लिया तो मैं शर्म से गड़ जाऊँगी।

यह कहकर सतीजीने उस यज्ञशालामें ही योगाग्नि धारण करके अपने शरीरको भस्म कर दिया। चारों ओर हाय-हाय मच गयी। सतीजीके साथ आये हुए शंकरजीके गण क्रोधवश यज्ञमें विघ्न करने लगे। लेकिन भृगुजीने ऐसा मन्त्र पढ़ा कि वहाँ जितने भी ब्राह्मण थे, दक्षके पक्षमें हो गये और उन्होंने उन गणोंको भगा दिया।

इस घटनाको घटित हुए बहुत दिन व्यतीत हो गये। शंकरजी सतीजी के जाने के बाद समाधिस्थ हो गये। उन्होंने सोचाकि सतीजी मायके गयी हैं, वहाँ आनन्द में होंगी और जब उनकी मर्जी होगी, लौट आयेंगी। इसलिए वे अपनी मौज में बैठ गये थे। सतीजीके साथ गये हुए गण भगा दिये जानेके कारण इतने शर्मिन्दा थे कि उन्होंने लौटकर शंकरजीसे कुछ नहीं कहा। एक तो उन्होंने सतीके जानेमें सहायता की थी, उनको अपने साथ ले गये थे, दूसरी उनकी वहाँ खूब पिटाई हो गयी थी। इसलिए उन्होंने शंकरजीको सतीजीके मरनेकी खबर नहीं दी।

जब बहुत दिनों बाद नारद जी शंकरजीके पास आये तब उन्होंने पूछा कि सतीजी कहाँ है ? शंकरजी बोले कि मायके गयी हैं। नारदजीने कहा कि गयी नहीं है, गयीं थीं। वहाँ उन्होंने अपने पिता दक्ष द्वारा अपमानित होने के कारण अपना शरीर छोड़ दिया।

यह सुनकर भगवान् शंकरको आगया क्रोध ! फिर जैसे लोग क्रोधमें अपनेको नोचने लगते हैं, वैसे ही शंकरजीने अपना एक बाल नोचकर फेंक दिया। उसमें-से निकला वीरभद्र और उसने दक्षके यहाँ जाकर उनके यज्ञका विध्वंस कर दिया। इस सम्बन्धमें शिवमहिम्नस्तोत्रमें एक बड़ा स्तोत्र है –

क्रियादक्षो दक्षः क्रतुपतिधीशस्तनुभृताम्
ऋषीणामार्त्विज्यं शरणद सदस्याः सुरगणाः।
क्रतु भ्रंशस्त्वत्तः कृतुफलविधानव्यसनिनो
ध्रुवं कर्तुः श्रद्धाविधुरमभिचाराय हि मखाः।।

जो काम श्रद्धासे किया जाता है, वह तो पूर्ण होता है। किन्तु अश्रद्धा, ईर्ष्या, द्वेष तथा स्पर्धासे और दूसरोंको नीचा दिखानेके लिए किया गया काम कभी परिपूर्ण नहीं होता। इसलिए यज्ञका फल देनेवाले ने ही दक्षके यज्ञका विध्वंस कर दिया।

वीरभद्रने यज्ञ-विध्वंस करते समय ऐसा किया कि जो लोग अपनी दाढ़ी

हिला-हिलाकर हँस रहे थे, उनकी दाढी नोंच ली, जिन्होंने अपने दाँत दिखाये थे, उनके दाँत तोड़ दिये, हवनीय पशुके स्थानपर दक्षका ही सिर मोड़कर तोड़ लिया और यज्ञ कुण्डमें डाल दिया। यज्ञमें सम्मिलित बड़े-बड़े देवता अंग-भंग होकर वहाँसे भागे और ब्रह्माजीके पास पहुँचकर उनका सारा हाल सुनाया। ब्रह्माजी पितामह हैं, शान्ति के देवता हैं, वे सबको साथ लेकर शंकरजी के पास गये।

शंकरजी भी आशुतोष हैं। उन्होंने ब्रह्माजीसे कहा कि दक्ष तो बालक है, उसके अपराधपर हम कहाँ विचार करते हैं-'नाघं प्रजेश बालानां वर्णये नानुचिन्तये।' शंकरजीने दक्षको क्षमा कर दिया। लेकिन उसका सिर तो जल चुका था। इसलिए उसके ऊपर बकरेका सिर जोड़ा गया।

देखो, यदि आप इस घटनाको कल्पना भी मानें तो यह सर्जरीकी कितनी बड़ी कल्पना है कि एकके सिरपर दूसरेका सिर भी जोड़ा जा सकता है। उपनिषदोंमें भी ऐसा वर्णन आया है। अश्विनीकुमारोंने दधीचिका, दध्यर्वण ऋषिका सिर काटकर अलग रख दिया और उन्होंने घोड़ेके सिरसे उपदेश किया। जो लोग परम्पराको नहीं मानते, वे वेदोंका मनमाना अर्थ निकाल लेते हैं। पर, वह वास्तविक अर्थ नहीं होता।

तो, शंकरजीने ऐसी व्यवस्था कर दी कि दक्षके सिरपर बकरेका सिर जोड़ दिया गया। भृगुकी दाढ़ीमें बकरेकी दाढ़ी जोड़ दी गयी। पूषाके लिए यह कह दिया कि यजमान अपने मुँहसे चबायेगा और इनका पेट भर जायेगा। इसके बाद यज्ञमें साक्षात् विष्णु भगवान् आये। सब देवताओंने अलग-अलग उनकी स्तुति की और दक्षका यज्ञ किसी प्रकार परिपूर्ण हो गया।

इसका अभिप्राय यह है कि धर्मके मूलमें ईश्वर हो तब तो वह परिपूर्ण होता है। यदि सम्पूर्ण विश्व-सृष्टिके कर्ता-भर्ता-हर्ता परमेश्वरकी उपेक्षा करके कोई यज्ञ-यागादिरूप धर्म करेगा तो वह कदापि सफल नहीं होगा। धर्मका फल देने वाले परमेश्वर हैं। कर्म स्वयं जड़ है और जड़ इन्द्रियोंके द्वारा सम्पन्न होता है। इसलिए फलदाता परमेश्वरके प्रति श्रद्धा न हो तो धर्म फलप्रद नहीं होता।

तो, चतुर्थ स्कन्धके सात यज्ञ-तन्तु हैं, उनके वर्णनके माध्यमसे धर्म-कथाका वर्णन है। धर्म ही काम और अर्थ दोनोंका नियामक है। जिसकी बुद्धिमें धर्म नहीं है, वह अपनी कामनाके अनुसार चाहे जो खायेगा, चाहे जो पीयेगा, चाहे जो बोलेगा और चाहे जो करेगा उसके जीवनमें कोई नियन्त्रण नहीं होगा। फिर कोई व्यवस्था, कोई अनुशासन नहीं रहेगा। अतः जीवनको अनुशासित रखनेके लिए धर्मकी धारण-शक्ति अवश्य होनी चाहिए। धर्म सबमें

होता है। आमके पेड़का एक धर्म होता है। चमेली आदि लताका भी एक धर्म होता है। कणोंके भी धर्म होते हैं। यदि किसी वस्तुमें धर्म नहीं रहेगा तो वह वस्तु नष्ट हो जायेगी। अपने धर्मके धर्मत्वसे ही वस्तु सुरक्षित रहती है।

इसके बाद अर्थका प्रसंग है। आप जानते ही हैं कि स्वायम्भुव मनुके दो पुत्र थे-उत्तानपाद और प्रियव्रत। उनमें राजा उत्तानपादकी बड़ी ऊँची स्थिति थी। सबके ऊपर उनकी पहुँच थी। उनकी दो पत्नियाँ थीं-एक सुनीति और दूसरी सुरुचि। सुनीति पत्नी अच्छी नीतिपर चलने वाली होती है। राजा को सुनीतिके अनुसार चलना चाहिए। सुरुचि पत्नी अपने मनकी पसन्द होती है, प्रियतासे चलती है। जो राजा अपनी पसन्दसे चलता है, उसको पुत्र तो होता है, परन्तु वह देखनेमें ही उत्तम होता है, परिणाममें उत्तम नहीं होता। उसका विनाश हो जाता है। जो राजा सुनीतिके अनुसार चलता है, उसको ध्रुव जैसा पुत्र होता है और परिणाममें उसका हित होता है। ध्रुवका अर्थ है नित्य अविनाश, सुनीतिका अर्थ है सुन्दर नीति और सुरुचिका अर्थ है सुन्दर रुचि।

राजा उत्तानपादको सुनीति पसन्द नहीं थी, सुरुचि पसन्द थी। इसलिए एक बार राजाने सुरुचि पुत्र उत्तमको गोदमें ले रक्खा था। तब सुनीति-पुत्र ध्रुव भी गोदमें चढ़ने के लिए आया, लेकिन राजा ने उसका अभिनन्दन नहीं किया, उसको गोदमें नहीं उठाया। वहाँ सुरुचि बैठी थी। उसने बालक ध्रुवसे कहा कि बेटा, यदि तुम महाराजकी गोद में बैठना चाहते हो तो जाकर भगवान्‌की आराधना करो। आराधना द्वारा पहले मेरे पेट में आओ। जब तुम्हारा जन्म मेरे पेटसे होगा तब तुम्हें राजाका सिंहासन बैठनेके लिए मिलेगा—

तपसाऽऽराध्य पुरुषं तस्यैवानुग्रहेण मे।
गर्भे त्वं साधयात्मानं यदीच्छसि नृपासनम्।। ४-८-१३

अब आप एक बातपर ध्यान दें। सुरुचिने ध्रुवसे यह नहीं कहा कि भगवान्‌की आराधनासे तुम्हें राजाकी गोद मिलेगी। उसने यह कहा कि भगवान्‌की आराधना करनेपर भी तुमको राजाकी गोद नहीं मिलेगी। आराधना करनेके बाद जब मरोगे और मरने के बाद मेरे पेट में आओगे, मेरे पुत्र बनोगे तब तुम्हें यह राज्य सिंहासन प्राप्त हो सकता है।

इस प्रकार सुरुचिने भगवान्‌की भक्तिका, शक्तिका, अभिव्यक्तिका तिरस्कार किया। उसके कथन का तात्पर्य यही था कि तुम्हारे राज्य-सिंहासनपर बैठनेका मुख्य साधन तो मेरा पेट होगा और गौण साधन भगवान्‌की भक्ति होगी।

अब विमाता सुरुचिकी बात सुनकर बेचारे ध्रुव रोने लगे। क्योंकि उनके मनमें राजाकी गोदमें बैठनेकी वासना थी। वे रोते रोते अपनी माँ सुनीतिके पास गये। उनके कुछ कहने के पहले ही दासीने ज़ो घटना घटित हुई थी, वह सुनीतिको कह सुनायी थी। लेकिन सब-कुछ सुननेके बादभी सुनीतिके मनमें न तो सुरुचिके प्रति कोई ईर्ष्या हुई और न राजाके प्रति कोई दोष-दृष्टि हुई। उसने बड़ी शान्तिसे कहा कि बेटा ध्रुव,'सपत्न्याऽभिहितः पंथा'-मेरी सौतने तुमको जो रास्ता बताया है, वही तुम्हारे लिए श्रेयस्कर है। भगवान्ने ही तुम्हारे पिताको यह पद दिया है। तुम्हारे दादा स्वायम्भू मनुको भी उनका पद भगवान्से ही मिला है। तुमको सचमुच भगवान्की आराधना के बिना यह पद प्राप्त नहीं होगा; इसलिए तुम जाओ और भगवान्की आराधना करो।

माताकी बात सुनकर बालक ध्रुवने तत्काल भगवान्की आराधना करनेका निश्चय कर लिया। इस संकल्पके अनुसार वे घरसे निकल पड़े ! भगवान्की लीला देखिये। जिसका कल्याण होने वाला होता है, उसके मार्गसे विघ्न-बाधाएँ अपने आप दूर हो जाती हैं। इतना ही नहीं, उसको सुगम मार्ग भी प्राप्त हो जाता है।

ध्रुवजीको दरवाजेसे बाहर निकलते ही नारदजी मिल गये। उन्होंने पहले तो यही कहा कि बेटे, अभी तो तुम्हारी इतनी छोटी अवस्था है कि तुम्हारे लिए क्या मान और क्या अपमान ? क्यों तुम इस तरह क्षत्रिय भावमें आ रहे हो ? सृष्टि तो ऐसी है कि इसमें मान-अपमान होते रहते हैं। इसलिए इनको सहते हुए आगे बढ़ना चाहिए।

लेकिन ध्रुवने उत्तर दिया कि नहीं महाराज, मेरी माँने तो कहा ही है, सौतेली माँने भी कहा है और उसके अनुसार मैं भगवान्की आराधनाके लिए घरसे निकाल पड़ा हूँ। फिर यह मंगलमय अवसर देखिये कि घरसे निकलते ही भगवान्ने आपको भेज दिया। मैं क्षत्रियका बेटा हूँ। अपना लक्ष्य प्राप्त किये बिना नहीं लौटूँगा। भले चाहे कितनेही जन्म लग जायँ। देखो, ध्रुवने नारदजीको प्रणाम नहीं किया। बालकको शिष्टाचारकी आवश्यकता नहीं पड़ती। इसलिए वह नारदजीसे ऐसे ही बात करता रहा। ध्रुवकी दृढ़निष्ठा देखकर नारदजीको बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने तुरन्त ध्रुवको भगवत्प्राप्तिके लिए द्वादशाक्षर मन्त्र बता दिया और उसके जप की विधि भी बता दी। यह भी कह दिया कि तुम यमुना-तटपर चले जाओ। मथुराके पास मधुवन नामक एक वन है। उसमें रहकर भगवान्की आराधना करो।

ध्रुवने वहाँ बड़ी कठोर तपस्या की। पहले फल-फूल खाकर, फिर केवल जल पीकर, फिर वायु पीकर और अन्ततोगत्वा सब-कुछ छोड़कर एक पाँवसे

धरतीपर खड़ा हो गया। अब ध्रुवकी प्राणवायु समष्टिकी प्राणवायुसे एक हो गयी। उसका व्यष्टिभाव निवृत्त हो गया और वह समष्टिभावमें स्थित हो गया। इसलिए जब उसने अपना प्राण-रोध किया तब सारी सृष्टिका प्राण-रोध होने लगा। देवता लोग घबराये और भगवान्‌के पास गये।

भगवान्‌ने कहा कि देवताओं, घबराओ नहीं। मैं जल्द ही ध्रुवको तपस्यासे निवृत्त कर दूँगा। यह कहकर भगवान् शब्दरूप गरुड़पर आरुढ़ होकर और शंख-चक्र-गदा-पद्‌मरूप चारों पदार्थ हाथमें लेकर ध्रुवके सामने प्रकट हो गये। लेकिन ध्रुव तो भगवान्‌के ध्यानमें इतना मग्न था कि आँख ही नहीं खोलता था। इसलिए भगवान्‌ने ध्रुवके अन्तःकरणमें होने वाली अपनी स्फुरणा को बंदकर दिया। अब ध्रुवने आँख खोली तब देखा कि भगवान् चतुर्भुज रूपसे बाहर दर्शन दे रहे हैं। ध्रुव भगवान्‌का दर्शन करके आश्चर्य चकित हो गये। उसकी आँखोंमें आँसू , उसके शरीरमें रोमाञ्च, उसका कण्ठ गद्‌गद् और हृदय प्रेमसे परिपूर्ण हो गया। वह भगवान्‌के चरणोंमें गिर पड़ा और उठा तो उसके मनमें आया कि मैं भगवान्‌की स्तुति करूँ, महिमा गाऊँ। लेकिन उसको कुछ मालूम तो था नहीं, फिर कैसे स्तुति करे, महिमा गाये ? भगवान्‌ने ध्रुवकी मनःस्थिति समझ ली और उसके कपोलसे अपने वेदमय ध्वनिरूप शंखका स्पर्श कर दिया-'पस्पर्श बालं कृपया कपोले।'

देखो, शंख किसे कहते हैं ? 'शं खे छिद्रे यस्य असौ शंखः'- जिसके छिद्रमें, छेदमें शान्तिका निवास होता है, उसको शंख कहते हैं। ऐसे शंखका स्पर्श होतेही ध्रुवके हृदयमें भगवदीय ज्ञानका उदय हो गया और वह हाथ जोड़कर बोल उठा—

योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
संजीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्
प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम्।। ४-९-६

भगवन्, आप मेरे हृदयके भीतर ही रहते हैं। मेरी सोती हुई वाणीको जगाते हैं, बोलनेवाली बनाते हैं। सम्पूर्ण शक्तियोंके आधार, उनको धारणकरने वाले आप ही हैं। मेरे हाथ-पाँव आपकी शक्तिसे ही चलते हैं। मेरी त्वचा भी आपकी ही शक्तिसे छूती है और मेरे नेत्र आपकी ही शक्तिसे देखते हैं। आप मुझसे दूर नहीं हैं। आपको पकड़नेका स्रोत यही हैं। सृष्टि उधर नहीं पैदा होती, जिधर मालूम पड़ती है, वहाँ पैदा होती है, जहाँसे मालूम पड़ती है। यही इसका नियम है। भूत-भविष्य-वर्तमान ये तीनों काल मैंमें ऐसे ही पैदा होते हैं,

मैंके भीतर जो अन्तर्यामी प्रभु बैठा हुआ है, वही इनको वहाँसे खींचता रहता है। और सब तो अज्ञानके विलास हैं।

> या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म-
> ध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात्।
> सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत्
> किं त्वन्तकासिलुलितात्पततां विमानात्।। ४-९-१०

हे नाथ, स्वर्गके लोग तो वहाँके विमानोंसे टूट-टूटकर गिरते रहते हैं। इनकी आयु समाप्त होती रहती है। वे अब मरे तब मरे-यह सोचकर डरते रहते हैं। लेकिन यदि हम आपके चरणारविन्दके ध्यान और आपके भक्तोंके श्रीमुखसे विनिःसृत आपकी कथाके श्रवणमें मग्न हो जायें तो उससे जो सुख मिलता है, वह ब्रह्मानन्दमें भी नहीं है।

देखो ब्रह्मानन्द शान्तानन्द है और विषयानन्द तो विक्षेपानन्द है ही। किन्तु भगवान्‌के स्मरणमें, कथनोपकथनमें न विक्षेप है और न समाधि है। वह तो बिल्कुल जीते-जागते, चलते-फिरते ब्रह्मका आनन्द है। वह नशेका, बेहोशीका आनन्द नहीं है और न भोगका आनन्द है। वह तो सुनो, सुनते जाओ और भगवान्‌का आनन्द लेते जाओ। आँखोंमें आँसू हो शरीरमें रोमाञ्च हो, कण्ठ गद्‌गद हो, हृदयमें द्रुति हो और परमानन्दमें मग्न रहो- ऐसा है यह नकद आनन्द !

तो, जब ध्रुवने इसप्रकार भगवान्‌की स्तुति कर ली तब भगवान्‌ने ध्रुवको वरदान देते हुए कहा कि मैं तुमको वह स्थान प्रदान करता हूँ, जो तुम्हारे दादा स्वायम्भुव मनुको भी नहीं मिला, तुम्हारे पिता उत्तानपादको भी नहीं मिला। इन्हींको क्यों, इनके अतिरिक्त और किसी दूसरे को नहीं मिला और न आगे किसीको मिलेगा।

देखो, भगवान्‌की आराधनाका फल ! ध्रुवको वह सब मिला, जो वे चाहते थे। लेकिन ध्रुवका हृदय ऐसा था कि वे सब-कुछ प्राप्त करके भी पछताते हुए घर लौटे। पछतावा उनको इस बातका हुआ कि मैं चाहता तो स्वयं भगवान् मुझे मिल जाते। फिर मैंने उनसे अर्थ-प्राप्तिका वरदान क्यों माँगा ?

जब ध्रुव अपने नगरमें लौटे तब वहाँ उनका बड़ा भारी स्वागत सत्कार हुआ। वे सबसे पहले उत्तम की माता सुरुचिसे मिले और कहा कि मेरी आदिगुरु तो तुम्हीं हो। तुम्हारे ही उपदेशसे मैंने भगवान्‌की आराधना की और मुझे भगवत्प्राप्ति हुई। इसके बाद राजा उत्तानपाद ध्रुवको राज्य देकर, वनमें गये चले और ध्रुव राजा हुए। वे राजर्षि कहलाये।

इसके बाद एक विचित्र घटना घटी ! एक बार सुरुचिका बेटा उत्तम कहीं शिकार खेलने गया था। घहाँ मृगयामें किसी यक्षने उसका वध कर दिया। जब उसकी माँ सुरुचि उसको ढूँढने गयी तो वह भी जल मरी।

देखो, सुरुचि का यही हाल होता है। वह हमेशा नहीं रहती। आज जिसको हम बहुत सत्य और बहुत उत्तम समझते हैं, कल वही मलिन समझा जाता है। आजका बढ़िया कल घटिया हो जाता है। अविनश्वर और अपरिवर्तनीय तत्त्व तो परमात्मा ही है।

तो जब ध्रुवको यह मालूम हुआ कि उनके भाई उत्तमको यक्षोंने मार दिया है तब उसके प्रति उनकी जो ममता थी, वह उमड़ पड़ी। उन्होंने अर्थ-प्राप्तिकी रुचिसे ही भगवान्‌का भजन किया था, इसलिए उनके ममत्वकी निवृत्ति नहीं हुई थी। उन्होंने क्रोधवश यक्षोंपर चढ़ाई कर दी। बड़ा भारी भंयकर युद्ध हुआ। वे तो नारायणास्त्र छोड़कर समस्त यक्षोंको भस्म कर देना चाहते थे। परन्तु उसी समय उनके दादा स्वायम्भुव मनु वहाँ आगये और बोले कि देखो बेटा, बहुत क्रोध मत करो-'अलम् वत्सातिरोषेण।' क्रोध तो स्वयं पाप है।

देखो, जो हमारे सुखके झरनेको बन्द कर दे, उसका नाम क्रोध होता है। हमारे जीवनमें आँखसे, कानसे, नाकसे, जीभसे, मुँहसे और त्वचा आदिसे जो परमानन्द प्रकट हो रहा है, उसको रोकनेके लिए ही, उसपर बाँध बाँधनेके लिए ही क्रोध आता है। उसका ऐसा स्वभाव है कि वह जिसके हृदयमें आता है, उसीको पहले जलाता है।

स्वायम्भुव मनु बोले कि बेटा, तुमने तो परमात्माका दर्शन किया है। फिर तुम्हारे हृदयमें ऐसा क्रोध क्यों ? निरपराध यक्षोंको मार रहे हो। अपराध किया किसी एक यक्षने और तुम वध कर देना चाहते हो समस्त यक्षोंका ! ऐसा क्यों नहीं समझते न तो तुम्हारे भाई ने यक्षोंको मारा और न यक्षोंने तुम्हारे भाई को मारा। यह सब तो भगवान्‌की लीला चल रही है। इसलिए युद्ध बन्द करो और देखो कि भगवान् कैसे प्रसन्न होते हैं—

तितिक्षया करुणया मैत्र्या चाखिलजन्तुषु।
समत्वेन च सर्वात्मा भगवान् सम्प्रसीदति।। ४-११-१३

अपनेसे बड़ोंके प्रति सहनशीलता, छोटोंके प्रति दया, बराबरवालोंके साथ मित्रता और समस्त प्राणियोंके साथ समताका बर्ताब करनेसे ही सर्वात्मना श्रीहरि प्रसन्न होते हैं।

देखो, जो काम भगवान्‌के दर्शनसे नहीं होता, उसको महात्मा लोग अपने उपदेश और सत्संगसे कर देते हैं। कारण यह है कि भगवान् तो रहते

हैं परोक्ष रूपमें और महात्मा लोग रहते हैं प्रत्यक्ष, इस धरतीपर। यह बात आपको भागवतमें स्थान-स्थान पर मिलेगीं। स्वायम्भुव मनु श्रीमद्भागवतमें वर्णित बारह भागवतोंमें-से एक हैं। इसलिए उनके उपदेशसे ध्रुवजीका क्रोध शान्त हो गया। यक्षोंके अधिपति कुबेर वहाँ आये। दोनोंमें प्रेम हो गया और कुबेरने ध्रुवजीको उनके हृदयमें अचल भगवद्भक्ति होनेका वरदान दिया।

उसके बाद ध्रुवने अपने पुत्रको राज्य दे दिया और स्वयं वनमें जाकर तपस्या करने लगे। अन्तमें भगवान्‌के भेजे हुए विमानके साथ उनके पार्षद आये। ध्रुवजीने बड़ी शान्तिसे यमुनाजीमें स्नान किया। फिर सन्ध्या-वन्दन, अग्निहोत्र आदि करके ज़ब वे विमानपर चढ़नेके लिए तैयार हुए तब मृत्यु उनके सामने आयी और बोली-मैं मृत्यु हूँ। जो जन्मता है, शरीर धारण करता है, उसके पास मैं आती हूँ। यह मेरा कर्त्तव्य है, धर्म है। ध्रुवने उत्तर दिया कि आओ। जब वह पास आयी तब ध्रुव उसके सिरपर पाँव रखकर विमानमें चढ़ गये।

यहाँ देखो, भगवान्‌के विमानमें चढ़नेका अर्थ है मानरहित हो जाना, विगत मान हो जाना। विमानमें वही चढ़ता है, जो अभिमानी नहीं होता। अभिमानीका भार विमान नहीं सहन कर सकता।

जब ध्रुव अपने लोक चले गये तब एक दिन नारदजीने सोचा कि मैंने ध्रुवको जो मन्त्रोपदेश दिया था, उसके फलस्वरूप उसे भगवान्‌का दर्शन मिला और ध्रुवलोककी प्राप्ति हुई। अब देखें कि मेरा वह शिष्य वहाँ किस अवस्था में है ? इस विचारके अनुसार नारदजी ध्रुवलोक गये तो वहाँ देखते क्या हैं कि ध्रुवकी आँखोंसे झर-झर आँसू गिर रहे हैं।

नारदजीको बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने पूछा कि ध्रुव, तुम रोते क्यों हो ? ध्रुवने कहा कि महाराज, मैंने भगवान्‌को प्राप्त करके भी उनसे यह ध्रुवलोक माँगा, भगवान्‌को नहीं माँगा ! यही पश्चात्ताप मेरे मनमें है और इसी कारण मेरी आँखोंसे आँसू गिरते रहते हैं। सुनकर नारदजीको बड़ी प्रसन्नता हुई और वे उनका गुण-गान करते हुए कहने लगे कि भगवान्‌का भक्त हो तो ध्रुव जैसा ! ध्रुवके पुत्रोंमें एक तो उत्कल हुए जो अवधूत हो गये। वे ब्रह्म और आत्माकी एकताका अनुभव करते हुए मग्न रहते थे। उन्होंने राज्यको स्वीकार नहीं किया। इसलिए ध्रुवके वन-गमनके पश्चात् उनके दूसरे पुत्र वत्सरको राज्य मिला।

ध्रुवके वंशमें आगे चलकर एक अंग नामक राजा हुए। उनका विवाह मृत्युकी दौहित्रीसे हुआ। लेकिन जिस घरमें मृत्युकी दौहित्रि जायेगी, उसका क्या हाल होगा ? उससे कैसी सन्तान पैदा होगी ? इसीलिए शास्त्रोंमें कहा

गया है कि विवाहके समय कन्याकी आनुवंशिकी शुद्धिपर ध्यान देना चाहिए। यह देख लेना चाहिए कि उसका खानदान कैसा है ? क्योंकि नाना-नानीका प्रभाव भी बच्चोंपर पड़ता है।

अंग राजाकी पत्नीसे पहले तो कोई बेटा नहीं हुआ, जब उन्होंने ब्राह्मणोंकी सम्मतिसे पुत्रेष्टि-यज्ञ करवाया तब नानाके प्रभाववाला बेटा उत्पन्न हुआ, जिसका नाम पड़ा वेन। वह बचपनसे ही प्रजाको दुःख पहुँचाने लगा। राजा वह होता है, जो प्रजाका रञ्जन करे, उसको सुख पहुँचाये। धर्मशास्त्रोंमें स्पष्ट कहा गया है कि जो राजा प्रजाका हितकारी है, वह तो देवांश है, देवताका अंश है, अन्यथा प्रजाको पीड़ित करने वाला राजा राक्षस होता हैं—

प्रजाहितकरो राजा देवांशोऽन्यश्च राक्षसः।

राजा वेन राक्षस-जैसा ही था। वह जहाँ जाय, वहाँ लोगोंको मृत्यु-ही-मृत्यु दिखायी पड़े। उसके पिता अंगने उसको बहुत समझाया-बुझाया, लेकिन उसने उनकी एक नहीं सुनी। अंगको बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने कहा कि हाय-हाय हमारे वंशमें ऐसा कुपुत्र कहाँसे आगया ? वे उस कुपुत्रके दुःखसे दुःखी रहने लगे।

इस बीच एक दिन उनके भीतर ध्रुवका अंश जाग्रत हो गया और उन्होंने कहा कि भगवान्‌ने कुपुत्र दिया तो बहुत अच्छा किया। यदि सुपुत्र होता तो मैं इसके रागमें, मोहमें, ममत्वमें आसक्त हो जाता। अब मैं संसारसे विरक्त होकर भगवान्‌का भजन करूँगा। यह कहकर वे राज्य छोड़कर भजन करने चले गये।

जब वेनका राज्याभिषेक हुआ तब उसने राज्यभरमें ढिढोरा पिटवाकर यह घोषणा कर दी कि कोईभी कभी किसी प्रकारका यज्ञ, दान, हवन, न करे। उसने समस्त धार्मिक क्रिया-कलाप बन्द करवा दिये—

न यष्टव्यं न दातव्यं न होतव्यं द्विजाः क्वचित्।
इति न्यवारयद्धर्मं भेरीघोषेण सर्वशः।। ४-१४-६

मनुष्य जब धर्मकी रक्षा करता है तब धर्म भी उसकी रक्षा करता है-'धर्मो रक्षति रक्षितः।' संस्कृत भाषामें धर्म शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकारसे होती है। पहली व्युत्पत्ति यह है कि 'ध्रियते जनैः इति धर्मः'- लोग अपने जीवनमें जिसको धारण करें, उसका नाम धर्म है। दूसरी व्याख्या है-

धर्मः पुण्यः यमः न्यायः स्वभावाचारसोमपाः।

जो प्रजाकी रक्षा करता है, उसका नाम धर्म है। तात्पर्य यह है कि धर्म

राजा और प्रजा की रक्षा करता है, राजा और प्रजा धर्मकी रक्षा करते हैं। इससे दोनों सुखपूर्वक बढ़ते हैं।

वेनने अपने राज्यमें धर्म-पालन बन्द करवा दिया। सत्पुरुषों द्वारा प्रशंसित सभी कर्म बन्द हो गये। प्रजा डर गयी। यह देखकर राज्यके विद्वानों, ब्राह्मणों और महात्माओंने एक गोष्ठी की और यह निर्णय किया कि यदि धर्म नहीं रहेगा तो प्रजाका कल्याण कैसे होगा ? इसलिए हमलोगोंको राजा वेनके पास चलकर उसे सावधान करना चाहिए। इस निर्णयके अनुसार बहुत सारे विद्वान्, ब्राह्मण और महात्मा मिलकर राजा वेनके पास गये तथा बोले कि महाराज, धर्म ही आपकी रक्षाकरने वाला है। कहीं आपका धर्म नष्ट न हो जाय।

वेनने कहा कि तुम लोग बड़े मूर्ख हो-'बालिशा बत यूयं वा।' मैं तो तुम लोगोके खाने-पीने-रहनेकी व्यवस्था करता हूँ, तुमको वृत्ति देनेवाला पिता हूँ, जगत्का ईश्वर हूँ। फिर तुम लोग कौन होते हो, जो मेरे सिवाय किसी दूसरेको ईश्वर मानो !

अब तो विद्वानों-ब्राह्मणों-महात्माओंने तिरस्कारपूर्वक ऐसी हुंकार की कि उसकी ध्वनिके आघातसे वेन मर गया। महात्मा लोग चले गये, लेकिन वेनकी माता सुनीथाने उसके शरीरको उठवाकर सुरक्षित रख दिया।

इसके बाद प्रजाका नियन्त्रण कौन करें ? राजा हो, धर्मात्मा हो, धर्मानुष्ठान करने वाला हो, सदाचारी हो तब वह प्रजाको सन्मार्गपर चलानेमें सफल होता है। यहाँ कोई राजा न होनेके कारण प्रजामें अराजकता फैल गयी, जिसके मनमें जो आये, वह करने लगा। चोर-डाकू आदि बढ़ गये। 'नश्येत् त्रयी दण्डनीतौ हतायाम्'-जब कोई दण्डदेनेवाला नहीं रहता, तब वेदरूप शाश्वत संविधानका लोप हो जाता है। दण्डके बिना प्रजाका धारण कठिन होता है। क्योंकि लोग निश्शंक होकर मनमानी करने लगते हैं।

अब यह सब देखकर महात्माओंको बड़ी व्याकुलता हुई। उन्होंने वेनके मृत शरीरका मन्थन किया। उसकी दोनों भुजाओंमें-से पालनी शक्तिके प्रतीक पृथु अपनी पत्नीके साथ निकले और वे राजा बनाये गये। उनके राज्याभिषेकपर सारी प्रजाने उनका अभिनन्दन किया। देवताओंके पास जो-जो अधिकार हैं, वे सब उनको समर्पित किये गये।

राज्याभिषेक के समय राज्यकी भूखी-प्यासी प्रजा पृथुके पास पहुँची और प्रार्थना करने लगी कि महाराज, हम लोग भूख-प्याससे मर रहे हैं, हमको अन्न-जल चाहिए। राजाका सबसे पहला काम प्रजाको भूख-प्याससे बचाना होता है।

राजा पृथुने पूछा कि प्रजाजन, पृथिवीसे जो अन्न पैदा होता है, वह कहाँ चला जाता है ? प्रजाने कहा कि महाराज, सब पृथिवीमें लीन हो गया है। न जुताई होती है, न बुवाई होती है। फिर पृथिवी अन्न कहाँसे देगी ? इसीलिए लोग लूट-पाटमें लगे हुए हैं।

अब पृथुने अपना बाण उठाया और पृथिवीका पीछा किया। यहाँ बाण उठानेका अर्थ यह है कि जिससे पृथिवी जोती जाती है, खोदी जाती है, बोई जाती है, वे सारे हथियार पृथुने उठा लिये और कहा कि हम धरतीका चप्पा-चप्पा छान डालेंगे। अब तो पृथिवी हाथ जोड़कर खड़ी हो गयी और बोली कि महाराज, आपको जो चाहिए, मुझसे दुह लीजिये।

यहाँ पृथुकी यह विशेषता देखो कि उन्होंने किसीके लिए यह भेद-भाव नहीं किया कि अमुकको तो भोजन मिले और अमुकको न मिलें। उन्होंने साँप, बिच्छू, यक्ष, राक्षस, देवता सबके लिए, जिस-जिस भोजनकी आवश्यकता थी, उसकी व्यवस्था की। सबके बीजको सुरक्षित किया। जहाँ सिंचाईके लिए पानी नहीं मिलता था, वहाँ जलाशयकी व्यवस्था की। पृथिवीको समतल बनाया, ऊँचे-नीचे टीलोंको तोड़ दिया। जो कठोर धरती थी, उसको सिञ्चित करके जुतवा दिया। गाँव कहाँ बसें, कस्बे कहाँ बसें, पुर कहाँ बसें, नगर कहाँ बसें-इसकी विधिपूर्वक व्यवस्था की। इस प्रकार पृथुने सबको यथास्थान बसा दिया। राज्यमें सारी प्रजा अपने-अपने अभीष्टको प्राप्त करके सुखी हो गयी। जब सब सुखी हो गये तब पृथुने यज्ञ किया। क्योंकि यज्ञमें आदान-प्रदान दोनों क्रियाएँ होती हैं। जिनके पास इकट्ठा हो गया है, उनसे लेना आदान और जिनके पास नहीं है, उनको देना प्रदान कहलाता है।

पृथु जब यज्ञ करने बैठे तब इन्द्रने उसमें बाधा डाली। वे बार-बार पाखण्डका प्रसार करें। उनका पुत्र यज्ञके घोड़ेको पकड़कर ले गया। अन्तमें पृथुको क्रोध आया और उन्होंने संकल्प किया कि मैं इन्द्रको मार डालूँगा। ब्रह्माजीने समझाया कि इन्द्र तो यज्ञका देवता है, यज्ञाराध्य है, यज्ञ-प्रेरक है, साथमें रहकर यज्ञ करवाता है, और यज्ञकी आहुति ग्रहण करता है। उसको मारना नहीं चाहिए।

उसके बाद स्वयं भगवान् विष्णु आये। उन्होंने पृथु, और इन्द्रमें बीच-बचाव करते हुए कहा कि 'क्षमापयत आत्मानममुष्य क्षन्तुमर्हसि'-पृथु, इन्द्र तुमसे क्षमा माँगने आया है। इसको तुम क्षमा कर दो।

इसके बाद पृथु और इन्द्रमें मैत्री हो गयी। पृथुने इन्द्रको गलेसे लगा लिया, भगवान्की आराधना-पूजा की। जब भगवान् जाने लगे तब पृथुने उनके

चरणारविन्द पकड़ लिये और उनकी आँखोंसे टपाटप आँसू गिरने लगे। वे भगवान्‌की भक्तिमें निमग्न हो गये।

भगवान्‌ने कहा कि पृथु, वर माँग लो! तुम्हें क्या चाहिए? पृथु बोले कि महाराज, अब और वर क्या चाहिए? सब वरोंके वर तो आप हैं। फिर जब आप ही मिल गये तब आपसे और वस्तु क्या माँगूँ? वर माँगनेवाली बात तो वैसी ही है, जैसे कोई लड़की किसी लड़केसे ब्याह करना चाहती हो और लड़का कहे कि देवी, जिससे कहो, उससे तुम्हारा ब्याह करवा दें। यह भी कोई वर माँगनेकी प्रणाली है। फिर भी अन्य वर देना चाहते ही हैं तो मैं यही चाहता हूँ कि मेरे दस हजार कान हो जायें, जिनसे मैं आपका चरित्र-श्रवण करता रहूँ—

विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरः।

असलमें मेरे भाई, यह संसार हमारे हृदयमें आँखके रास्ते तो कम घुसता है, कानके रास्तेसे अधिक घुसता रहता है। इसलिए जब हम भगवान्‌के चरितामृतसे अपने कानोंको भर लेंगे तब इसमें संसार नहीं घुस पायेगा। संसार ईंट-पत्थरोंका नहीं होता। हमारे मनमें जो मैं और मेराका भ्रम है, इसीका नाम संसार है। श्री शंकराचार्यजी महाराज कहते हैं—

कर्तृत्वभोक्तृत्वलक्षणः संसारः।

हमारे मनमें जो कर्तापन और भोक्तापनका अभिमान है, उसीका नाम संसार है। इसलिए मैं और मेराकी निवृत्तिका नाम ही संसारकी निवृत्ति है। संसारकी निवृत्ति होनेपर ही मनुष्य जीवन्मुक्त जीवन व्यतीत करता है।

जब पृथुको भगवान्‌का दर्शन हो गया तब उन्होंने अपनी प्रजाको धर्मका उपदेश किया। राजाका एक काम यह भी है कि वह केवल दण्ड ही न दे, कर ही वसूल न करे, प्रजाको शिक्षित भी करे। यह काम राजा पृथु स्वयं करते थे। उन्होंने अपनी समस्त प्रजाको यह उपदेश किया कि सब लोग ईश्वरपर विश्वास करें और श्रद्धापूर्वक ईश्वरकी सेवा समझकर अपने-अपने कर्त्तव्यका पालन करें।

अब पृथुके सब काम पूरे हो गये। उन्होंने निन्यानवे यज्ञ किये, किन्तु इनको सौ फलोंका फल मिला। जहाँ सकाम यज्ञ होता है, वहाँ तो उसको पूरा करनेका आग्रह होता है, परन्तु जहाँ निष्काम यज्ञ होता है, वहाँ उसको पूरा करनेका आग्रह नहीं होता। इसलिए स्वयं भगवान्‌ने उनका शेष यज्ञ पूरा कर दिया।

इसके बाद पृथुके समग्र जीवन और उनकी समस्त कामनाओंको परिपूर्ण-सम्पूर्ण करनेके लिए स्वयं सनकादि महात्मा उनके पास आये। उनको

भरी सभामें सबके सामने देखकर राजा पृथु अपने सिंहासनसे उठ गये। उन्होंने उन महात्माओंको अपने सिंहासनपर बैठाया , उनकी पूजाकी और उनका सत्कार किया।

देखो, पृथुका व्यक्तित्व बड़ा सुन्दर था। ऊँचा और हृष्ट-पुष्ट शरीर गौरवर्ण और लम्बी-लम्बी भुजाएँ ! वे ऐसी बोली बोलते थे कि सुनकर प्रजा मुग्ध हो जाती थी और उनके उपदेशोंको ग्रहण कर लेती थी। वे ही राजा पृथु समागत महात्माओंके सामने खड़े हो गये और बड़े विनयसे बोले महाराज, आप लोगोंसे कुशल-मंगलका प्रश्न मैं कैसे करुँ ? क्योंकि—

भवत्सु कुशलप्रश्न आत्मारामेषु नेष्यते।

आप लोगोंको इस दुनियामें मजा लेनेकी-भोग करनेकी वृत्ति ही नहीं है। इसलिए मैं आपसे कैसे पूछूँ कि आपको क्या मिला और क्या नहीं मिला ? आपके पास क्या है, क्या नहीं है ? आप लोगोंके मनमें कुशल-अकुशलकी कोई वृत्ति ही नहीं है। फिर भी आप लोग पधारे हैं, इसलिए आप लोग मुझे मेरे कल्याणका उपदेश कीजिये। ऐसा उपदेश कीजिये, जिससे मेरा और मेरी प्रजाका, दोनोंका कल्याण हो। प्रजाने मुझे अपने प्रतिनिधिरूपमें नियुक्त किया है। इसलिए मैं अपनी सारी प्रजाकी ओरसे और अपनी ओरसे प्रश्न करता हूँ कि कैसे हम सबका मंगल हो ?

तदहं कृतविश्रम्भः सुहृदो वस्तपस्विनाम्।
संपृच्छे भव एतस्मिन् क्षेमः केनाञ्जसा भवेत्।। ४-२२-१५

सनकादिकोंने पृथुको उपदेश देते हुए कहा कि जीवनमें धर्मानुष्ठान होना चाहिए, ब्रह्मचर्यका पालन होना चाहिए, अहिंसाकी प्रतिष्ठा होनी चाहिए, सर्वभूतमें सद्भाव होना चाहिए और यह अनुभव करना चाहिए कि परमात्मा ही सर्वरूपमें प्रकट हो रहा है। 'जगतामथ तस्थुषां च'- जितनी भी चराचर सृष्टि है, सबके हृदयमें स्वयं परमात्मा ही बैठे हुए हैं। 'तमवेहि सोऽस्मि'- तुम यह भी अनुभव करो कि वह परमात्मा ही मेरा स्वरूप है।

देखो, भक्तिभावमें भी जो यह कहते हैं कि मैं सेवक हूँ और दूसरे सब भगवान्‌के स्वरूप हैं- इसका अर्थ क्या होता है ? इसका अर्थ यही होता है कि मेरी दृष्टिसे तुम भगवान् हो तो तुम्हारी दृष्टिमें मैं भगवान् हूँ। तुम यह देखो कि यह भगवान् हैं और मैं देखूँ कि तुम भगवान् हो।

वस्तुतः परमात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। भले ही नाम अलग-अलग क्यों न हों, लोगोंके दिमागमें जो संस्कार भर दिये गये हैं, उनके कारण मनमें दुराग्रह आजाता है और उससे आदमी बहुत दुःखी हो जाता है।

देखिये, आप एक बात ध्यानमें रखिये कि समाधि लगानेसे नाम-रूपका तो लोप हो जायेगा, लेकिन आपके अन्तःकरणमें जो संस्कार भरे हुए हैं, उनका लोप नहीं होगा। उन संस्कारोंका तो उसी रास्तेसे बोध करना पड़ता है, जिधरसे वे आते हैं। लेकिन बिना सद्गुरुके उपदेशके, बिना वेदशास्त्रोंके परम तात्पर्यको समझे उन संस्कारोंका बोध नहीं हो सकता, उनकी तुच्छताका बोध नहीं हो सकता। संसारके जो लोग विकारोंमें फँसे हुए हैं, उनके लिए संस्कारकी आवश्यकता होती है। संस्कार भी एक साधन है, एक उपाय है। वे जड़ता लाने अथवा दुराग्रही बनानेके लिए नहीं है विकारों को नियन्त्रण में लाने के बाद संस्कारोंका भी परित्याग होता है। और वह होता है परमात्माके तत्त्वज्ञानसे।

इस प्रकार सनकादिके उपदेशसे पृथुको संस्कारोंका बोध हो गया और उन्होंने अपनी पत्नीसहित वानप्रस्थाश्रम ग्रहण कर लिया।

यह कथा श्रीमद्भागवतमें तो नहीं है, अन्यत्र इसका वर्णन है कि जब पृथु वानप्रस्थाश्रम ग्रहण करके वनमें गये तब वहाँकी शोभा देखकर चकित हो गये। वह वन क्या था, मानो बनाया हुआ एक सुन्दर उद्यान हो। उनको यह देखकर कौतूहल हुआ कि उनके राज्यके इस बनमें इतना सुन्दर उद्यान, इतना मनोरम जलाशय किसने बनाया है ? उन्होंने जब उसका अनुसन्धान किया तब मालूम हुआ कि वेनके शरीरमें-से उनके पहले, ज्येष्ठ भ्राताके रूपमें, जो निषाद प्रकट हुआ, उसीने गुप्तभावसे बनके सारे राज्यका शृंगार किया है। वह निषाद अपने लघु भ्राता पृथुके प्रति अत्यन्त आदर और सत्कारकी भावना होनेके कारण छिपकर गुप्तरूपसे बाँध बनवाता था, जलाशय बनवाता था और कृषि आदिकी उन्नति करवाता था। परन्तु उसने इतना सब करनेके बाद भी अपनी ओरसे अपनेको पृथुके सामने प्रकट नहीं किया।

लेकिन पृथु उसका पता लगाकर स्वयं उसके पास गये और उसको हृदयसे लगाकर बोले कि भाई निषादराज, मेरे राज्यका सारा वैभव तुम्हारी महिमाका द्योतक है। काम किया तुमने और नाम हुआ मेरा ! तुम धन्य हो मेरे बड़े भैया !

उसके बाद पृथु अपनी पत्नीसमेत जितने दिन भी वहाँ वानप्रस्थाश्रममें रहे, निषादराजकी ओरसे उनकी सेवा होती रही। फिर पृथु अपनी पत्नीसहित भगवान्‌के धाममें गये।

आगे चलकर पृथुके वंशमें एक प्राचीनवर्हि नामके राजा हुए। वे बड़े याज्ञिक थे। यज्ञ करनेमें उनकी बड़ी रुचि थी। उन्होंने अपने यज्ञोंमें इतने कुश बिछाये थे कि यदि उनको इकट्ठा किया जाय या गणितकी दृष्टिसे

उनके परिमाणपर विचार किया जाय तो उन कुशोंसे सारी पृथिवी पट सकती थी। राजा प्राचीनवर्हि के दस पुत्र थे। उनको प्रचेता कहा जाता था। वे दसों ज्ञानकी दस मूर्तियाँ प्रतीत होते थे। उन्होंने जब अपने पिता राजा प्राचीनवर्हिसे पूछा कि हम क्या करें, तब राजा प्राचीनवर्हिने कहा कि राज्य और वंशकी वृद्धि और समृद्धि करो।

इसके बाद प्रचेतागण तपस्या करनेके लिए नारायण-सरोवर पर गये। वहाँ उनको बड़ा सुन्दर संगीत सुनाई पड़ा। संगीत सुनकर वे मुग्ध हो गये। थोड़ी ही देरमें भगवान् गौरीशंकर बृषभपर आरूढ़ होकर उनके सामने प्रकट हुए। प्रचेताओंने जब भगवान् गौरीशंकरकी पूजा-स्तुति कर ली तब उन्होंने उनको एक मन्त्र बताया, जो इस प्रकार है-

जितं त आत्मविद्धुर्य स्वस्तये स्वस्तिरस्तु मे।
भवता राधसा राद्धं सर्वस्मा आत्मने नमः।। ४-२४-३३

भगवान् शंकरने कहा कि प्रचेताओ, तुम लोग इस मन्त्रका जप करना। इसके साथ-साथ उन्होंने प्रचेताओंको भगवान् विष्णुकी बहुत बढ़िया स्तुति भी बतायी। इसके बाद प्रचेता लोग वहाँसे चलकर समुद्रके किनारे पहुँचे और वहाँ रहकर तपस्यापूर्वक भगवान् विष्णुकी आराधना करने लगे। इसमें बहुत वर्ष बीत गये।

इधर ऐसा हुआ कि जिस समय राजा प्राचीनवर्हि यज्ञ कर रहे थे, उसी समय नारदजी महाराज उनके पास पहुँच गये। उन्होंने राजासे पूछा कि अरे ओ प्राचीनवर्हि; तू अपना कौन-सा कल्याण इस यज्ञके द्वारा सम्पादित करना चाहता हैं ? मुझे बता तो सही ! राजाने उत्तर दिया कि महाराज मैं तो अपने कल्याणका स्वरूप जानता ही नहीं। मैं तो अपने पुरोहितोंके बतानेके अनुसार यज्ञ किया करता हूँ। इससे क्या फल मिलेगा, मैं नहीं जानता। मैं तो कर्म करनेके सिवाय और कुछ नहीं जानता। आप मुझको विमल दृष्टि प्रदान कीजियें। नारदजीने कहा कि राजा, जरा ऊपर आसमानकी ओर तो देख !

राजा प्राचीमवर्हिने ऊपर देखा तो बड़े-बड़े भंयकर जीव हाथमें अस्त्र-शस्त्र लेकर क्रोधमें भरे हुए दिखाई पड़े। राजाने पूछा कि ये सब क्या है महाराज ? नारदजीने बताया कि तुमने अपने यज्ञोंमें जिन गरीबोंको सताया है, पशुओंका वध किया है, वे ही सब हैं। देखो, पशुवधका एक अर्थ यह भी होता है कि अन्याय पूर्वक लोगोंसे धन लेकर जो यज्ञ-याज्ञ किया जाता है, उससे प्राणियोंको बड़ा भारी कष्ट होता है। इसलिए सब-कुछ न्याय पूर्वक ही होना चाहिए। श्रीमद्भागवत वैष्णव पुराण है। इसलिए इसमें आदिसे अन्ततक पशु-वधकी बड़ी भारी निन्दाकी गयी है।

तो, राजा प्राचीनवर्हिने वह सब दृश्य देखा तब भयाकुल होकर कहा- महाराज, अब मेरा क्या होगा। इसपर नारदजीने उनको पुरञ्जनोपाख्यान सुनाया और बताया कि जीवकी गति क्या है ?

नारदजी बोले कि जीव और ईश्वर दोनों सखा हैं। जैसे श्रीकृष्ण और अर्जुन, राम और लक्ष्मण आदि के नाम एक साथ लिये जाते हैं, वैसे ही जीव और ईश्वरके नाम भी एक साथ लिये जाते हैं। सदैव ख्याति होनेके कारण, एक साथ दोनोंका नामोच्चारण होनेके कारण, इनको सखा बोलते हैं। इनमें-से-किसी एकका ज्ञान हुआ कि दूसरेका स्मरण अपने-आप हो जाता है। तो, तुम्हारा यह अविज्ञात सखा है, जिसको तुम पहचानते नहीं हो।

जीव जब परमेश्वरसे अलग होकर आया तब उसने देखा कि एक शरीर-रूप नगरी है। इसमें नौ दरवाजे हैं। भोगोंकी सामग्री भरी हुई है दृश्य देखने और निकलनेके लिए दो दरवाजे होते हैं। संगीत सुनने, शब्द सुननेके लिए दो दरवाजे हैं। गन्ध सूँघनेके लिए दो दरवाजे हैं। स्वाद लेनेके लिए कहीं बाहर जाना हो तो उसके लिए एक दरवाजा है।

देखो, हाथ-पाँव आदि अन्धे हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानरूप हैं। वे जो मार्ग बताती हैं, उनसे जाया जाता है। इनमें जो पाँच प्राण हैं, वे बड़े भारी शेष हैं, शरीर छूटनेपर भी रह जाते हैं। प्राण तबतक नहीं मरते, जबतक जीवको मोक्ष न मिल जाय। वे पाँच प्राण ही इस नगरीकी रक्षा करते हैं।

इस तरह नारदजीने इस शरीरका बड़े भारी नगरके रूपमें वर्णन किया। इसमें पुरञ्जन अर्थात् जीवका परोक्षरूपमें पहले वर्णन किया और उसको अपरोक्ष रूपमें समझाया। यदि अपरोक्ष रूपमें पहले ही समझा देते तो उनकी उत्सुकता समाप्त हो जाती।

अब बताते हैं कि इस शरीररूपा नगरीमें एक बुद्धि है, जो प्रमदा है। उसको देखकर आत्मा मतवाला हो जाता है और ईश्वरको भूलकर उसीके साथ लग जाता है। बुद्धि और आत्माने आपस में प्रेम किया और दोनों एक दूसरे पर आसक्त हुए। अब जब बुद्धिरूप प्रमदा हँसे तब आत्मा भी हँसे। वह उसका हँसना अपना हँसना माने, उसका खाना अपना खाना माने और उसका चलना-बोलना अपना चलना-बोलना माने। वह उसीके साथ घुल-मिल गया। अन्तमें जरा अर्थात् बुढ़ापा शरीरमें आने लगा और उसको सताने वाले जो रोगादि शत्रु हैं, सब-के-सब प्रकट हो गये। लड़ते-झगड़ते प्राण क्षीण हो गये और एक दिन शरीर छूट गया। अब जब वह स्त्रीका, प्रमदाका ध्यान करते-करते मरा तब स्वयं एक स्त्रीके रूपमें, प्रमदाके रूपमें प्रकट हो गया।

देखो, भागवतमें एक जगह कहा गया है कि आजकल जितने भी पुरुष दिखाई पड़ते हैं, वे सब पूर्वजन्मकी स्त्रियाँ हैं और जो स्त्रियाँ दिखाई पड़ती हैं, वे सब पूर्वजन्मके पुरुष हैं। दोनों वर्गके लोग एक—दूसरेका ध्यान करके एक-दूसरेकी आसक्तिमें मरे तो स्त्रियाँ पुरुष हो गयीं और पुरुष स्त्री हो गये। इस प्रकार यह सृष्टि है। इसलिए यह नहीं समझना कि यहाँ कोई ऊँचा है या नीचा। लिंग-भेदसे कोई ऊँचा-नीचा नहीं होता। नाम-भेद, आकृति-भेद और सम्प्रदाय-भेदसे भी कोई ऊँचा-नीचा नहीं होता। क्योंकि सबके भीतर मसाला तो एक ही परमेश्वरका है।

तो जब पुरञ्जन-रूप जीव स्त्री हो गया तब उसका ब्याह हुआ, उसकी सन्तानें हुई, वंश चला। अन्तमें जब स्त्री रूप पुरञ्जनकी मृत्यु हो गयी तब वह अपने पतिके साथ सती होनेके लिए नदी-तटपर गया और वहाँ रोने लगा। इसी बीच अविज्ञात नामक सखा उसके पास आये और बोले कि अरे भाई, तू कौन हैं ? न तो तू स्त्री है और न यह मरनेवाला तेरा पति है। यह तो सारा-का-सारा माया का खेल है। 'माया ह्येषा मया सृष्टा' - मैंने ही यह जादूका खेल खेला था। तुम मुझसे विमुख होकर संसारकी ओर चले गये थे। वहाँ जाकर तुम फँस गये। तुम न तो स्त्री हो और न पुरुष हो। हम दोनों ही मानसायन हंस हैं, मैं भी और तुम भी-'अहं च त्वं च।'

देखो, इस देहमें जीवकी ऐसी दुर्बुद्धि हो गयी है कि वह देहको ही मैं, काला, गोरा, लम्बा, छोटा आदि मानता है और कहता है कि इन्द्रियोंके धर्मानुसार खाने-पीने चखने वाला मैं हूँ, मनके धर्मानुसार संकल्प-विकल्प करनेवाला, सुखी-दुःखी होने वाला मैं हूँ। इसने अपने आत्मामें अध्यास कर लिया है और छोटी-छोटी बातोंके लिए परेशान हो रहा है। आत्मा तो नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त है।

इसप्रकार समझानेपर तुरन्त उसके सामनेसे मायाका पर्दा हट गया और वह अपने सखा परमात्माके साथ अपनेको एक अनुभव करने लगा।

अब राजा प्राचीनवर्हिने पूछा कि महाराज, मनुष्य कर्म तो एक शरीर से करे और उसका फल उसे दूसरे शरीरमें भोगना पड़े, जिसने कर्म किया उसको तो फल मिले नहीं जिसने कर्म नहीं किया, उसको फल मिले तो यह कैसे न्यायसंगत हो सकता है ?

इसपर नारदजीने बताया कि कर्म स्थूल शरीरसे नहीं होता, लिंग शरीर ही उसका कर्ता होता है। जबतक अध्यास, भ्रम नहीं मिट जाता और अपनी अद्वितीयताका, पूर्णताका, परमात्मताका बोध नहीं हो जाता तबतक मनुष्य बन्धनमें रहता है। इसलिए इससे उबरनेका उपाय महात्माओंका संग है।

तस्मिन्महन्मुखरिता मधुभिच्चरित्र-
पीयूषशेषसरितः परितः स्रवन्ति।
ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप गाढकर्णै-
स्तान्न स्पृशन्त्यशनतृड्भयशोकमोहाः।। ४-२९-४०

राजन्, महात्माओंके मध्यमें बैठनेपर देखोगे कि उनके श्रीमुखसे भगवच्चरित्रकी अमृतमयी नदियाँ बहती रहती हैं। पहले तो वे सत्पुरुष भगवान्के अमृतमय चरित्रका रसास्वादन स्वयं करते हैं। उनको बोलकर भगवच्चरित्र प्रकट करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। फिर भी भगवान्का चरित्र ऐसा मधुर है, रसमय है कि वह उनके भीतर समाता नहीं है और उन मौनी महात्माओंको भी मुखर बना देता है।

महन्मुखरिताके दो अर्थ हैं—एक अर्थ तो यह है कि महात्माओंके द्वारा वर्णित। दूसरा अर्थ है 'महान्तो मुखरिता याभिः ता' अर्थात् वह कथा बड़े-बड़े महात्माओं और मौनियोंको भी बोलनेके लिए विवश कर देती है। उनके मुखसे निकलने लगती है।

इसलिए अपने कानोंको उस कथाकी नदीमें डुबो दो और उसको पीओ। जो लोग उस कथामृतका पान करने लगते हैं, उनकी प्यास बुझती नहीं है, वे पीते जाते हैं, उनकी तृप्ति होती जाती है, लेकिन उनकी प्यास भी बढ़ती जाती है।

महात्माका स्वरूप क्या है ? महात्माका स्वरूप है श्रीकृष्ण-तृष्णाकी मूर्ति। श्रीकृष्ण भगवान्के लिए उनके हृदयमें ऐसी प्यास भरी है, जो बुझती नहीं। वे पीते-पीते भी अघाते नहीं हैं।

जो लोग इस रस-पानके आदी हो जाते हैं, उनकी भूख-प्यास इसके आनन्दमें गायब हो जाती है, लुप्त हो जाती है। उनको भविष्यका कोई भय नहीं होता, भूतका कोई शोक नहीं होता और वर्तमानका कोई मोह नहीं होता।

इसलिए संसारकी जो प्रणाली व परम्परा चल रही है, जिसमें मैं मेरा करके यह जीव आबद्ध है, उससे छूटनेका एकमात्र उपाय सत्संग है।

इसप्रकार नारदजी के उपदेशसे राजा प्राचीनवर्हिको वैराग्य हो गया। उन्होंने यज्ञ-याग करना छोड़ दिया और भगवान्का भजन करनेके लिए एकान्तमें चले गये। उनके पुत्र प्रचेता तो पहलेसे ही भगवान्की आराधना कर रहे थे।

एक दिन भगवान् विष्णु गरुड़ारुढ़ होकर प्रचेताओंके सामने प्रकट हुए। उनका दर्शन करके सब-के-सब प्रचेता गद्गद् हो गये और उन्होंने बड़े

विस्तारसे भगवान्‌की स्तुति की। भगवान्‌ने प्रसन्न होकर कहा कि देखो, प्रचेताओ, तुम सब भाइयोंमें परस्पर बड़ा प्रेम है। यदि कोई भी नित्य प्रातःकाल उठकर तुम दसों भाइयोंका स्मरण कर लिया करे तो उनका भी अपने भाईयोंके साथ प्रेम बना रहेगा। अब तुम लोग जाओ, ब्याह करो और सृष्टि उत्पन्न करो।

प्रचेताओ, एक बात और सुन लो। ब्रह्माजीके पुत्र प्राजापत्य दक्षको जब बकरेका सिर मिला तब वह बहुत लज्जित हुआ और उसने अपने प्राण छोड़ दिये। अब वही पूर्वजन्मका ब्राह्मण तुम लोगोंका पुत्र होकर क्षत्रिय प्राचेतस दक्ष बनेगा और उसीसे यह सारी सृष्टि होगी। इसलिए तुमलोग इसका ध्यान रक्खो और जाकर अपना राज्य सम्भालो।

इस प्रकार भगवान् विष्णुसे वरदान प्राप्त करके जब प्रचेता लौटे तब देखते क्या हैं कि न तो उनके पिता हैं, न राज्य-शासन है और न कोई व्यवस्था है। नारदजीके उपदेशसे उधर तो प्रियव्रत और इधर प्राचीनवर्हि तपस्या करने चले गये। जब राजा लोग अपने प्रजा-रक्षणके कर्त्तव्यसे पृथक् होकर तपस्या करने चले जाते हैं तब राज्यकी दशा वैसी ही हो जाती है, जैसी जंगलकी होती है।

अब, प्रचेताओंको, जिन्हें शंकरजीसे तो मन्त्र मिला था, भगवान् विष्णुका दर्शन प्राप्त हुआ था और जिन्होंने इतने दिनोंतक तपस्या की थी, क्रोध आगया ! उनके क्रोधसे आग लग गयी और सारे वृक्ष जलने लगे। यह देखकर वृक्षोंके देवता चन्द्रमा प्रकट हुए। चन्द्रमा औषधियों, वनस्पतियोंके राजा हैं—'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा।' वही उनको सींचते रहते हैं। इसलिए वे प्रचेताओंके पास आये और बोले कि भाई देखो, तुम लोग इन निरपराध वृक्षोंको जलाओ मत। ये सब -के-सब प्राणी हैं, इनको बेमतलब नष्ट मत करो। यदि इनका उपयोग यज्ञके लिए, भगवान्‌की आराधनाके लिए और प्रजाके कल्याणके लिए होता हो तब तो बात दूसरी है अन्यथा इनको नष्ट नहीं करना चाहिए। इनकी पुत्री है वार्ष्टि। उसके साथ तुम लोग विवाह कर लो।

चन्द्रमाकी बात प्रचेताओंने मान ली और वार्ष्टिसे विवाह कर लिया। दक्ष उनका पुत्र हुआ। फिर वे राज-काज सम्भालनेमें ऐसे लग गये कि उनको शंकरजीका मन्त्र भूल गया और भगवान् विष्णुभी भूल गये। जब वे संसारके भोग-रागमें पूरी तरह आसक्त हो गये तब नारदजी महाराज उनके पास आये। उन्होंने प्रचेताओंको समझाया कि देखो, विश्व-सृष्टि परमात्मा से निकली है और परमात्माके द्वारा प्रकाशित है। इसमें राग-द्वेष करने योग्य कोई वस्तु नहीं

है। जैसे सूर्यसे पानी निकलता है और सूर्य ही उसको सुखा लेता है वैसे ही यह सारी सृष्टि परमात्मासे प्रकट होकर परमात्मामें ही लीन हो जाती है। इसमें तुम्हें किसीसे भी राग-द्वेष नहीं करना चाहिए। किसी के मोह में नहीं फँसना चाहिए। जन्म, वही जन्म है, कर्म वही कर्म है, जिससे सर्वात्मा प्रभुकी सेवा हो और वे प्रसन्न हों। विद्या वही विद्या है, जो संसारके मोह-बन्धनसे छुड़ाये—

तत्कर्म हरितोषम् यत् सा विद्या या विमुक्तये।

नारदजीके उपदेशसे प्रचेताओंके हृदयसे मोह-ममता दूर हो गयी, राग-द्वेष मिट गया। वे सर्वत्र भगवान्‌का दर्शन करने लगे। उनको प्रत्यक्ष जीवन्मुक्तिका अनुभव होने लगा। भागवतकी परम्पराके अनुसार जो काम शंकरजी और भगवान् विष्णुके दर्शन से नहीं हो सका, वह नारदजीके सत्संगसे हो गया।

अब चतुर्थ स्कन्ध समाप्त होता है। जैसा कि पहले बताया गया, इसमें कुल इकतीस अध्याय हैं। इसके सात अध्यायोंमें धर्मका वर्णन इसीलिए है कि यज्ञ सप्त तन्तुओंसे होता है। पाँच अध्यायोंमें अर्थका वर्णन इसलिए है कि पाँच इन्द्रियोंसे अर्थका साक्षात्कार होता है। ग्यारह अध्यायोंमें कामका वर्णन इसलिए है कि ग्यारह इन्द्रियोंसे ही कामका सेवन होता है। शेष आठ अध्यायोंमें-से चार अध्यायोंमें निर्गुण तत्त्वका और चार अध्यायोंमें सगुण तत्त्वका वर्णन है। निर्गुण तत्त्व के ज्ञान से राजा प्राचीनवर्हि की मुक्ति हुई और सगुण तत्त्व के ज्ञान से प्रचेता मुक्त हो गये।

अब कल आपको ऋषभदेव और भरतके चरित्र सुनाये जायेंगे। थोड़ा भूगोल-खगोल भी बताया जायेगा।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

: ५ :

श्रीमद्भागवत महापुराण भगवान्‌के स्वरूपका बोध करानेके लिए नौ प्रकारकी प्रक्रियाएँ स्वीकार करता है। यह जो प्राकृत विश्व-सृष्टि दीखती है, इसमें जो नाना प्रकारके शरीर दिखायी पड़ते हैं, वे सब कहाँसे प्रकट होते और कहाँ लीन हो जाते हैं ? आकाशमें जो सूर्य, चन्द्रमा, तारागण तथा अन्यान्य ग्रहादि हैं, वे स्थित कैसे हैं ? आपसमें लड़ क्यों नहीं जाते ? सृष्टिमें जब कोई संकट आता है तब पुष्टि देकर अनुग्रह प्रदान करके इसको कौन बढ़ाता रहता है ? जीवोंकी कर्मवासनाएँ कैसे भिन्न-भिन्न होती हैं और उनमें परिवर्तन कैसे होता है ? काल क्रमसे सृष्टि कैसे चलती है ? इसमें भगवान्‌के भक्त कैसे होते हैं ? मनका निरोध कैसा होता है ? मुक्ति कैसे मिलती है ? ये नौ बातें तो हैं प्रक्रियाके रूपमें और इन सबके आश्रय परब्रह्म परमात्मा स्वयं हैं।

अब आपलोग पाँचवे स्कन्धमें प्रवेश कीजिये। इसमें स्थितिका निरूपण किया गया है। इससे भी परमात्माकी सिद्धि होती है। परमात्माको आप केवल इन्द्रियों और मन्त्रोंसे ढूँढेंगे तो जड़ तत्त्वकी प्राप्ति होगी। बुद्धिसे विचार करके ढूँढेंगे तो शून्य तत्त्व की प्राप्ति होगी, श्रद्धापूर्वक ढूँढेंगे तो ईश्वर मिलेगा और अनुभवके द्वारा ढूँढनेपर अनुभव स्वरूप आत्मा ही अद्वितीय रूपसे सिद्ध होगा। इसलिए जो जिस दृष्टिसे आत्माको ढूँढ़ता है, उसे उसी दृष्टिसे परमात्मा की प्राप्ति होती है।

इसको फिरसे सुन लीजिये। यान्त्रिक और ऐन्द्रियक विज्ञानसे जड़ता सिद्ध होती है। बुद्धिकी रूक्ष युक्तियोंसे विचार करने पर शून्य सिद्ध होता है। श्रद्धासे विचार करने पर ईश्वर सिद्ध होता है और जो सर्वानुभव-स्वरूप आत्माकी दृष्टिसे विचार करेगा, उसके सामने अबाधित आत्माकी अद्वितीयता सिद्ध हो जायेगी।

अब आप मनुष्य-जीवनकी बात देखिये। हमारे शरीरमें दो प्रकारकी इन्द्रियाँ हैं। एक होती हैं कर्मेन्द्रियाँ-जैसे हाथ और पाँव। ये इन्द्रियाँ अन्धी होती हैं। दूसरी होती हैं ज्ञानेन्द्रियाँ-जैसे आँख, नाक, जीभ और कान ! इस प्रकार मनुष्यका शरीर कर्म-ज्ञानोभयात्मक है। मनुष्यके जीवनमें कर्म भी है, ज्ञान भी है। इसलिए कुछ साधनाएँ तो कर्म-प्रधान होती हैं और कुछ साधनाएँ

ज्ञान-प्रधान। कुछ साधनाएँ दोनोंसे मिश्रित होती हैं। कुछ साधनाएँ दोनों की शान्तिसे होती हैं और कुछ साधनाएँ अपने साक्षी स्वरूपमें स्थितिसे होती हैं। इस प्रकार साधनाओंका वर्गीकरण हो जाता है। इनका गणित है। अनुभवी पुरुष इसको जानते हैं।

पाँचवे स्कन्धमें स्थितिका वर्णन इसीलिए है कि सब जगह भगवत्तत्त्व-ही-भगवत्तत्त्व है। उसके बिना कोई भी स्थान खाली नहीं है। यह स्थिति तीन प्रकारकी होती है। अपने स्वरूपमें स्थित हो जाना एक स्थिति है, किसी देशमें स्थित हो जाना दूसरी स्थिति है और किसी कालमें स्थित हो जाना तीसरी स्थिति है। इन तीनों स्थितियोंके लिए साधनकी आवश्यकता पड़ती है। कुछ लोगोंकी स्थिति भगवान्के अनुग्रहसे होती है और कुछ लोगोंकी स्थिति उपासना से होती है, कुछ लोगों की स्थिति योग से होती है और कुछ लोगों की स्थिति ज्ञानसे होती है।

इन सभी साधनाओंका निरूपण करनेके लिए पंचम स्कन्ध प्रारम्भ होता है। इसमें बताया गया है कि एक जीवनकी दुश्चरित्रता धर्मानुष्ठानसे निवृत्त होती है। मन-इन्द्रियोंकी चंचलता योगसे निवृत्त होती है, वासनाओंकी प्रबलता उपासनासे निवृत्त होती है, ऐश्वर्यका अभिमान शरणागतिसे निवृत्त होता है और अविद्याका अन्धकार तत्त्वज्ञानसे निवृत्त होता है।

पंचम स्कन्धमें यह भी बताया गया है कि जिस मनुष्यके दिल-दिमागमें जो बात ठूँस दी गयी है, अध्यारोपित कर दी गयी है, वह उसी बातको श्रेष्ठ और दूसरी बातको कनिष्ठ मानता है। यही संसारकी प्रबलता है। इसका मिटना तबतक सम्भव नहीं है, जबतक सन्त-सद्गुरुके सत्संग द्वारा अपौरुषेय ज्ञान-राशिका प्रामाण्य स्वीकार न कर लिया जाय। यदि कोई अपने प्रयत्न और वासना द्वारा इसको मिटाना चाहे तो नहीं मिटा सकता।

स्वायम्भुव और शतरूपाके पुत्र प्रियव्रत जन्मसे ही सत्संग-प्रेमी थे। बहुत थोड़ी उम्रमें ही वे नारदजीके पास चले गये थे और उन्हीं के पास रहकर भगवान्की भक्ति करने लगे थे। उनके पिता स्वायम्भुव मनु और दादा ब्रह्माजी दोनों ने जाकर उनको समझाया कि केवल वन, आश्रम या कुटियामें रहनेसे परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती। जिसका मन शुद्ध है, वह घर-गृहस्थीमें, राज्य-शासनमें और सम्पूर्ण विश्वकी व्यवस्थामें संलग्न रहकर भी परमात्माको प्राप्त कर सकता हैं।

प्रियव्रतने स्वायम्भुव मनुके कहनेपर तो यही समझा कि ये मेरे पिता हैं। स्नेहवश, पुत्रमोहके कारण मुझे घर लौटनेकी शिक्षा दे रहे हैं। परन्तु जब ब्रह्माजीने वही बात कही तब उन्होंने मान ली। क्योंकि वे जानते थे कि

ब्रह्माजीके मुँहसे चारों वेद निकले हैं। उन वेदोंका प्रादुर्भाव हुआ है-जो जीव तथा ईश्वर निर्मित नहीं हैं। अपौरुषेय ज्ञान-राशि हैं। उन्हीं वेदोंसे जीव और ईश्वरका प्रकाश होता है। इसलिए प्रियव्रतने सोचा कि ब्रह्माजीकी बात प्रामाणिक है और उसको अवश्य स्वीकार कर लेनी चाहिए।

इसके बाद प्रियव्रत नारदजीकी आज्ञा लेकर घर लौट गये। वहाँ भगवान्‌के अनुग्रहसे उनको इतनी बड़ी आयु मिली, इतना अधिक ऐश्वर्य प्राप्त हुआ कि उन्होंने रातको भी दिन बनानेका प्रयास किया। उन्होंने यह सोचकर कि जिन भगवान्‌ने दिन-रातका विभाग किया है, उनकी कृपासे क्या रात मिट नहीं सकती ? अपने रथके चक्रोंसे सूर्य की गतिका आश्रयण कर दिया।

देखो, भगवान् श्रीकृष्णके बाद निष्काम कर्मयोगके प्रथम आचार्य सूर्य ही हैं। यदि सृष्टिमें आप सबसे बड़ा निष्काम कर्मयोगी देखना चाहें तो सूर्यको देख लीजिये। उनके जीवनमें एक क्षणके लिए भी विश्राम नहीं है। वे सबको प्रकाश देते हुए, कहीं भी आसक्त न होते हुए और किसीसे कुछ न चाहते हुए अपने कर्ममें संलग्न हैं। वे वचनसे बोलकर कर्मयोगकी शिक्षा नहीं देते, अपनी क्रियाके द्वारा कर्मयोगकी शिक्षा देते हैं और भगवान् श्रीकृष्णके सच्चे शिष्य हैं। भगवान्‌ने स्वयं ही गीतामें कहा है—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।

ऋग्वेदमें भी मन्त्र आता है-'**स्वस्ति पथामनुचरेम सूर्याचन्द्रम-साविव।**' इसका अर्थ यह है कि सूर्य मार्गसे हमेशा चलते रहते हैं, मर्यादामें स्थित रहते हैं और सबका कल्याण करते हैं।

प्रियव्रतने भी उन्हीं कर्मयोगी सूर्यके मार्गका अनुकरण किया। उनके रथसे पृथिवीपर जो दबाव पड़ा, उससे पृथिवीमें छिपे रत्न प्रकट हो गये। सात प्रकारके रसोंका समुद्र बन गया, उनकी परिखा बन गयी। उन्होंने पृथिवीका विभाजन करके दीर्घकालतक शासन किया।

बादमें उनके भीतर वैराग्यका जो संस्कार था, वह उदित हो गया। उसके कारण वे सबसे विरक्त होकर नारदजीके आश्रम चले गये। वहाँ उन्होंने अपना शेष जीवन सर्वात्मा भगवान् की सेवामें तथा उनके भजन चिन्तन-स्मरणमें व्यतीत किया। प्रियव्रत जैसा प्रभावशाली, प्रतापी, कर्म-ज्ञानसे परिपूर्ण और राग-वैराग्यमय जीवनवाला राजा पौराणिक इतिहासमें दूसरा कोई नहीं मिलता है।

प्रियव्रतके पुत्र हुए आग्नीध्र। उनको सुखी करनेके लिए ब्रह्माजीने उनके पास अपने लोककी अप्सरा भेजी। उसको देखकर आग्नीध्र उस पर

मुग्ध हो गये। उसपर उन्होंने अपने हृदयका रस उड़ेल दिया। उससे उनको कई सन्तानें हुई। उनमें-से-एक हुए नाभि। आग्नीध्रकी तत्काल मुक्ति नहीं हुई। अप्सरासे प्रीति होने के कारण उन्हें अप्सराओंके लोक में जाना पड़ा वहाँ जब उनके चित्तमें अनासक्तिका उदय हुआ तब वे मुक्त हुए।

उनके पुत्र नाभि धर्मावतार हुए। प्रियव्रतके जीवनमें तो धर्म और ऐश्वर्य दोनों की प्रधानता थी। उनमें-से ऐश्वर्यकी प्रधानता हुई उनके पुत्र आग्नीध्रके जीवनमें और धर्मकी प्रधानता हुई उनके पौत्र नाभिके जीवनमें। वे सब-के-सब भगवान्‌के कृपा-पात्र और उनके अनुग्रहाधिकारी हुए।

ऐसा नहीं है कि जो आप-जैसा हो, उस पर तो भगवान्‌का अनुग्रह हो और जो आप-जैसा न हो, उसपर भगवान्‌का अनुग्रह न हो। हम अपने को जो बहुत ऊँचा और दूसरोंको नीचा मानते हैं, उसमें अभिमानके सिवाय और कोई भी कारण नहीं होता। जहाँतक बुद्धिमत्ताका प्रश्न है, वह पशु-पक्षियोंमें भी होती है। सबको ज्ञान होता है और अपने-अपने ज्ञानमें सबकी निष्ठा होती हैं।

नाभि धर्मनिष्ठ थे। उन्होंने ब्राह्मणोंके द्वारा बहुत बड़ा यज्ञ करवाया। वेदोक्त रीतिसे यज्ञ करनेके कारण उनके यज्ञमें स्वयं भगवान् प्रकट हुए। उनका दर्शन करके नाभिने उनकी स्तुति करते हुए कहा- भगवन्, आपने बड़ी कृपाकी, बड़ा अनुग्रह किया कि आप यहाँ पधारे। यदि कोई छींके आने, जँभाई आने अथवा पतित-स्खलित होनेपर आर्त होकर आपके नामका उच्चारण करता है तो उसका परम कल्याण हो जाता है।

इसी प्रकार याज्ञिकोंने स्तुति करते हुए कहा कि प्रभो, आप तो हम ब्राह्मणोंके वचनोंका बड़ा भारी आदर करते हैं। वेदज्ञ, सदाचारी, याज्ञिक और जन्म-कर्म उपासना-ज्ञानसिद्ध ब्राह्मणोंके प्रति आपके हृदयमें सम्मान है, उसीके फलस्वरूप आप इस यज्ञमें प्रकट हुए हैं। हम लोग चाहते हैं कि हमारे महाराजा नाभिकी इच्छाके अनुसार आप-जैसा पुत्र उसको प्राप्त हो।

भगवान्‌ने कहा कि ब्राह्मणों, आपलोगों-जैसे सदाचारी विद्वानोंके मुखसे निकली बात कभी मिथ्या नहीं हो सकती। इसलिए मैं स्वयं ही इनका पुत्र बनूँगा।

देखिये, हमारे भगवान् ऐसे हैं कि वे ऐश्वर्य-वीर्यको भी पूर्ण करते हैं, अर्थ-कामको भी पूर्ण करते हैं और मोक्षके स्वरूप तो वे स्वयं ही हैं। इसलिए अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार भगवान् नाभिके यहाँ मोक्षस्वरूप ऋषभदेवके रूपमें प्रकट हुए। जिसकी शोभा अपने ज्ञानके द्वारा हो, उसको ऋषभ कहते हैं- 'ऋषेण ज्ञानेन भाति इति ऋषभः।'

जब भगवान् ऋषभदेव पुत्ररूपमें प्रकट हो गये, तब नाभि भजन करनेके लिए चले गये। कहते हैं कि जब ऋषभदेव बालक थे, तब इन्द्रने उनके राज्यमें बर्षा बन्द कर दी-यह परीक्षा लेनेके लिए कि ये भगवान् हैं या नहीं ? भगवान् वह होता है, जो 'कर्तुं अकर्तुं अन्यथाकर्तुं समर्थ' हो, जिसमें सब कुछ करने, कुछ भी न करने और सब कुछ बदल देनेका सामर्थ्य हो और जिसके ऐश्वर्यमें कभी कोई बाधा न पड़े।

इन्द्र द्वारा ऋषभदेवकी परीक्षा लेनेके सम्बन्धमें एक लौकिक बात भी कही जाती है। इन्द्रकी एक पुत्री थी जयन्ती। उनको उसका ब्याह ऋषभसे करना था। उन्होंने सोचा कहीं हम वीर्यहीन, शक्तिहीन, ऐश्वर्यहीन व्यक्तिसे कन्याका ब्याह न कर दें। इसलिए ऋषभदेवकी पहले परीक्षा ले लेनी चाहिए कि उनमें कितना बल-वीर्य और ऐश्वर्य है।

देखो, हम लोगोंने 'अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा च रोहिणी'- यह वचन तो बहुत पढ़ा-सुना है। लेकिन इस सम्बन्धमें मनुस्मृतिका कथन भी ध्यानमें रखने योग्य है, जिसमें कहा गया है कि कन्या भलेही जीवनभर क्वाँरी रह जाय, वह ऋतुमती हो जानेपर पिताके घर रहे, परन्तु किसी गुणहीन व्यक्तिके साथ कन्याका विवाह कदापि नहीं करना चाहिए।

इसलिए इन्द्रने अपनी कन्याके सम्बन्धमें जो सोचा, बिलकुल ठीक था। धर्मशास्त्रके अनुसार वर के गुणोंकी परीक्षा करनेके बाद ही उनको कन्यादान करना चाहिए। परन्तु ऋषभदेव तो साक्षात् भगवान् थे। इसलिए उन्होंने इन्द्रकी मनकी बात समझ ली और जब इन्द्रने वर्षा बन्द कर दी तब ऋषभदेवने अपनी संकल्प-शक्तिसे वर्षा करवा दी।

अब तो इन्द्र प्रभावित और प्रसन्न हो गये। उन्होंने अपनी कन्याका विवाह ऋषभदेवसे कर दिया। उनके द्वारा वंशकी वृद्धि हुई। ऐसे वंशकी वृद्धि हुई, जिसमें एक ओर तो बड़े-बड़े राजा पैदा हुए और दूसरी ओर बड़े-बड़े कर्मकाण्डी ब्राह्मण पैदा हुए। एक ओर नवयोगेश्वर पैदा हुए और दूसरी ओर सप्तद्वीपवती पृथिवीका शासन करनेवाले भरत पैदा हुए। मतलब यह कि ऋषभदेवके पुत्रोंमें राज्यानुशासनकी भी योग्यता थी, धर्म पालनकी भी क्षमता थी, अर्थ-व्यवस्था भी ठीक रखनेका सामर्थ्य था और त्याग-वैराग्यकी प्रवृत्ति भी थी। बड़े-बड़े अद्भुत चरित्र-वाले पुत्र हुए उनके !

ऋषभदेवजी तो स्वयं वैदिक विद्वानोंकी गोदमें रहकर शिक्षित हुए, परन्तु उन्होंने अपने पुत्रोंको, केवल विद्वानोंसे ही शिक्षा नहीं दिलवायी, स्वयं भी शिक्षा दी। वह भी सबके सामने, छिपाकर नहीं। उन्होंने जिस प्रकार अपने पुत्रों की शिक्षा—दीक्षाका सुप्रबन्ध किया, उसीप्रकार अपनी प्रजाकी

शिक्षा-दीक्षाका भी सुप्रबन्ध किया, उनकी दृष्टिमें प्रजा और पुत्रोंमें कोई भेद नहीं था। वास्तवमें कोई भेद है भी नहीं, क्योंकि संस्कृत भाषामें पुत्रको प्रजा और प्रजाको पुत्र कहते हैं। इसीलिए ऋषभदेव अपनी सारी प्रजाको औरस पुत्रके समान मानते थे। उन्होंने अपने सहस्त्रों पुत्रोंको अपनी प्रजाके सामने ही उपदेश दिया—

नायं देहो देहभाजां नृलोके कष्टान् कामानर्हते विड्भुजां ये।
तपो दिव्यं पुत्रका येन सत्त्वं शुद्ध्येद्यस्माद् ब्रह्मसौख्यं त्वनन्तम्।। ५-५-१

मेरे प्यारे नन्हें-मुन्ने बच्चों, मेरी बात ध्यानसे सुनो। यह शरीर कामनाओंमें फँसकर व्यर्थ गँवाने के लिए नहीं है। भोगकी प्राप्ति तो गुबरैलोंको भी, विष्ठाके कीड़ोंको भी हो जाती है और वे उसमें खुश भी रहते हैं। यदि तुमने मनुष्य होकर, भारतवर्षमें जन्म लेकर भी वही भोग प्राप्त किया तो तुमने अपने जीवनमें क्या पाया ? तुम्हारी जन्मभूमि भोग-भूमि नहीं, धर्मभूमि है। इसमें अपनी इन्द्रियोंको संयमित और विषय-भोगोंको मर्यादित करना चाहिए। जिसके जीवनमें मर्यादा नहीं, संयम नहीं; वह मनुष्य कहलाने योग्य नहीं है।

प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे न मुच्यते देहयोगेन तावत्। ५-५-६

ऋषभदेवने सबको सदाचारकी शिक्षा देते हुए कहा कि जबतक सर्वात्मा भगवान् वासुदेव, जो सबके हृदयोंमें निवास करते हैं, से प्रीति नहीं होती तबतक देहयोगसे छुट्टी नहीं मिलती और न मुक्तिकी प्राप्ति होती है। गुरु वही है, पिता वही है, माता वही है, जो मृत्युके फन्देसे छुड़ाकर भगवान् वासुदेवके चरणोंमें प्रीति उत्पन्न होनेका उपाय बताये।

देखो, वासुदेवमें एक तो वासु शब्द है, दूसरा देव शब्द है। 'वसति इति वासुः'—जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें निवास करे, उसका नाम है वासु और 'दीव्यति प्रकाशते इति देवः'-जो सम्पूर्ण सद्-चिद्रूप आकृतियों, विकृतियों, प्रकृतियों और संस्कृतियोंमें एकरस रहता है, उसका नाम है देव ! इस प्रकार दोनों अर्थोंका संगम जिसमें हो, उसका नाम होता है वासुदेव।

भगवान् ऋषभदेवने सबको उपदेश-आदेश देनेके बाद सबके धर्म-कर्मका विभाग कर दिया और अपने ज्येष्ठ पुत्र भरतको राजाके पदपर अभिषिक्त करके शान्त एवं उपशमशील महात्माओंका जीवन कैसा होता है, यह दिखानेके लिए-इसका आदर्श उपस्थित करनेके लिए स्वयं अवधूतका धर्म स्वीकार कर लिया। अवधूतके जीवनमें संकीर्ण आचार-विचारोंका कोई स्थान नहीं होता। इसलिए ऋषभदेवने अपनेको समस्त संकीर्णताओंसे सर्वथा मुक्त कर लिया और एक उदीर्ण, महोदीर्ण विचार-धाराका प्राकट्य किया।

कहते हैं कि ऋषभदेवके जीवनमें अष्ट सिद्धियाँ आयीं-जैसे मनकी गतिसे किसी भी अभीष्ट स्थानपर पहुँच जानेकी सिद्धि, आकाशमें उड़ जानेकी सिद्धि, जो चाहे उसको प्राप्त कर लेनेकी सिद्धि, आदि। लेकिन ऋषभदेवने उन सब सिद्धियोंका तिरस्कार कर दिया।

यहाँ राजा परीक्षितने पूछा कि यदि ऋषभदेव उन सब सिद्धियोंको स्वीकार कर लेते तो उनका क्या बिगड़ जाता ? इसपर श्रीशुकदेवजी महाराजने उत्तर दिया-

न कुर्यात्कर्हिचित्सख्यं मनसि ह्यनवस्थिते।
यद्विश्रम्भाच्चिराच्चीर्णं चस्कन्द तप ऐश्वरम्।। ५-६-३

राजन्, यह मन बड़ा चंचल है। इसके साथ मित्रता कभी नहीं जोड़नी चाहिए। भगवान् शंकरने अपने मनपर विश्वास कर लिया, बड़े-बड़े समर्थ योगियोंने भी अपने मनपर विश्वास किया। उसका परिणाम यह हुआ कि उनके मनने उनका चिर-संचित तप नष्ट कर दिया। जो यह कहते हैं कि उनके मनमें विकार नहीं आयेगा-काम नहीं आयेगा, क्रोध नहीं आयेगा, लोभ नहीं आयेगा-वे धोखेमें हैं। जैसे ठगकी बातपर विश्वास नहीं किया जाता, वैसे ही मनकी बातपर विश्वास नहीं करना चाहिए। मन विश्वास करने योग्य है ही नहीं।

तो, ऋषभदेवने ऐसा जीवन व्यतीत किया कि किसीको उनकी अन्तिम क्रियाभी नहीं करनी पड़ी। क्योंकि जिनका शरीर ज्ञानाग्नि-दग्ध है, वह अंत्येष्टि क्रिया करनेके लिए नहीं होता। ऋषभदेवजी जिस जंगलमें विचरण कर रहे थे, उसमें आग लग गयी और वह जलने लगा। लेकिन ऋषभदेवजी उस जंगलसे बाहर नहीं निकले। उन्होंने अपने मुँहमें पत्थरका टुकड़ा डाल दिया-मानो उन्हें कुछ करना न हो, बोलना न हो, कुछ खाना-पीना न हो और कुछ जप-ध्यान भी नहीं करना हो। इस प्रकार ऋषभदेव अपने मुक्त स्वरूपसे मुक्त हो गये। उनके बाद जब भरत राजा हुए तब उनके राज्यमें धर्म-ही-धर्मका वातावरण बन गया। इन ऋषभदेव-नन्दन भरतके नामसे ही हमारे देश अजनाभ वर्षका नाम भारतवर्ष पड़ा। शकुन्तला-दुष्यन्तके पुत्र भरत तो बहुत बाद में हुए। इसलिए उनके नामसे हमारे देशका नाम भारतवर्ष नहीं पड़ा।

भरतके राज्यमें सर्वत्र शान्ति-ही-शान्ति थी। न तो ईति-भीति न कोई उपद्रव और न प्रजाको कोई कष्ट। सब लोग शान्तिपूर्वक जीवन-यापन करते थे। राजा भरतके यहाँ यज्ञ-पर-यज्ञका आयोजन हो रहा था।

यज्ञोंके प्रसंगमें एक प्रश्न उठता है। जब एक यजमान अपने हाथसे अग्निमें आहूति डालता है तब उसके कर्मका फल उसी कर्ताको मिलना

चाहिए। दूसरेको नहीं मिलना चाहिए। परन्तु यजमान करता है हवन और उसका फल मिलता है इन्द्रको। ऐसा क्यों होता हैं ?

इस प्रश्नका समाधान करते हुए श्रीमद्भागवत कहता है कि जीवको किसी देवताके लिए आहूति देनेका मिथ्या भ्रम हो गया है। असलमें एक अन्तर्यामी परमेश्वरकी प्रेरणासे ही कोई यजमान आहूति दे सकता है और इन्द्र उस आहूतिको ग्रहण कर सकता है। न कोई यज्ञ करनेवाला है और न इन्द्र उसका फल भोगने वाला है। एक अर्न्तयामी परमेश्वर ही दोनोंके भीतर बैठकर यजमानके हाथसे आहूति डलवाता है और इन्द्रके हाथसे उसको ग्रहण करता है। देनेवाला और लेनेवाला, दाता तथा प्रतिग्रहीता दो नहीं हैं, साक्षात् एक परमात्मा हैं।

राजा भरत इस बातको समझते थे। इसलिए उनके समस्त यज्ञ-यागादि इसी प्रकारकी भगवदीय भावना और समदृष्टिसे सम्पन्न हुआ करते थे। श्रीमद्भागवतमें उनके द्वारा आयोजित यज्ञोंका यही स्वरूप बताया गया है।

अन्तमें भरत अपने पुत्रको राज्यका भार सौंपकर तपस्या करनेके लिए वनमें चले गये। वहाँ गण्डकी नदीके तटपर निवास करके नित्य स्नान और सन्ध्या-वन्दनपूर्वक भगवान्‌की आराधना करने लगे।

संयोगकी बात देखिये। एक दिन वहाँ उनको एक हरिण-शावकके प्रति आसक्ति हो गयी। उन्होंने देखा कि उस हरिण-शावकको जन्म देनेवाली उसकी माँ मर गयी है। उनके मनमें आया कि यह बेचारा हरिण-शावक नदीमें गिरकर मर जायेगा, इसलिए इसको बचा लेना चाहिए। उन्होंने उस हरिण-शावकको शुद्ध-सात्त्विक दयाभावसे प्रेरित होकर अपने पास रख लिया और उसका पालन–पोषण करने लगे।

परन्तु गुणोंका ऐसा स्वरूप हैं, वे इतने परिणामी होते हैं कि सत्त्वगुणको रजोगुणमें और रजोगुणको तमोगुणमें परिवर्तित होते देर नहीं लगती। एक कोढ़ीको घरमें ले आना, उसको स्नान कराना, खिलाना-पिलाना और उसकी चिकित्साका प्रबन्ध करना बड़ा सात्त्विक काम है। लेकिन उसके बाद यदि यह अभिमान आजाय कि मैंने एक कोढ़ीकी बड़ी सेवा की तो वह अभिमान राग-द्वेष, मुहब्बत-नफरतका कारण बन जाता है और वह मनुष्यको कहीं-का-कहीं पहुँचा देता है।

इसलिए भरतको हरिण-शावककी रक्षा और सेवाका अभिमान हो गया। जो सात्त्विक दया थी, वह राजसिक अभिमानके रूपमें परिणत हो गयी। भरत हरिण-शावकके मोह-बन्धनमें बँध गये। गये थे उसपर दया करने, हो गयी आसक्ति, हो गया मोह ! उनको हरिण-शावकके बिना और कुछ सूझे ही नहीं।

एक दिन ऐसा हुआ कि वह हरिण-शावक भरतको छोड़कर भाग गया। क्योंकि संसारमें दो प्राणियोंके मन कभी एक नहीं होते। थोड़े दिनोंके लिए मिल भी जायँ तो बादमें बिछुड़ जाते हैं। रास्तेमें दो आदमी साथ-साथ चलते हों, प्याऊपर साथ-साथ पानी पीते हों तो भले ही मिल जायँ, लेकिन संस्कार और देश-काल पात्रकी भिन्नताके कारण दो मन कभी एक नहीं होते।

इसलिए हरिण-शावक राजा भरतको छोड़कर अपने सजातीय पशुओंमें मिल गया, तब वे बहुत व्याकुल हुए। उसके प्रति उनकी आसक्ति इतनी बढ़ गयी थी कि वह उनके मरते समयतक बनी रही। परिणाम यह हुआ कि उनके प्राण उसी हरिणका चिन्तन करते-करते निकले और 'अन्ते मतिः सा गतिः'के अनुसार अगले जन्ममें हरिण हो गये। यह घटना बताती है कि मनुष्यका हृदय हमेशा शुद्ध रहना चाहिए। उसे किसीके प्रति भी आसक्ति नहीं होनी चाहिए।

लेकिन भगवान्‌की आराधना भी कभी व्यर्थ नहीं जाती। इसलिए राजा भरतका न तो वह जीवन व्यर्थ गया और न उसके बाद उनको क्रमशः जो मृग-शरीर तथा जड़भरत-शरीर प्राप्त हुए, वे व्यर्थ गये। बल्कि यह कहा जा सकता है कि उनके तीनों शरीरों द्वारा मनुष्य जीवनके लिए दो बहुत बड़े सत्य प्रकट हुए-पहला सत्य तो यह है कि मनुष्यको किसीके प्रति आसक्त नहीं होना चाहिए और दूसरा सत्य यह कि जो भगवान्‌की आराधना करता है, उसके पाँव कभी फिसलभी जायँ तथा वह पशु-पक्षी-योनिमें भी चला जाय तो वहाँ भगवान्‌का स्मरण नहीं छूटता। भगवान्‌की स्मृति सर्वत्र अपना प्रभाव दिखाती है। राजा भरतके जीवनमें भगवान्‌का स्मरण था ही, उसके फलस्वरूप जब वे मरनेके बाद हरिण बने तब भी भगवान्‌की स्मृति बनी रही।

हरिण-जीवन समाप्त होनेके बाद राजा भरत एक ब्राह्मणके घरमें उत्पन्न हुए। नाम पड़ा जड़भरत। लेकिन वहाँकी स्थिति यह थी कि सौतेली मातासे उत्पन्न भाइयोंने उनको बहुत सताया। पिताने उनको पढ़ाने-लिखानेकी बहुत कोशिश की और उनका यज्ञोपवीत-संस्कार किया, लेकिन वर्षोंके प्रयत्नके बाद भी जड़भरतको गायत्री मन्त्रतक कण्ठस्थ नहीं हुआ।

जड़भरत यथा नाम तथा गुणके अनुसार जीवन व्यतीत करने लगे। उनको जिस किसी भी काममें लगाया जाता वे उसको ठीक-ठीक नहीं कर पाते थे अथवा यों कहिये कि कर नहीं सकते थे। उनको यह नहीं मालूम पड़ता कि धरती कहाँ ऊँची-नीची है और किसके खेतमें किसका पशु चर रहा है। उन्हें जो कुछ भी मिल जाता, उसीसे संतुष्ट रहते थे। वे कभी खेतमें सो रहे हैं, तो कभी जो गला-सड़ा मिल गया है, उसीको खा रहे हैं। लेकिन

उनकी मस्ती बनी रहती और वे अपने स्वरूपमें पड़े रहते। अवश्य ही यह उनके पूर्व जीवनके धर्मानुष्ठान और तत्त्वज्ञानका परिणाम था।

अब एक दिनकी बात है, जड़भरत कुछ डाकुओंके हाथ पड़ गये। वे डाकू देवीको पशु-बलि दिया करते थे। उन्होंने बलिके लिए जो पशु पकड़ा था, वह कहीं भाग गया था। उन्होंने उस पशुके स्थानपर जड़भरतको ही पकड़ लिया और कहा कि आज इसीकी बलि चढ़ायेंगे। उनके द्वारा जड़भरतको स्नान कराया गया, चन्दन लगाया गया, माला पहनायी गयी और भोजन भी कराया गया। डाकू जब उनको कालीके पास काटनेके लिए ले गये तब कालीने देखा कि यह एक ब्रह्मज्ञानी समत्वनिष्ठ महात्मा है। इसका बलिदान मेरे सामने कैसे होगा ! फिर तो वे बलि चढ़ानेके लिए उद्यत डाकूके हाथसे तलवार छीनकर डाकुओंको ही काट-काटकर उनके सिरोंसे गेंद्की तरह खेलने लगीं।

श्रीमद्भागवतका कहना है कि जो महापुरुषका अपराध करता है, उसकी यही गति होती है। श्रीरामचरितमानसमें यही बात कही गयी है। आप दोनोंकी उक्तियाँ देखें—

एवमेव खलु महदभिचारातिक्रमः कात्स्न्र्येनात्मने फलति। ५-९-१९

साधु अवज्ञा कर फल ऐसा। जरै नगर अनाथ कर जैसा।।
जो अपराध भगतकर करई। राम रोष पावक सो जरई।।

लेकिन जड़भरतकी स्थिति ऐसी थी कि उनके मनमें डाकुओंके प्रति कोई विषम भाव नहीं आया। जब डाकू उनको खिला-पिला रहे थे तब उन्होंने यह नहीं समझा कि मेरा बड़ा सत्कार कर रहे हैं और जब डाकुओंने उनको काटनेके लिए तलवार उठायी तब उन्हें मृत्युसे कोई भय नहीं लगा। उनकी दृष्टिमें तो मान-अपमान और जीवन-मरणमें कोई भेद ही नहीं था। क्योंकि वे समझते थे कि घड़ा बनता-फूटता रहता है, लेकिन मिट्टी ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। इसलिए शरीर रहे या न रहे, आत्माका कुछ बनता-बिगड़ता नहीं है। जड़भरत पर किसी भी क्रिया का प्रभाव नहीं पड़ा और वे ज्यों-की-त्यों जीवन व्यतीत करने लगे।

अब उनके जीवनमें सिन्धु सौवीरके राजा रहूगणका प्रसंग आता है। पुराणोंमें यह कथा आती है कि राजा भरतके द्वारा पाला-पोसा और स्नेह पाया हुआ जो हरिण था, उसके सैकड़ों जन्म होने वाले थे। लेकिन महात्माका सत्संग प्राप्त होनेके कारण उसके अन्य सब जन्म तो मिट गये, लेकिन उसको राजा रहूगणके रूपमें जन्म लेना पड़ा।

राजा रहूगण सत्संगके बड़े भारी प्रेमी हुए, क्योंकि पूर्वजन्मके संस्कार जीवनमें जरूर प्रकट होते हैं। चरक आयुर्वेदका बहुत बड़ा मान्य ग्रन्थ है। उसमें यह बताया गया है कि गर्भमें गुण-दोषका संक्रमण कैसे होता है। जन्म-ग्रहणे करनेवालेपर संस्कार नाना-नानीका भी पड़ता है, दादा-दादीका भी पड़ता है, माता—पिताका भी पड़ता है; पूर्वजन्मका भी पड़ता है और खान-पानका भी पड़ता है।

राजा रहूगणपर उनके पूर्व जन्मका संस्कार इतना प्रबल था कि उनको अन्य किसीका नहीं, केवल महात्माओंका संग अच्छा लगे। वास्तवमें महात्माओं-जैसा निर्मल प्यार और कौन दे सकता है ? सृष्टिमें ऐसा कौन है, जो अपनी सारी-की सारी सच्ची बात किसी एक व्यक्तिको बता सकता हो ? इस संसारका सारा व्यवहार तो कपटपर चलता है। यहाँ कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं, जो अपना दिल खोलकर किसीके सामने रख सके ! किसीसे कोई भी सम्बन्ध हो, कितना भी प्रेम हो, व्यवहारके समय कुछ-न-कुछ कूट-कपट जरूर बीचमें रहेगा। इसलिए सच्चे लोग सत्पुरुषोंके पास ही रहना और उनका सत्संग प्राप्त करना पसंद करते हैं।

एक दिन राजा रहूगण पालकीपर चढ़कर कपिलदेवजीका सत्संग करने जा रहे थे। उनकी पालकी ढोनेवाले कँहारोमें-से एक कँहार अचानक बीमार पड़ गया। उनके आदमियोंको दूसरे कँहारकी तलाश करते समय कहीं मिल गये जड़भरत ! वे हट्टे-कट्टे और बेफिक्र तो थे ही, पकड़कर राजा रहूगणकीपालकीमें जोड़ दिये गये। लेकिन पालकी ढोते समय वे दूसरे कँहारोंके साथ ठीक-ठीक न चल सकें। पाँव रखनेमें उनसे गलती हो जाती थी। क्योंकि उन्होंने कभी पालकी ढोई नहीं थी।

जब पालकी ठीक न चलनेके कारण राजा रहूगणको असुविधा होने लगी तब उन्होंने कँहारोंको कई बार डाँटा-डपटा। फिर भी पालकी ठीक नहीं चली तब दूसरे कँहारोंने साफ-साफ बता दिया कि महाराज, हमारे साथ यह जो नया आदमी लगाया गया है, इसीकी वजहसे हम सब लोगोंसे गलती हो रही है।

अब राजा रहूगणने जड़भरतको फटकारते हुए कहा कि क्योंजी, तुम भूखे-प्यासे हो क्या ? शरीर तो तुम्हारा खूब मोटा-तगड़ा है। फिर ऐसी गलती क्यों कर रहे हो ? ठीक-ठीक चलो, नहीं तो मुझे तुमको सबक सिखाना पड़ेगा।

यह सुनकर जड़भरत हँसने लगे। बोले कि देखो, राजा, यह शरीर तो पञ्चभूतोंसे बना हुआ मिट्टीका एक डला है। कोई भी विद्वान् पुरुष इसको

आत्माके रूपमें नहीं मानता। यह पहले नहीं था, आगे नहीं रहेगा और इस समय भी मेरा नहीं है। लेकिन यदि मेरे कंधेपर पालकी होती, कोई भार होता तब मैं शिक्षा का पात्र होता। फिर तुम मुझे क्या शिक्षा दोगे ?

अब तो यह उत्तर सुनते ही राजा रहूगण पालकीपरसे कूद पड़े और जड़भरतके चरणोंमें पड़ गये। उन्होंने पूछा कि महाराज, आप कौन हैं ? आप तो सर्ववेद और सर्वशास्त्रसम्मत बात बोल रहे हैं। आपका यह कहना कितना सत्य है कि इस देहसे आत्मा विलक्षण है और इस देहका नाम आत्मा नहीं है। ऐसी बात कहनेवाले आप हैं कौन ?

देखिये, मुझे किसीका डर नहीं है-न इन्द्रके वज्रका, न शंकरके त्रिशूलका और न यमराजके दण्डका ! मुझको तो यही डर है कि मेरे द्वारा किसी महात्माका तिरस्कार न हो जाय।

इसके बाद और भी विनम्र होकर राजा रहूगणने प्रश्न किया कि महाराज, आप कैसे कहते हैं कि आपके ऊपर कोई बोझ नहीं है। आप भले ही शरीर न हों, लेकिन जब कोई बटलोही आगपर चढ़ायी जाती है तब पहले वह आगके तापसे गरम होती है, फिर बटलोहीमें रक्खा पानी गरम होता है और उसके बाद पकाया जानेवाला चावल गरम होता है। इसी तरह जब शरीरके भीतर आत्मा बैठा हुआ है तब शरीरके ऊपर बोझ पड़नेपर अपनेमें बोझका अनुभव क्यों नहीं करेगा ? बोझका अनुभव होना तो स्वाभाविक है। फिर आपको इस पालकीके भारका अनुभव क्यों नहीं होता ?

महात्मा जड़भरतने उत्तर दिया कि देखो राजा, यह धरती है। इसपर मालूम पड़ता है कि मनुष्य चल रहा है। लेकिन मनुष्यका पाँव जिस मिट्टीपर चल रहा है, उसी मिट्टीका बना हुआ है। पाँवके ऊपर घुटने हैं। घुटनेके ऊपर कमर है। कमरके ऊपर कंधे हैं। कंधेपर पालकी है और पालकीमें एक आदमी बैठा है। ये सब मिट्टीके ही तो हैं। जो शृंगार करके बैठा हुआ बोलता है कि मै राजा हूँ, लोगोंका शासक हूँ, वह भी मिट्टीका ही तो है। मिट्टीकी ही पालकी, मिट्टीका ही ढोनेवाला और मिट्टीका ही बैठनेवाला ! फिर जब सब मिट्टीका ही विलास है तब तुम अपना नाम राजा रखकर क्या बैठे हो ? सम्भव है कल तुम मुझसे पराजित हो जाओ, मैं तुमसे जीत जाऊँ। फिर मैं पालकीमें बैठूँगा और तुम अपने कंधोपर पालकी लेकर चलोगे। भला इस संसारमें कौन तो राजा, कौन प्रजा और किसके ऊपर किसका भार ? फिर भी राजन्, तुम जो कहो वह मैं करनेके लिए तैयार हूँ। इसके बाद राजा रहूगण और जड़भरतमें बहुत बढ़िया वार्तालाप हुआ। उस संवादमें यह बात बतायी गयी कि यह सृष्टि परमाणुओंसे नहीं बन सकती। क्योंकि परमाणु निरवयव भी है,

संयोगी भी हैं। परमाणुओंका साक्षात्कार भी नहीं हो सकता। 'अविद्यया मनसा कल्पितास्ते'- अज्ञानके कारण इस सृष्टिका मूल तत्त्व जाननेके लिए पहले मनसे परमाणुओंकी कल्पना होती है। यह सृष्टि प्रकृतिसे भी नहीं हो सकती, क्योंकि परिणामिनी भी होना, बदलती भी जाना और नित्य भी होना-यह सब प्रकृतिमें कैसे हो सकता है ? इसलिए जो ब्रह्मस्वरूप विशुद्ध ज्ञान है, वही सच्चा तत्त्व है और बाकी वस्तुएँ ध्यान देने योग्य नहीं हैं। जब उनका निर्वचन करने लगो तब वे बदलकर दूसरी बन जाती हैं। जब उनके दूसरे रूपका वर्णन करने लगो तब वे तीसरी हो जाती हैं। इनमें कहीं निष्ठा नहीं है, कहीं स्थिति नहीं है। इसलिए मिथ्या कर दो इनको।

यहाँ 'मिथ्या' शब्दका अर्थ यह है कि कोई भी मन-वाणीसे चाहे कि इस विश्व-सृष्टिका निरूपण कर सके तो नहीं कर सकता। इसका भावा-भाव जिस साक्षीके द्वारा प्रकाशित होता है और जो इसका अधिकरण है, अधिष्ठान है, वह पूर्ण है। समस्त नाम-रूपात्मक प्रपञ्चका अधिष्ठान परिपूर्ण है। उसका जो प्रकाशक है, साक्षी है, वह चेतन है। यदि चिन्मात्र सत्तासे एक नहीं होगा तो क्षणिक होगा और यदि चिन्मात्रसे सत्ता एक नहीं होगी तो जड़ होगी। अतः अद्वितीयताकी सिद्धिके लिए अधिष्ठान और स्वप्रकाश चैतन्यकी एकता स्वीकार करना आवश्यक होता है।

इस प्रसंगका अभिप्राय यह बताना है कि स्थिति कैसे होती है। स्थिति भगवान्‌की कृपासे तो होती ही है, सद्‌गुरुकी कृपासे भी होती है। यज्ञ-यागादिरूप सत्कर्मसे भी होती है, उपासनासे भी होती है और ज्ञानसे भी होती है। ये सब स्थितियाँ भगवत्कृत हैं। इस परम्परामें गय आदि ऐसे-ऐसे राजा हुए, जिनकी महिमाका विलक्षण वर्णन श्रीमद्भागवतमें है।

अब श्रीमद्भागवतके इसी पाँचवे स्कन्धमें राजा परीक्षितके पूछनेपर श्रीशुकदेवजी महाराजने भौगोलिक स्थितिका वर्णन किया है। उसमें यह बात साफ-साफ कह दी गयी है कि द्वीपों, वर्षों और खण्ड़ों आदिके वर्णनका अभिप्राय किसी भौतिक वस्तुके वर्णनसे नहीं है। इसका अभिप्राय यही है कि विश्व बहुत बड़ा है और यह सब भगवान्‌का रूप है। स्वयं भगवान् ही इस रूपमें प्रकट हुए हैं। इसलिए यदि इस विराट् विश्वरूपी भूगोल-खगोलके रूपमें भगवान्‌का ध्यान किया जाय तो मनुष्यका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, उसके राग-द्वेषकी निवृत्ति हो जाती है।

श्रीमद्भागवतमें वर्णित भूगोल-खगोल ऐतिहासिक या भौगोलिक दृष्टिसे अनुसन्धान करके कोई मत सिद्ध करनेके लिए नहीं है। बल्कि भगवान्‌का सर्वरूपमें ध्यान करनेके लिए है। इसके वर्णनका उद्देश्य यही है कि इसमें जो

जड़ है, चेतन है, तृणसे लेकर प्रकृतिपर्यन्त हैं और कीटाणुसे लेकर हिरण्यगर्भपर्यन्त है, वह सब परमात्माका स्वरूप है। उसका ध्यान करनेपर रागद्वेषकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है।

देखो, हमारे यहाँ जो विभिन्न भेद हैं-जैसे स्त्री-पुरुषका भेद, सम्प्रदायोंका भेद, भारतीय-अभारतीयका भेद, वैदिक-अवैदिकका भेद, शैव-शाक्तका भेद, आदि-आदि ये स्वयंमें भेद नहीं हैं। ये तो हमारे दिलोंका भेदन करनेवाले हैं, हथौड़ा मार-मारकर तोड़नेवाले हैं, छिन्न-भिन्न करनेवाले हैं। इन भेद-विभेदों और परिच्छेदोंसे हमारा दिल कट जाता है। इसलिए हमारे कटे हुए दिलोंको, हृदयोंको जोड़कर परमात्मस्वरूप बनानेके लिए ही श्रीमद्भागवतमें भूगोल-खगोलका वर्णन है।

फिर भी मैं इशारेके तौरपर आपको थोड़ा-सा भूगोल-खगोलका वर्णन सुना देता हूँ। श्रीमद्भागवतके अनुसार पृथिवीमें सात द्वीप हैं। एक द्वीपसे दूसरा द्वीप दुगुना है। दूसरे द्वीपसे तीसरा द्वीप दुगुना है। इसीप्रकार ये सब द्वीप एक-दूसरे से बड़े हैं। इनके समुद्र भी एक-दूसरेसे बड़े हैं। द्वीपोंका घेरा जितना बढ़ता जाता है, उतना ही समुद्रका घेरा भी बढ़ता जाता है।

यदि हम इस वर्णनको शुद्ध दृष्टिसे देखेंतो केवल कन्याकुमारीसे हिमालयतक के भूमि भागका नाम भारतवर्ष नहीं है। जिसको जम्बूद्वीप बोलते हैं, उसका अर्थ क्या है ? जम्ब धातुसे ही मूल लेकर जम्बूद्वीप शब्द बना है। इसका मतलब यह है कि जहाँ अविकृत मनुष्य पैदा होकर बड़ा भारी सौभाग्य प्राप्त कर लेता है, उसका नाम जम्बूद्वीप है। जम्बू शब्द का बना जायते, जो क्रियापद है। इसका अर्थ है कि इस जम्बूद्वीपमें जन्मसे ही सिद्धि होती है। जम्बूद्वीप क्षार-सागरसे परिवेष्टित है। खारे पानी वाले समुद्रसे घिरी हुई जितनी भी धरती है, सबका नाम है जम्बूद्वीप। उस जम्बूद्वीपमें भी बहुत सारे द्वीप हैं, वर्ष हैं। वे सब-के-सब सूक्ष्म हैं। उनमें जो भारतवर्ष है, वह स्थूल है। इस हिसाबसे आजकल जितनी भी धरती मिलती है, सबका नाम भारतवर्ष है और यह सारा-का-सारा कर्मक्षेत्र है। इस धरतीमें पैदा होकर मनुष्यको कर्म करना चाहिए। इस भारतवर्षमें कन्याकुमारीसे लेकर हिमालयपर्यन्त जो भूमिखण्ड है, उसका नाम भरतखण्ड है-जैसा कि संकल्पमें आता है—

जम्बूद्वीपे भारतवर्षे भरतखण्डे

तो आजकलकी जो सम्पूर्ण धरती है, यह जम्बूद्वीपके अन्तर्गत है। भारतवर्ष या भरतखण्डके अतिरिक्त जो क्षेत्र हैं, उनमें बड़ी-बड़ी आयु होती है, बड़े-बड़े भोग होते हैं। बड़े-बड़े विस्तार होते हैं और बड़ी-बड़ी दिव्यता होती है। परन्तु हमारे भरतखण्डमें जन्म लेनेके लिए देवता लोग भी तरसते हैं।

क्योंकि यहाँकी भूमि बड़ी पवित्र है। इस धरती पर जो अपवित्रता आ गयी थी, वह सारी-की-सारी क्षीर सागरमें समा गयी है। यहाँका भूमि-भाग भजन करनेके लिए परम पवित्र है।

इसी भूमिमें भगवत्पदी गंगाका अविर्भाव होता है। जम्बूद्वीपके जो नौ खण्ड हैं, उनमें भगवान्‌के साकार रूपकी पूजा होती है। जैसे कहीं मत्स्यकी, कहीं कच्छपकी, कहीं नृसिंहकी और कहीं नर-नारायणकी। यही इसकी विशेषता है। साकार रूपमें भगवान्‌की पूजा इसी जम्बूद्वीपमें होती है। दूसरे द्वीपोंमें तत्त्वोंकी पूजा होती है-जैसे कहीं पृथिवी देवीकी, कहीं जल देवताकी, कहीं अग्नि देवताकी, कहीं वायु देवताकी और कहीं आकाश देवताकी ! मूर्ति-रूपमें आकृतिकी पूजा सम्पूर्ण धरतीवाले भारतवर्षके सिवाय अन्य किसी भी वर्षमें नहीं होती।

भूगोलके बाद खगोलका वर्णन आता है। खगोलके वर्णनका उद्देश्य भी मात्र आकाशके सूर्य-चन्द्रादि ग्रह और तारागणका दर्शन कराना नहीं है। बल्कि यह विदित करना है कि इसमें क्या-क्या आश्चर्य हैं और उन सबका नियन्ता परमात्मा कितना बड़ा है ? इसका चिन्तन करनेसे भी अन्तःकरणकी शुद्धि हो जाती है।

खगोलके बाद सबको धारण करनेवाले शेष भगवान्‌का वर्णन आता है। शेष भगवान्‌का वर्णन सुनते-सुनते राजा परीक्षितने एक प्रश्न और कर दिया है। वह प्रश्न यह है कि नरक क्या होता है ? क्या वह कोई लोक विशेष है या किसी भूमि-विशेषका नाम है ? इस प्रश्नका जो उत्तर श्रीशुकदेवजी महाराजने दिया, वह ध्यान पूर्वक सुनने योग्य है। उन्होंने यह नहीं बताया कि स्थान-विशेषका नाम नरक और स्थान-विशेषका नाम स्वर्ग है। केवल यह बताया कि कर्म और गुणकी विचित्रताके कारण ही स्वर्ग-नरककी प्राप्ति होती है। जिसका पुण्य कर्म है, उसको स्वर्गके सुखका और जिसका पाप कर्म है, उसको नरकके दुःखका अनुभव होता है। पाप-पुण्य करने वालोंको दुःख-सुखकी अनुभूति करानेके लिए ही नरक तथा स्वर्ग बने हुए हैं ; बन जाते हैं। ये सब कर्मके फल हैं। इनका नाम देशान्तर नहीं, फलान्तर ही कहना चाहिए। परन्तु जो पाप करेगा, उसको नरकका फल अवश्य भोगना पड़ेगा। इसलिए मनुष्य को नरकसे बचनेके लिए पाप-मुक्त होना चाहिए।

यहाँ कई बातें आजाती हैं। एक तो देहका ही नाम आत्मा नहीं है। इसमें एक जीव है, जो कर्मानुसार, वासनानुसार भिन्न–भिन्न लोकों को जाता है और भिन्न-भिन्न शरीरोंको धारण करता है। भिन्न-भिन्न लोकोंका अर्थ है भिन्न-भिन्न दृश्य। जीव भिन्न-भिन्न दृश्योंके रूपमें प्रकट होता है, जीता है, मरता है,

दुःखी होता है, सुखी होता है। इसीका नाम संसार है। मनुष्यको अपने कर्मोंके फलस्वरूप ही कहीं ग्लानि होती है, कहीं शान्ति मिलती है और कहीं प्रसादका अनुभव होता है। यह सारा-का-सारा धर्मका फल है, लेकिन जो बुरा काम करेगा, उसको अपने कर्मका फल अवश्य भोगना पड़ेगा।

इस प्रसंगमें बड़े-बड़े भयंकर नरकोंका वर्णन किया गया है। पापियोंको कहीं आरेसे चीरा जाता है, कहीं पक्षी खाते हैं और कहीं पकते हुए तेलमें पटका जाता है। इन सबका सुविचारित ढंगसे एक रूप मिलता है कि कौन कर्म करनेसे क्या फल मिलता है।

नरकोंका वर्णन सुनकर राजा परीक्षित बोले कि महाराज, तब तो सब-के-सब प्राणी अपने पाप कर्मोंका फल भोगनेके लिए नरकोंमें ही जायेंगे। इसलिए इनसे बचनेका उपाय क्या है, यह आप हमें बताइये।

इसी प्रश्नका उत्तर देनेके लिए छठा स्कन्ध प्रारम्भ होता है। इसमें क्या उनतीस अध्याय हैं। तीन अध्यायोंमें भगवान्के नामका, चौदह अध्यायोंमें भगवान्के रूपकी-उपासनाका और दो अध्यायोंमें भगवान्की पूजाका वर्णन है। इसमें भगवान् पापी मनुष्योंको भी अपने अनुग्रहसे खींचकर कैसे ऊपर उठाते हैं इसका वर्णन है। इसीलिए छठें स्कन्धको श्रीमद्भागवतकी प्रक्रिया के अनुसार पुष्टि स्कन्ध कहा जाता है 'पोषणं तदनुग्रहम्'। जब कोई वृक्ष बगीचे में लगाया जाता है तब बीच-बीचमें उसको सींचा जाता है, खाद दी जाती है और उसकी छँटाई-कटाई भी करनी पड़ती है। वह जिस तरह बढ़े इस तरहका काम मालीको करना पड़ता है। यह संसार भी एक बगीचेके समान है। लेकिन लोग ईश्वरके बगीचेको तो देखते हैं, इस बगीचेको लगानेवाला माली कौन है, यह नहीं देखते—

आराममस्य पश्यन्ति पश्यति कश्चन।

यह दुनिया क्या है ? ईश्वरकी एक कविता है और यह अमर है, अजर है—

पश्य देवश्य काव्यं न ममार न जीर्यति।

इसमें जब कभी कोई भाव सूखने लगता है तब उसके ऊपर भगवान् पुष्टि अर्थात् अपने अनुग्रहकी वर्षा करते हैं। जीव सूखता तब है, जब मनुष्य अपने जीवनमें लोगोंको दुःख पहुँचानेवाला और हीन बनानेवाला कर्म स्वयं करने लगता है। ईश्वर किसीको अपनी ओरसे गिराता नहीं है, जीव स्वयं अपनेको गिराता है और ग्लानिसे दुःख उत्पन्न कर लेता है। जब जीवके वशमें यह बात नहीं रहती कि वह ऊपर उठे तब ईश्वर वहाँ आकर मालीकी तरह परिपुष्ट करके ऊपर उठाता है।

सृष्टिमें ऐसा कोई मनुष्य नहीं, जिससे बुरे अथवा पाप-कर्म न होते हों। कोई भी शरीरधारी उससे मुक्त नहीं हो सकता। जो लोग यह अभिमान करते है कि मैं कभी बुरा काम नहीं करता, वे या तो नासमझ होते हैं या दूसरों को धोखा देना चाहते हैं। गलती सबसे होती है।

प्रश्न यह उठता है कि गलती तो हो गयी, उसका प्रायश्चित्त कैसे करें। इसका उत्तर यह है कि छोटी गलतीका प्रायश्चित्त छोटा होता है और बड़ी गलतीका प्रायश्चित्त बड़ा होता है। घाव कोई ताजा होता है, बिल्कुल गीला-गीला और कोई पुराना होता है सूखा-सूखा। कोई बड़ा होता है, कोई छोटा होता है। उसको समझकर उसीके अनुसार प्रायश्चित्त करें तो उससे शुद्धि होती है। सारे पापोंको कोई नहीं जानता है। पाप-पुण्यकी परिभाषाभी ईश्वरके सिवाय और किसीको मालूम नहीं है। वही जानता है कि अनादिकालसे किसने क्या-क्या किया, अच्छा किया है, बुरा किया है और उसको क्या-क्या फल देना चाहिए। होता यह है कि हम किसी पापसे पछताकर उसका प्रायश्चित्त कर लेते हैं। लेकिन बादमें वही पाप करने लगते हैं, जिसका प्रायश्चित्त किया था। वह प्रायश्चित्त तो ऐसा ही हुआ, जैसे कोई हाथी बड़े सरोवरमें स्नान करे और फिर बाहर निकले तो सूँड़से रास्तेकी धूल उठाकर अपने ऊपर डाल ले।

प्रायश्चित्तमें जो प्रायः शब्द है, उसका अर्थ होता है पाप और चित्तका अर्थ होता है विशोधन। लेकिन हम पापका विशोधन कैसे करें ? तपस्या करें, चान्द्रायण व्रत करें, गंगा स्नान करें या जप करें ? इसका उत्तर है कि इन सबसे शरीरकी तो शुद्धि हो जायेगी, किसी विशेष पापकी भी शुद्धि हो जायेगी। लेकिन जिस हृदयमें-से यह पाप निकला था, उस हृदयकी शुद्धि नहीं होगीं, जहाँसे बार-बार अधर्मकी वासनाएँ आती हैं, वह हृदय शुद्ध नहीं होगा-'नाधर्मजं तद् हृदयं।' जहाँ भी कोई निमित्त दिखेगा, काम-वासना, क्रोध-वासना, लोभ-वासना आजायेगी और अपना काम करा लेगी। क्योंकि काम-क्रोध लोभतो हमारे दिलमें बैठे हैं वे तीनों तरफके द्वार हैं—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।

लेकिन बाहरसे लायी हुई किसी चीजसे तो दिलको साफ नहीं किया जा सकता। अतः दिलको साफ करनेके लिए भीतर ही किसी चीजकी तलाश करो। जो दिलके भीतर बैठा है, वह परम पवित्र है। यदि उसी अन्तर्यामी प्रभुको दिलमें ले आओ और उसीका स्वरूप मानकर सबकी सेवामें लग जाओ तब हृदय अवश्य पवित्र हो जायेगा।

असलमें ईश्वर तो वही है कि जो गिरे हुएको ऊपर उठा दे, पतितको पावन बना दे, नीचको ऊँच बना दे और जो अपने कर्मोंसे नरकमें जा रहा है, उसको मुक्त कर दे। यही भगवान्‌की भगवत्ता है। इसलिए सबसे बड़ी शुद्धि यही है कि हमारे जीवनमें भगवान्‌की भक्ति आये।

इसके लिए अजामिलके चरित्रका वर्णन किया गया, जिसमें भगवान्‌के नाम स्मरण, नाम-श्रवण और नाम-कीर्तनका प्रसंग है। अजामिल एक ब्राह्मण था-बड़ा विद्वान् और सदाचार -परायण ! लेकिन एक दिन वह ऐसे लोगोंके कुसंगमें पड़ गया, जो शराब पीते थे, दुराचार करते थे। उस संगका रंग उस पर ऐसा चढ़ा कि वह स्वयं अपने घरमें एक वेश्याको ले आया और जितने भी पतित कर्म हैं, सब करने लगा। पतित कर्म माने इन्द्रियोंका उच्छृंखल हो जाना, वश में न रहना, मर्यादाको न मानना और कुमार्गगामी हो जाना। इन दुष्कर्मों द्वारा अजामिल ऐसा पतित हुआ कि वह अस्सी वर्षकी उम्रतक दुराचार-परायण बना रहा। किसीको बन्दी बना लेना, जुआ खेलना, ठग लेना, मार डालना, अपहरण कर लेना-यह सब उसका स्वभाव बन गया।

परन्तु मरनेके दिन ऐसा हुआ कि वह अपने सबसे छोटे पुत्रको, जिसका नाम नारायण था और जिससे वह बड़ा प्रेम करता था, पुकारने लगा-नारायण, अरे ओ नारायण ! तुम यहाँ आओ !!! इस प्रकार अजामिलके मरते समय उसके मुँहसे भगवान्‌का नाम निकल गया !

बात यह थी कि उस समय इसको लेनेके लिए यमराजके दूत आये थे, जो बड़े भंयकर थे। पापीको मरते समय भयका दर्शन होता ही है, क्योंकि वह सोचता है कि उसने बड़े-बड़े कुकर्म किये हैं, इसलिए उसे नरकमें जाना पड़ेगा। पापीमें आत्मबल नहीं होता और उसको अपने कियेकी याद आती है, जिससे वह भयभीत होता है। उसका अन्तःकरण यमराजाकार हो जाता है। उसको यमराज- वाहन भैंसा दीखने लगता है। बड़ी-बड़ी दाढ़वाले काले-कलूटे भंयकर यमदूत दीखने लगते हैं। अजामिलकी यही स्थिति थी। वह यमराजके दूतोंको देखकर भयसे काँप उठा और इसीलिए उसने पुकारा कि नारायण ! ओ नारायण !!! मेरे पास आओ !!!

लेकिन अजामिलके मुँहसे नारायणका नाम निकलते ही भगवान्‌के पार्षद भी वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने उस फन्देको काट डाला, जो यमराजके दूतोंने अजामिलके गलेमें डाल रखा था। इसके बाद भगवान्‌के पार्षद यमदूतोंको धक्का-दे-देकर वहाँसे निकालने लगे। यमदूतोंने कहा कि अरे तुम लोग कौन हो ? क्या कर रहे हो ? हमलोग यमराजके दूत हैं और इस पापीको यहाँसे ले जाने के लिए आये हैं। इसको हमलोग यमराजके दरबारमें ले जायेंगे और

वहाँ धर्मराज इसका निर्णय करेंगे।

अजामिलको भगवान्‌के चतुर्भुज पार्षद और यमदूतोंका यह वाद-विवाद प्रत्यक्ष दिखायी-सुनायी पड़ रहा था। यमदूतोंने कहा कि भाई, इसने किया ही क्या ? केवल अपने बेटेका नाम लेकर पुकारा था ! भगवान् के पार्षदोंने कहा कि ठीक है, इसने बेटे का नाम लेकर पुकारा था। लेकिन इसके बेटेका यह नाम कबसे हुआ ? अभी तो इसका बेटा दस वर्ष का ही है, इसलिए उसका नारायण नाम केवल दस वर्ष से ही है। लेकिन हमारे स्वामीका नारायण नाम तो अनादि कालसे है। इसलिए उनका कब्जा इस नामपर है। यहाँ हमारे मालिककी चलेगी, तुम्हारी नहीं । तुमलोग धर्मराजके दूत हो तो बताओ पाप क्या होता है, पुण्य क्या होता है ? नरक और स्वर्गमें कौन जाता है ? क्या सब प्राणियोंको ही नरक में जाना पड़ता है ?

यह सुनकर यमराजके दूतोंने अपनी ओरसे धर्मका निरूपण प्रारम्भ किया। उनका निरूपण वैसा ही है, जैसा आज-कल स्मार्त लोग धर्मशास्त्रोंके आधारपर धर्मका निरूपण करते हैं। उन्होंने बताया कि इस शरीरमें कुछ साक्षी रहते हैं, गवाह रहते हैं, जो आदमी क्या कर रहा है-इसको देखते रहते हैं। यमराजके पास जानेपर उसके पापका पर्दा खुलता है और उसको सजा दी जाती है। उस दण्डके पीछे कठोरताकी भावना नहीं रहती, अन्तःकरणको शुद्ध करनेका उद्देश्य रहता है। जैसे किसी बर्तनको साफ करनेके लिए उसको गर्म पानीमें डाल दिया जाता है, वैसे ही जीवनकी शुद्धिके लिए यमराजके नरकमें डाला जाता है। जब उसकी शुद्धि हो जाती है तब फिर उसकी आगेकी गति प्रारम्भ हो जाती है।

इसप्रकार यमराजके दूतों द्वारा धर्मका निरूपण सुनकर भगवान्‌के पार्षदोंने कहा कि भाई, तुमलोगोंने जो धर्मका वर्णन किया है, यह सारा-का-सारा स्मार्त धर्म है। तुम्हें भगवदीय धर्मका ज्ञान नहीं। भगवदीय धर्म जीवके बलसे सम्पादित नहीं होता, भगवान्‌की कृपाके बलसे सम्पादित होता है।

देखिये, यहाँ मैं आपको एक दृष्टान्त सुना देता हूँ। हो सकता है कि यह लोगोंको अच्छा नहीं लगे। लेकिन आप बताइये कि कुब्जाने पूर्वजन्म या उस जन्म में कौन-सी साधना की थी ? उसकी जाति ऊँची थी या कर्म ऊँचा था या उद्देश्य ऊँचा था ? वह तो क्रूरकर्मी कंसके शरीरमें लगानेके लिए, मालिश करनेके लिए अंगराग लिये जा रही थी। शरीरसे टेढी-मेढी थी। परन्तु फिर भी भगवान् ने उसको अपना लिया ! क्या उन्होंने उसकी साधना देखकर अपनाया ! अरे बाबा, जो अनुग्रह करनेके लिए आता है, उसका हृदय अनुग्रह किये बिना मानता ही नहीं है।

तो जैसे भगवान्‌के रूपमें अनुग्रह होता है-वह अधिकारीको नहीं देखता और कुब्जा-पूतना को भी सद्‌गति दे देता है-वैसे ही भगवान्‌का नाम भी अनुग्रहकी मूर्ति है। जो गुण, जो स्वभाव, जो धर्म भगवान्‌के रूपमें है, वही गुण, वही स्वभाव, वही धर्म भगवान्‌के नाममें है। वह जीवके कर्मको देखकर उसका कल्याण नहीं करता, कल्याण तो भगवान्‌के स्वरूपके अनुसार होता है, जीवके कर्मके अनुसार नहीं। यही भागवत-धर्म है और जीवोंके कल्याणके लिए स्वयं भगवान्‌के द्वारा उसका अनुष्ठान होता है। भगवान् गिन-गिनकर रोटी नहीं देते, वे तो बरस देते हैं और जन्म-जन्मके लिए अयाचित कर देते हैं।

जेहि जाचत जाचकता जरि जाय
जो जारति जोर जहानहि रे।

भगवान्‌के पार्षदोंने कहा-देखो यमदूतो, भगवान्‌को अपना नाम बड़ा प्यारा है। नाममें जीवके उच्चारणका बल काम नहीं करता,उसमें तो भगवान्‌का स्वाभाविक बल काम करता है। अजामिलने मरते समय पुत्रके बहानेसे ही भगबान्‌के नामका जो उच्चारण किया है, उससे इसका करोड़ों जन्मोंका प्रायश्चित्त हो गया है। यदि भगवान्‌ने इसको पसन्द नहीं किया होता, यह पहलेसे ही भगवान्‌के संकल्पमें नहीं होता तो इसके मुँहसे उनका नाम निकलता ही नहीं। भगवान्‌का एक स्वरूप मुग्ध है। अपने नामका उच्चारण सुनते ही वे पागल-सरीखे हो जाते हैं और नाम लेने वालेका कर्म देखे बिना ही उसको अपने हृदय से लगा लेते हैं। यह भगवान्‌की बड़ी भारी कृपालुता है। यदि भगवान् हमेशा न्याय करें तो भक्तिका सम्प्रदाय कैसे चलेगा ? भगवान्‌के पक्षपातसे ही भक्तिका सम्प्रदाय चलता है। जो गिरे हैं, साधनहीन हैं, निस्साधन हैं, कुसाधन हैं, उनके ऊपर भी भगवान्‌की कृपा होती है। भगवान्‌के नामका उच्चारण चाहे किसी भी बहाने हो, सारे पापोंको नष्ट कर देता है।

अच्छा भाई, मान लिया कि एक बार नामका उच्चारण करने से सारे पाप मिट गये। लेकिन आगे क्या होगा ? मृत्युके पहले तुम दूसरा पाप करोगे या नहीं ? यदि कहो कि करोगे तो जब दूसरा पाप होगा तब मरे हुए सब पाप जिन्दा हो जायेंगे। फिर कल्याण कैसे होगा? मरते समय नामका उच्चारण तो हो नहीं सकता। क्योंकि मरते समय सारे बन्धन ढीले पड़ जाते हैं। न हाथ अपने वशमें होते हैं, न पाँव अपने वशमें होते हैं, न दिल अपने वशमें होता हैं, न दिमाग अपने वशमें होता है और न जीभ अपने वशमें होती है। इसलिए ठीक मरनेके समय भगवान्‌के नामका उच्चारण कौन करेगा ? कैसे करेगा ?

देखो, इसका समाधान यह है कि मृत्युके पहले भगवान्‌के नामका उच्चारण होना चाहिए। उसके बाद और मृत्युके पहले कोई पाप नहीं हो तो उसीको मृत्यु-काल कहते हैं। नहीं तो अनुष्ठान-लक्षण प्रामाण्यकी प्राप्ति हो जायेगी। मीमांसा-शास्त्रके अनुसार जो काम किया ही न जा सके, उसका यदि किसीने आदेश दिया है तो वह आदेश मान्य नहीं होता। जब मरनेके समय नामोच्चारण हो ही नहीं सकता तब उसका आदेश कोई देगा तो कैसे?

भगवान्‌के पार्षदोंकी बात सुननेके बाद यमराजके दूत निरुत्तर हो गये और अजामिलको छोड़कर यम-लोक चले गये। इधर भगवान्‌के पार्षदोंके दर्शनसे अजामिलके मनमें ऐसी पवित्रता आयी कि वह दण्डवत् करके कुछ कहना चाहता था। परन्तु इतनेमें भगवान्‌के पार्षद वहाँसे चले गये।

अब तो जब अजामिल भगवत्पार्षदोंकी सहायतासे मृत्युके फन्देसे छूट गया तब उसने अपना सब दुराचार छोड़ दिया, घर छोड़ दिया, वेश्या छोड़ दी और जितने भी छोटे-मोटे सम्बन्ध थे, उन सबका परित्याग कर दिया। फिर गंगा-तटपर जाकर भजन करने लगा। वहाँ उसने बहुत दिनोंतक भगवान्‌की आराधना की और उसके फलस्वरूप उसको भगवान्‌की प्राप्ति हो गयी। इतना मंगलमय है भगवान्‌का नाम !

इधर यमदूत यमराजके पास गये और वहाँ उन्होंने कहा-महाराज, आपने पहले हमको नहीं बताया कि हमें किसके पास जाना चाहिए और किसके पास नहीं जाना चाहिए ? अब आप कृपया बताइये कि इस संसारमें पापी-पुण्यात्मापर शासन करने वाले कितने हैं ? यदि बहुत से शासक हैं तब तो उनमें विग्रह होगा। यदि आप एक ही शासक हैं तो अजामिलके यहाँ हमारी दुर्गति क्यों हुई ? जब हम लोग अजामिलसे मिलनेके लिए उसके पास पहुँचे तब हमारे कुछ चार भुजाओंवाले, वनमाला-पीताम्बरधारी, दिव्य पुरुष मन्द-मन्द मुस्कराते हुए आये। उन्होंने हमारे हाथसे अजामिलको छीन लिया और हमको वहाँसे तिरस्कारपूर्वक भगा दिया। कृपया आप बताइये कि वे हैं कौन ?

यमराज सब-कुछ समझ गये। उन्होंने कहा कि दूतो, मेरे अतिरिक्त एक चराचर जगत्‌के स्वामी हैं, जो सम्पूर्ण सृष्टिमें वस्त्रके सूत्रके समान ओत-प्रोत हैं। स्वयं भगवान्‌ने ही धर्मकी मर्यादाका निर्माण किया है। उसे जानना बड़ा कठिन है। उसको मैं जानता हूँ और मेरे अतिरिक्त स्वायंभुव मनु, नारद, प्रह्लाद, शुकदेव और बलि आदि भी जानते हैं। अन्य कोई नहीं जानता।

प्रायेण वेद तदिदं न महाजनोऽयं
देव्या विमोहितमतिर्बत माययालम्।

त्रय्यां जडीकृतमतिर्मधुपुष्पितायां
वैतानिके महति कर्मणि युज्यमानः।। ६-३-२५

कर्मके बड़े भारी विस्तारका विमोह भगवान्‌की मायादेवीका ही उत्पन्न किया हुआ है। इससे मनुष्यका कल्याण नहीं होता, कल्याण होता है भगवान्‌की भक्तिसे।

अजामिलने जो मरते समय किसी भी बहाने नारायण नाम लिया, उसपर भगवान्‌की छाप लगी हुई है। स्वयं भगवान् अपने नामके प्रेमी हैं। वे अपने बहुत-से नाम बताकर स्वयं उनका उच्चारण करते रहते हैं। प्रकृतिके कण-कणमें, अणु-अणुमें, परमाणु-परमाणुमें, जीव-जीवमें भगवन्नामका उच्चारण व्याप्त रहता है। इसलिए अन्य कोई जीव उसी नामका उच्चारण करता है तो उसका स्वर भगवान्‌के स्वरसे मिल जाता है। उसके प्राण भगवान्‌के प्राणसे मिल जाते हैं और उसका भाव भगवान्‌के भावसे मिल जाता है। फिर तो सम्पूर्ण पाप-ताप नष्ट हो जाते हैं।

देखो, पूर्वकृत पापका फल होता है ताप और वर्तमानमें होते हैं पाप। भगवन्नामसे पापरूप कर्म और पापरूप कर्म-फलकी तत्काल निवृत्ति हो जाती है।

इसलिए, दूतों, सावधान हो जाओ। वहाँ कभी मत जाना, जहाँ भगवान्‌के नामका स्मरण, श्रवण और कीर्तन होता हो। लेकिन उसके पास जरूर जाना, जिसकी जीभ कभी भगवान्‌के नामका उच्चारण न करती हो, जिसका चित्त कभी भगवान्‌के नामका चिन्तन न करता हो और जो भगवान्‌के चरणोंमें प्रीति न करता हो—

जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं
चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम्।
कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि
तानानयध्वमसतोऽकृत - विष्णुकृत्यान्।। ६-३-२९

देखो, अजामिलके इतिहासका वर्णन यही बतानेके लिए किया गया है कि वह अपने नामके अनुसार अजा माने माया, अविद्याके साथ मिल गया था, उसके मोहमें फँस गया था। उससे उसको मुक्ति तब मिली, जब उसने भगवान्‌के नामका उच्चारण किया। माया-मोहके बन्धनसे मुक्त करनेके लिए ही भगवान्‌का नाम है। जो भगवान्‌के नामका उच्चारण करता है, उसका मनअच्छे रास्तेपर पड़ जाता है और धीरे-धीरे नाम-भगवान्‌की, नाम-नरेशकी कृपासे उसका कल्याण हो जाता है।

तो, छठे स्कन्धके प्रारम्भिक तीन अध्यायोंमें जो भगवन्नामकी महिमा वर्णित की गयी है, उसका प्रसंग पूरा हुआ। अब इसके बाद इन्द्रको कैसे अभिमान होता है, वृत्रासुरका उद्धार कैसे होता है, दितिके पेटसे मरुद्‌गणका जन्म कैसे होता है, चित्रकेतुकी कथा कैसी है, शंकरजी कैसे त्रस्त रहते हैं और प्रह्लादका चरित्र कैसा है, ये सब प्रसंग आपको कल सुनाये जायेंगे।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

: ६ :

कल प्रसंग चल रहा था प्राचीनवर्हिकी निर्गुण-निष्ठासे और प्रचेताओंकी सगुण-निष्ठासे मुक्तिका। संक्षेपमें यह बात कही गयी कि पहले जो ब्रह्माके पुत्र प्रजापति दक्ष थे, वे अजमुख हो जानेके कारण संकोच-वश अपना शरीर त्यागकर प्रचेताओंके पुत्र हो गये और क्षत्रिय जातिमें आगये।

उसके आगे वर्णन करना चाहिए था प्राचेतस दक्षके वंशका, परन्तु बीचमें यह प्रश्न उठ गया कि पापोंकी निवृत्ति कैसे हो ? यदि मनुष्य एक बार पापी होनेपर पापी ही रह जाय, उसकी निवृत्तिका कोई उपाय न रहे तो यह भगवान्‌की ओरसे बड़ा भारी अन्याय होगा। यह कहाँतक ठीक है कि कोई बहिश्तमें जाय तो हमेशाके लिए और दोजखमें जाय तो हमेशा के लिए ? जो दीन—हीन हैं, पतित हैं, पिछड़े हुए हैं, उनको उठानेवाला कोई चाहिए और वह उठानेवाला ऐसा चाहिए, जो कठोर न हो, क्रूर न हों, बल्कि बड़ा दयालु हो और बडे-बड़े पापी-तापी भी जिसका आश्रय लेकर ऊपर उठ सकें। इसके लिए भगवान्‌के नामकी महिमा बतायी गयी। ऋग्वेदमें कहा गया—

मर्ता वयं अमर्त्य स्थिते भूरि नाम मनामहे।

इसमें जो 'मनामहे' पद है, इसका अर्थ सायणाचार्यने 'भजामहे' किया है और यह तात्पर्य बताया है कि 'प्रभो, हम तो मृत्युसे घिरे हुए हैं तथा आप अमृत हैं। हम आपके नामका आश्रय लेते हैं, नामकी शरण लेते हैं।'

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि बड़े-बड़े विद्वान् भी भगवन्नामकी महिमाको नहीं समझते। उनका बड़े-बड़े यज्ञ-यागादि कर्मोपर तो विश्वास होता है, लेकिन भगवान्‌के छोटे-से-नामपर विश्वास नहीं होता। वे यह नहीं जानते कि हीरेकी तरह अत्यन्त प्रोज्ज्वल जो छोटा-सा-नाम है, इसमें भगवान्‌का स्वभाव भरा हुआ है। जैसे प्रभु हैं, वैसे ही प्रभुका नाम है। यह मनुष्यका कल्याण कर देता है। इसीलिए गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

रघुवर रावरि यहै बड़ाई।
निदरि गनी आदर गरीब पर करत कृपा अधिकाई।

अब श्रीशुकदेवजी महाराज अजामिलका प्रसंग पूरा करके प्राचेतस दक्षकी कथा प्रारम्भ करते हैं। प्राचेतस दक्षने पहले अपने मनसे संकल्पसे बहुत-सारी सृष्टि उत्पन्न की।

देखो, यहाँ मन अथवा संकल्प द्वारा सृष्टि उत्पन्न होनेके सम्बन्धमें शंका करनेकी आवश्यकता नहीं है। हमारे मन और संकल्पमें सृष्टि उत्पन्न करनेका सामर्थ्य है। हम जो स्वप्नमें देखते हैं, वह बिल्कुल ठोस मालूम पड़ता है या नहीं ? स्वप्न.सृष्टि हमारे मनकी शक्तिका एक उदाहरण है। उपनिषद्में बताया गया है कि जाग्रतावस्था तो काम.धन्धा करनेके लिए आफिस है.जैसा करोगे, वैसा फल मिलेगा और स्वप्नावस्था मनके सामर्थ्यकी परीक्षा है, निदर्शन है। उस समय वह नवीन.नवीन सृष्टि बना लेता है। स्त्री–पुरुष बना लेता है, धरती बना लेता है, आसमान बना लेता है, देवी.देवता बना लेता है, यहाँतक की ईश्वर भी बना लेता है। वेदमें भी आया है कि मनसे प्रजाकी सृष्टि हुइ—**मनसा प्रजा असृजत्।**

दक्ष प्रजापति अपने मन एवं संकल्पसे सृष्टि बनाने तो लगे, लेकिन वह सृष्टि टिकती नहीं थी। जबतक उनका संकल्प रहे तभीतक उनकी सृष्टि रहे, बादमें समाप्त हो जाय। यह देखकर प्रजापति दक्ष विन्ध्याचलमें अघमर्षण तीर्थपर चले गये। वहाँ उन्होंने बड़ी भारी तपस्या की। उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर अष्टभुज भगवान् गरुड़पर आरूढ़ होकर उनके सामने प्रकट हुए।

दक्षने भगवान्‌की स्तुति करते हुए कहा कि महाराज, अस्ति-नास्ति जो कुछ भी है, वह सब आप ही हैं। आस्तिक नास्तिकसे लड़ता है और नास्तिक आस्तिकसे लड़ता है। दोनोंमें खूब बाल-युद्ध, बौद्ध-युद्ध होता है। परन्तु जो लोग आपकोजानते हैं, वे समझते हैं कि जो आस्तिकको प्रकाशित करनेवाला है, वही नास्तिकको भी प्रकाशित करनेवाला है। 'अस्ति' कहनेवाले भी आपसे ही भोजन पाते हैं और 'नास्ति' कहनेवाले भी आपसे ही भोजन पाते हैं। आप तो एक ही हैं। मेरी अभिलाषा पूर्ण करें।

इसप्रकार जब दक्ष प्रजापतिने बडी भारी स्तुति की तब भगवान्‌ने कहा कि अब तुम मानस-सृष्टि न करके मैथुनी सृष्टि करो—**मिथुनव्यवाय धर्मिण्याम्।**

इसके बाद दक्ष प्रजापतिने पञ्चजनकी पुत्री असिक्नीसे विवाह किया। उससे हर्यश्व और शबलाश्व नामके बहुत-से पुत्र उत्पन्न हुए। उनसे दक्षने कहा कि तुम सृष्टि बढाओ। वे सृष्टि बढ़ाने के लिए नारायण सरोवर जाकर तपस्या करने लगे। लेकिन वहाँ नारदजीने उनको ऐसा मन्त्र पढ़ा दिया, ऐसी बाल-दीक्षा दे दी कि वे सब सृष्टि-विस्तारके विचारसे विरत हो गये।

यह बात जब दक्ष प्रजापतिने सुनी तब उनको बड़ा क्रोध आया। संसारी लोग कहते हैं कि पिताका पुत्रोंसे कितना प्रेम होता है। यदि उनको कोई बचपनमें ही बाबाजी बना दे तो पिताको कितना दुःख होगा ! इसलिए दक्ष प्रजापतिको क्रोध होना स्वाभाविक था।

उसी समय नारदजी दक्ष प्रजापतिके पास पहुँच गये। दक्षने उनको बहुत गालियाँ दीं और कहा कि-'अरे ओ तन्तुकृन्तन, तूने हमारे वंशका नाश कर दिया। हमारे इन अबोध बालकोंको, जो अभी अच्छा-बुरा नहीं समझते, तूने भिखारी बना दिया। इनको तो हमने गृहस्थ बनानेके लिए पैदा किया था। तू एक जगह ज्यादा देर तक रहता है, इसलिए लोगोंको समझा बुझाकर फोड़ लेता है। अब जा, तुझको कहीं भी दो घड़ीसे ज्यादा देरतक ठहरनेकी जगह नहीं मिलेगी।'

यह शाप सुनकर नारदजी बहुत प्रसन्न हुए और बोले कि दक्षजी, तुमने तो मेरा बड़ा उपकार किया। नहीं तो मैं कहीं कुटिया या आश्रम बना लेता, वहाँ चेले-चाँटी आजाते और अर्थप्राप्ति होने लगती। अब तो मैं कहीं भी दो घड़ीसे अधिक समय नहीं ठहरूँगा और चलता फिरता रहूँगा। मुझे तो तुमने शाप देकर विरक्त बना दिया। इसके लिए तुमको मेरा धन्यवाद है—

एतावान् साधुवादो हि तितिक्षेतेश्वरः स्वयम्। ६-५-४४

श्री शुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, नारदजी चाहते तो दक्षको शापके बदले शाप दे सकते थे। परन्तु उन्होंने सामर्थ्य होनेपर भी दक्षको शाप नहीं दिया। संसारमें साधुता इसीका नाम है कि बदला लेनेकी शक्ति रहनेपर भी दूसरेका किया हुआ अपकार सह लिया जाय।

अब दक्षने यह कहा कि यदि हमारे बच्चोंको बाबाजी ही बन जाना है तो हम उनको पैदा करके क्या करेंगे ? जब ब्रह्माजीको यह बात मालूम हुई तब वे दक्षके पास आये और बोले कि देखो दक्ष, बेटे होते हैं तो बाबाजी लोग चेले बना लेते हैं। इसलिए अब तुम बेटियाँ पैदा करो। फिर बाबाजी लोग क्या करेंगे ?

देखो, इस प्रसंगमें यह मालूम पड़ता है कि कब बेटा हो और कब बेटी हो-यह विद्या हमारे पूर्वजोंको मालूम थी। इसीलिए दक्षने ब्रह्माजीकी आज्ञासे पुत्रियाँ उत्पन्न कीं और उनका विवाह बड़े-बड़े महापुरूषोंसे किया। उनसे इतनी सन्तानें उत्पन्न हुई कि सारी प्रजा दाक्षायिणी कहलायी। दक्षका अर्थ है निपुण धर्म-ज्ञाता और मनको, सृष्टिको अपने वशमें रखनेवाला। उन्हींकी पुत्रियोंसे यह सारी सृष्टि बनी। उस सृष्टिका श्रीमद्भागवतमें जो वर्णन है, उसमें सैकड़ों-हजारों नाम आते हैं और उन सबकी चर्चा करनेसे बड़ा विस्तार हो जाता है। इसलिए मैंने आपको संक्षेपमें ही सुना दिया।

दक्षकी पुत्रियोंमें ही अदिति और दिति थीं। आध्यात्मिक दृष्टिसे ये दोनों वृत्तियाँ हैं। ये कश्यपजीसे व्याही थीं। आपको बताया जा चुका है कि

कश्यपका अर्थ होता है परमात्माका स्वरूप। निरुक्तमें कश्यप शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार दी हुई है—'पश्यति इति पश्यकः, पश्यक एव कश्यपो भवति।'

उनकी एक पत्नी अदितिका अर्थ है एकमें जोड़नेवाली। उससे आदित्य अर्थात् देवता लोग हुए। उसके विपरीत दीङ् क्षये धातुसे दिति शब्द बनता है, जो उनकी दूसरी पत्नी है और जिससे दैत्य पैदा होते हैं। जो क्षीणताकी ओर, धर्म-क्षयकी ओर प्रवृत्त हो, उसका नाम होता है दैत्य-दितिकी सन्तान! और, जो अदिति-पुत्र आदित्य है, वह सम्पूर्ण विश्वको प्रकाशित करता है, सबको सन्ध्या-वन्दन आदि धर्ममें प्रवृत्त करता है।

अदिति-पुत्रोंमें ही एक हुए इन्द्र! उनको देवराजके पदपर अभिषिक्त किया गया। परमैश्वर्यशालीको ही इन्द्र कहते हैं। वह कर्मका देवता है। हमारे हाथमें बैठता है और उसकी शक्तिसे सारे काम होते हैं। अधिदैव है इन्द्र, अधिभूत है हाथ और सबके प्रेरक सर्वाधिष्ठाता नारायण हैं अध्यात्म! कर्मका संकल्प मनमें होता है, संकल्पसे ही हाथ-पाँव आदि कर्म करते हैं।

यदि पूछो कि ऐश्वर्यका निवास कहाँ है तो इसका सीधा उत्तर यह है कि ऐश्वर्य कर्म में है। जो कर्म करता है, उसीको ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। कर्मसे विमुख पौरुषहीन व्यक्तिको संसारमें किसी प्रकारकी उन्नति प्राप्त नहीं हो सकती। समग्र उन्नतियोंका मूल कर्ममें है।

जब इन्द्र देवताओंके राजा हुए तब उनको बड़ी भारी शोभा प्राप्त हुई। सब बड़े-बड़े देवता उनकी स्तुति करने लगे। लेकिन इन्द्रने ऐश्वर्य प्राप्तिके पश्चात् मर्यादाका मार्ग छोड़ दिया—

इन्द्रस्त्रिभुवनैश्वर्यमदोल्लंघितसत्पथः। ६-७-२

देखो, जो सांसारिक पदार्थोको प्राप्त करके बहुत प्रसन्न हो जाता है, उसको अपनी प्रसन्नताका अभिमान हो जाता है और जब उसके जीवनमें अभिमान आजाता है तब वह धर्मका, सदाचारका, मर्यादाका उलंघन करने लगता है—

हृष्टो दृप्यति दृप्तो धर्मं अतिक्रामति।

एक बारकी बात है, इन्द्र जब अपनी सभामें बैठे थे तब देवताओंके गुरु बृहस्पतिजी महाराज वहाँ पधारे। बृहस्पतिजी सम्पूर्ण वेद-शास्त्रोंके स्वामी हैं। जब स्वस्ति-वाचन किया जाता है तब यह मन्त्र पढ़ा जाता है—

ॐ स्वस्तिन इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्तिनः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्तिनो वृहस्पतिर्दधातु।।

यह मन्त्र ऐसा है कि इसमें उन समस्त सन्धियोंका सन्निवेश हो गया है, जो व्याकरण-शास्त्रमें बतायी गयी हैं। इसमें विसर्ग है, विसर्गका लोप है, विसर्गका स्वर है, विसर्गका रेफ है। इस मन्त्रके अनुसार इन्द्र और बृहस्पतिको परस्पर मिलकर रहना चाहिए। परन्तु हुआ यह कि गुरु बृहस्पतिजीको भरी सभामें आया देखकर भी इन्द्रने झट उनकी ओरसे अपनी आँखे फेर लीं। उन्होंने सोचा कि मैं इन्द्र हूँ। गुरुजी आये हैं तो सभामें बैठें। वे अपने बड़प्पनमें आगये और उन्होंने बृहस्पतिजीकी उपेक्षा कर दी। इधर बृहस्पतिजीने सोचा कि उनके शिष्य इन्द्रमें तो अभिमान आगया। यह अभिमान उत्तम नहीं है। इस अभिमानको टूटना चाहिए। यह सोचकर बृहस्पतिजी अन्तर्धान हो गये।

इधर जब दैत्योंको यह बात मालूम हो गयी कि इन्द्र द्वारा तिरस्कृत होकर बृहस्पति उनकी सभासे उठकर चले गये हैं तब वे उनके तिरस्कारका लाभ उठानेके लिए अपने गुरु शुक्राचार्यके पास पहुँचे।

देखो, देवगुरु बृहस्पतिके पास तो बुद्धि है, किन्तु दैत्यगुरु शुक्राचार्यके पास वीर्य है। संस्कृतमें शुक्र शब्दका अर्थ वीर्य होता है। देवताओंके पक्षमें बृहस्पतिकी बुद्धि रहती है और दैत्योंके पक्षमें शुक्राचार्यकी शक्ति रहती है, सिद्धि रहती है, मन्त्र रहता है, तन्त्र रहता है। इन्हीं शक्तियोंसे शुक्राचार्य दैत्योंको बढ़ाते रहते हैं।

अब जब शुक्रचार्यने सुना कि बृहस्पति देवताओंको छोड़कर चले गये हैं तब उन्होंने दैत्योंको देवताओंपर चढ़ाई करनेकी सलाह दे दी। उसके अनुसार दैत्योंने देवताओं पर आक्रमण कर दिया। देवताओंने बृहस्पतिकी तलाश की, पर वे मिले नहीं। परिणाम यह हुआ कि देवता लोग दैत्योंसे हार गये और वन-वन भटकने लगे।

अन्तमें सब देवता ब्रह्माजीके पास गये। ब्रह्माजी देवता-दैत्य दोनोंके पितामह हैं और दोनोंके प्रति सम रहते हैं। यदि कहो कि ब्रह्माजी पितामह कैसे हैं ? इसलिए हैं कि देवता-दैत्य दोनोंके पिता हैं कश्यप, कश्यपके पिता हैं मरीचि और मरीचिके पिता हैं ब्रह्माजी। इस नाते ब्रह्माजी देवता-दैत्य दोनोंके परदादा हुए। परदादाका परपोतोंपर समभाव होना स्वाभाविक है। फिर भी उनमें-से-जो उनकी शरणमें जाता है, उसको वे रास्ता जरूर बताते हैं।

इसलिए ब्रह्माजीने देवताओंको यह बताया कि तुम लोग एक पुरोहित बनाओ और उससे विद्या प्राप्त करो। इसके बाद देवता विश्वरूपके पास गये। विश्वरूपके नानाका वंश उत्तम नहीं था, उसमें देवता-दैत्य और मनुष्य

तीनोंका थोड़ा-थोड़ा अंश था। उसके तीन मुख थे। एक मुखसे तो वह सोमपान करता था, दूसरे मुखसे सुरापान करता था और तीसरे मुखसे अन्न खाता था-'सोमपीथ सुरापीथ अन्नाद।'

देवताओंने विश्वरूपसे प्रार्थना की कि आप हमारे पुरोहित बन जाइये। विश्वरूपने पहले तो मना करते हुए कहा कि किसी एक पार्टीमें शामिल होना अच्छा नहीं है। मेरे लिए तो देवता-दैत्य दोनों बराबर हैं। लेकिन बादमें कहा कि अच्छा, जब आप लोग इतने बड़े-बड़े देवता होकर याचना करते हैं तब मैं आपकी इस याचनाका तिरस्कार करना भी उचित नहीं समझता। आइये, मैं आप लोगोंका पौरोहित्य स्वीकार करता हूँ।

इसके बाद विश्वरूपने इन्द्रको नारायण-कवचकी विद्या सिखा दी। वह नारायण-कवच श्रीमद्भागवतके छठें स्कन्धके आठवें अध्यायमें वर्णित है। विश्वरूपने यह भी बता दिया कि उस विद्याको सिद्ध करनेके लिए कैसे कर-न्यास और अंग-न्यास करना चाहिए ? यह भी बता दिया कि द्वादशाक्षर-अष्टाक्षर-षडक्षर आदि मन्त्रों द्वारा किस प्रकार अनुलोम-प्रतिलोम न्यास करना चाहिए ?

देखो, न्यास माने अंग-प्रत्यंगमें देवताकी स्थापना। मनुष्यका शरीर हड्डी-मांस-चामका बना हुआ है और बड़ा अपवित्र है। परन्तु इसमें मन्त्रन्यास, देवन्यास, सृष्टिन्यास, स्थितिन्यास, प्रलयन्यास, व्यापकन्यास आदि भिन्न-भिन्न न्यास करके इसको दिव्य बना लिया जाता है। यह प्रक्रिया उपासना-शास्त्रोंमें भरी पड़ी है। जब नारायण-कवचका पाठ किया जाता है तब अंग-अंग देवताओं तथा मन्त्रोंका स्थापन हो जाता है और उसके फलस्वरूप शरीरमें दिव्यता आजाती है।

जब इन्द्रको अपने नवनिर्मित गुरू विश्वरूपसे नारायण-कवच और उसको सिद्ध करनेकी पद्धति ज्ञात हो गयी तब उन्होंने उसे धारण करनेके उपरान्त असुरोंको पराजित कर दिया। वे फिर स्वर्गके राजा हो गये।

लेकिन जैसा कि आपको बताया जा चुका है, विश्वरूपमें देवता और दैत्य दोनोंके अंश थे। इसलिए वह कभी देवताओंके पक्षमें तो कभी चुपकेसे दैत्योंके पक्षमें भी आहुतियाँ दे दिया करता था। उसकी आहुतियाँ कभी परमार्थके लिए तो कभी-कभी अपने स्वार्थके लिए भी हुआ करती थीं। एक दिन इन्द्रने उसकी यह चालाकी पकड़ ली और उसी समय उसको मार दिया। अब तो पुरोहितका वध करनेके कारण उसकी ब्रह्महत्या इन्द्रके सामने प्रकट हुई। इन्द्रने हाथ जोड़कर ब्रह्महत्याको स्वीकार किया। उनके मुँहसे एक बार भी यह नहीं निकला कि उन्होंने ब्रह्महत्या नहीं की है या अनजानमें

की है। उनका यह बड़प्पन था कि वे अपने अपराधसे मुकरे नहीं और न उन्होंने कोई बहाना ही बनाया।

उसके बाद तो सारी सृष्टि इन्द्रके प्रति क्षमाशील हो गयी। जो विनम्र होता है, विनयी होता है, अपनी गलती कबूल कर लेता है और जिसका हृदय कोमल होता है, उसके प्रति लोगोंकी सहानुभूति हो जाती है। लेकिन जो अभिमानसे सिर उठाकर कहता है कि नहीं-नहीं मैंने गलतीकी ही नहीं है, उसका अभिमान और बढ़ जाता है तथा उसके प्रति लोगोंकी सहानुभूति नहीं होती।

जब सारी विश्व-सृष्टिकी सहानुभूति इन्द्रको प्राप्त हो गयी तब उन्होंने अपनी ब्रह्महत्याको चार भागोंमें बाँट दिया-कुछ भाग भूमिके लिए, कुछ भाग जलके लिए, कुछ भाग वृक्षके लिए, और कुछ भाग स्त्रीके लिए। इन चारोंने बड़े प्रेमसे इन्द्रका सत्कार करनेके लिए उनके अपराधमें अपनेको सम्मिलित करके उसका फल स्वीकार कर लिया। उससे इन्द्र ब्रह्महत्यासे मुक्त हो गये और उनको परमैश्वर्यकी प्राप्ति हो गयी।

उधर जब विश्वरूपके पिता त्वष्टाको यह पता चला कि इन्द्रने उनके बेटेका वध कर दिया है तब उन्होंने वैदिक मन्त्रोंद्वारा उनके विरुद्ध हवन करना प्रारम्भ किया।

देखो, वैदिक मन्त्रोंमें बड़ी शक्ति होती है। यजुर्वेदके एक-एक मन्त्रपर कात्यायनका बड़ा प्राचीन श्रौत-सूत्र है। उसमें किस मन्त्रका किस सांसारिक कार्यके लिए प्रयोग होना चाहिए, इसका विस्तारसे विधिपूर्वक वर्णन है। उसका नाम है 'यजुर्विधान-सूत्रम्'। आजकल कात्यायन श्रौत-सूत्रको पढ़नेकी परम्परा समाप्त हो गयी है। यदि वह विदेशोंसे आता तो लोग उसको महान् मानकर बड़े चावसे पढ़ते।

हमारा अपना ही ज्ञान जब विदेश-यात्रा करके लौटता है तब उसका आदर होने लगता है और अपने देशमें जो उपयोगी शास्त्र हैं, उनका अनादर होता हैं

तो, जब त्वष्टाने इन्द्रके विरुद्ध अग्निमें हवन किया तब यह मन्त्र पढ़ा-'इन्द्रशत्रो विवर्धस्व'। इसका अर्थ है कि इन्द्रके शत्रुकी वृद्धि हो। इस मन्त्रके हवनसे वृत्र नामका एक बहुत बड़ा असुर निकला। सभी वेदोंमें वृत्रासुरका वर्णन है। उसका स्वरूप यह है कि वह आकाशमें छाये कुहासेकी तरह मनुष्यकी बुद्धिको आवृत कर देता है। इसलिए वृत्रासुरके प्रकट होते ही सारे विश्वमें अन्धकार-ही-अन्धकार छा गया।उसने सब दैत्योंके साथ अस्त्र-शस्त्र लेकर इन्द्रपर आक्रमण कर दिया।

देखो, वृत्रासुरकी कथा बड़ी लम्बी है। इसलिए मैं विस्तारमें न जाकर आपको इतना ही सुनाना चाहता हूँ कि वृत्रासुरका इन्द्रके साथ बड़ा भीषण और लम्बा युद्ध हुआ। अन्तमें इन्द्रने उसको ललकारते हुए कहा कि सामने आओ। जब वृत्रासुर इन्द्रके सामने आ गया तब उसने देखा कि उनके हाथमें वज्र है।

आप उस वज्रकी कथा सुन लीजिये। इसी लम्बे युद्धके प्रसंगमें वृत्रासुरने पहले इन्द्रादि देवताओंपर विजय प्राप्त कर ली थी। पराजित देवता लोग बड़े दुःखी होकर विष्णु भगवान्‌के पास गये और उन्होंने उनको अपनी कष्ट-कथा सुनायी।

विष्णु भगवान् तो भक्त-पक्षपाती हैं ही। आपको सुनाया जा चुका है कि विष्णु भगवान् धर्मराजकी तरह पाप-पुण्यका न्याय नहीं करते, वे तो उसीका पक्ष लेते हैं, जो उनका भजन करता है। निस्संदेह भगवान् यदि अपने भक्तका पक्ष न लें तो भक्ति–सम्प्रदाय का लोप हो जाएगा। यदि भगवान् अपने भक्त का भला न करें, हित न करें, उसकी सहायता न करें, उसको पाप-तापसे छुड़ायें नहीं, दोष-दुःखसे मुक्त न करें तो कोई उनका भजन क्यों करेगा ? इसीलिए विष्णु भगवान्‌को अपने भक्तोंका पक्षपात करना पड़ता है। दैत्य इस बातको जानते हैं कि जो विष्णु भगवान्‌का भजन करता है, उसका वह भी भजन करता है, बड़ा पक्षपाती है-'भजन्तम् भजमानस्य'।

इसलिए जब विष्णु भगवान्‌ने देवताओंका कष्ट सुना तब इन्द्रसे कहा कि तुमने जिस विश्वरूपको मारा है, उसीके पिताने हवन द्वारा वृत्रासुर उत्पन्न किया है। उसने वैदिक विधिसे हवन करके तुम्हारे ऊपर बड़ा शक्तिशाली अभिचार किया है। लेकिन मैं इस समय तुम्हारे बीच नहीं पड़ूँगा। हर समय पक्षपात करना उचित नहीं है। तुम दधीचि ऋषिके पास जाकर उनसे उनकी अस्थि माँगो। जब वे अपनी हड्डी दे दें तब उससे तुम वज्र बनवाना। उसी वज्रसे वृत्रासुरकी मृत्यु होगी।

देवताओंने विष्णु भगवान्‌की बात सुन तो ली, लेकिन उनको यह असम्भव लगा कि दधीचि ऋषि जीते जी उनके लिए अपना अस्थिदान कर देंगे। फिर भी वे विष्णु भगवान्‌के आदेशानुसार दधीचि ऋषिके पास गये और उनसे उन्होंने अपने आनेका उद्देश्य निवेदित किया।

दधीचिने कहा कि देवताओ, तुमलोगोंको मालूम नहीं कि मनुष्यका अपने शरीरसे कितना मोह होता है ? भले ही साक्षात् विष्णु भगवान् ही हमसे हमारी अस्थिकी भिक्षा माँगने आयें-'भिक्षमाणाय विष्णवे'- लेकिन हम उनको अपनी अस्थि कैसे दे सकते हैं ?

ननु स्वार्थपरो लोको न वेद परसंकटम्।
यदि वेद न याचेत नेति नाह यदीश्वरः।। ६-१०-६

इस संसारके लोग इतने स्वार्थी हैं कि वे दूसरोंके कष्टको नहीं समझते। यदि दूसरोंके कष्ट जानते होते तो उनके पास जाकर माँगते नहीं। माँगनेवालेको यह समझना चाहिए कि जिससे वह माँगने जा रहा है, उसकी क्या परिस्थिति है ? इसी तरह यदि देनेवाला यह समझता कि माँगनेवालेको कितना कष्ट है तो वह सामर्थ्य होनेपर अपने मुँहसे ना नहीं बोलता। असलमें बात यह है कि संसारमें सबलोग अपने-अपने स्वार्थके चक्करमें पड़े रहते हैं। इसलिए देवताओं, तुम्हीं बताओ कि मैं अपनी हड्डी तुम्हें कैसे दे सकता हूँ ?

देवताओंने कहा कि महाराज, महापुरूषका यही स्वभाव है कि वह दूसरेके कष्ट निवारण करनेके लिए अपने शरीरतकका दान कर देता है। परम धर्म यही है कि दूसरेका कष्ट-दूर करनेके लिए अपने जीवनका भी सदुपयोग कर दिया जाये। एक-न-एक दिन तो इस शरीरकी मृत्यु होनी ही है। इसलिए यदि यह शरीर किसीकी भलाई करके छूट जाय तो इससे बढ़कर दूसरी बात और क्या हो सकती है ?

दधीचिने कहा कि देवताओं, आपलोगोंके मुहँसे धर्मकी चर्चा सुननेके लिए ही मैंने मना किया था। 'त्यजन्तं संत्यजाम्यहम्'- यह शरीर तो स्वयं ही हमको छोड़कर जा रहा है। जब यह हमें छोड़कर जाने ही वाला है तब हम इसको अभी क्यों न छोड़ दें ? यह कहकर दधीचिने समाधि लगा ली। वे ब्रह्ममें स्थित हो गये। उनका शरीर छूट गया।

देखो, दधीचि बड़े भारी शिवभक्त थे। शिवपुराणमें बारम्बार उनकी महिमाका वर्णन आया है। असलमें दध्यङ्गाथर्वण यही हैं। दध्यङ्. और दधीचि दोनों एक ही शब्द के दो रूप हैं। वे ब्रह्मविद्यामें बड़े निपुण थे। उन्होंने अपना सिर कटानेके बाद भी घोड़ेका सिर लगाकर ब्रह्मविद्याका उपदेश किया था। उसके बाद उनका असली सिर फिर जोड़ दिया गया था। उनकी दृष्टिमें तो जन्म-मरणका कोई अर्थ था ही नहीं।

तो, दधीचिकी अस्थिसे बना वज्र और उस वज्रको लेकर इन्द्र जब युद्ध-भूमिमें पहुँचे तब उनकी शोभा अपूर्व हो गयी। एक तो वह वज्र दधीचि ऋषिकी तपस्यासे युक्त था, दूसरे भगवान् विष्णुके द्वारा सम्मत था। इसलिए उसको प्राप्त करके इन्द्र तथा उनके साथी देवता अत्यन्त उत्साहित हो गये और दैत्योंसे भीषण युद्ध करने लगे। दैत्योंमें भगदड़ मच गयी। वृत्रासुरने दैत्योंको रोकनेका प्रयास किया, कहा कि तुमलोग भागते क्यों हो, बहादुरीसे लड़ो। मरना तो एक दिन है ही। परन्तु अबकी बार देवताओंका प्रहार इतना

प्रबल था कि दैत्योंने वृत्रासुरकी एक नहीं सुनी और वे सब भाग खड़े हुए।। देवता लोग उनपर प्रहार करते रहे।

लेकिन वृत्रासुर अकेला ही इन्द्रके सामने खड़ा हो गया और उनको डाँटते हुए बोला कि युद्ध-भूमिमें भयभीत होकर भाग रहे मेरे साथियोंपर प्रहार करना तुम्हारा कौन-सा धर्म है ? एक ओर तुम बड़े देवता बनते हो और दूसरी ओर युद्धसे भागनेवालोंको मारते हो ? आओ,मैं तुम्हारे सामने खड़ा हूँ। तुम मुझपर प्रहार करो।

इसके बाद वृत्रासुर और इन्द्रमें बड़ा भयंकर युद्ध होने लगा। युद्ध करते-करते वृत्रासुरके हृदयमें ऐसी भक्तिका उदय हुआ, उसने भक्ति-भावापन्न हृदयसे ऐसे उद्गार प्रकट किये, जो अद्भुत हैं। वह कहने लगा—

त्रैवर्गिकायासविघातमस्मत्पतिर्विधत्ते पुरुषस्य शक्र।
ततोऽनुमेयो भगवत्प्रसादो यो दुर्लभोऽकिञ्चनगोचरोऽन्यैः।। ६-११-२३

इन्द्र, मैं जानता हूँ कि तुम्हारी जीत होगी। लेकिन भगवान् जिसको विजय, ऐश्वर्य और राज्य देते हैं, उस पर उनकी कृपा नहीं होती। उनकी कृपा तो उसपर होती है, अपना तो वे उसको समझते हैं, जिसका वे सब-कुछ छीन लेते हैं।

देखो, वृत्रासुरके कथनमें कितनी दृढ़ता है, कितना भगवद्विश्वास है। यदि ऐसी दृढ़ता, ऐसा भगवद्विश्वास लोगोंके हृदयमें आजाय तो कितना अच्छा हो !

वृत्रासुरने कहा कि इन्द्र, भगवान् तुमको ऐश्वर्य इसलिए देंगे कि तुम पराये हो और मुझसे ऐश्वर्य इसलिए छीन लेगें कि मैं उनका अपना हूँ। भगवान्का मेरे प्रति जो प्रेम है, उसको मैं पहचानता हूँ।

यह बोलते-बोलते वृत्रासुरको ऐसा दीखने लगा कि मानो साक्षात् भगवान् उसके सामने खड़े हों। उसने चार श्लोकोंमें उनकी जो स्तुतिकी, वह चतुश्लोकी भागवतके नामसे प्रसिद्ध है। आप उनका श्रवण कीजिये—

अहं हरे तव पादैकमूलदासानुदासो भवितास्मि भूयः।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते गृणीत वाक्-कर्म करोतु कायः।।
न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्-क्षे।।
अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्।।

ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यं संसारचक्रेभ्रमतः स्वकर्मभिः।
त्वन्माययाऽऽत्मात्मजदारगेहेष्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयात्।।

६.११.२४.२५.२६.२७

वृत्रासुर प्रार्थना करने लगा कि प्रभो, मुझको मुक्ति नहीं चाहिए, फिरसे जन्म चाहिए, जिससे कि मैं अगले जन्ममें आपका दासानुदास बनूँ। मेरा मन आपके गुणोंका स्मरण करे, मेरा सिर आपके चरणोंमें प्रणाम करे और मेरा शरीर आप सर्वात्मा प्रभुकी सेवामें संलग्न हो जाय। मुझको ब्रह्माका, इन्द्रका पद नहीं चाहिए। मैं आपके चरणोंकी धूलि चाहता हूँ। उसीका शरणागत हूँ। मुझे संसारकी वस्तु लेकर क्या करना है ?

हे कमलनयन, जैसे चिड़िया चारा लेने चली जाय और उसके पंखहीन बच्चे घोंसलेमें पड़े-पड़े उसकी प्रतीक्षा करते हों; जैसे गाय जंगलमें घास चरने चली जाय और उसका बछड़ा खूँटेपर बँधा-बँधा उसकी प्रतीक्षा करता हो और जैसे प्रियतम पतिके परदेश चले जानेपर उसकी पत्नी घरमें बैठकर उसके लिए व्याकुल रहती हो, वैसे ही मेरा मन आपके दर्शनोंके लिए तड़प रहा है। भले ही मेरा जन्म बारम्बार हो, किन्तु मेरे ऊपर इतनी कृपा कीजिये कि मुझे आपके भक्तोंका साथ मिलता रहे। मैं जहाँ भी रहूँ, मुझको आपके भक्तोंका दर्शन प्राप्त होता रहे।

इस स्तुतिके बाद वृत्रासुरका आसुर भाव फिरसे जाग उठा और वह हाथमें परिघ लेकर इन्द्रपर टूट पड़ा। इन्द्रने उसका हाथ काट दिया। लेकिन उसने दूसरे हाथसे ऐसा प्रहार किया कि इन्द्रका वज्र उनके हाथसे छूटकर धरतीपर गिर पड़ा।

वृत्रासुरने कहा कि इन्द्र, शरमाओ मत। अब शर्म करनेका समय नहीं है। तुम फिरसे गिरा हुआ वज्र उठा लो ! यह तुम्हें भगवान्की कृपासे मिला है। भगवान् तुम्हारी पुष्टि करते हैं। इसलिए तुम वज्र उठाओ और इससे मुझे मारो। इन्द्रने वज्र उठा लिया।

जब वृत्रासुर अपने दूसरे हाथसे पुनः प्रहार करने चला तब इन्द्रने वज्रसे उसका दूसरा हाथ भी काट दिया। श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, इन्द्रने वज्र उठाते समय वृत्रासुरके निष्पकट वचनोंका आदर किया और उसकी प्रशंसा की—

इन्द्रो वृत्रवचः श्रुत्वा गतालीकमपूजयत्।
गृहीतवज्रः प्रहसंस्तमाह गतविस्मयः।। ६-१२-१८

देखो, ऋग्वेदमें भी यह मन्त्र आता है-'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुद्यतेक्षत'।

इसका अर्थ है कि इन्द्रने वृत्रासुरको मारनेके लिए वज्र उठाया। यह भी वेदका ही मन्त्र है कि 'वज्रहस्तपुरन्दरः' अर्थात् इन्द्रके हाथमें वज्र रहता है।

तो जब इन्द्रने वज्र उठा लिया और वृत्रासुरके दोनों हाथ नहीं रहे तब उसने अपना विशाल मुँह खोलकर इन्द्रको उनके हाथी समेत निगल लिया। इन्द्रने उसके पेटके भीतर वज्रका प्रहार किया, जिससे उसका पेट फट गया और बाहर निकल आये। फिर उन्होंने उसका सिर काट दिया और उसकी मृत्यु हो गयी। वृत्रासुरके मृत शरीरसे एक ज्योति निकली और वह भगवान्में विलीन हो गयी।

इसके बाद इन्द्रको पुनः राज्य मिल गया। उससे और सब तो सुखी हुए, परन्तु स्वयं इन्द्रको बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने कहा कि मुझे पहले ब्रह्महत्या लगी थी, उसको तो मैंने चार भागोंमें बाँट दिया था। अब इस ब्रह्महत्याका निवारण कैसे हो ?

असलमें देवराज इन्द्र ब्रह्महत्याकी आशंकासे वृत्रासुरको मारना नहीं चाहते थे, लेकिन उसका पराक्रम देखकर जब देवता और ऋषि-मुनि भयभीत हो गये और उन्होंने उसके वधके लिए प्रार्थना की तभी इन्द्रने उसका वध किया।

इन्द्रके मनमें यह बात थी कि वृत्रासुर भगवान्का भक्त है। उत्तम कुलमें, आहवनीय अग्निसे-दक्षिणाग्निसे प्रकट हुआ है। इसलिए इसको मारना सामान्य रूपसे सर्वथा अधर्म ही है।

देखो, सामान्य धर्म समस्त प्राणियोंके लिए होता है। वेदका यह वचन है कि '**मा हिंस्याद् सर्वाणि भूतानि।**' इसका अर्थ है कि किसी भी प्राणीकी हिंसा नहीं करनी चाहिए, किसीको भी दुःख नहीं पहुँचाना चाहिए।

इसलिए इन्द्रको जो आशंका थी, वह ठीक निकली। उन्होंने जब देवताओं और ऋषि-मुनियोंकी प्रार्थनासे वृत्रासुरका वध कर दिया तब उसकी ब्रह्महत्या उनके पास प्रकट हुई। उसका भंयकर रूप देखकर इन्द्र भाग खड़े हुए और मानसरोवरमें जाकर छिप गये।

इधर इन्द्रके बिना तीनों लोक व्याकुल हो गये। उसी समय नहुषको इन्द्र बनाया गया था। परन्तु उसने भी जब ब्राह्मणोंका अपराध किया तब उसे सर्प बनाकर इन्द्रपदसे गिरा दिया गया। उसके बाद इन्द्रको बृहस्पतिजी मिल गये।

इसी वर्णन के प्रसंगमें राजा परीक्षितने श्रीशुकदेवजी महाराजसे एक प्रश्न कर दिया—

रजस्तमःस्वभावस्य ब्रह्मन् वृत्रस्य पाप्मनः।
नारायणे भगवति कथमासीद् दृढा मतिः।। ६-१४-१

यहाँ आप 'कथम्' शब्दपर ध्यान दें। हिन्दीमें कथा शब्दका अर्थ कहानी ही चलता है कथनं कथा-कहनेका, कहानीका नाम कथा है। परन्तु ऋग्वेदमें जहाँ-जहाँ कथा शब्द आया है, प्रायः सर्वत्र उसका अर्थ है कथम् अर्थात् क्यों-ऐसा क्यों ? जैसे हम लोग हिन्दीमें यथा-तथा-सर्वथा बोलते हैं, वैसे ही वेदमें 'था' प्रत्यय, प्रकारके अर्थमें होता है—

केन प्रकारेण इति कथा,
येन प्रकारेण इति यथा,
तेन प्रकारेण इति तथा,
सर्वेण प्रकारेण इति सर्वथा।

तो, राजा परीक्षित्ने जब वृत्रासुरके हृदयमें भगवद्भक्ति उत्पन्न होने की कथा सुनी तब तुरन्त यह प्रश्न उपस्थित कर दिया कि ऐसा कैसे हुआ महाराज ? क्योंकि वृत्रासुर तो दैत्य था। देवताओंसे युद्ध कर रहा था। उसके हृदयमें भगवान्की ऐसी भक्ति कहाँसे और क्यों आगयी ?

इस प्रश्नके उत्तरमें श्रीशुकदेवजी महाराजने बताया कि परीक्षित, शूरसेन प्रदेशकी राजधानी मथुरामें एक बहुत बड़े राजा थे। उनका नाम था चित्रकेतु। उनके पास बड़ा भारी वैभव था, ऐश्वर्य था। उनकी बहुत-सी रानियाँ थीं। उनके राज्यकी प्रजा भी बहुत सुखी थी। लेकिन राजा चित्रकेतुके मनमें सुख नहीं था।

एक दिन अंगिरा ऋषि उनके पास पहुँच गये। राजाने उनका बड़ा स्वागत-सत्कार किया। उसके बाद ऋषिने पूछा कि राजन्, आपकी रानियाँ खुश हैं, प्रजा सुखी है और मन्त्री भी आपके अनुकूल हैं। फिर आपके चेहरेपर उदासी क्यों है ? इसका कारण बताइये।

देखो, प्राचीन कालके ऋषि-महात्मा अपने कुशल-प्रश्नोंके माध्यमसे राजाको उसके धर्मका ज्ञान करा देते थे। उनका आशय यह रहता था कि वे जो-जो बातें पूछ रहे हैं, वे सब उनके पास रहनी चाहिए।

राजाने ऋषिको उत्तर दिया कि महाराज, आपका यह कहना ठीक है कि मेरे मनमें प्रसन्नता नहीं है। निस्संदेह मेरे पास सब-कुछ है। रानियाँ हैं, पुरुषत्व है। परन्तु पुत्र नहीं है। इसलिए मैं बहुत दुःखी हूँ।

अंगिरा ऋषिने कहा कि राजन्, तुम्हारे भाग्यमें पुत्र तो है। मैं तुम्हें पुत्र दे सकता हूँ। लेकिन वह पुत्र तुम्हें कुछ सुख देगा और कुछ दुःख देगा। उस पुत्रसे सुख-ही-सुख मिले, ऐसी बात नहीं होगी।

देखो, जो होनेवाला होता है, वही वरदानमें मिलता है। कोई नयी चीज पैदा नहीं की जाती। जो होनेवाला होता है, उसकी सूचना मात्र दी जाती है। ग्रह-नक्षत्र भी केवल सूचक ही होते हैं। वे पहले ही बता देते हैं कि अमुक काम होनेवाला है।

अंगिरा ऋषिने चरूका निर्माण किया और उससे त्वष्टा देवताका यजन करके उसका शेष भाग प्रसादके रूपमें चित्रकेतुकी बड़ी रानीको दे दिया। इसके बाद ऋषि चले गये। बड़ी रानी गर्भवती हुई और उससे एक पुत्र पैदा हुआ। अब तो चित्रकेतुको बड़ी खुशी हुई। उसके राज्यमें सर्वत्र सुख-ही-सुख छा गया। उसका सारा रनिवास आनन्दित हो गया।

परन्तु समयका फेर देखिये कि जब राजा अपनी पुत्रवती रानीका पक्षपात करने लगे तब अन्य सब रानियाँ रुष्ट हो गयीं। उन्होंने उस बच्चेको विष दिलवा दिया और वह मर गया। अब सुखके स्थानपर दुःख-ही-दुःख व्याप्त हो गया चित्रकेतुके यहाँ !

देखो, संसारका यही हाल है। उपनिषदोंमें स्पष्ट कहा गया है कि 'प्रिय त्वां रोत्स्यति' -जिससे तुम प्रेम करोगे, वह तुम्हें रुलायेगा, तुम्हें उसके बन्धनमें बँधना पड़ेगा। इसलिए यह मरनेवाली दुनिया मुहब्बत करने लायक नहीं है।

तो, जिस समय चित्रकेतुके यहाँ रोना-ही-रोना मचा हुआ था, उस समय अंगिरा ऋषि नारदजीको साथ लेकर वहाँ आगये। चित्रकेतुने तो उनको पहचाना ही नहीं। इसपर अंगिराजीने स्मरण दिलाते हुए कहा कि मैंने ही तुम्हें पुत्र दिया था। मेरे साथ ये नारदजी हैं।

इसके बाद अंगिरा और नारदजीने राजा चित्रकेतुको बहुत समझाया। फिर उन दोनोंने अपने प्रभावसे उस मृत पुत्रको बुलाकर राजाके सामने खड़ा कर दिया और उससे कहा कि तुम अपने माँ-बापके घर लौट आओ।

इसपर पुत्रने उत्तर दिया कि मैं तो इन्हें पहचानता भी नहीं कि ये कौन हैं और मेरे किस जन्मके माँ-बाप है ? अबतक मैं लाखों-करोड़ों योनियोंमें जा चुका हूँ और मेरे लाखों-करोड़ों माँ-बाप बन चुके हैं। इसलिए मुझे याद नहीं पड़ता कि ये मेरे किस जन्मके माँ-बाप हैं ?

यह उत्तर सुनकर राजा-रानीका अपने पुत्रके प्रति जो मोह-ममत्व था, वह जाता रहा। उन्होंने उसकी अन्त्येष्टि क्रिया की। नारदजीने चित्रकेतुको मन्त्रोपदेश दिया। उससे राजाने शेष भगवान्की आराधना की। सात दिनोंमें ही आराधना सफल हो गयी और राजाको शेष भगवान्का उपदेश प्राप्त हो गया। उसके बाद राजाने स्तुति प्रारम्भ की—

अजित जितः सममतिभिः साधुभिर्भवान् जितात्मभिर्भवता।
विजितास्तेऽपि च भजतामकामात्मनां य आत्मदोऽतिकरुणः।। ६-१६-३४

हे अजित प्रभो, आप इतने करुणा-परवश हैं कि समदर्शी सत्पुरूष आपपर विजय प्राप्त कर लेते हैं। आपने भी उनको अपने विविध गुणोंसे वशमें कर लिया है। जो निष्काम भावसे आपका भजन करते हैं, उन्हें आप अपने आपको ही दे सकते हैं। आप धन्य हैं। आपके मनमें इतनी शक्ति है कि वह मनुष्यके समस्त दोषोंको नष्ट कर देती है।

इस प्रकारकी और भी बहुत-सारी स्तुतियोंके बाद शेष भगवान्‌ने राजा चित्रकेतुको वरदान देकर सिद्ध पुरुष बना दिया और एक विमान भी दे दिया। इसके बाद चित्रकेतु विद्याधरोंके साथ संगीत सुनता और भोग-विलास करता हुआ विचरण करने लगा।

एक दिन चित्रकेतु अपने विमान द्वारा विचरण करता हुआ भगवान् शंकरके कैलाश पर्वतपर जा पहुँचा। उसको वहाँके विधि-विधानका ज्ञान नहीं था। उसे यह जानना चाहिए था कि जिस प्रकार देश-देशान्तरोंमें कानून अलग-अलग होते हैं, वैसे ही देव-लोक तथा मनुष्य-लोकके विधि-विधान भिन्न-भिन्न होते हैं। जो लोग मनुष्योंकी मर्यादाओंकी दृष्टिसे देवताओंमें दोष निकालते हैं, उनको संविधानका पता नहीं होता।

यही भूल चित्रकेतुसे हो गयी। उसने देखा कि भगवान् शंकर अपनी गोदमें गौरीजीको लेकर अनेक ऋषि-मुनियोंके मध्य बैठे हैं और उनको तत्त्वज्ञानका उपदेश कर रहे हैं।

यहाँ यह बात समझनेकी है कि तत्त्वज्ञानका फल मरनेके बाद नहीं प्राप्त होता है। वह उधार माल नहीं, बिल्कुल नकद माल है। उससे अपरोक्ष जीवन्मुक्ति और निर्द्वन्द्व निर्विकारता प्राप्त हो जाती है।

भगवान् शंकर तत्त्वज्ञानके मूर्तिमान विग्रह हैं, वे निर्द्वन्द्व और निर्विकार रूपसे ऋषियोंको तत्त्वज्ञान का उपदेश कर रहे थे। किन्तु मानवीय मर्यादाओंमें आबद्ध रहनेवाले साधारण जीव चित्रकेतुको इस प्रकार सबके सामने गौरीजीके साथ भगवान् शंकरका बैठना अच्छा नहीं लगा। वह शंकरजीपर यह आक्षेप करने लगा कि यह कैसा तत्त्वज्ञानी है, जो भरी सभाके मध्य अपनी पत्नीको गोदमें बैठाकर ब्रह्मज्ञानकी बड़ी-बड़ी बातें बघार रहा है ?

चित्रकेतुकी बातें सुनकर भगवान् शंकर तो केवल मुस्कराकर रह गये; क्योंकि कोई कुछ भी कहे, उनकी दृष्टिमें उसकी कोई कीमत नहीं थी। लोग सपनेमें बड़बड़ाते रहते हैं। जिनको सत्यका ज्ञान नहीं होता, वे असत्यमें

भटकते रहते हैं। इसलिए शंकरजीपर चित्रकेतुकी बातोंका कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

लेकिन गौरीजीको चित्रकेतुपर क्रोध आ गया। उन्होंने उससे कहा कि आजकल हमारे शासक तुम हो गये हो क्या ? अपराधियों और स्वच्छन्दवर्तियोंको दण्ड़ित करनेका अधिकार क्या तुम्हें प्राप्त हो गया है ? लेकिन बेटा, ऐसे महापुरुषोंके प्रति फिर कभी ऐसा अपराध मत करना- 'न कर्ता पुत्र किल्विषम्'। इस अपराधके फलस्वरूप तुम असुर योनिमें चले जाओ !

गौरीजीका यह शाप सुनकर चित्रकेतु तुरन्त अपने विमानपरसे उतर पड़ा और प्रणाम करके बोला कि देवीजी, मैं आपसे क्षमा माँगनेके लिए आपके पास नहीं आया हूँ–

प्रतिगृह्णामि ते शापमात्मनोऽञ्जलिनाम्बिके।
देवैर्मर्त्याय यत्प्रोक्तं पूर्वदिष्टं हि तस्य तत्।। ६-१७-१७

मैं तो बड़ी प्रसन्नतासे दोनों हाथ जोड़कर आपका शाप स्वीकार करता हूँ। क्योंकि देवता लोग मनुष्यके लिए जो-कुछ कहते हैं, वह पूर्वनिर्दिष्ठ अर्थात् होनेवाला ही होता है। इसलिए मैं यह नहीं कहता कि आप मुझे क्षमा कर दीजिये, लेकिन एक बात जरूर कहता हूँ कि यदि आपके मनमें मेरे प्रति दुर्भाव आगया हो तो उसको मिटा दीजिये। मैं देवताके शरीरमें रहूँ, चाहे दैत्यके शरीरमें रहूँ, इसका मेरी दृष्टिमें कोई मूल्य नहीं है। मेरा शरीर किसी भी प्रकारका हो, भगवान् सदा मेरे साथ रहेंगे और मैं भगवान्से प्रेम करता रहूँगा।

चित्रकेतुकी बात सुनकर भगवान् शंकरने गौरीजीसे कहा कि देवी, देखो भगवान्के भक्तोंकी विशेषता ! तुम्हारे शाप देनेपर भी इसके मनमें किसी प्रकारका द्वेष या दुर्भाव नहीं पैदा हुआ। भगवान्के भक्त ऐसे ही होते हैं।

श्रीशुकदेवजी महाराज परीक्षितके प्रश्नका उत्तर देते हुए कहते हैं कि राजन्, वही चित्रकेतु वृत्रासुरके रूपमें उत्पन्न हुआ और इसी कारण असुर होनेपर भी उसके हृदयमें पूर्वजन्मकी भक्ति ज्यों-की-त्यों बनी रही।

इधर जब वृत्रासुर मर गया और इन्द्र अश्वमेध-यज्ञ करके फिरसे अपने पदपर प्रतिष्ठित हो गये तब दैत्यलोग भयभीत होकर जंगल-जंगल भटकने लगे। उनकी दुर्दशा देखकर उनकी माता दितिको बड़ा दुःख हुआ। माताका स्नेह अपने पुत्रके प्रति सर्वोत्कृष्ट होता है। माताके हृदयका टुकड़ा ही पुत्रके रूपमें प्रकट होता है। उसका रक्त ही दूध बनकर बच्चेका पोषण करता है।

माताके मनमें जो अमूर्त स्नेह है, वही मूर्तिमान् दूध बनकर बच्चेके पेटमें जाता है। माताका जितना स्नेह पुत्रके प्रति होता है, उतना स्नेह दुनियामें और किसीका किसीके प्रति नहीं होता।

तो, जब दिति दैत्योंकी दुर्दशा देखकर व्याकुल हो गयी तब कश्यपजी उसके पास आये। वे दितिको सान्त्वना देनेके लिए कुछ दिन उसके आश्रममें ठहर गये। पत्नीका दुःख देखकर पतिके मनमें सहानुभूति उत्पन्न होती ही है। इधर दितिने कश्यपजीकी ऐसी सेवा की कि वे उस पर मुग्ध हो गये।

एवं स्त्रिया जडीभूतो विद्वानपि विदग्धया।
बाढमित्याह विवशो न तच्चित्रं हि योषिति।। ६-१८-२६

कश्यपजी महाराज बड़े भारी विद्वान् थे। परन्तु दितिने उनको अपनी सेवा द्वारा इसप्रकार वशमें कर लिया कि वे पश्यक होनेपर भी, साक्षी होनेपर भी दितिसे तादात्मयापन्न हो गये और बोल उठे कि तुम्हें जो चाहिए ले लो।

यहाँ, श्रीशुकदेवजी महाराज यह टिप्पणी करते हैं कि 'न तच्चित्रं हि योषिति।' यदि कोई पत्नी अपनी सेवासे अपने पतिको सर्वथा वशमें कर ले तो इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। क्योंकि स्त्रीके हृदयमें स्नेहकी प्रधानता होती है।

दितिने कश्यपजीको प्रसन्न देखकर उनसे कहा कि महाराज, इन्द्रने मेरे दो पुत्रोंको मार दिया हैं और वह अन्य दो पुत्रोंको कष्ट पहुँचा रहा है। इसलिए आप मुझे ऐसा अमर पुत्र दीजिये, जो इन्द्रको मार दे—'पुत्रमिन्द्रहणं वृणे।'

अब तो दितिकी बात सुनकर कश्यपजीका सिर नीचे झुक गया। क्योंकि इन्द्र भी अदितिके द्वारा कश्यपजीके ही पुत्र हैं और दिति उन्हींके उस बेटेको मारनेके लिए पुत्र चाहती है। कश्यपका पुत्र कश्यपके पुत्रको मारे, दितिका पुत्र अदितिके पुत्रको मारे-इस माँगसे कश्यपजी आश्चर्यचकित हो गये, दुःखी हो गये और सोचने लगे कि उनके सामने यह कैसा प्रश्न उपस्थित हो गया ! फिर उन्होंने ईश्वरको हाथ जोड़कर कहा कि जैसी आपकी इच्छा !

उसके बाद कश्यपजीने दितिको एकवर्षीय अनुष्ठान सम्पन्न करनेके लिए कुछ नियम बताये, कुछ मन्त्र बताये, कुछ जप बताये, कुछ पूजा बतायी और कहा कि यदि तुम इस अनुष्ठानको निर्विघ्न पूर्ण कर लोगी तब इसके प्रभावसे तुमको ऐसा पुत्र होगा, जो इन्द्रको मार डालेगा।

अब तो दिति प्रसन्न हो गयी और उसने उस व्रतका अनुष्ठान प्रारम्भ

कर दिया। वह व्रत श्रीमद्भागवतके इसी छठें स्कन्धकमें अठारह और उन्नीस इन दो अध्यायोंके अन्तर्गत वर्णित है। जब उस एकवर्षीय अनुष्ठान के पूरा होनेमें दो-चार दिन शेष रह गये थे। तब दितिसे एक गलती हो गयी और इन्द्रको उसका पता चल गया, क्योंकि वे एक ब्रह्मचारी सेवकके रूपमें दिति माताकी सेवा द्वारा उनके व्रत-पालनमें सहायता कर रहे थे।

जब दितिसे भूल हो गयी तब इन्द्रने उनके पेटमें प्रविष्ट होकर गर्भके सात टुकड़े कर दिये। परन्तु फिर भी वह गर्भ मरा नहीं। यह देखकर इन्द्रने उन सात टुकड़ोंके सात-सात टुकड़े और कर दिये। इस प्रकार उस गर्भके उनचास टुकड़े हो गये।

देखो, इस सृष्टिमें जो वायु चलती है, वह उनचास प्रकार की होती है। शास्त्रोंमें गणना करके एक-एक वायुके नाम भी बता दिये गये हैं। यह भी बताया गया है कि वे सब वायु सृष्टिमें प्रवाहित होकर क्या-क्या काम करते हैं।

इस प्रकार जब हम उन गर्भ-खण्डोंपर विचार करते हैं तब उनका यह अधिभूत-रूप प्रकट होता है। अधिदैव-रूपमें वे गर्भ खण्ड उनचासकी संख्यामें प्रकट हुए और उनका नाम मरुद्गण। उनके साथ-साथ पचासवें इन्द्र गर्भमेंसे बाहर निकल आये।

दितिने इन्द्रसे पूछा कि मैंने तो एक पुत्रके लिए व्रत किया था। ये उनचास कैसे हो गये ? फिर तुम मेरे पेटमें कैसे आगये ?

इन्द्रने बताया कि माताजी, मुझको सब-कुछ मालूम हो गया था और इसलिए मैंने आपकी सेवा की। फिर व्रत-पालनमें आपके द्वारा हुई त्रुटि देखकर मैं आपके पेटमें घुस गया। परन्तु आपके व्रतका, आपकी आराधनाका प्रभाव देखिये कि आपका गर्भ उनचास टुकड़ोंमें हो जानेपर भी नष्ट नहीं हुआ, अपने सब टुकड़ोंके साथ जीवित रहा और अब तो ये सब अमर हो चुके हैं, मेरे भाई बन चुके हैं। अब आप कृपा करके अपने इन पुत्रोंको मुझे दे दीजिये। मैं इन सबको मरूद्गणके रूपमें अपने साथ रखूँगा।

श्रीशुकदेवजी महाराज परीक्षितको बताते हैं कि दिति इन्द्रके शुद्ध भावसे सन्तुष्ट हो गयी और उसने मरुद्गणोंको साथ ले जानेकी आज्ञा दे दी। इन्द्र उनके साथ अपने लोक चले गये और उन्होंने उन सबको देवता बना लिया।

देखो, दितिके द्वारा ईश्वराराधनके प्रभावसे जो पुत्र हुए, वे दैत्य कैसे होते और इन्द्रको कैसे मारते ! भगवान्‌की पूजाका तो यह प्रभाव है कि दैत्य भी देवता हो जाता है और मरणधर्मा होनेपर भी अमर हो जाता है। भगवान्

सर्वात्मा हैं, उनमें न कोई दुर्भाव है, न कोई दुर्गुण है, न कोई दोष है, और न कोई विकार है। ऐसे परमात्माका जो चिन्तन करता है, वह स्वयं परमात्मा हो जाता है।

अब मरूद्‌गणके जन्मकी कथाके बाद अन्तिम उन्नीसवें अध्यायमें पुंसवन-व्रतका वर्णन करके श्रीशुकदेवजी महाराजने छठा स्कन्ध पूरा कर दिया है और फिर सातवाँ स्कन्ध प्रारम्भ किया है।

सातवें स्कन्धको 'ऊति स्कन्ध' बोलते हैं। इसमें कुल पन्द्रह अध्याय हैं। इसके प्रारम्भमें राजा परीक्षितने यह प्रश्न कर दिया कि भगवान् तो सम हैं, सबके प्यारे हैं-आत्मा हैं और सबकी भलाई चाहनेवाले हैं। फिर वे क्यों बार-बार देवताओंका पक्ष लेकर दैत्योंको मारते हैं ? मेरे मनमें भगवान्‌के समत्व-गुणपर सन्देह हो रहा है। इसलिए आप कृपा करके उसका निवारण कीजिये।

श्रीशुकदेवजी महाराजने परीक्षितके प्रश्नकी सराहना करते हुए कहा कि असलमें जीवके हृदयकी वासना ही उसके जीवनका निर्माण करती है। वासनाके अनुसार ही भगवान्‌की कृपा या उपेक्षा प्रकट होती है। प्रकृतिमें कभी सत्त्वगुणका समय होता है और वह बढ़ता है, कभी रजोगुणका समय होता है और वह बढ़ता है। और कभी तमोगुण का समय होता है और वह बढ़ता है। भगवान् सत्त्वके समय सत्त्वको, रजके समय रजको और तमके समय तमको शक्ति देते हैं। जब सत्त्वका प्राधान्य होता है तब देवताओंको और जब रजका प्राधान्य होता है तब राक्षसोंको भगवान्‌की शक्ति मिलती है। सबमें उन्हींकी शक्तिका विस्तार है।

भगवान् कालके साथ मिलकर तत्-तत् पदार्थोंको शक्ति देते हैं- धान पैदा होते समय धानको और गेहूँ पैदा होते समय गेहूँको पोषण प्रदान करते हैं। इसी प्रकार समस्त वृक्ष-वनस्पतियों, पशु-पक्षियों और स्त्री-पुरुषों आदिको भगवान्‌की शक्ति मिलती रहती है।

देखो, बिजली सर्वत्र है। लेकिन जब वह वल्वमें आती है तब प्रकाश देती है, जब पंखेमें आती है तब उसको घुमाकर हवा फेंकती हैं, जब हीटरमें आती है तब गर्म कर देती है और जब रेफ्रीजरेटरमें आती है तब ठंडा कर देती है। इसी तरह सारी सृष्टिमें एकमात्र भगवान्‌की ही शक्ति काम करती है।

भगवान्‌को दैत्योंसे भेंट-पूजा नहीं मिलती, इसलिए वे उनसे नाराज रहते हों-ऐसी बात नहीं है। इसी तरह देवता लोग भगवान् को बहुत भेंट–पूजा देते हैं, इसलिए वे उनसे बहुत खुश रहते हैं, ऐसी बात भी नहीं है। ख़ुशी और नाराजगीकी बात तो शरीरसे सम्बन्ध रखती है। संसारी लोग

शरीरको ही सब-कुछ माननेके कारण दूसरोंको दोस्त या दुश्मन बना लेते हैं। लेकिन भगवान्‌को तो इस पाञ्चभौतिक शरीरकी प्राप्ति ही नहीं होती। इसलिए वहाँ किसीसे राग-द्वेषकी सम्भावना नहीं है।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, भगवान्‌के समत्वगुणके सम्बन्धमें नारदजीने तुम्हारे दादा युधिष्ठिरको एक इतिहास सुनाया था। बात उस समयकी है, जब युधिष्ठिरने राजसूय यज्ञ किया था और जिसमें नारदजी भी उपस्थित थे।

देखो, पहले किसी बातके वर्णनका ढंग कैसा होता था। आजकल जो वैज्ञानिक आविष्कार होते हैं, वे गणितसे निकलते हैं। अग्नि और वायुकी शक्तियोंसे संसारमें सारा-का-सारा काम होता है। लेकिन इन शक्तियोंसे ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती। केनोपनिषद्‌में यह कथा आती है कि ब्रह्मका पता लगानेके लिए अग्निको भेजा गया था। लेकिन ताप-शक्तिसे जलाकर कोई ब्रह्मका पता नहीं लगा सकता। जब ताप-शक्तिने काम नहीं किया तब वायु-शक्ति भेजी गयी। वायुमें गति होती है, गतिमें क्रम होता है। उसने कहा कि आओ, गणना करके ब्रह्मका पता लगा लें। लेकिन वायुके द्वारा भी, कम्प्यूटरके द्वारा भी परब्रह्म परमात्माका पता नहीं लगा। क्योंकि चाहे कितनी भी गतिसे पता लगाओ, परमात्मा प्राप्त नहीं हो सकता। फिर इन्द्र आये। इन्द्र कर्मके देवता हैं, लेकिन कर्मसे भी परमात्मा नहीं मिलता। उसके बाद जब ब्रह्मविद्या प्रकट हुई तब ब्रह्माकार वृत्ति हो गयी। ब्रह्मविद्यासे ही परमात्माका साक्षात्कार होता है। तत्त्व-सम्बन्धी, शाश्वत सत्य-सम्बन्धी जो बातें होती हैं, वे अपौरुषेय वेद-ज्ञानके द्वारा ही मालूम पड़ती हैं। वैज्ञानिक आविष्कार अवश्य ही नव-नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा द्वारा होते हैं। किन्तु परमात्माकी बात पुराने उदाहरणोंसे ही समझायी जाती है।

इसलिए श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, युधिष्ठिरके राजसूय-यज्ञमें जब शिशुपालकी आत्मा श्रीकृष्णकी आत्मासे मिल गयी तब युधिष्ठिरको बड़ा अश्चर्य हुआ। उन्होंने नारदजीसे प्रश्न किया कि महाराज, शिशुपाल तो श्रीकृष्णका बड़ा भारी द्वेषी था। फिर इसको श्रीकृष्णकी प्राप्ति कैसे हो गयी ?

इसके उत्तरमें देवर्षि नारदने प्रहलादका चरित सुनाते हुए कहा कि भगवान्‌के साथ मन जुड़ना चाहिए, फिर देवता हो या दैत्य इससे कुछ अन्तर नहीं पड़ता। प्रह्लाद दैत्य-योनिमें पैदा हुए थे। फिर भी भगवान्‌ने उनकी रक्षा की। जिसने अपना मन काम-क्रोध-लोभ-भय आदि किसीभी वृत्तिसे भगवान्‌में लगा दिया, उसको भगवान् कभी अपने से अलग नहीं देखते- 'कथञ्चिन्नेक्षते पृथक्' ।

देखो, एक नन्हा-सा बच्चा घूँसा तानकर अपने बापकी ओर दौड़ता है और कहता है कि मैं तुम्हें मारूँगा। लेकिन जब वह पास पहुँचता है तब बाप यह कहते हुए कि यह मेरा अबोध बालक है, मुझे मारनेके लिए आ रहा है, झट उसे दोनों हाथोंसे गोदमें लेकर छातीसे चिपका लेता है। यह बच्चा गोदमें पहुँचकर चाहे बापकी दाढ़ी नोचे, चाहे मूँछ खींचे, पिताको उसका कोई विचार नहीं होता। आजकल की माताएँ कभी-कभी उस समय क्षुब्ध हो जाती हैं, जब उनका बच्चा उनके ऊपर टट्टी-पेशाब कर देता है। लेकिन फिर भी वे बच्चेको पराया तो नहीं समझतीं। इसी तरह कोई अपने-आपको किसी भी भावसे भगवान्‌के साथ जोड़ दे तो भगवान् उसे कथञ्चित् अपनेसे पृथक् नहीं समझते।

नारदजीने युधिष्ठिरको बताया कि प्रहलाद हिरण्यकशिपुके पुत्र थे।हिरण्यकशिपु और उसका बड़ा भाई हिरण्याक्ष ये दोनों अपने पूर्व जन्ममें भगवान् विष्णुके पार्षद जय-विजय थे तथा सनकादिके शापसे असुर हो गये थे। फिर भी उनके वंशमें जन्म लेकर प्रह्लाद भक्त-शिरोमणि हो गये। संसारमें सद्गुणोंका जितना भी वर्णन होता है, वे सब प्रह्लादके जीवनमें थे। देवता लोग उनके दुश्मन हुए तो क्या हुआ ! जब उनकी सभामें यह प्रश्न उठता है कि संसारमें सबसे बड़ा भक्त कौन है तब वे सर्वसम्मतिसे प्रतिमानके रूपमें प्रहलादको रखते हैं और कहते हैं कि भक्त हो तो प्रह्लाद-जैसा।

नारदजीने आगे कहा कि जब भगवान्‌ने वराहवतार धारण करके हिरण्याक्षका वध कर दिया तब उसकी माता और पत्नी आदिको बड़ा दुःख हुआ। उस समय हिरण्यकशिपुने उनके पास जाकर और उनके समीप बैठकर उनको ब्रह्मज्ञान सुनाया, वेदान्तका उपदेश किया।

देखो, वेदान्त एक तो आसुर होता है, दूसरा दैव होता है। जब अपने दोषोंके समर्थनके लिए वेदान्तका प्रयोग होता है तब वह आसुर-वेदान्त हो जाता है और जब दूसरोंको समझानेके लिए वेदान्तका उपदेश किया जाता है तब वह दैव-वेदान्त होता है।

तो, हिरण्यकशिपुने अपने भाईकी पत्नी और माताको समझाया कि आत्मा अजर-अमर है। वह कभी मरती नहीं है, जबकि शरीर सबके मरनेवाले हैं। इसलिए तुम लोग हिरण्याक्षकी मृत्युके कारण शोक मत करो। अपने इस उपदेशको स्पष्ट करनेके लिए उसने सुयज्ञके पौराणिक आख्यानका दृष्टान्त भी दिया।

देखो, जैसे ऋग्वेदमें सुबन्धुका उपाख्यान आया है, वैसे ही श्रीमद्भागवतमें सुयज्ञका उपाख्यान है। दोनोंकी कथाएँ मिलती-जुलती हैं।

हिरण्यकशिपुने कहा कि सुयज्ञ युद्धभूमिमें मर गये थे। परिवारवाले उनके शवको घेरे हुए थे, छोड़ नहीं रहे थे। यमराजने बालक-रूप धारण करके उनको समझाया कि तुमलोग बूढ़े हो गये हो, लेकिन तुम्हें समझ बिल्कुल नहीं है। यह मनुष्य जहाँसे आया था, वहाँ चला गया। फिर इसके लिए तुमलोग शोक क्यों करते हो ? यदि तुम्हारे शोकका कोई उपयोग हो, उससे ये फिर जीवित हो जाय या इसके बदले कोई दूसरा आजाय तो शोक करना ठीक है। लेकिन जब यह गया हुआ प्राणी वापस लौटकर आयेगा ही नहीं, तब इसके लिए रोने-कलपनेकी क्या आवश्यकता है ?

इसके बाद हिरण्यकशिपुने एक चिड़ियाका भी दृष्टान्त दिया और समझाया कि जब बहेलियेने पक्षि-शावकोंको पकड़ लिया तब उनके माँ बाप भी, जो चारा चुगकर लौटे थे, जालमें गिरकर फँस गये। इसलिए तुमलोग स्वयं क्यों नहीं देखते कि मृत्यु सबको घेरे हुए है और तुम्हारे सिरपर भी सवार है। आज यह गया, कल तुम जाओगे, फिर रो-रोकर अपना समय क्यों नष्ट कर रहे हो ?

इस प्रकार हिरण्यकशिपुने अपने परिवारवालोंको ऐसा आसुर उपदेश दिया कि एक बार उन सबका शोक निवृत्त हो गया। उसके बाद हिरण्यकशिपुके मनमें आया कि उसे स्वयं अजर-अमर हो जाना चाहिए। उसने दूसरोंको तो उपदेश दिया कि शरीर नश्वर है। यहाँ कोई भी जीवित रहने वाला नहीं है, लेकिन स्वयं ऐसा उपाय करनेका संकल्प किया, जिससे उसकी मृत्यु ही न हो।

यही हाल संसारी लोगोंका है। क्यों भाई, जब तुम दूसरेके शरीरको कुछ नहीं समझते तब अपने शरीरको महत्त्व क्यों देते हो ? तुम्हें जब दूसरेकी चीज लेनी होती है तब तो बिना संकोचसे ले लेते हो, लेकिन अपनी कोई चीज देनी होती है तब कहने लगते हो कि यह कैसे होगा ? यही आसुर प्रवृत्ति है और यह ग्राह्य नहीं, त्याज्य है।

तो, हिरण्यकशिपुने अपने आसुर संकल्पके अनुसार बड़ी भारी तपस्या की। उसकी कठोर तपस्याके फलस्वरूप उसके सिरसे एक ज्वाला निकली और वह स्वर्गको भस्म करने लगी। उससे देवताओंको बहुत चिन्ता हुई। उन्होंने ब्रह्माजीके पास जाकर कहा कि महाराज, आपको कुछ मालूम नहीं है क्या ? हम यह बताने आये हैं कि हिरण्यकशिपु तपस्या द्वारा स्वयं ब्रह्मा बनना चाहता है। इतना ही नहीं, वह विष्णु को भी मारकर देवताओंका सब हविष्य छीन लेना चाहता है। इसलिए आप कोई उपाय कीजिये।

ब्रह्माजी तो सब-कुछ जानते ही थे। वे हिरण्यकशिपुके पास गये।

उन्होने देखा कि तपस्या करते-करते हिरण्यकशिपुके शरीरके चारों ओर बाँबी बन गयी है। ब्रह्माजी द्रवित हो गये। उन्होंने उसपर अपने कमण्डलुका जल छिडका और उसके प्रभावसे हिरण्यकशिपु हृष्ट-पुष्ट स्वर्णशरीर होकर प्रकट हो गया। ब्रह्माजीने कहा कि बेटा, वर माँग। हिरण्यकशिपुने यह वर माँगा कि मेरी मृत्यु कभी न हो। ब्रह्माजीने कहा कि जिसका जन्म होता है, उसकी मृत्यु अनिवार्य है। 'यज्जन्यं तद् अनित्यं'-जो जन्म लेता है, वह मरता ही है, मृत्युसे बच नहीं सकता। 'यद् दृष्टं तन्नष्टम्'-जो आँखोंके सामने आयेगा, वह कभी ओझल भी होगा। इसलिए तुमने जो वरदान माँगा है, वह अशक्य है; तुमको प्राप्त नहीं हो सकता।

इसके बाद हिरण्यकशिपुने बुद्धि लगायी और कहा कि आप यह वरदान तो दे ही सकते हैं कि मैं न दिन में मरूँ, न रातमें मरूँ, न बाहर मरूँ, न भीतर मरूँ, न आपके बनाये किसी प्राणीसे मरूँ, न अप्राणीसे मरूँ, न देवतासे मरूँ, न दानवसे मरूँ, न अस्त्रसे मरूँ, और न शस्त्रसे मरूँ।

इसप्रकार हिरण्यकशिपुकी अक्लमें मृत्युसे बचनेके लिए जितने भी उपाय थे, उन सबका उल्लेख उसने कर दिया। लेकिन आप लोग जानते हैं कि कानून कैसे भी बढ़िया-से-बढ़िया बनाये जायँ, वकील लोग उसमें कोई-न कोई छिद्र निकाल देते हैं और उनसे बचनेका उपाय भी कर लेते हैं। सुना तो यहाँतक गया हैं कि कानूनदाँ लोग कानून बनाते समय ही कुछ ऐसा कर देते है कि यदि कोई उससे बचना चाहे तो बच जाय। इसी तरह हिरण्यकशिपुकी प्रार्थनाके अनुसार ब्रह्माजी द्वारा वरदान दे देनेपर भी उसमें छिद्र रह गया था, उसके मरनेकी गुंजाइश रह गयी थी।

लेकिन हिरण्यकशिपुने तो यही समझा कि अब वह अजर-अमर हो गया है। इसलिए उसने स्वर्गसे सब देवताओंको भगा दिया और वहाँ स्वय त्रिलोकीका ऐश्वर्य धारण करके बैठ गया।

आपको पहले यह सुनाया जा चुका है कि जो वैकुण्ठसे गिराया जाता है, जिसको वहाँसे 'देश-निकाला' दे दिया जाता है, उसको भी भगवान् बहुत अधिक ऐश्वर्य देते हैं। उसका ऐश्वर्य देखकर यह अनुमान किया जा सकता है कि जो लोग वैकुण्ठमें रहते होंगे, उनका ऐश्वर्य कितना अधिक होगा ! इसप्रकार कैमुतिक न्यायसे वैकुण्ठवासियोंके अनन्त ऐश्वर्य, वीर्य और वैभवकी सिद्धि होती है।

यह वर्णन श्रीमद्भागवतमें ही है कि हिरण्यकशिपुके लिए पहाड़ोंने अपनी मणियाँ प्रकट कर दीं, नदियोंमें रस-प्रवाह होने लगा और अग्नि, वायु, सूर्य-चन्द्रमा आदि सब-के-सब देवता जिस प्रकार हिरण्यगर्भके संकल्प से चलते हैं,

उसीप्रकार हिरण्यकशिपुके संकल्पसे चलने लगे। यहाँ तक की उसको वर देनेवाले ब्रह्माजी भी रोज पूजा लेनेके लिए उसके घरमें आने लगे।

नारदजीने युधिष्ठिरको बताया कि मैं हिरण्यकशिपुकी स्तुति करनेके लिए अपनी वीणा आदि लेकर गन्धर्वोंके साथ उसके यहाँ जाया करता था। उसका ऐसा प्रताप छा गया कि यदि किसीको कोई आश्चर्य देखना होता तो वह आकाशकी ओर देखने लगता-'नानाश्चर्यपदं नभः।' उन दिनों सिनेमाघरोंकी कोई जरूरत नहीं थी, जो सिनेमा देखना चाहते वे आसमानके पर्देपर देख लेते। इसप्रकार हिरण्यकशिपु अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त वैभवसे मण्डित होकर अपना राज्य चलाने लगा। सब-के-सब देवता उसके सेवक हो गये।

हिरण्यकशिपुके चार बेटे थे। उन चारोंमें प्रह्लादजी थे तो सबसे छोटे, लेकिन गुणोंमें सबसे बड़े थे। वे दुःखमें दुःखी नहीं होते थे और बड़ोंका आदर करते थे। उनके ह्रदयमें सबके प्रति सद्भाव था। वे शीलके समुद्र, सद्‌गुणोंके भण्डार और भगवान्‌की भक्तिमें निमग्न थे।

त्रिलोकीके एकछत्र सम्राट् हिरण्यकशिपुने अपने पुत्र प्रह्लादके पढ़ने-लिखनेकी व्यवस्था महलमें नहीं, अपने गुरु शुक्राचार्यके गुरुकुलमें की थी। वैसे वह गुरुकुल हिरण्यकशिपुके महलके पास ही था और उसमें अध्यापकका कार्य शुक्राचार्यके पुत्र शण्ड तथा अमर्क किया करते थे। फिर भी प्रह्लाद उस गुरुकुलमें प्रतिदिन आया-जाया नहीं करते थे, बल्कि उसमें नियमित रूपसे निवास करते थे। वहाँ उनके रहनेके लिए कोई विशेष व्यवस्था भी नहीं की गयी थी। जैसे अन्य सब विद्यार्थी रहते थे, वैसे ही वे भी रहते थे।

लेकिन आजकल बड़े-बड़े घरोंमें क्या होता है, यह देखो ! वहाँ बच्चोंको पढ़ानेके लिए ट्यूटर या टीचर नियुक्त किये जाते हैं। उनको उनसे पढ़नेवाले बच्चे अपनी मुट्ठीमें रखकर नचाते हैं। उनके द्वारा इधर-उधर चिट्ठियाँ भेजते हैं और उनको धमकाकर कहते हैं कि हमारा अमुक काम करो, नहीं तो हम तुम्हें निकलवा देंगे। इस तरहके ट्यूटरों या टीचरोंमें गुरुत्वका भाव कैसे रह सकता है और वे बच्चोंको क्या पढ़ा सकते हैं !

एक दिन हिरण्यकशिपु प्रह्लादको गोदमें लेकर बड़े स्नेह और प्यारसे पूछने लगा कि बेटा, यह बताओ कि सबसे बढ़िया बात क्या है ? प्रह्लादने उत्तर दिया कि पिताजी, संसारके प्राणी मैं और मेरेके चक्करमें उद्विग्न हो रहे हैं। इसलिए सबसे बढ़िया बात यही है कि सब-कुछ छोड़कर श्रीहरिकी शरण ग्रहणकी जाय।

यह सुनकर हिरण्यकशिपु बड़े जोरसे हँस पड़ा और बोला-मालूम पड़ता है, हमारे दुश्मनोंके आदमी गुरुजीकी पाठशालामें घुस आये हैं और वे मेरे

बच्चेको बिगाड़ रहे हैं। उसने डाँट-डपटकर आदेश दिया कि प्रह्लादकी देख-भाल अच्छी तरह की जाय। इसके बाद प्रह्लाद पुनः गुरुकुल भेज दिये गये।

वहाँ गुरुपुत्रोंने प्रह्लादजीसे यह पूछा कि हमने तो तुमको ऐसी शिक्षा दी नहीं। फिर तुम यह बताओ कि तुम्हारी बुद्धि स्वयं ऐसी हो गयी है या किसीने तुमको बहका दिया है ? प्रह्लादने कहा कि गुरुजनों, जिनकी बुद्धि मोहग्रस्त होती है, उन्हींको अपने-परायेका झूठा दुराग्रह होता है। यह दुराग्रह तभी दूर होता है, जब भगवान् कृपा करते हैं। जैसे चुम्बक लोहेको खींच लेता है, वैसे ही भगवान्‌की इच्छाशक्तिने मेरे चित्तको बरबस अपनी ओर खींच लिया है।

यह कहकर प्रहलादजी तो चुप हो गये, लेकिन गुरु-पुत्र भयभीत हो गये। क्योंकि वे राजाके सेवक थे, पराधीन थे। इसके बाद गुरु-पुत्रोंने प्रहलादको समझाया और डराया-धमकाया। फिर उन्होंने उनको अर्थ, धर्म और कामकी शिक्षा दी।

कुछ समय बाद जब गुरु-पुत्रोंने देखा कि प्रह्लादने साम-दाम-दण्ड-भेद-सम्बन्धी सारी बातें जान ली हैं तब वे उनकी माता कयाधूके पास ले गये। माताने बड़े लाड़-प्यारसे प्रह्लादको नहला-धुलाकर वस्त्राभूषणोंसे सजा दिया। उसके बाद गुरु-पुत्र उन्हें हिरण्यकशिपुके पास ले गये। प्रह्लाद पिताके चरणोंमें लोट-पोट हो गये। हिरण्यकशिपुने प्रह्लादको दोनों हाथोंसे गोदमें उठा लिया, गलेसे लगाया और आशीर्वाद दिया। पुत्र-स्नेहसे हिरण्यकशिपुका हृदय द्रवित हो गया और उसकी आँखोंसे प्रेमाश्रु गिरने लगे।

हिरण्यकशिपुने पूछा कि बेटा प्रह्लाद, तुमने इतने दिनोंतक गुरुजीसे जो शिक्षा प्राप्त की है, उसमें-से-अच्छी से अच्छी बात मुझे सुनाओ। प्रहलादने कहा कि पिताजी, मैंने तो केवल नौ बातें पढ़ी हैं और वे हैं विष्णु भगवान्‌की भक्तिके नौ भेद—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ।। ७-५-२३

यदि यह नवधा—भक्ति भगवान्‌के चरणोंमें अर्पित कर दी जाय तो इससे बढ़कर दुनियामें और कुछ नहीं है।

यह बात सुनते ही क्रोधके मारे हिरण्यकशिपुके ओंठ फड़कने लगे। उसने गुरु-पुत्रोंसे कहा कि अरे नीच ब्राह्मणो, तुम लोगोंने मेरी परवाह न करके इस बच्चेको कैसी शिक्षा दे दी ? अवश्य ही तुम लोग हमारे शत्रुओंसे मिले हुए हो ?

गुरु-पुत्रोंने घबराकर कहा कि राजन्, हमने इसको ऐसी शिक्षा नहीं दी है। यह तो इसकी स्वाभाविक बुद्धि है। इसके लिए आप हमें दोष न दीजिये।

इसके बाद हिरण्यकशिपुने प्रह्लादसे पूछा कि क्यों रे, यदि ऐसी शिक्षा तुम्हारे गुरुओंने नहीं दी तो और किसने दी ? प्रह्लादने कहा कि पिता जी, संसारके लोग तो पिसे हुएको पीस रहे हैं, चबाये हुएको चबा रहे हैं। ऐसे लोग किसीको क्या शिक्षा देंगे ? किसीके सिखानेसे किसीकी बुद्धि भगवान्में नहीं लगती। वह तो भगवान्की कृपासे ही भगवान्में लगती है। जिनकी बुद्धि भगवान्के चरण-कमलोंका स्पर्श कर लेती है, वे जन्म-मरणके बन्धनसे छूट जाते हैं।

अब तो हिरण्यकशिपु क्रोधके मारे अन्धा हो गया और उसने प्रहलादको अपनी गोदमें-से उठाकर धरतीपर पटक दिया। वह कहने लगा कि दैत्यो, इसको यहाँसे उठाकर बाहर ले जाओ और मार डालो। यह मार डालने ही योग्य है।

यह सुनते ही बड़े-बडे भंयकर दैत्य त्रिशूल ले-लेकर प्रहलादपर प्रहार करने लगे। लेकिन उनके सारे प्रहार निष्फल हो गये। इसके बाद हिरण्यकशिपुने प्रहलादको हाथियोंसे कुचलवाया, विषधर साँपोंसे डँसवाया, पहाड़ीकी चोटीसे गिरवाया, अंधेरी कोठरीमें बन्द करवाया, विष पिलवाया, खाना-पीना बन्द करवा दिया, आगमें जलवाया, बर्फमें दबवाया, समुद्रमें डुबवाया आदि-आदि। परन्तु किसीके द्वारा प्रह्लादका बाल बाँका नहीं हुआ।

फिर पुरोहितसे अभिचार करवाया। उससे जब कृत्या राक्षसी उत्पन्न हुई और प्रह्लादको मारने दौड़ी तब उनकी रक्षामें नियुक्त भगवान्के चक्रने कृत्या राक्षसीको खदेड़ा। वह अभिचार करनेवाले ब्राह्मणोंके पास गयी और उसने उन्हींको मार दिया।

जब प्रहलादको ब्राह्मणोंके मरनेकी खबर लगी तब वे दौड़े हुए आये और उन्होंने कहा कि यदि मेरे मनमें किसीके प्रति द्वेष-बुद्धि न हो तो ये मरे हुए ब्राह्मण जीवित हो जायँ और सचमुच प्रह्लादके साम्य-बलसे वे ब्राह्मण जीवित हो गये !

यह सब देख-सुनकर हिरण्यकशिपुके मनमें चिन्ता हो गयी और वह सोचने लगा कि हो-न-हो प्रह्लादमें कोई दिव्य—शक्ति अवश्य है। यह न तो मरता है और न किसीसे डरता है। इसके सामर्थ्यकी सीमा नहीं है।

हिरण्यकशिपु इसी सोच-विचारमें पड़ा था कि गुरु-पुत्र शण्ड और अमर्क उसके पास आये। उन्होंने कहा कि स्वामी, चिन्ताकी कोई बात नहीं है। प्रह्लाद अभी बच्चा ही तो है। हम उसे फिर अपने साथ ले जाते हैं। सम्भव

है, हमारे पिता शुक्राचार्य बाहरसे आजायेंगे तो उनके प्रभावसे यह ठीक हो जायेगा। कभी-कभी उम्र बढ़ने और गुरुजनोंकी सेवासें बुद्धि सुधर जाया करती है।

हिरण्यकशिपुने कहा कि अच्छी बात है, इसे ले जाओ और ऐसी शिक्षा दो, जो गृहस्थ राजाओंके योग्य हो। शण्डामर्क प्रह्लादको फिरसे गुरुकुल ले गये और वहाँ उनको धर्म, अर्थ कामकी शिक्षा देने लगे।

परन्तु प्रह्लादजीपर उन गुरुओंकी शिक्षाका कोई प्रभाव नहीं पड़ा, उलटे वहाँ जितने भी असुर बालक थे, वे सब प्रह्लादके प्रभावमें आगये। वे सब प्रह्लादको घेरकर बैठ जाते और प्रह्लाद उन सबको उपदेश करने लगते। पाठशालामें भगवान्के नामका कीर्तन होने लगा। प्रह्लादने कहा—

कौमार आचरेत्प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह।
दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम्।। ७-६-१

मेरे मित्रों, बुद्धिमान् व्यक्तिको कुमारावस्थामें ही भगवान्की भक्ति कर लेनी चाहिए। क्योंकि बूढ़े लोग भक्ति कर नहीं पाते। इस जन्ममें भगवान्के चरणोंकी शरण प्राप्त कर लेना ही जीवनकी एकमात्र सफलता है। क्योंकि भगवान् समस्त प्राणियोंके स्वामी, सुहृद्, प्रियतम और आत्मा हैं। लोगोंको बचपनमें अपने हित-अहितका ध्यान नहीं रहता, कुमारावस्थामें खेल-कूद करने लग जाते हैं और ज़ब बुढ़ापा शरीरको ग्रस लेता है तब कुछ करनेकी शक्ति नहीं रह जाती। रह गयी जवानी की थोड़ी-सी आयु ! वह नाना प्रकारकी कामनाओंकी पूर्तिके प्रयासमें गुजर जाती है। इसलिए हम लोगोंको समय न गँवाकर भगवान्के भजनमें लग जाना चाहिए।

इस प्रकार जब प्रह्लादने उपदेश किया तब सब दैत्य-बालक चकित हो गये। उन्होंने पूछा कि भाई प्रह्लाद, तुम हमारे साथ ही रहते हो, पढ़ते हो। फिर यह ज्ञान तुमको कहाँसे प्राप्त हो गया ?

इसके उत्तरमें प्रह्लादने यह कथा सुनायी कि जब हिरण्याक्ष मर गया और मेरे पिता हिरण्यकशिपु तपस्या करने चले गये तब देवता लोगोंने अवसर देखकर असुरोंपर चढ़ाई कर दी। असुर लोग भाग खड़े हुए। देवताओंने मेरी माता कयाधूको बन्दिनी बना लिया, जबकि मैं उसके गर्भमें था और वे उसे अपने लोकमें ले जाने लगे। मार्गमें नारदजी मिल गये। उन्होंने मेरी माताको देवताओंके बन्धनसे छुड़ा लिया और वे उसे अपने आश्रममें ले गये। वहाँ उन्होंने मेरी माताको इच्छा-प्रसूतिका वरदान दिया, भागवत-धर्मका श्रवण कराया और यह कहा कि जबतक तुम्हारे पति तपस्या करके नहीं

लौटते तबतक तुम यहीं रहो ! उनका भागवत-धर्मसम्बन्धी उपदेश मेरी माताको तो विस्मृत हो गया, लेकिन मुझे गर्भमें श्रवण करनेपर भी याद है।

अब तो यह सुनकर सब-के-सब दैत्य बालक पहलेसे भी अधिक प्रभावित हो गये और उनकी पाठशाला प्रह्लादके उपदेशोंके अनुसार ही चलने लगी। प्रह्लादने कहा—

कोऽतिप्रयासोऽसुरबालका हरेरुपासने स्वे हृदि छिद्रवत् सतः।
स्वस्यात्मनः सख्युरशेषदेहिनां सामान्यतः किं विषयोपपादनैः।। ७-७-३८

मेरे प्यारे भाइयों, भगवान्‌की उपासनामें कोई कष्ट नहीं है। जैसे हमारे हृदयमें आकाश है, वैसे ही उसमें भगवान् बैठे हैं। वे हमारे आत्मा हैं, सखा हैं, स्वामी हैं, सर्वस्व हैं। उनके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। फिर उनकी उपासनामें कष्ट कहाँ है ?

अब जब गुरुओंने देखा कि उनकी पाठशालाके सभी विद्यार्थी प्रह्लादके साथ हो गये हैं और उन सबकी बुद्धि भगवान्‌में स्थित हो गयी है, तब वे बहुत घबराये। उन्होंने हिरण्यकशिपुके पास जाकर सब-कुछ बता दिया।

इसके बाद हिरण्यकशिपुके क्रोधका ठिकाना नहीं रहा। उसने निश्चय किया अब मुझे प्रहलादको अपने हाथसे ही मार डालना चाहिए। उसने प्रहलादको बुलवाकर कठोर वाणीसे डाँटते हुए कहा कि अरे मूर्ख, तू बड़ा उद्दण्ड हो गया है। स्वयं तो नीच है ही, हमारे कुलके दूसरे बालकोंको भी अपने-सरीखा ही बनाना चाहता है। मैं अभी तुझे यमराजके घर भेज दूँगा। बोल, तूने किसके बलबूतेपर मेरी आज्ञाका उल्लघंन किया है ? प्रह्लादने बड़े विनम्र भावसे हाथ जोड़कर उत्तर दिया—

न केवलं मे भवतश्च राजन् स वै बलं बलिनां चापरेषाम्।
परेऽवरेऽमी स्थिरजङ्गमा ये ब्रह्मादयो येन वशं प्रणीताः।। ७-८-८

राजन्, ब्रह्मासे लेकर तिनकेतक सब छोटे-बड़े चर-अचर जीवोंको भगवान्‌ने अपने वशमें कर रक्खा है। सबके भीतर एक ही परमेश्वरका बल है। उसकी दृष्टिमें ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रका, देवता-दैत्यका धर्मात्मा-पापात्माका कोई भेद नहीं है। वही सबकी आत्मा है। मेरा बल भी वही है, आपका बल भी वही है, सबका बल भी वही है।

यह सुनकर हिरण्यकशिपु और भी जल-भुन गया। वह बोला 'कहाँ है तेरा ईश्वर ? मुझको दिखा ! यदि वह सब जगह है तो इस खम्भेमें कहाँ है ?' इतना कहकर उसने अपनी सभाके एक खम्भेको जोरसे घूसा मारा।

अब तो वह खम्भा तड़तड़ाकर टूट गया। उसमें-से नृसिंह भगवान् प्रकट हो गये। दक्षिणमें ऐसा बोलते हैं कि भगवान्ने अपने भक्तके लिए लकड़ीको बाप बना लिया। उनके प्रकट होने पर हिरण्यकशिपुने उनसे युद्ध किया। अन्तमें नृसिंह भगवान्ने हिरण्यकशिपुको पकड़ लिया और उसको दरवाजे पर ले गये-वह न बाहर था, न भीतर था। उसको घुटनोंपर सुला लिया– वह न ऊपर था, न नीचे था। उस समय सायंकाल था—न दिन था, न रात थी। इसके अतिरिक्त नृसिंह भगवान् न मनुष्य थे, न पशु थे और न ब्रह्माके बनाये हुए थे। हिरण्यकशिपुने अपने वरदानमें जितनी भी शर्तें रक्खी थीं, सब पूरी हो गयी थीं। सबसे ऊपर नृसिंह भगवान् थे। उन्होंने हिरण्यकशिपुको किसी अस्त्र-शस्त्रसे नहीं मारा, पंजेसे ही उसका पेट फाड़ दिया और उसकी अँतड़ियोंको मालाकी तरह पहन लिया। उस समय ऐसा दृश्य उपस्थित हुआ, जो त्रिलोकीमें अद्भुत था, विचित्र था। नृसिंह भगवान् क्रोधमें ही हिरण्यकशिपुके सिंहासनपर बैठ गये।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थिति होता है कि नृसिंह भगवान् हिरण्यकशिपुके सिंहासनपर क्यों बैठे ? इसलिए बैठे कि सिंहासनपर प्रह्लादको बैठाना है। फिर वे हिरण्यकशिपुके उच्छिष्ट सिंहासनपर प्रह्लादको कैसे बैठाते ? इसलिए उन्होंने पहले उसपर बैठकर उसको अपना प्रसाद बना दिया।

हिरण्यकशिपुका वध हो जानेपर सब देवताओंने अलग-अलग नृसिंह भगवान्की स्तुति की और उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन किया। किसीने कहा कि अब हमें यज्ञमें भाग मिलेगा, किसीने कहा कि अब हम बेगारसे बच गये। इस प्रकार सब देवताओंने यह बताया कि हिरण्यकशिपुके मरनेसे उनको क्या-क्या लाभ हुआ है, उनका क्या-क्या कल्याण हुआ है। ?

इन स्तुतियोंके बाद भी जब नृसिंह भगवान्का क्रोध शान्त नहीं हुआ तब देवताओंने लक्ष्मीजीसे प्रार्थना की कि आप जाकर क्रोध शान्त कीजिये। परन्तु लक्ष्मीजी नृसिंह भगवान्का वह स्वरूप देखकर डर गयीं–

साक्षाच्छ्रीः प्रेषिता देवैर्दृष्ट्वा तन्महदद्भुतम्।
अदृष्टाश्रुतपूर्वत्वात् सा नोपेयाय शंकिता।। ७-९-२

लक्ष्मीजीके मनमें यह शंका हो गयी कि क्या ये मेरे पति नारायण हैं या नृसिंहके रूपमें कोई दूसरे हैं ? उनको यह भी शंका हो गयी कि कहीं यह क्रोधी सिंह मुझको चबा न जाय अथवा कहीं इसका पंजा भी मुझपर पड़ गया तो मेरे शरीरका क्या हाल होगा ? लक्ष्मीजी इस प्रकारकी आशंकाओंके कारण देवताओंके बार-बार आग्रह करनेपर भी नृसिंह भगवान्के पास नहीं गयीं।

अब ब्रह्माजीने प्रह्लादसे कहा कि बेटा, जरा देखो तो ! नृसिंह भगवान् तुम्हारे पितापर रुष्ट हुए हैं। इसलिए तुम उनके पास जाकर उनको प्रसन्न करो।

यह सुनकर प्रह्लाद नृसिंह भगवान्‌के पास जाकर उनके चरणोंमें लोट गये। नृसिंह भगवान्‌ने तुरंत उनको उठाकर अपनी गोदमें बैठा लिया। उनकी आँखें सुकुमार हो गयीं और वे जीभसे प्रह्लादको चाटने लगे। फिर बोले कि प्रह्लाद, कहाँ तो तेरा यह सुकुमार शरीर, कहाँ तेरी यह छोटी-सी उम्र और कहाँ इस क्रूर असुर द्वारा तुमको दी गयीं कठोरयातनाएँ ! प्यारे प्रह्लाद, मेरे आनेमें विलम्ब हो गया, मुझे क्षमा करो।

इसके बाद प्रह्लादने खड़े होकर नृसिंह भगवान्‌की स्तुति प्रारम्भ की—प्रभो, मैं आपका स्वभाव जानता हूँ। किसीके पास चाहे जितना भी धन हो, कुलीनता हो, रूप हो, तप हो, विद्या हो, ओज हो, तेज हो, प्रभाव हो, बल हो, पौरुष हो, बुद्धि हो, भोग हो-इन बारह गुणोंसे युक्त कोई ब्राह्मण ही क्यों न हो, आप उसके ऊपर संतुष्ट नहीं होते। लेकिन यदि नीच-से-नीच व्यक्तिके हृदयमें आपकी भक्ति हो तो आप उससे सन्तुष्ट हो जाते हैं। गजेन्द्रपर आप सन्तुष्ट हो गये। मैं भी कितना दीन-हीन गुणहीन, जातिहीन, ज्ञानहीन हूँ— लेकिन मुझपर आपकी इतनी कृपा है।

इसके पश्चात् प्रह्लादने एक अद्भुत स्तुति की। श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌के स्वरूप, सौहार्द और गुण-लीला चरित्र आदिका वर्णन करने-वाली बहुत-सारी स्तुतियाँ हैं-जैसे भीष्मस्तुति, ब्रहास्तुति, अक्रूर-स्तुति, वेदस्तुति आदि-परन्तु भगवत्-तत्त्वका निरूपण करनेवाली प्रह्लाद स्तुति अद्भुत है।

प्रहलाद बोले कि महाराज, जब यह अनुभव हो जाता है कि भगवान्‌के सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है तब कुछ बोलनेकी आवश्यकता ही नहीं रहती—

आद्यन्तवन्त उरुगाय विदन्ति हि त्वा-
मेवं विमृश्य सुधियो विरमन्ति शब्दात्।। ७-९-४९

देखो, सामाजिक दृष्टिकोण अलग है, राजनैतिक दृष्टिकोण अलग है, भौतिक दृष्टिकोण अलग है और वैदिक दृष्टिकोण अलग है। परन्तु भगवद्भाव-सम्बन्धी दृष्टिकोण ऐसा है, जिसमें स्पर्द्धा नहीं होती, गुणोंमें दोष-दर्शन नहीं होता, किसीका तिरस्कार नहीं होता और अंहकार नहीं होता। भगवद्भावमें ऐसी अनुभूति होती है कि शरीरसे सर्वात्मा भगवान्‌की सेवा हो रही है, सारी इन्द्रियाँ उनके अनुभवमें लगी हैं, मनमें उनके प्रति सद्भाव है, बुद्धि विवेकसे परिपूर्ण है और अहंता गल गयी है। इसप्रकार परमात्मासे एक होकर महात्मा

लोग सर्वावस्थामें सर्वत्र परमात्माका दर्शन करते हैं। उनके मनमें कभी किसी प्रकारका विकार नहीं होता, इसलिए उनको कुछ बोलनेकी जरूरत ही नहीं पड़ती।

प्रह्लादने इस प्रकार स्तुति की तो नृसिंह भगवान् उनपर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा कि प्रह्लाद, वर मांग लो। प्रह्लादने उत्तर दिया कि प्रभो, आप मुझे वर माँगनेके लिए कहते हैं। लेकिन मैं क्या आपसे इसलिए प्रेम करता हूँ कि मुझको आपके द्वारा वर प्राप्त हो ! आप भी क्या मुझसे कोई सेवा लेनेके लिए मुझको अपना सेवक समझते हैं।

अहं त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वं च स्वाम्यनपाश्रयः।
नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव ।।
यदि रासीश मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ।
कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम् ।। ७-१०-६-७

प्रभो, मैं आपका निष्काम सेवक हूँ और आप मेरे निरपेक्ष स्वामी हैं। जैसे राजा और उसके सेवकका परस्पर स्वार्थवश सम्बन्ध रहता है, वैसा सम्बन्ध मेरा आपका नहीं है। ऐसी स्थितिमें वरदानकी कोई आवश्यकता नहीं है। लेकिन फिर भी मेरे वरद-शिरोमणि स्वामी, यदि आप मुझे मुँहमाँगा वर देना ही चाहते हैं तो ऐसा वर दीजिये, जिससे मेरे हृदयमें वरदान माँगनेकी कभी कोई कामना ही न उठे। जैसे आज मेरे मनमें वरदान प्राप्त करनेकी कोई कामना नहीं है, वैसे ही भविष्यमें भी न हो।

प्रहलादने आगे कहा कि प्रभो, यदि आप मुझे वर देना अनिवार्य समझते हैं तो मेरे पिता हिरण्यकशिपुने आपकी जो इतनी निन्दा की है, उसका मंगल हो जाय, उसके अंग–प्रत्यंग का मंगल हो जाए, उसकी दसों इन्द्रियों का मंगल हो जाए, उसके अन्तःकरणका मंगल हो जाय और उसके जीवात्माका मंगल हो जाय। भगवान्ने कहा कि प्रह्लाद, तेरे-जैसा पात्र पाकर सबका मंगल हो गया।

इसके बाद नृसिंह भगवान्ने प्रह्लादका राज्याभिषेक कर दिया। ब्रह्माजी पास आये तब उनसे नृसिंह भगवान्ने कहा कि ब्रह्माजी, आपने हिरण्यकशिपुको वरदान दिया सो दिया, लेकिन भविष्यमें ऐसा वरदान किसीको मत दीजियेगा।

प्रह्लादका राज्य स्थापित होनेपर सृष्टिमें फिरसे मंगल हो गया।दैत्योंके अधिपति प्रहलाद हुए, देवताओंके अधिपति इन्द्र हुए और पृथिवी-पर मनुष्योंका शासन स्थापित हो गया। इसके बादकी कथा कल सुनायी जायेंगी।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

: ७ :

कल आपको सातवें स्कन्धके प्रसंग सुनाये जा रहे थे। उसके कुल पन्द्रह अध्यायोंमें पहलेके पाँच अध्याय आध्यात्मिक हैं, मध्यके पाँच अध्याय आधिदैविक हैं और अन्तके पाँच अध्याय आधिभौतिक अर्थात् जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाले हैं। गीताके अनुसार कर्मके मूलमें पाँच बातें रहती हैं। अतः इनके अनुसार एक-एक विभागमें पाँच-पाँच अध्याय हैं—

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्।। गी० १८-१४

श्रीमद्भागवतमें प्रह्लादकी स्तुतिके बाद भगवान् कैसे वासनाओंका निवारण करते हैं, इसके प्रसंगमें युधिष्ठिरने नारदजीसे धर्म-सम्बन्धी प्रश्न किये; क्योंकि मनुष्यके जीवनमें धर्म-शक्तिका होना अत्यन्त आवश्यक है। अन्यथा मनुष्य अपने मनमें जो आये, वह बोले और करे। क्या बोलना, क्या नहीं बोलना और क्या करना, क्या नहीं करना- इसी विवेकका नाम धर्म है। 'अनौचित्यादृते नास्ति रसभंगस्य कारणम्'- जब मनुष्य अनुचित बोलने लगता है, अनुचित करने लगता है तब उसके जीवनका रस मिट जाता है। इसलिए वाणी और क्रियामें उचित, अनुचितका विचार अवश्य होना चाहिए। नहीं तो इन्द्रियोंकी मर्यादा टूट जाती है और मर्यादा टूट जानेपर वे मनुष्यको चाहे जहाँ ले जाती हैं।

यथा हि मलिनैर्वस्त्रैः यत्र तत्रोपविश्यते।
एवं चलितवृत्तस्तु वृतशेषं न रक्षति।।

जैसे कपड़े मैले होनेपर आदमी चाहे जहाँ बैठ जाता है, वैसे ही जब उसका चरित्र भ्रष्ट हो जाता है तब वह अपने बचे-खुचे आचरणका भी नाश कर देता है। इसलिए जीवनमें नियन्त्रण, नियमन और अनुशासन आवश्यक है। यदि जीवन वासनानुसारी न होकर अनुशासनासारी हो तो उससे सुख-शान्तिका उदय हो जाता है।

धर्मके प्रसंगमें पहले वर्ण-धर्मका और फिर आश्रम-धर्मका निरूपण किया गया। वर्णका अर्थ जाति नहीं होता। जाति आकृतिप्रधाना होती है-जैसे पशुजाति, पक्षीजाति, कीटजाति, मनुष्यजाति आदि।

वर्णका अर्थ है वर्णनात् वर्णः। जो शास्त्रोक्त वर्णनसे प्रमाणित होता हो, उसका नाम वर्ण है। इसी प्रकार आश्रमका अर्थ होता है श्रमकी मर्यादा अथवा श्रमका विभाजन ! आश्रम शब्दमें जो 'आ' है, वह श्रमको मर्यादित करनेके लिए है। आश्रम चार हैं-ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम। इनमें विहित धर्मोंका पालन होता है और शास्त्रोंने इन चारों आश्रमोंमें श्रमका विभाग कर दिया है।

वर्ण और आश्रमके जो धर्म हैं, वे लोक-परलोकमें मनुष्यके कल्याणके लिए हैं। उनसे मनुष्यके जीवन-कालमें तो मंगल होता ही है, मरणके अनन्तर भी मंगलकी प्राप्ति होती है। फिर उन धर्मोंसे परमार्थके ज्ञानमें सहायता मिलती है। इसलिए इन तीनोंको लेकर वर्णाश्रमकी व्यवस्था की गयी है।

वर्णभी चार ही हैं-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। इनके कर्त्तव्य अलग-अलग हैं। ब्राह्मणको शम-दमादिका पालन करना चाहिए-जैसा कि गीतामें भी कहा गया है। क्षत्रियमें ऐश्वर्य, वीर्य, आस्तिक्य आदि होना चाहिए। वैश्यके कर्त्तव्योंमें कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य आदि हैं। उनके लिए ब्याज लेनेकी बात गीतामें तो नहीं हैं, लेकिन भागवतके अनुसार ब्याज लेना वैश्यके व्यापार-धर्मके अन्तर्गत है। शूद्र धर्ममें सेवाकी प्रधानता है।

इस प्रकार चारों वर्णोंके कर्त्तव्योंका वर्गीकरण इसलिए किया गया है कि स्वभाव और गुणकी दृष्टिसे मनुष्यके मार्ग अलग-अलग होते हैं —

स्वभावगुणमार्गेण पुंसो मार्गो विभिद्यते।

स्त्रियोंके लिए जो धर्म बताया गया है, वह तो अद्भुत है। उसके अनुसार उनको सब काम सम्हालना चाहिए, विश्वासपात्र होना चाहिए और जैसे लोग भगवद्भावसे मूर्तिमें प्रेम करते हैं, वैसे ही अपने पतिसे प्रेम करना चाहिए। स्वाभाविक प्रेम तो अपने आत्मासे होता है और आभ्यासिक प्रेम दूसरेसे होता है। इसीलिए पतिके प्रति पत्नीकी प्रीतिको धर्मके अन्तर्गत बाँध दिया गया है। जिससे कि वह मर्यादित रहे। कहा गया है कि 'या नारी हरिभावेन', जो नारी भगवद्भावसे पतिकी सेवा करती है, वह परम कल्याणभाजन होती है।

आश्रम-धर्ममें ब्रह्मचारीके लिए गुरु-सेवाकी प्रधानता है। क्योंकि गुरु-कृपासे ही विद्याकी प्राप्ति होती है। गृहस्थके लिए उसके समस्त विहित कर्मोंके पीछे भगवत्सेवाकी भावना है। वानप्रस्थके लिए त्यागका अभ्यास है और संन्यासीके लिए त्याग है।

श्रीमद्भागवतमें एक विलक्षण बात कही गयी है, जो महाभारतमें तो कहीं-कहीं मिलती है, परन्तु अन्यत्र नहीं मिलती। वह बात यह है—

यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम्।
यदन्यत्रापि दृश्येत तत् तेनैव विनिर्दिशेत्।। ७-११-३५

इसका अर्थ है कि जिस वर्णकी अभिव्यञ्जनाके लिए जो लक्षण बताये गये हैं, वे यदि कहीं अन्यत्र दूसरे वर्णमें दिखायी पड़ें तो उसको भी उसी वर्णका समझना चाहिए। मतलब यह कि ब्राह्मणका लक्षण यदि ब्राह्मणेतरमें दिखायी पड़े तो उसे भी ब्राह्मण ही कहना चाहिए।

संन्यासीके धर्मका वर्णन करते हुए कहते हैं कि एक तो विविदिषु संन्यास होता है और दूसरा विद्वत्संन्यास होता है। विविदिषा संन्यास तब होता है, जब चित्तमें तीव्र जिज्ञासा होकर संसारसे वैराग्य हो जाय और विद्वत्संन्यास ज्ञान होनेके पश्चात् होता है। एक तीसरा संन्यास है वीर-संन्यास, जो मृत्युके लिए हिमालयादिपर चढ़ते जानेसे होता है और चौथा संन्यास है आतुर-संन्यास, जो मरणासन्न अवस्थामें ग्रहण किया जाता है। इस तरह संन्यासके कई प्रकार बताये गये हैं।

इसी प्रसंगमें नारदजीने युधिष्ठिरको एक अवधूतका उपाख्यान सुनाया। वह उपाख्यान यह है कि एक बार प्रह्लादजी विचरण करते-करते कावेरी नदीके तटपर पहुँच गये, जहाँ सह्य पर्वतकी शृंखलाएँ थीं-'कावेर्या सह्यसानुनि।'

वहाँ प्रह्लादजीने देखा कि एक बहुत मोटा-तगड़ा मस्त व्यक्ति धूल-धूसरित होकर धरतीपर लेटा हुआ है। प्रह्लाद उसके पास गये और उन्होंने उसको आदर-पूर्वक प्रणाम किया। फिर प्रह्लादजी बोले- महाराज, आप कुछ काम तो करते नहीं लगते। यहाँ वैसे ही पड़े हुए हैं, जैसे कोई मस्त हाथी नदीमें पड़ा हो। धनके बिना भोग नहीं होता, भोगके लिए सम्पत्ति चाहिए और सम्पत्ति उनको मिलती है, जिनके जीवनमें उद्यम होता है। आलसीके पास सम्पत्ति नहीं आती। **'उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः'**- जो उद्योगी पुरुष होता है, उसीके पास लक्ष्मी आती है। आपके पास न उद्योग है, न लक्ष्मी है, फिर आप इतने मोटे-तगड़े और मस्त कैसे हैं ?

देखो, कोई मामूली आदमी हो तो वह किसी सत्पुरूषसे ऐसी बात न करे। क्योंकि उसे डर लगेगा कि ऐसी बात सुनकर सत्पुरुष नाराज हो जायेगा। लेकिन सत्पुरुष नाराज नहीं होते। सती स्त्री किसीको शाप नहीं देती। साधुओंसे किसीकी कार्य-हानि नहीं होती-'साधु ते होय न कारज हानी।' फिर प्रश्न—कर्ता प्रह्लादजी भी तो भगवान्‌के परम भक्त हैं, कृपा-पात्र हैं।

इसलिए उनकी बात सुनकर अवधूत बहुत प्रसन्न हुए। वे अवधूत और कोई नहीं, साक्षात् दत्तात्रेय भगवान् थे। उनका नाम भागवतके प्रथम स्कन्धमें

ही आ चुका है। उसमें कहा गया है कि भगवान्ने दत्तात्रेयका अवतार लेकर प्रह्लाद आदिको तत्त्वज्ञानका उपदेश दिया।

तो, अवधूत बोले कि प्रह्लाद आपकी बात सुनकर मुझे बड़ा आनन्द आरहा है। 'सम्भावनीयोहि भवान्'– मुझे तो आपका आदर करना चाहिए। क्योंकि आपके हृदयमें भगवान्की बड़ी भक्ति है।

यहाँ एक बात आप ध्यानमें रखिये। यदि आपको कपड़ा शुद्ध करना हो तो कैसे करेगें ? यदि आप उसको आगमें डाल देंगे या उसमें आग लगा देंगे तो वह शुद्ध होगा या जल जायेगा ? जल जायेगा। अतः कपड़ा ठीक करनेके लिए पहले उसे गरम पानीमें धोना पड़ता है, फिर उसको सुखाकर गरम इस्त्री द्वारा उसकी सलवट निकालनी पड़ती है। इसी प्रकार अन्तःकरणको शुद्ध करनेके लिए उसमें सीधे ज्ञानाग्नि नहीं डाली जाती, क्योंकि तब वह अन्तःकरणको ही भस्म कर देती है। इसलिए अन्तःकरणको शुद्ध करनेका उपाय यह है कि ज्ञानाग्निको भक्तिकी इस्त्री या भक्तिके रसमें आरूढ़ करके उसे जीवनमें उतारा जाय। इस प्रकार जब ज्ञान जीवनमें उतरता है तब वह अन्तःकरण और चरित्रको शुद्ध एवं पवित्र कर देता है।

अवधूतने बताया कि भाई प्रह्लाद, मैं कभी धरतीपर सोता हूँ, कभी अच्छा कपड़ा पहनता हूँ, कभी फटा–मैला पहनता हूँ, कभी महलमें रहता हूँ, कभी रुखा-सूखा खा लेता हूँ और कभी बढ़िया-बढ़िया माल उड़ाता हूँ। मुझे कोई पहचाने या न पहचाने, कहीं तिरस्कार मिले या कहीं बहुत आदर प्राप्त हो—मेरे ऊपर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। 'मानापमानयोस्तुल्यम्'- मान-अपमान मेरे लिए बराबर हैं। मुझको पता है कि ब्रह्मके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। इस संकीर्ण शरीरमें अभिमान करके बैठनेसे ही यह सारा-का-सारा प्रपञ्च सच्चा मालूम पड़ता है। शरीरको सच्चा माननेके कारण ही संसार सच्चा प्रतीत होता है। यदि अन्तःकरण और शरीर-सहित इस प्रपंचको प्रपंचके अभावके अधिकरणमें देख लिया जाय तो इसके मिथ्यात्वका भान हो जायेगा। अपने अभावके अधिकरणमें जो वस्तु होती है, वह होती ही नहीं। इसलिए मुझको संसारकी किसी भी वस्तुमें कोई आस्था नहीं है। मैं तो निरन्तर मस्त और परमात्मासे एक रहता हूँ।

अवधूतका यह उत्तर सुनकर प्रह्लादको बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ। वे उनको प्रणाम करके प्रसन्नतापूर्वक लौट गये।

इस उपाख्यानका श्रवण करनेके बाद युधिष्ठिरके मनमें यह प्रश्न उठा कि एक गृहस्थको ऐसी मस्ती, ऐसा आनन्द कैसे प्राप्त हो सकता है ?

इसलिए उन्होंने नारदजीसे प्रश्न किया कि महाराज, एक गृहस्थको यह पदवी कैसे प्राप्त हो सकती है ?

गृहस्थ एतां पदवीं विधिना येन चाञ्जसा।
याति देवऋषे ब्रूहि मादृशो गृहमूढधीः।। ७-१४-१

नारदजीने बताया कि युधिष्ठिर, गृहस्थको गृहस्थ-धर्मका पालन करना चाहिए। कोई भी आश्रम, वर्ण, कर्म या भाव बुरा नहीं है।वह होना चाहिए नारायणके उद्देश्यसे। तुम कोई भी काम करो तो पहले यह सोच लो कि किसके लिए कर रहे हो ? परिणामका विचार किये बिना जो कर्म किया जाता है, वह पता नहीं किस गड्ढेमें ले जाकर डाल दे ? मनुष्यको परिणाम-दर्शी होना चाहिए। कोई भी काम करनेके पहले उसका भविष्य सोच लेना चाहिए कि उसको करनेसे क्या फल मिलेगा ?

गृहस्थको उन महात्माओंका सत्संग करना चाहिए, जो भक्त हैं, राग-द्वेषरहित हैं और भगवान्का साक्षात्कार किये हुए हैं। उसको 'उपासीत महामुनीन्'-महामुनियोंकी उपासना करनी चाहिए और उनके जिस सत्संगसे सत्प्रेरणा प्राप्त होती है, वह करना चाहिए। संसारकी वस्तुएँ आने-जानेवाली हैं। इनसे ममता-मोह करनेपर वह पदवी प्राप्त नहीं हो सकती, जिसको तुम प्राप्त करना चाहते हो। इसलिए संसारके सभी प्राणियोंके प्रति-चाहे वे कीट, पतंग, जूएँ, खटमल और मच्छर आदि ही क्यों न हों-पुत्रवत् भाव रखना चाहिए—

मृगोष्ट्रखरमर्काखु-सरीसृप्खगमक्षिकाः।
आत्मनः पुत्रवत् पश्येत्तैरेषामन्तरं कियत्।। ७-१४-९

देखो, भागवतमें ऐसी-ऐसी बातें बतायी गयी हैं कि साधारण गृहस्थ लोग उनको पढ़-सुनकर डर सकते हैं। परन्तु जिसको अवधूतकी मस्ती चाहिए, उसको अपने भावमें, अपनी दृष्टिमें परिवर्तन तो करना ही पड़ेगा। अभी मैंने आपको जो श्लोक सुनाया, उसके पहलेवाला श्लोक इस प्रकार है—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति।। ७-१४-८

नारदजी कहते हैं कि युधिष्ठिर, जितने धनसे मनुष्यका पेट भर जाता है, उतना ही धन उसका अपना है। उससे अधिक धनको जो अपना मानता है वह चोर है और दण्डका पात्र है। अपनी आवश्यकतासे अधिक धनका तो वह ट्रस्टी है, प्रन्यासी है।

देखो, जब धनके सम्बन्धमें गृहस्थका ऐसा दृष्टिकोण रहेगा तब उसके आने-जानेमें उसको तकलीफ नहीं होगी। अन्यथा वह बहुत तकलीफ देता है।

धनको पैदा करनेमें तकलीफ, उसके चोरी जानेमें तकलीफ और सगे सम्बन्धियों द्वारा हड़प लिए जानेमें तकलीफ! धनको जबतक अपना मानकर बैठोगे तबतक वह कष्टके सिवाय और कुछ नहीं देगा। इसीकारण महापुरुषोंने उसपर अनुशासन रखनेके लिए कहा है।

धनके सम्बन्धमें आपने भागवतका वचन तो सुन ही लिया, मनु—स्मृतिमें भी इसी ढंगका वचन है—

आदाननित्याच्चादातुराहरेदप्रयच्छतः।
तथा यशोऽस्य प्रथते धर्मश्चैव प्रवर्तते।।

इसका अर्थ यह है कि जो हमेशा धन लेनेमें, इकट्ठा करनेमें लगा हो और किसीको माँगनेपर भी न दे तो राज्य-शासनको यह अधिकार हो जाता है कि वह उससे धन छीनकर जिनके पास धन नहीं है, उनकी सेवामें लगा दे। ऐसा करनेसे राजाका यश बढ़ता है और धर्मकी वृद्धि होती है।

मनुस्मृतिके इस श्लोकपर मेधातिथिकी जो टीका है, उसमें लिखा है कि 'सार्ववर्णिकोऽयम्'- अर्थात् अगर ब्राह्मण इस प्रकार धन-संग्रह करता है तो उससे भी धन ले लेना चाहिए। क्योंकि धन-सम्पदाको तो भगवान्‌ने जीवोंके लिए प्रकट किया है। यह मिट्टीमें गाड़ने या छिपाकर रखनेके लिए नहीं है, लोगोंके काम आनेके लिए है।

श्रीमद्भागवतमें एक अद्भुत बात और है। हो सकता है कि इसको सुनकर कट्टर धर्मात्मा लोग पसन्द न करें। लेकिन जो बात है, वह यह है कि गृहस्थको अपने घर आये हुए अतिथिकी सेवा समग्र भावसे करनी चाहिए-

आश्वाघान्तेऽवसायिभ्यः कामान्संविभजेद् यथा।
अप्येकामात्मनो दारां नृणां स्वत्वग्रहो यतः।।
जह्याद् यदर्थे स्वप्राणान्हन्याद् वा पितरं गुरुम्।
तस्यां स्वत्वं स्त्रियां जह्याद् यस्तेन ह्यजितो जितः।।

७-१४-११-१२

नारदजीके कथनका तात्पर्य यह है कि गृहस्थको अपनी पत्नीसे भी अतिथिकी सेवा करवानी चाहिए और पत्नीके प्रति ममता कम होनी चाहिए। इस प्रकार यदि कोई गृहस्थ असंग रहकर संसारका व्यवहार चलाता है तो वह परमात्माको जीत लेता है।

नारदजीने गृहस्थ-धर्मके प्रसंगमें बताया कि शास्त्रोंमें गृहस्थके लिए जिन कर्त्तव्योंका वर्णन है, उनका ठीक-ठीक पालन करना चाहिए। कर्त्तव्योंमें श्राद्धका भी वर्णन है। पुत्र जब माता-पिताके मरनेके बाद उनका श्राद्ध करता है तब उसे उनके जीवन-कालमें तो उनकी सेवा अवश्य ही करनी चाहिए-यह कैमुतिक न्यायसे सिद्ध होता है। माता-पिताकी सम्पत्तिको उत्तराधिकारमें प्राप्त करनेके बाद उसका उनके नामपर सदुपयोग करना भी पुत्रकी माता-पिताके प्रति कृतज्ञता है। श्राद्ध है। श्राद्धसे हृदय शुद्ध होता है और मरणोत्तर कालमें भी आत्मा रहती है-इस ज्ञानमें सहायता मिलती है।

गृहस्थके कर्त्तव्योंमें ब्राह्मणोंको पढ़ने-लिखनेका अवसर एवं साधन प्रदान करना भी एक कर्त्तव्य है। यह गृहस्थको अवश्य करना चाहिए। इससे संस्कृतिका प्रचार-प्रसार होता है। गृहस्थको पवित्र तीर्थका सेवन करना चाहिए। वहाँ महापुरुषोंका संग करना चाहिए। समय-समयपर भगवान्‌की विशेष पूजा करनी चाहिए। भगवान्‌की पूजा वैसे तो सभी जगह कर सकते हैं, परन्तु मनुष्य-शरीर भगवान्‌का विशेष मन्दिर है-'तासां मे पौरुषी प्रिया।' मनुष्य शरीर भगवान्‌को बहुत प्रिय है, इसके हृदयमें भगवान् हमेशा रहते हैं। इसलिए मनुष्य मात्रकी सेवा भगवान्‌की सबसे बड़ी पूजा है। उसमें जाति, वर्ण, सम्प्रदाय अथवा स्त्री-पुरुषका भेद नहीं होता। मन रागादिसे रहित हो, शरीरसे हिंसादि न हो, वाणीसे दुर्वचन न बोला जाय और जहाँतक हो सबको सुख शान्ति प्रदान की जाय-इससे बढ़कर ईश्वरकी और कोई पूजा नहीं है।

युधिष्ठिर, त्रेतायुगके पहले भगवान्‌की पूजा मनुष्यरूपमें ही की जाती थी। उसके बाद पूजा करने वालोंके मनमें श्रद्धाकी कमी होती गयी और वे कहने लगे कि यह मनुष्य तो ऐसा है, वैसा है, इसमें अमुक दोष है, अमुक त्रुटि है। वे पूजा भी करें, अवज्ञा भी करें। इसलिए महात्माओंने सोच-विचार करके भगवान्‌की पूजाके लिए मूर्तिकी उद्भावना की और कहा कि इसीकी पूजा करो। लेकिन मूर्तिमें भगवान्‌की पूजा की जाय और मनुष्यसे द्वेष किया जाय तो वह मूर्ति-पूजा फलप्रद नहीं होती-

उपासत उपास्तापि नार्थदा पुरुषद्विषाम्। ७-१४-४०

इसके बाद नारदजीने बताया कि देखो युधिष्ठिर, यह सम्पूर्ण विश्व-सृष्टि वृक्षकी छायाकी तरह परमात्माकी छाया है। छाया पुरुषसे अलग कुछ नहीं होती-वह सबेरे-शाम बड़ी हो जाती है, दोपहरको छोटी हो जाती है और पुरुष न हो तो उसका पता ही नहीं चलता। छाया मनुष्यके बिना रह नहीं सकती, इसलिए वह मनुष्यसे भिन्न नहीं है। लेकिन छाया अभिन्न रहकर भी दूसरेको धूपसे बचाती है और उसके द्वारा अलग क्रिया होती है फिर भी वह

अपने मूल तत्त्वसे पृथक् नहीं होती। इसी प्रकार संसारकी छाया परमात्मासे अलग नहीं है।

न संघातो विकारोऽपि न पृथङ् नान्वितो मृषा। ७-१५-५६

छायाका न तो संघात होता है, न उसमें विकार होता है, न उसका आरम्भ होता है और न उसमें विवर्त ही होता है। वह परमात्मासे पृथक् कुछ नहीं होती।

भावाद्वैतं क्रियाद्वैतं द्रव्याद्वैतं तथाऽऽत्मनः।
वर्तयन्स्वानुभूत्येह त्रीन्स्वप्नान्धुनुते मुनिः ।। ७-१५-६२

अद्वैत तीन प्रकारके होते हैं—भावाद्वैत, क्रियाद्वैत और द्रव्याद्वैत।

यदि मनुष्यके हृदयमें सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति सद्भाव रहे तो वह भावाद्वैत होता है। जब सारे कर्म भगवान्को समर्पित करनेके लिए किये जायँ तब उसका नाम क्रियाद्वैत होता है। द्रव्याद्वैतका अर्थ होता है सम्पूर्ण वस्तुओंको परमात्माका समझना। 'अहं एतत् न'-यह मैं नहीं हूँ और यह मेरा नहीं है। फिर किसका है ? जिसका मैं हूँ, उसीका है। जिसका अंश मैं, उसीका यह समग्र संसार।

नारदजीने आगे बताया कि यदि कोई किसी दूसरेके लिए दी जा रही धर्म-शिक्षाको अपने लिए मान ले तो यह धर्माभास है। शब्दके द्वारा किसीको धोखा देना छल है और दूसरेके धर्ममें बाधा डालना विधर्म है-'धर्मबाधो विधर्मः स्यात्।' यदि किसीकी पूजामें, किसीके धर्म-पालनमें बाधा डालनेके लिए अपने धर्मका अनुष्ठान किया जाय तो वह धर्म नहीं रहता, विधर्म हो जाता है।

इस प्रकार नारदजीने युधिष्ठिरके लिए धर्म, धर्माभास, विधर्म, उपधर्म आदिकी व्याख्या करते हुए बताया कि मैं तो पूर्वजन्ममें गन्धर्व था। मेरे पास भोगके लिए सम्पत्ति थी, सामग्री थी। परन्तु मुझसे एक महात्माका तिरस्कार हो गया और उन्होंने मुझे शाप देकर शूद्र बना दिया। उस शूद्र-योनिमें जब मुझको महात्माओंका सत्संग मिला और उनकी सेवा करनेका अवसर मिला तब मैंने भगवान्का भजन किया। अन्तमें उस भजनके फलस्वरूप मैं भगवान्का पार्षद हो गया और अब वीणा बजाता हुआ विश्व-सृष्टिमें विचरण करता रहता हूँ।

देखो, आजकल धर्मके नामपर जो लड़ाई होती है, वह सामान्य धर्मके लिए नहीं होती। लोग अपने-अपने विशेष धर्मके लिए ही लड़ाई करते हैं और वह विशेष धर्म देश, काल एवं आचार्यके अनुसार क्रिया-प्रधान होता है। जैसे वस्तु-तत्व सबमें एक होता है, वैसे ही सामान्य-धर्म समग्र विश्व-मानवताके लिए एक होता है। उसमें लड़ाईकी कोई बात नहीं होती।

अन्तमें नारदजीने युधिष्ठिरसे कहा कि तुम लोग धन्य हो, धन्य हो ! क्योंकि तुम्हारे घरमें साक्षात् भगवान् मनुष्य-रूपमें निवास करते हैं, उनका दर्शन करनेके लिए बड़े-बड़े ऋषि-मुनि आया करते हैं और तुमको उनका भी दर्शन प्राप्त होता रहता है। जिनके जन्म-कर्मका निरूपण शंकर, ब्रह्मादि भी नहीं कर पाते, वे ही तुम्हारे घरमें सम्बन्धी बनकर बैठे हैं। कितनी कृपा और करुणा है उनकी !

इसप्रकार युधिष्ठिरके विभिन्न प्रश्नोंका उत्तर देनेके बाद नारदजी वहाँसे विदा हो गये और श्रीशुकदेवजी महाराजने सातवाँ स्कन्ध पूरा करके राजा परीक्षितके प्रश्न द्वारा आठवाँ स्कन्ध प्रारम्भ किया, जिसको 'सद्धर्मस्कन्ध' कहते हैं। इस आठवें स्कन्धमें कुल चौबीस अध्याय हैं। पहले अध्यायमें मन्वन्तरोंका वर्णन है। उसके बादके तीन अध्यायोंमें गज-ग्राहकी कथा है। दस अध्यायोंमें यह वर्णन है कि भगवान्ने हमारे जीवनके लिए क्या-क्या सामग्री क्या-क्या रत्न-राशि दी है और नौ अध्यायोंमें यह बताया गया है कि जीव भगवान्की पूजा कैसे करता है। अन्तके एक अध्यायमें वेदकी प्रामाणिकताका वर्णन है।

मन्वन्तरोंके वर्णनके प्रसंगमें मैं आपको फिरसे यह बताना चाहता हूँ कि पाँचवें स्कन्धमें जहाँ स्थानका वर्णन है, वहाँसे जब हम पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ऊपर-नीचेका अन्त ढूँढ़ने लगते हैं और सबके आधारके रूपमें परमात्म-तत्त्वका निश्चय करने लगते हैं तब भगवान्की व्यापकता हमारे ध्यानमें आजाती है। इसी प्रकार जब हम कालके द्वारा नापते हैं तब पता चलता है कि तैंतालीस-चौवालीस लाख वर्षोंका कलियुग है। कलियुगसे दुगुना द्वापर, द्वापरसे तिगुना त्रेता और त्रेतासे चौगुना सत्ययुग है। इस प्रकार सन्धि-सन्ध्ययन सहित इकहत्तर चतुर्यगीका एक मन्वन्तर होता है। मन्वन्तरके बाद कल्प, कल्पके बाद महाकल्प और महाकल्पके अन्तमें होता है महाप्रलय। इस तरह एक-एक कल्पका हिसाब लगाकर बताया जाता है कि अविनाशी परमात्मा काल तथा स्थानसे अस्पृष्ट है और परमव्यापक है।

तो आठवें स्कन्धके पहले अध्यायमें राजा परीक्षितके पूछनेपर श्रीशुकदेवजी महाराजने बताया कि स्वायम्भुव मनु अपने पुत्रोंको देशके शासनका भार-सौंपनेके बाद स्वयं अपनी पत्नी शतरूपाके साथ वनमें जाकर मन्त्र जप करने लगे। उनका मन्त्र यह था—

आत्मावास्यमिदं विश्वं यत् किञ्चिज्जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।। ८-१-१०

देखो, यह उपनिषद्का भी मन्त्र है। उपनिषद्में 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' पाठ है और भागवतमें 'आत्मावास्यमिदं विश्वम्' पाठ है। बाकी सब एक जैसा पाठ है।

इसका तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण विश्वको अपनी आत्मासे वासित कर दो जैसे तुमको दुःख-सुख होता है, वैसे ही सारी सृष्टिको दुःख-सुख होता है।

इसप्रकार जब मनुजी जपमें लग गये तब असुर लोग उनको मार डालनेके विचारसे आये। लेकिन उसी समय भगवान्ने अवतार ग्रहण करके असुरोंको मार दिया। असुरोंकी असुरता समाप्त हो गयी और मानवताके मूल-तत्त्व मनुजीकी रक्षा हो गयी।

उसके बाद श्रीशुकदेवजी महाराज दूसरे मनु स्वारोचिष, तीसरे मनु उत्तम और चौथे मनु तापसका वंश-वर्णन करते हुए गजेन्द्रकी कथाका वर्णन करते हैं। उन्होंने बताया कि गजेन्द्र पूर्वजन्ममें इन्द्रद्युम्न नामका राजा था और भगवान्की पूजा-आराधना किया करता था। परन्तु एक बार जब उसके यहाँ परमज्ञानी एवं तपस्वी महात्मा अगस्त्यजी पधारे तब उस राजाके नौकरने कह दिया कि तुम बाहर बैठो, हमारे महाराज अभी पूजामें हैं। पूजा समाप्त होने पर जब अगस्त्यजी राजाके पास पहुँचे तब वह न तो उठकर खड़ा हुआ और न उसने प्रणाम किया। इसपर अगस्त्यजी ने यह शाप दे दिया कि तू हाथीकी तरह मतवाला है, इसलिए जा हाथी हो जा।

इसके बाद राजा हाथी तो हो गया, परन्तु उसने जो भगवान्की आराधना की थी, उसके फलस्वरूप उसको बहुत अधिक सम्पत्ति मिली। उसके पास बड़े-बड़े सरोवर थे, खानेके लिए नाना प्रकारके फल-फूलवाले वृक्ष थे, रत्नोंका ऐसा पर्वत था कि क्षीर-सागर उसके पाँव पखारा करता था। गजेन्द्रके पास बहुत-सी हथिनियाँ थीं। उसका अपना परिवार और वंश था। लेकिन एक दिन जब वह सरोवरमें स्नान करने गया, तब एक ग्राहने जो वहाँ पहलेसे मौजूद था, उसका पाँव पकड़ लिया।

असलमें मनुष्यका अभिमान टूटता जरूर है। लेकिन कब टूटता है ? तब टूटता है, जब उसके जीवनमें ग्राहका प्रवेश हो जाता है। जो दुराग्रही होगा, उसका अभिमान अवश्य टूटेगा। विनयसे मनुष्यके स्वमानकी रक्षा होती है, और अभिमानसे उसका तिरस्कार होता है। बुद्धिमत्ताकी पहचान यही है कि जब मनुष्यकी समझमें कोई बात आजाय तब वह उसको मान ले। लेकिन यदि समझमें आजाने पर भी मनुष्य कोई अच्छी बात न माने, जिद्द करे, दुराग्रह करे तो उसके जीवनमें बड़े-बड़े दोष आजाते हैं। मनुष्यके दुराग्रह और विग्रह ही उसके जीवनमें ग्राह हैं। अन्य ग्रह रहते हैं- आसमानमें, लेकिन

दुराग्रहमें विग्रहरूपी ग्राह रहते हैं— मनुष्यके हृदयाकाशमें। इसलिए गजेन्द्र-ग्राहकी कथा मनुष्यके लिए बड़ी शिक्षाप्रद है।

जब ग्राहने गजेन्द्रको पकड़ लिया तब गजेन्द्रने उससे छुटकारा पानेकी बड़ी कोशिश की। गजेन्द्रके यूथकी हथिनियाँ आयीं, हाथी आये। उनमें-से कुछने अपनी सूँड़ इसके अगले पैरोंमें लगायी, कुछने पिछले पैरोंमें लगायी, कुछने उसकी पूँछ पकड़ी और सबने मिलकर उसको सरोवरसे बाहर निकालनेकी बड़ी कोशिश की। लेकिन वह निकाला नहीं जा सका।

उसके बाद जब डूबनेकी नौबत आ गयी तब गजेन्द्रको अपने पूर्व जन्मका स्मरण हो आया, क्योंकि भगवान्‌की आराधना कभी व्यर्थ नहीं जाती। उसने डूबते-डूबते सरोवरमें-से एक कमल निकाला और उसको सूँड़से ऊपर उठाकर भगवान्‌की स्तुति करने लगा—

निषेधशेषो जयतादशेषः—सबका निषेध किया जा सकता है, परन्तु परमात्माका निषेध नहीं किया जा सकता। क्योंकि यदि परमात्मा कोई दूसरा होता तब तो वह न सुषुप्तिमें रहता, न समाधिमें रहता, न यहाँ.वहाँ रहता और उसका निषेध हो जाता। लेकिन जो परमात्मा अपने आत्माके रूपमें रहता है, उसका निषेध तो कभी हो ही नहीं सकता। जो अन्य होगा, उसको हम कभी-न-कभी 'न' बोल सकते हैं, क्योंकि उसका सुषुप्तिमें भान नहीं होता, समाधिमें भान नहीं होता, मूर्च्छामें भान नहीं होता और प्रलयमें भी भान नहीं होता। ऐसी वस्तुके बारेमें हम बोल सकते हैं कि यदि वह है तो उस समय क्यों नहीं रहती, क्यों नहीं मालूम पड़ती। लेकिन हमारे जो प्रत्यक् चैतन्य आत्मदेव हैं, उनसे तो परब्रह्म परमात्मा अभिन्न ही होता है। इसलिए उसका निषेध कभी कोई नहीं कर सकता।

इसप्रकार जब गजेन्द्रने भगवान्‌की स्तुति करके सूँड़से कमल उठाया और 'हे गोविन्द, हे गोविन्द, मेरी रक्षा करो' कहकर पुकारा तब क्या हुआ ? ब्रह्माजी नहीं आये, शंकरजी नहीं आये, विष्णु भगवान् भी नहीं आये, परन्तु गजेन्द्र जिस परमात्माको, सर्वको अपना स्वरूप मानता जानता तथा देखता था, वह झट वहाँ प्रकट हो गये।

कहते हैं कि गजेन्द्रकी रक्षा के लिए जब नारायण भगवान् वैकुण्ठसे चले तब विष्वक्सेनजीने उनके सामने उनकी खड़ाऊँ रक्खी। लेकिन नारायण भगवान्‌ने उसपर इतने जोरसे पाँव रक्खा कि खड़ाऊँ टूट गया। गरुड़आकर बोले कि महाराज, मेरी पीठपर चढ़िये। परन्तु नारायण भगवान्‌को इतनी त्वरा थी कि उन्होंने गरुड़को एक ओर झटक दिया। भगवान्‌ने 'गो' तो सुना

वैकुण्ठमें, परन्तु 'विन्द' तब सुना जब उनका धरावतार हो गया। भगवान् उस सरोवरमें ही अवतीर्ण हो गये।

भगवान्‌ने ग्राहके बारेमें कहा कि यह ग्राह है तो क्या हुआ ? इसने हमारे भक्तका पाँव तो पकड़ रक्खा है। इसलिए पहले मैं भक्तके भक्तका ही उद्धार करूँगा, बादमें भक्तका उद्धार करूँगा। यह कहकर भगवान् झट गजेन्द्रको पकड़कर बाहर ले आये और ग्राहका उद्धार कर दिया।

वह ग्राह भी कोई साधारण ग्राह नहीं था, अपने पूर्व-जीवनमें गन्धर्वथा, देवता था। एक बार उसने किसी कुरूप महात्माकी हँसी उड़ायी थी। उनका पाँव पकड़कर खींच दिया था। इसलिए उन्होंने ग्राह होनेका शाप दे दिया। इसप्रकार राजा इन्द्रद्युम्न और गन्धर्व दोनों ही महात्माके प्रति अपराध करनेके कारण क्रमशः गजेन्द्र तथा ग्राह हो गये थे।

इसलिए भगवान्‌ने एक साथ दोनोंका उद्धार कर दिया, दोनोंकी मुक्ति कर दी—जो पकड़ा गया था, उसकी भी और जो पकड़नेवाला था, उसकी भी। असलमें परमात्माके स्वरूपमें ग्रहण-अग्रहणका, गृहीत-अगृहीतका कोई भेद नहीं होता। अतः भगवान्‌ने गज-ग्राह दोनोंको मुक्त कर दिया।

इसके बाद यह कथा आती है कि एक बार दुर्वासाजीको कहीं अम्लान कमल-कुसुमकी माला मिली। दुर्वासाजीका मन हुआ कि वे वह माला इन्द्रको पहनायें। संयोग-वश इन्द्र मार्गमें मिल गये, जो ऐरावतपर आरूढ़ होकर कहीं जा रहे थे। दुर्वासाजीने अपने संकल्पके अनुसार वह दिव्य माला इन्द्रके गलेमें पहना दी। लेकिन इन्द्र उस मालाके महत्त्वको समझते नहीं थे। अथवा वे अपने इन्द्रत्वके अभिमानमें आगये थे। इसलिए उन्होंने वह माला अपने गलेसे निकाली और ऐरावतके गलेमें पहना दी। हाथीने उस मालाको अपनी सूँड़से खींच लिया और धरतीपर डालकर अपने पाँवसे रौंद दिया। यह काम दुर्वासाके देखते-देखते एक क्षणमें हो गया। अब तो दुर्वासाको आगया क्रोध और उन्होंने कहा कि तुमने इस दिव्य मालाका तिरस्कार किया है, इसलिए तुम लक्ष्मीरहित हो जाओ-'निःश्रीको भवान्'!

अब तो दुर्वासाके इस शापसे इन्द्र हो गये भ्रष्ट, विश्व हो गया निःश्रीक और देवलोकमें स्थापित हो गया बलिका राज्य ! सब देवता मिलकर ब्रह्मा और शंकरजीके पास गये तथा सबने मिलकर भगवान्‌की बड़ी स्तुति की।

देखो, जितनी भी स्तुतियाँ होती हैं, उन सबमें प्रायः यही कथन रहता है कि प्रभो, आप ही पृथिवी हो, जल हो, अग्नि हो, वायु हो, आकाश हो, सूर्य-चन्द्रमा हो और मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार हो। इसलिए ब्रह्मा, शिव तथा देवताओंने भी ऐसी ही स्तुति की। भगवान् चतुर्भुज-रूप से उनके सामने प्रकट भी हो

गये। ब्रह्मा और शंकरने उनका दर्शन किया। परन्तु अन्य देवताओंकी आँखें चौंधिया गयीं। इसलिए उन लोगोंने फिर भगवान्‌की स्तुति की और अपना दुःख निवेदित किया।

अब भगवान्‌ने प्रकट होकर कहा कि देखो ब्रह्माजी, शंकरजी और देवताओं, हर समय तुम्हारा पक्षपात नहीं किया जा सकता। हमारे दुश्मनको कोई दूसरा आकर मार दे, यह कोई युक्ति-युक्त बात नहीं है। इस समय बलि धर्ममें स्थित है। जो ठीक-ठीक रास्तेसे चल रहा हो, उसको ईश्वर भी विचलित नहीं कर सकता। इसलिए उचित यह है कि तुम लोग निहत्थे होकर बलिके पास जाओ और उनसे सन्धि कर लो—'सन्धिर्विधीयताम्।' यदि अपना शत्रु बलवान् हो तो उससे सन्धि कर लेना ही उचित है, इस समय असुर लोग जो-जो चाहें, सब स्वीकार कर लो। शान्ति से सब काम बन जाते हैं, क्रोध करनेसे कुछ नहीं होता। भगवान्‌ने देवताओंको सन्धि करनेकी सब विधियाँ भी बता दीं।

जब असुरोंने देवताओंको बलिके पास निहत्थे आते देखा तब चाहा कि उनको बन्दी बना लें। लेकिन बलिने मना कर दिया और कहा कि इससे हमारे यशका नाश हो जायेगा। फिर तो सब असुर चुप हो गये।

देवतालोग बलिके पास पहुँचे। परस्पर सन्धिकी बातें हुईं। यह निश्चय हुआ कि क्षीर-सागरका मन्थन किया जाय। उससे जो अमृत निकलेगा, उसके सब भागीदार होंगे और उसको पीकर सभी अमर हो जायेंगे।

इसके बाद योजना बनी कि मन्दराचलको मथानी और वासुकि नागको रस्सी बनाकर क्षीर-सागरका मन्थन किया जाय। लेकिन जब देवता-दैत्य मन्दराचल लेने गये तब वह उनसे उठे नहीं। एकबार उठा भी तो गिर पड़ा और उसके नीचे दबकर देवता-दैत्योंके हाथ-पाँव टूट गये, उनका अंग-भंग हो गया।

देखो, क्षीर-सागर सत्त्वगुणका समुद्र है। जब उसका मन्थन करना होता है तब दैवी—वृत्ति और आसुरी वृत्ति दोनोंको सत्त्वोन्मुख होना पड़ता है। तभी उसके मन्थनसे अमृतत्वरूप परम फलकी प्राप्ति होती है।

जब देवता-दैत्य दोनोंसे मन्दराचल नहीं उठा तब उन्होंने भगवान्‌का स्मरण किया। भगवान् गरुड़पर चढ़कर आये। उन्होंने मन्दराचलको उठाया और गरुड़की पीठपर रख दिया।

देखो, मनुजी महाराज गरुड़के सम्बन्धमें क्या कहते हैं? उनका कहना है कि वेदके शब्दोंसे ही सारी-की-सारी स्थितियाँ और सृष्टियाँ निर्मित हुई हैं। वेदके शब्द बड़े प्रबल हैं, गरुड़जी शब्दात्मक हैं, शब्द प्रतिपाद्य हैं। भगवान्

प्रत्यक्ष, अनुमानके द्वारा गम्य नहीं हैं। अर्थापत्ति अनुपलब्धि उनका कुछ बिगाड़ नहीं सकती। वहाँ उपमान चल नहीं सकता और किसी ऐतिह्य प्रमाणकी गति नहीं है। भगवान् केवल शब्दके द्वारा अभिव्यक्त होते हैं, शब्दके माध्यमसे ही उनका प्रकाश होता है।

उसी शब्द-गरुड़पर आरूढ़ होकर और उसके पंखोंपर मन्दराचल रखकर भगवान् आये और उन्होंने मन्दराचलको समुद्रमें डाल दिया। लेकिन मन्दराचल समुद्रमें कभी उतराने तो कभी डूबने लगा। अतः भगवान्ने उसको डूबनेसे बचानेके लिए उसके नीचे आधारशक्तिके रूप में कच्छपावतार ग्रहण किया और ऊपर भी एक दूसरा रूप ग्रहण करके उसको दबाया। उसके बाद जब मन्दराचल स्थिर हो गया तब वासुकि नागको नेति बनाकर उसमें लपेटा गया। वासुकिसे यह तय हो गया था कि अमृत निकलनेपर उसका भाग उनको भी दिया जायेगा।

अब मन्थन प्रारम्भ होनेके पूर्व देवतालोग लगे वासुकिके मुँहकी ओर और दैत्यलोग लगे पूँछकी ओर। लेकिन बादमें दैत्योंने पूँछकी ओर लगनेमें अपनी तौहीन समझी और कहा कि हम लोग बड़े भाई हैं, इसलिए पूँछकी ओर नहीं लगेंगे। इसपर देवता लोग भी अड़ गये कि हम तो मुँहकी ओर ही रहेंगे। भगवान्ने दोनों पक्षोंमें बीच-बचाव करते हुए कहा कि बाबा, छोटी-सी बातके लिए क्यों झगड़ते हो ? इससे तो जो बड़ा काम होने वाला है, वह नहीं हो सकेगा। तुम लोगोंको सम्पन्न होनेवाले कार्यके गौरवका विचार करके इस प्रकार नहीं झगड़ना चाहिए।

यह कहकर भगवान्ने आदेश दिया कि देवताओ, तुमलोग चलो पूँछकी ओर और दैत्योंको मुँहकी ओर लगने दो। देवताओंने आदेशका पालन किया। इस आदेशका महत्त्व उनको तब मालूम हुआ, जब मन्थन प्रारम्भ होनेपर वासुकिकी विष-मिश्रित साँस निकलने लगी। उससे मुँह की ओर लगे दैत्योंको कष्ट होने लगा। किन्तु वही विष-मिश्रित साँस बादल बनकर पूँछकी ओर लगे देवताओंपर ठण्डा जल बरसाने लगी।

अब आप यहाँ ध्यान दीजिये। मन्दराचलके नीचे भगवान् कच्छप रूपसे आधार बने हुए हैं। ऊपरसे भगवान् दबा रहे हैं। फिर देवता दैत्योंमें शक्ति-रूपसे अनुप्रवेश किये हुए हैं। इतनेपर भी जब मन्थनका काम ठीक तरहसे नहीं हो पा रहा है तब प्रकट-रूपसे उन्होंने एक हाथसे वासुकिकी पूँछ पकड़ी और दूसरे हाथसे उनका मुँह पकड़ लिया। इससे अनुमान होता है कि भगवान् कितने विशाल हैं। वस्तुतः जिनकी नाभिमें आकाश समा जाता है, उन प्रभुके लिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। भगवान्के शरीरमें जिन

आभूषणों आदिका वर्णन किया गया है, वे भी सब उनकी व्यापकताके ही सूचक हैं। भगवान्‌के मुकुटमें तो ब्रह्मलोक रहता है, पाँवोंमे नीचेके लोक रहते हैं और कमरमें धरती रहती है। इसप्रकार भगवान्‌के आकारका कहीं अन्त नहीं है।

अब जब मन्थन होने लगा तब उसमें कोई-न-कोई विघ्न बाधा भी जरूर आनी चाहिए। हम कोई भी अच्छा काम करने लगते हैं तब उसमें कुछ-न-कुछ विघ्न-बाधा अवश्य उपस्थित होती है-'श्रेयांसि बहु विघ्नानि'। ऐसा यह दिखानेके लिए होता है कि जो विघ्न-बाधासे डरकर काम छोड़ देता है, उसको सफलता नहीं मिलती। सफलता उसके बारेमें यह सोचने लगती है कि जब यह एक काम शुरू करके विघ्न-बाधाके डरसे उसको छोड़ देगा तब इसके द्वारा शुरू किये गये दूसरे कामका भी यही हाल होगा और फिर वह उसके समीप नहीं जाती। इसलिए उत्तम गुणवाले पुरुष जब किसी कामको प्रारम्भ कर देते हैं तब उसको बीचमें नहीं छोड़ते—

प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति । नी० श० २७

तो, मन्थन प्रारम्भ होनेपर विघ्नरूपसे निकला क्या ? कालकूट विष निकला। विष भी एक रत्न ही है। यदि सृष्टिमें विष न हो तो अनेक रोगोंका उपचार नहीं हो सकता। 'बिषस्य विषमौषधम्'- अनेकानेक रोगोंकी निवृत्तिके लिए विषका प्रयोग औषधिके रूपमें होता है। औषधि क्या है ? 'ओषति दोषान् धत्ते गुणान् इति ओषधिः'-जो हमारे जीवनमें दोषोंको मिटाकर गुणाधान कर दे, जो हमारे जीवनमें नहीं है, उसको लाकर भर दे, उसका नाम औषधि है। वह तीन काम करती है-एक तो रोगके कारणका निवारण करती है, दूसरे पौष्टिक पदार्थसे स्वास्थ्यको परिपुष्ट करती है और तीसरे हमारे जीवनमें जिन तत्त्वोंका अभाव है, उनको परिपूर्ण करती है। इस प्रकार हमारे जीवनमें विषका बड़ा भारी महत्त्व है।

मन्थनसे जब कालकूट विष निकला तब देवता-दैत्य दोनों ही बहुत घबराये और कहने लगे कि हाय-हाय अब क्या होगा ? इससे तो दुनिया जल जायेगी, नष्ट हो जायेगी।

इधर विष्णु भगवान् तो मन्थन कर ही रहे थे, शंकर भगवान् अपने ध्यानमें मग्न थे। उनको न देवताओंसे मतलब, न दैत्योंसे मतलब ! इसलिए विष्णु भगवान् ने कहा कि भाई शंकरजीको भी अपने साथ ले लो। अब सब देवता-दैत्य शंकरजीसे प्रार्थना करने लगे कि महाराज, आप प्रलयके देवता हैं। लेकिन अभी प्रलयका समय आया नहीं हैं और यह विष समयसे पहले

ही विश्वका प्रलय करना चाहता है। प्रलय अभी नहीं होना चाहिए। आप इस विषसे रक्षा कीजिये।

शंकरजीने कहा कि अच्छी बात है। इसकी व्यवस्था मैं करता हूँ। फिर उन्होंने अपनी श्रीमती गौरीजीसे पूछा कि देखो देवी, प्रजापर बड़ा भारी कष्ट आ पड़ा है। इस समय हमारा यह कर्त्तव्य है कि हम प्रजाका कष्ट दूर करें।

यह सुनकर गौरीजीने शंकरजीका अभिनन्दन किया और कहा कि जो साधु-महात्मा हैं, सत्पुरूष हैं, वे प्रायः लोगोंकी तकलीफ देखकर स्वयं उस तकलीफ को अपने ऊपर ले लेते हैं। अमलात्मा पुरुषकी यही परम आराधना है कि दूसरेका दुःख दूर करनेके लिए उसका दुःख अपने ऊपर ले ले—

तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायशो जनाः।
परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः।। ८-७-४४

इस प्रकार जब गौरीजी सहमत हो गयीं तब शंकरजी उस विषको पी गये। महात्मा लोग कहते हैं कि शंकरजीने सारा विष समेटकर उसको जीभपर नहीं रक्खा, क्योंकि जीभपर तो भगवान्‌का नाम रहता है। जहाँ नाम है, वहाँ यदि जहरकी स्थिति होगी तो नाममें लोगोंकी आस्था घट सकती है। इसी तरह उन्होंने उस विषको हृदयमें भी नहीं रक्खा कि उसमें भगवान्‌का रूप रहता है। इसलिए शंकरजीने उस विषको गलेमें अटका लिया कि जब प्रलयका समय आयेगा तब मैं इसको बाहर निकालकर इसीके द्वारा प्रलय कर दूँगा। फिर मुझे प्रलय करनेकी जरूरत ही नहीं पड़ेगी।

जब शंकरजीने अपने गलेमें गरल रख दिया तब उनका गला कुछ नीला हो गया और वह नीलापन भगवान् शंकरका आभूषण बन गया—'तच्च शम्भोर्विभूषणम्।' दूसरोंका कष्ट दूर करते समय जीवनमें दाग लग जाय तो वह दागभी आभूषणके समान हो जाता है।

कालकूट निकलनेके बाद जब मन्थन प्रारम्भ हुआ तब गोमाता निकलीं और वह ब्राह्मणोंको मिलीं। फिर जब उच्चैःश्रवा नामक अश्व निकला तब दैत्योंने कहा कि यह हमको मिलना चाहिए और यह उनको मिल गया। उसके बाद हाथी निकला और वह इन्द्रके हिस्सेमें पड़ा।

जब मन्थन हो रहा था तब भगवान्‌ने अपने कौस्तुभसे कहा कि अनादि कालसे मेरे गलेमें लगे हुए हो, आज जरा घूम आओ। इतनेमें वह समुद्रमें जाकर पद्मराग मणिके रूपमें प्रकट हो गया-'पद्मरागो महोदधेः-' और प्रकट होते ही भगवान्‌के गले में पहुँच गया।

देखो, कौस्तुभ या पद्मरागमें कोई छेद नहीं रहता और उसको बाँधना भी नहीं पड़ता। भला भगवान्‌के गलेमें जो चीज रहे, उसमें भी छिद्र रह जाय और उसको भी बन्धनमें बँधना पड़े तो उसपर भगवान्‌के सान्निध्यका प्रभाव ही क्या पड़ा ?

उसके बाद हुए मन्थनद्वारा कल्पवृक्ष निकला, जो देवताओंको मिला। अप्सराएँ निकलीं और वे भी देवताओंको मिलीं। फिर साक्षात् भगवती लक्ष्मी निकलीं। उनके प्रकट होते ही विश्वमें मंगल-ही-मंगल हो गया। क्योंकि लक्ष्मीदेवी द्वारा ही सम्पूर्ण प्राणियोंपर भगवान्‌का अनुग्रह उतरता है। इसलिए जब उनका प्राकट्य हो गया तब सब देवता-दैत्य उनके दर्शनोंके लिए व्याकुल हो गये। उन्होंने सबको शान्त किया।

कहते हैं कि समुद्र-मन्थनके समय लक्ष्मीजी नारायण भगवान्‌से बोलीं कि देखिये, हमलोग अनादिकालसे साथ-साथ रहते आ रहे हैं। मैं आपकी पत्नी लक्ष्मी और आप मेरे पति नारायण। हम दोनों लक्ष्मीनारायण कहलाते हैं लेकिन मेरी सखियाँ पूछती रहती हैं कि वे सब हमारे ब्याहकी वर्षगाँठ कब मनायें ? यह ऐसा प्रश्न है, जिसका उत्तर न आप दे सकते हैं और न मैं दे सकती हूँ।

यह सुनकर नारायण भगवान्‌ने कहा कि देवी, आज बहुत अच्छा मौका है। तुम समुद्रको अपना पिता बनाकर उसकी पुत्रीके रूपमें प्रकट हो जाओ फिर हमलोग आज ही ब्याह कर लेंगे और जो लोग हमारे ब्याहका मंगलोत्सव नहीं देख सके हैं, वे देख लेंगे।

लक्ष्मीजी नारायण भगवान्‌की आज्ञा स्वीकार करके समुद्रसे प्रकट हो गयीं और स्वयंवरकी लीला करने लगीं। सबलोग पंक्तिमें बैठाये गये। लक्ष्मीजीने कहा कि जो मुझे नहीं चाहता, उसीके साथ मेरा विवाह होगा। क्योंकि मुझको चाहनेवाला आज चाहेगा और फिर मिल जानेपर नहीं चाहेगा, जिसके मनमें मेरी कामना है, जो कामवश मुझको चाहेगा, वह तो मेरी हिंसा ही करेगा। इसलिए मुझे निष्काम भावसे चाहनेवाला ही मेरा ठीक-ठीक आदर सत्कार करेगा।

इसके बाद लक्ष्मीजीने सबमें दोष निकालने शुरू किये-जैसे अमुकको ज्ञान तो बहुत है, लेकिन यह लोभी है। अमुकका संग अच्छा नहीं है। अमुक बूढ़ा हो गया है। अमुक क्रोधी है, आदि-आदि। इसप्रकार लक्ष्मीजी सबको फेल करती गयीं। फिर उनकी दृष्टि समुद्रकी ओर गयी तो उधर एक स्थानपर कोई सोता हुआ दिखायी पड़ा। पता लगाया तो मालूम पड़ा कि वे तो साक्षात् श्यामवर्ण नारायण हैं, जो सत्त्वगुणके समुद्र श्वेत-श्वेत क्षीर-

सागरपर पीताम्बर ओढ़े लेटे हैं। स्वयंवरमें उनका आना इसलिए नहीं हुआ कि उनकी ब्याह करनेकी इच्छा नहीं है। वे विश्राम कर रहे हैं।

लक्ष्मीजी बोली कि बस-बस मैं तो उन्हींके साथ ब्याह करूँगी और वे सबको छोड़कर हाथमें वरमाला लिये हुए पहुँच गयीं भगवान्‌के पास। भगवान्‌ने जरा आँख खोलकर देखा, दोनोंकी आँखे चार हुई। उनमें मिली-भगतता पहलेसे थी ही। इसलिए लक्ष्मीजीने उनके गलेमें वरमाला डाल दी और भगवान्‌ने उनको अपने वक्षस्थलपर स्थान दे दिया। दूसरे लोग देखते रह गये !

लक्ष्मीजीके बाद धन्वन्तरि प्रकट हुए। वे स्वयं वैद्यके रूपमें एक रत्न हैं। और उनके हाथमें जो अमृत-कलश है, वह तो एक रत्न है ही। इसलिए जब वे हाथमें अमृत-कलश लेकर प्रकट हुए तब दैत्योंने झपटकर उनके हाथसे अमृत-कलश छीन लिया, परन्तु दैत्योंमें एकता कहाँ ? जब एक दैत्यके हाथमें अमृत कलश गया तब दूसरेने उसका विरोध किया। उनमें जो एक दूसरेसे बलवान् होता, बह उसे छीन लेता। इसप्रकार उनमें कई गुट बन गये और वे परस्पर लड़ने लगे।

यह देखकर देवतालोग बहुत निराश हो गये। उसी समय भगवान्‌ने मोहिनी-रूप धारण कर लिया। अब तो उनकी सुन्दरता देखकर देवता-दैत्य सभी मुग्ध हो गये।

दैत्योंने कहा कि देवीजी, हम भाई-भाई इस अमृतके लिए आपसमें लड़ रहे हैं। आप पंचायत करके हमारा झगड़ा मिटा दीजिये। आप जो निर्णय करेंगी, उसको हम लोग मान लेंगे।

मोहिनीने कहा कि देखो, तुम लोगोंको मेरी जाति-पाँतिका पता नहीं है, मेरे माँ-बाप और चरित्रका पता नहीं है। एक अज्ञात-कुलशीला पुंश्चलीपर कोई भी विद्वान् विश्वास नहीं करता। फिर तुमलोग मुझपर विश्वास क्यों करते हो ?

दैत्योंने कहा कि देवीजी, तुम चाहे जैसी भी हो, हम लोग तुम्हारी पंचायत मानेंगे।

मोहिनीने कहा कि तब मैं जो कुछ करूँगी, वह तुम्हें मानना पड़ेगा; मेरी स्वीकृतिके बिना कोई काम नहीं होगा।

दैत्योंने कहा कि स्वीकार है। मोहिनी बोलीं कि तब तुम सबलोग पहले स्नान करो, सन्ध्या-वन्दन करो, गायत्री-मन्त्र जपो और कुशासन पर पंक्तिबद्ध होकर बैठ जाओ।

अब तो जिन दैत्योंने कभी यज्ञोपवीत नहीं पहना था, वे भी उस दिन यज्ञोपवीतधारी हो गये। उन्होंने स्नान किया और पवित्रतापूर्वक सन्ध्या-वन्दन तथा गायत्री मन्त्रका जप करते हुए पंक्तिबद्ध होकर बैठ गये। एक ओर दैत्य बैठे, दूसरी ओर देवता बैठे।

मोहिनीने फिर एक बार पूछा कि तुम लोगोंको मेरी व्यवस्था मंजूर है? दैत्य-देवताओंने एक स्वरसे कहा कि 'हाँ मंजूर है।' इसके बाद मोहिनी देवताओंकी ओर से अमृत पिलाने लगीं। बीच-बीचमें मुस्करा-मुस्कराकर दैत्योंकी ओर देखती जायँ और इशारा करें कि तुमलोग जरा ठहरो, मैं इनको निपटाकर अभी तुम्हारी ओर आती हूँ।

उसी समय राहु नामका दैत्य वेश बदलकर सूर्य-चन्द्रमाके बीच बैठ गया। लेकिन उसकी पोल खुलते देर नहीं लगी। मोहिनी रूपधारी भगवान्ने जब देवताओंको अमृत पिला लिया तब वहीं अपने चक्रद्वारा राहुका सिर उसके धड़से उड़ा दिया। उसके शरीरके दो भाग हो गये— एक भाग राहु और दूसरा भाग केतु!

इसके बाद दैत्योंको पता चल गया कि मोहिनीने उनके साथ धोखा किया है, छल-कपट किया है। वे अपने अस्त्र-शस्त्र लेकर मोहिनीकी ओर दौड़े। मोहिनीने अपने कपड़े और सिरके बाल उतार दिये, अपना सारा मेकअप मिटा दिया। साक्षात् नारायण ही मोहिनीका रूप धारण किये हुए थे। उन्होंने सोचा कि अब यहाँके झगड़ेसे उनका क्या काम! वे वहीं अन्तर्धान हो गये।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित्, यद्यपि अमृतके लिए देवता और दानव दोनोंकी ओरसे एक-जैसा प्रयास किया गया, तथापि भगवान्की प्रेरणा, अनुकूलता एवं सहायतासे काम करनेवाले देवताओंको तो अमृत मिल गया और भगवान्से प्रतिकूल रहनेवाले दैत्यलोग उससे वंचित रह गये। असलमें भगवान् जिसके पक्षमें होते हैं, वही सत् है और जिसके पक्षमें नहीं होते, वह असत् है। इसलिए सत्स्वरूप, चित्स्वरूप और आनन्दस्वरूप भगवान्की भक्तिही मनुष्यको उनके सम्मुख करती है तथा उसीसे मनुष्यका लोक-परलोकमें मंगल होता है।

भगवान्के अन्तर्धान होते ही देवताओं और दानवोंमें भंयकर युद्ध छिड़ गया। दोनों पक्षोंके वीर नाना प्रकारके पशु-पक्षियोंपर सवार होकर लड़ने लगे। यहाँतक की मक्खियों-मच्छरोंको भी अपनी-अपनी सवारियाँ बनाकर देवता-दैत्य आपसमें टकरा गये। वह भीषण देवासुर-संग्राम आज भी याद किया जाता है। इस सृष्टिमें जितने भी युद्ध हुए हैं, उनमें देवासुर-संग्रामकी

छाया जरुर रही है। वह देवासुर-संग्राम इतना भीषण हुआ कि उसमें अमृत पीनेवाले देवता भी मरने लगे। श्रीमद्भागवतमें इसका वर्णन साफ-साफ है। प्रश्न उठा कि अमृत पीनेके बाद देवताओंकी मृत्यु क्यों हुई ? इसलिए हुई कि अमृत प्रतिबद्ध हो गया, उसके क्रियाशील होनेमें प्रतिबन्ध उपस्थित हो गया। क्योंकि देवताओंकी ओरसे अमृत प्राप्त करनेमें बेईमानी की गयी। दैत्योंको उनका हिस्सा नहीं मिला, इसलिए अमृत निष्फल हो गया और वह युद्धमें अपना फल ही न दे।

अब तो देवतालोग घबराकर भगवान्‌की आराधना करने लगे। भगवान् देवताओंके पक्षमें प्रकट हुए। उन्होंने यही सोचकर दैत्योंको अमृत नहीं पिलाया कि उनको अमृत पिलाना साँपोंका दूध पिलाने-जैसा विषवर्द्धक हो जाता। इसलिए जब भगवान् देवताओंकी सहायताके लिए प्रकट हो गये तब अमृत तुरन्त क्रियाशील हो गया।

भगवान्‌ने प्रकट होनेके बाद अपने चक्रसे अनेक असुरोंको मारा, उनके प्रोत्साहनसे इन्द्रने भी अपने वज्र द्वारा अनेक असुरोंका वध किया। जिन असुरोंको मारनेमें अड़चन थी, उनको मारनेका उपाय आकाशवाणीने बता दिया। बलिसे आमना-सामना होनेपर इन्द्रकी दो-दो बातें हुईं। इन्द्रने कहा कि बलि, आओ मेरे सम्मुख और अपना पराक्रम दिखाओ।

बलिने कहा कि इन्द्र देखो, जय-पराजय तो संसारके नियम हैं। जीवनमें आते ही रहते हैं। जब हमलोग युद्ध-भूमिमें एक-दूसरेके आमने-सामने हैं तब हमारे लिए जय-पराजयकी क्या बात है। तुम भी अपना बल प्रकट करो, हम भी अपना बल प्रकट करते हैं—

संग्रामे वर्तमानानां कालचोदितकर्मणाम्।
कीर्तिर्जयोऽजयो मृत्युः सर्वेषां स्युरनक्रमात् ।। ८-११-७

इसके बाद बलि और इन्द्रको युद्ध प्रारम्भ होनेपर इन्द्रने अपने वज्रके प्रहारसे बलिका विमान गिरा दिया और बलि मूर्च्छित होकर धरतीपर गिर पड़े। उनके साथी दैत्यलोग उनका शव उठाकर शुक्राचार्यके पास पहुँच गये। फिर तो बाकी दैत्योंको देवतालोग मारने लगे और दैत्योंमें हा-हा-कार मच गया।

इतनेमें ब्रह्माजीके भेजे हुए नारदजी वहाँ आगये। उन्होंने कहा कि देखो देवताओं, सृष्टिमें हमेशासे तुमलोग और दैत्य रहते आये हैं। इस युद्धमें तुम्हारी जीत हो गयी है। अब दैत्योंके वंशका लोप कर देना तुम्हारे लिए उचित नहीं है। दैत्य जीवित रहेंगे तभी तो तुमलोगोंकी महिमा बढ़ेगी और लोग कहेंगे कि दैत्योंके मुकाबिले देवतालोग ऐसे होते हैं।

नारदजी देवर्षि हैं, देवताओंके पुरोहित हैं। इसलिए उनकी बात मानकर इन्द्रादि देवताओंने युद्ध बन्द कर दिया और वे फिर स्वर्गके राजा हो गये। उनको अमृत मिल ही गया था। इसलिए वे बड़े प्रसन्न हुए।

लेकिन देवताओंको शंका तो थी ही। इसलिए उन्होंने विष्णु भगवान्‌से प्रार्थना की कि प्रभो, आपने इस समय तो हमारी विजय करवा दी लेकिन दैत्यलोग यदि शंकरजीके पास चले जायँ, वे इन्हें वरदान दे दें और स्वयं इनके पक्षमें लड़नेको आजायँ तब क्या होगा ? भगवान्‌ने कहा कि चिन्ता मत करो।

इसके बाद भगवान्‌ने मन-ही-मन शंकरजीका स्मरण किया और कहा कि शंकरजी अब दैत्योंके पक्षमें मत जाइयेगा। शंकरजीने कहा कि महाराज, मेरा तो यह नियम है कि जो मेरी भक्ति करेगा, उसका पक्ष मैं अवश्य लूँगा। भगवान्‌ने कहा कि अच्छा, ऐसा कोई उपाय है, जिससे आप दैत्योंका पक्ष न लें ? शंकरजीने कहा कि हाँ, एक उपाय है। 'क्या उपाय है महाराज' ? यह उपाय है कि आप अपना यह मोहिनीरूप धारण करके मेरे सामने आइये। जब आपने अपना वह रूप दिखाया था तब मैं वहाँ नहीं था। विष पीकर कुछ मस्त हो गया था। इसलिए अब आप मुझे उस रूपका दर्शन कराइये। फिर मैं आपकी बात मान लूँगा।

इस प्रकार जब भगवान् विष्णु और शंकरजीने मनके टेलीफोन द्वारा आपसमें सलाह कर ली तब मोहिनी-रूप प्रकट हो गया। अब तो उनको देखकर शंकरजी इतने मुग्ध हो गये कि सबके सामने नंगे होकर उनके पीछे-पीछे दौड़ने लगे। वह दृश्य देखकर दैत्योंके मनमें आया कि ये क्या हमारे लिए देवताओंसे लड़ाई करेंगे ? ये तो विष्णुके सामने यों ही पराजित हो गये। दैत्योंने स्वयं ही शंकरजीकी शरणमें जानेका विचार छोड़ दिया।

देखो, यहाँ शंकरजीके सम्बन्धमें कोई शंका नहीं करनी चाहिए। श्रीमद्भागवत वैष्णव पुराण है। इसलिए इसमें शिवकी अपेक्षा विष्णुकी महिमा अधिक दिखायी गयी है। जब हम किसी देवताके नामसे ब्रह्मका वर्णन करते हैं तब वह होता है ब्रह्म ही, क्योंकि 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।' लेकिन यहाँ शिव नामक ब्रह्मसे नारायण नामक ब्रह्मको बड़ा बनाना था, इसीलिए यह कथा दी गयी।

इस कथाका उद्देश्य यह भी दिखाना हो सकता है कि जब भगवान् शंकर जैसे-आत्माराम स्त्रीका उत्तम रूप देखकर मुग्ध हो जाते हैं तब औरोंकी तो बात ही क्या है ? इसलिए दूसरोंको इस सम्बन्धमें और भी सावधान रहना चाहिए।

तीसरी बात इस कथासे यह ध्वनित होती है कि शंकरजी तो अपने स्वरूपमें निरन्तर स्थित रहते हैं। शरीरमें क्या हुआ और क्या नहीं हुआ—इस कारणसे उनके चित्तमें कोई ग्लानि या हर्षका उदय नहीं होता। इसीलिए विष्णु भगवान्‌ने उनकी बड़ी प्रशंसा की है।

चौथी बात इस सम्बन्धमें महात्माओंने यह बतायी है कि शंकरजी द्वारा विष-पान करनेसे उनके शरीरमें जो विष भर गया था, वह बाहर निकल जाय और उनका शरीर सर्वथा स्वस्थ हो जाय-इसलिए भी इस लीलाका वर्णन किया गया।

इस प्रसंगके बाद मन्वन्तरोंका वर्णन करके श्रीशुकदेवजी महाराजने बताया कि परीक्षित, जब युद्ध-क्षेत्रसे दैत्यलोग बलिका मृत शरीर उठा ले गये तब शुक्राचार्यने संजीवनी पिलाकर उनको जीवित कर दिया।

वे फिर स्वस्थ और प्रसन्न हो गये। उन्होंने भृगुजी और उनके वंशके ब्राह्मणोंकी बड़ी भारी सेवा की। शुक्राचार्यने बलिसे विश्वजीत नामका यज्ञ करवाया, जिससे कि उनको फिरसे देवताओंपर विजय प्राप्त हो जाय। उस यज्ञके अग्नि-कुण्डमें से बड़ा सुन्दर दिव्य रथ निकला, घोड़े, अस्त्र-शस्त्र और सारथि आदि भी निकले। दैत्योंका समूह इकट्‌ठा हो गया। उन्होंने फिरसे स्वर्गपर चढ़ाई की और विजयी भी हो गये।

इसलिए गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि **'स्वर्गउ स्वल्प अन्त दु:ख दाई।'** इस सृष्टिका यह नियम है कि यहाँ यदि कोई स्थान मिलेगा तो उससे भ्रष्ट होनेकी भी सम्भावना बनी रहेगी। वाल्मीकि रामायणमें यह श्लोक आया है-

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम्॥

कोई कितनी भी ऊँचाईपर जाय, वहाँसे उसको नीचे गिरना पड़ेगा। कैसा भी संयोग हो, उससे वियोग होगा और कैसा भी जीवन हो, उसको मृत्युकी प्राप्ति होगी। यह संसारका नियम है कि यहाँ कुछ भी इकट्ठा करो, एक दिन वह बिखर जायेगा।

इसलिए एक दिन इन्द्रका राज्य फिर छिन गया। बलि स्वर्गके राजा हो गये। उनके यहाँ विश्वजित यज्ञ होने लगा और उन्होंने सोचा कि अब इस अपने राज्यको हमेशाके लिए अचल कर देंगे।

यह बात जब देवमाता अदितिको मालूम हुई तब वे बहुत दु:खी हुईं। आपको बताया जा चुका है कि दिति और अदिति दोनों एक ही कश्यपकी

पत्नियाँ थीं। एक ही परमात्मा दोनोंके साक्षी, दोनोंके अधिष्ठान थे, परन्तु दिति दैत्योंकी सृष्टि करनेवाली हुई और अदिति आदित्य अर्थात् देवताओंकी सृष्टि करनेवाली हुई।

एक दिन कश्यपजी महाराज अदितिके आश्रममें आये और उन्होंने देखा कि वहाँ तो बड़ी उदासी छायी हुई है। कश्यपजी बोले कि देवी, तुम उदास क्यों हो ?

देखो, कश्यपजीने यहाँ अदितिसे जो प्रश्न किये हैं, उनसे पता चलता है कि पहलेकी माताएँ उदास क्यों होती थीं ? जब उनके घरमें कोई अतिथि आता और वे उसको भोजन नहीं करा पातीं, उसका सत्कार नहीं कर पातीं, किसीको देनेका वायदा करके नहीं दे पातीं और उनसे भगवान्‌की भक्ति-पूजा नहीं हो पाती, तब उनके मुँहपर उदासी छा जाती थी। असलमें सत्पुरुष लोग अपने स्वार्थकी हानिसे उदास नहीं होते, जब उनके धर्मकी हानि होती है तब उदास होते हैं।

इसीलिए कश्यपजीने इन सब बातोंका उल्लेख करते हुए पूछा कि उदासीका कारण क्या है ? अदितिने उत्तर दिया कि मेरी उदासीका कारण यही है कि हमारे बेटे आजकल जंगल-जंगलमें भटक रहे हैं। उनको खानेको नहीं मिल रहा है। इसलिए मैं उनके प्रति मोह-मायाके कारण उदास हो रही हूँ।

यह सुनकर कश्यपजीने भगवान्‌को धन्यवाद देते हुए कहा कि प्रभो, आपने सृष्टिमें कैसी माया फैला रक्खी है ? उससे तो सारा विश्व ही सम्मोहित हो रहा है। लोग-पत्थरके टुकड़ेको हीरा समझते हैं—'पाषाण-खण्डेष्वपि रत्नबुद्धिः।' खून और मांसके पिण्डको अपना समझते हैं- 'आत्मधीः शोणितमांसपिण्डे'। और, खून-मांस-हड्डीकी बनी स्त्रीको अपनी भोग्या, सुखदायिका समझते हैं। कैसी लीला है भगवान, आपकी-'व्यक्ताऽसौ काचन मोह-लीला।'

अदितिका विचार जाननेके बाद कश्यपजीने उनको पयोव्रत नामक व्रतका उपदेश किया, जो फाल्गुन शुक्ला प्रतिपदासे लेकर एकादशीतव किया जाता है। उसमें भगवान्‌की पूजा होती है और पूजा-कर्त्रीको केवल दूध पीकर रहना होता है। उस व्रत से बड़ी सिद्धि मिलती है। इसलिए अदितिने उस व्रतका अनुष्ठान किया और भगवान् प्रसन्न होकर उसके सामने प्रकट हुए।

देखो, भगवान् उपासकके भावकी उपाधिसे ही प्रकट होते हैं। उनको स्वयं यह अपेक्षा नहीं रहती कि किसकी ओर हों, किसकी ओर न हों, किसके

लिए प्रकट हों और किसके लिए प्रकट न हों। भगवान् तो सर्वसम होनेपर भी, सर्वप्रिय होनेपर भी, अद्वैतस्वरूप होने पर भी जब कोई उनकी अपेक्षा रखता है तब उसकी अपेक्षा पूर्ण करनेके लिए, उसकी अपेक्षाकी उपाधिसे प्रकट होते हैं। 'रक्षापेक्षामपेक्षते।'

जब भगवान् अदितिके सामने प्रकट हुए तब उन्होंने कहा कि देवी, तुम्हारा व्रत पूरा हो गया। तुम जो चाहती हो, वह हो जाएगा। लेकिन यह बात तुम किसीके पूछनेपर भी बताना मत। क्योंकि देवताओंका भाव जितना अधिक गुप्त रक्खा जाता है, उतना ही वह सफल होता है—

नैतत् परस्मा आख्येयं पृष्टयापि कथञ्चन।
सर्वं सम्पद्यते देवि देवगुह्यं सुसंवृतम्।। ८-१७-२०

अब समय आनेपर कश्यप-अदितिके संयोगसे वामन भगवान् सफल हुए। वेदोंमें मन्त्र आता है—

वामनो ह विष्णुरास। इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा
निदधे पदम् विष्णुः समूढमस्य पांसुरे।

विष्णुके बीजका वर्णन भला कौन कर सकता है। हृदयमें जहाँसे प्राण ऊपर जाते हैं, नीचे आते हैं और अपान वायु जहाँसे नीचे जाती है, उस प्राण-अपानके भेदक स्थानमें स्वयं भगवान् वामनरूपसे निवास करते हैं।

जब वामन भगवान् प्रकट हुए तब उनके लिए यज्ञोपवीत, छत्र मेखला, दण्ड आदि संस्कारोंकी सारी व्यवस्था देवताओंने की। उसके बाद वामन भगवान् बलिके यज्ञ-मण्डपकी ओर चल पड़े।

बलिके यज्ञमण्डपके पास वामन भगवान्‌के पहुँचते ही वहाँ जितने लोग थे, सब-के-सब उनका दर्शन करके मुग्ध हो गये। वे इतने सुन्दर, इतने मधुर, इतने प्रभावशाली थे कि बलि-जैसे सम्राट्‌ने यज्ञशालामें-से अग्नि एवं ब्राह्मणोंके साथ बाहर निकलकर उनकी अगवानी की। फिर उनसे प्रार्थना की कि आप यज्ञमें पधारिये।

देखो, इस प्रसंगसे यह विदित होता है कि यज्ञमें बिना बुलाये नहीं जाना चाहिए। यजमान और ब्राह्मणों द्वारा आमन्त्रित होनेके बाद ही जाना चाहिए।

बलिकी प्रार्थना पर वामन भगवान् यज्ञशालाके भीतर गये। उनके बैठनेके लिए सिंहासनकी व्यवस्था की गयी। बलि ने उनका बड़ा भारी सत्कार करते हुए कहा कि महाराज, आप यज्ञमें पधारे हैं। इससे मालूम पड़ता है कि आपको कुछ चाहिए। अतः आपकी जो इच्छा हो माँग लीजिये।

आप जो भी माँगेंगे, हम आपको देनेके लिए तैयार हैं। आपको सोना चाहिए तो सोना लीजिये हाथी चाहिए तो हाथी लीजिए, भूमि–चाहिए तो भूमि लीजिए। और धन चाहिए तो धन लीजिये। आप ब्रह्मचारी हैं। यदि आपको किसी योग्य कन्यासे विवाह करना हो तो वह भी हमें बता दीजिये। आपके लिए सारी व्यवस्था हो जायेगी।

वामनजीने कहा कि बलि, तुम्हारे बाप-दादा जैसे उदार हुए हैं, वैसी ही उदारताकी बात तुम कर रहे हो। सचमुच तुम्हारे मुँहसे ऐसी ही बात सुननेकी सम्भावना थी। तुम्हारे पितामह प्रह्लादने तो अपने पुत्रके विरुद्ध ही न्याय दे दिया था। तुम्हारा प्रपितामह हिरण्यकशिपु तो इतना वीर था कि जब वह वैकुण्ठमें गदा लेकर भगवान्को मारनेके लिए ढूँढने लगा तब भगवान् उससे डरकर उसीके हृदयमें छिप गये। फिर उनको कहीं न देखकर हिरण्यकशिपुने समझाकि विष्णु मर गये और वह वहाँसे चला गया। तुम्हारे पिता विरोचन तो यह जानते हुए भी कि उनसे शत्रुता रखने वाले देवता ब्राह्मण वेश में आये हैं, उनके माँगनेपर अपने शरीरका परित्याग कर दिया तुम ऐसे वंशमें पैदा हुए हो, धन्य हो !

देखो, माँगनेवालेको देनेवालेकी कितनी तारीफ करनी पड़ती है। जबतक माँगनेवाला खुशामद न करे, चापलूसी न करे तबतक देनेवाले देते ही नहीं हैं। इसीलिए महाकवि कालिदासने कहा कि 'स्तोत्रं कस्य न तुष्टये' अपनी तारीफ सुनकर कौन खुश नहीं होगा ?

इसलिए वामनजीकी बात सुनकर बलि और भी प्रसन्न हो गये तथा बोले कि ब्राह्मणदेवता, आपको जो चाहिए, माँग लीजिये।

इतनेमें शुक्राचार्य वामनको पहचान गये। इसलिए वे बोले कि देखो बलि, यह विष्णु है। देवताओंकी भलाई करनेके लिए तुम्हारे पास आया है। तुम इसको कुछ देनेकी प्रतिज्ञा मत करो। नहीं तो यह तुम्हारा सब-कुछ छीनकर ले जायेगा।

इसपर बलिने कहा—गुरुजी महाराज, लोक-व्यवहारकी दृष्टिसे तो आपकी यह बात ठीक है कि मैं देनेकी प्रतिज्ञा करके भी मुकर जाऊँ, क्योंकि सब कुछ दे देनेपर वृत्ति-संकट उपस्थित हो जायेगा। जीवन आपत्तिग्रस्त हो जायेगा। मैं बिल्कुल दरिद्र हो जाऊँगा। लेकिन प्रह्लादका पौत्र बलि यज्ञ-भूमिमें प्रतिज्ञा करके सत्यसे किस प्रकार विचलित हो जाय ? इस पृथिवीपर सबसे बड़ा भार अपनी प्रतिज्ञा असत्य करने वालोंका होता हैं ? मैं सब-कुछ दे सकता हूँ, अपना प्राण भी दे सकता हूँ, लेकिन एक बार प्रतिज्ञा करके उसको तोड़ नहीं सकता।

अब तो शुक्राचार्य बलिसे नाराज हो गये और बोले कि तुम मेरी बात नहीं मानते तो जाओ, श्रीभ्रष्ट हो जाओ !

इसमें सन्देह नहीं कि शुक्राचार्य वीर्यबलमें बड़े प्रबल हैं, परन्तु उनकी बुद्धि कितनी अलौकिक है, यह बलिके प्रसंगसे विदित हो जाता है। इसलिए उनके शुक्रनीति, नामक ग्रंथ में लौकिक दृष्टि की ही प्रधानता है। संस्कृत साहित्य में शुक्रनीति, कामन्दक-नीति आदि अर्थशास्त्रके बड़े-बड़े ग्रन्थ हैं। शुक्रनीतिमें शुक्राचार्यने बताया है कि सब-का-सब धन दान नहीं कर देना चाहिए। आयका कुछ भाग रखना चाहिए धर्मके लिए, कुछ भाग रखना चाहिए यशके लिए, कुछ भाग रखना चाहिए अपने लिए, कुछ भाग रखना चाहिए स्वजनोंके लिए और कुछ भाग रखना चाहिए पूँजी बढ़ानेके लिए। इस प्रकार अपनी आयका विनियोग भिन्न-भिन्न विभागोंमें करना चाहिए।

लेकिन सत्यके प्रेमी बलिने शुक्राचार्यकी बात नहीं मानी। उन्होंने वामन भगवान्‌से पुनः मनचाही वस्तु माँगनेकी प्रार्थना की। इसपर वामन भगवान्‌ने केवल तीन पग धरती माँगी। बलिने समझाया कि यह भी कोई माँग है महाराज ! कोई बड़ी चीज माँगिये। लेकिन वामन भगवान् अपनी माँगपर ही अड़े रहे। उन्होंने कहा कि मुझे और कुछ नहीं चाहिए। मुझको तो जितना प्रयोजन है, उतना ही चाहिए। अन्तमें बलिने संकल्पके लिए जल मँगवाया।

देखो, वक्तालोग यहाँ एक बड़ी हास्यप्रद कथा कहते हैं। वह कथा भागवतमें तो नहीं है, अन्य पुराणोंमें है। कथा यह है कि जब बलिने संकल्पके लिए झारीका जल मँगवाया तब शुक्राचार्य उस झारीकी टोंटीमें, जिसके रास्ते जल निकलता, लघुकाय होकर बैठ गये। इसलिए झारी-में-से जल नहीं निकला। इतनेमें वामन भगवान्‌ने कहा कि देखें जल क्यों नहीं निकलता है ? उन्होंने एक कुशकी नोंक झारीकी टोंटीमें खोंस दी। अब तो उसके भीतर घुसे शुक्राचार्यकी एक आँख फूट गयी और वे काने हो गये।

इस हास्यप्रद कथा का तात्पर्य यह हुआ कि जो दूसरेके दान, औदार्य और धर्ममें बाधा पहुँचाता है, उसकी दृष्टि सम नहीं रहती, वह विषम-दृष्टि हो जाता है।

तो, झारीमें-से जल निकला और बलिने अपनी पत्नीके सहयोगसे जलको हाथमें लेकर यह संकल्प किया—'मैंने तीन पग धरती दे दी।'

अब तो बलिके द्वारा इस प्रकारका संकल्प सम्पन्न होते ही वामन त्रिविक्रम हो गये। उन्होंने एक पगसे बलिका यह लोक नाप लिया और दूसरे पगसे उसका धर्मजन्य परलोक नाप लिया। अब तीसरा पग वे कहाँ रक्खें ? उन्होंने बलिको डाँटकर कहा कि तुम तो बड़े उदार बनते थे। अब बताओ,

मैं तीसरा पग कहाँ रक्खूँ ? उस समय बलिने भगवान्‌के विराट् रूपका दर्शन किया। उसी समय जाम्बवान्‌ने विराट् भगवान्‌की सात परिक्रमा देकर उनका जयघोष किया।

इधर जब दैत्योंने देखा कि उनके स्वामी बलिके साथ छल हुआ है तब वे वामन भगवान्‌के साथ युद्ध करनेके लिए तैयार हो गये। यह देखकर भगवान्‌के पार्षदभी अस्त्र-शस्त्र सज्जित होकर दैत्योंका संहार करने लगे। बलिने दैत्योंको समझा-बुझाकर शान्त कर दिया और युद्ध बन्द हो गया।

बलिने भगवान्‌से कहा कि महाराज, आप नाराज मत होइये। आपने अपने दो पगोंसे हमारा लोक-परलोक ले लिया ठीक है, लेकिन आपके तीसरे पगके लिए हमारे पास अभी तीसरी चीज है। उसको भी आप अपने तीसरे पगसे नाप लीजिये—

पदं तृतीयं कुरु शीर्ष्णि मे निजम्।

आप अपना तीसरा पग मेरे सिरपर रख दीजिये। क्योंकि मेरी सब चीजोंका तो दान हो गया, परन्तु दाताका अभी दान नहीं हुआ। इसलिए अब आप दाताको भी स्वीकार कर लीजिये। क्योंकि दातापनका अभिमान बड़ा दुःख देता है।

अब तो वामन भगवान्‌ने सचमुच बलिके सिरपर अपना पाँव रखकर उनके अहंकारको भी नाप लिया। उन्होंने पहले लोक-परलोक अर्थात् अर्थ-धर्म-काम लिया था, अब उनके अहंकार को भी ले लिया। फिर तो बलिकी मुक्तिमें कोई सन्देह ही नहीं रहा। इसीसे आज जब कोई बड़ा त्याग करता है तब उसे 'बलिदान' की संज्ञा दी जाती है।

अब आगेका प्रसंग कल सुनायेंगे।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

: ८ :

जय-विजय दोनों ही नित्य-मुक्त तथा भगवद्धामके निवासी हैं। परन्तु ईश्वरका नियन्त्रण बन्धन, मुक्ति दोनोंपर है—इस बातको तथा अपने बन्धनको प्रकट करनेके लिए वे ईश्वरेच्छासे तीन जन्मोंतक संसारमें आते हैं। परन्तु फिर भी उनको भगवान्का स्मरण नहीं छूटता। हिरण्यकशिपुके पुत्र प्रह्लाद सहज भक्त हुए। हिरण्यकशिपुका उद्धार करनेके लिए तो स्वयं भगवान् नृसिंह रूपमें आये। परन्तु उसका उद्धार करवाने के लिए सनत्कुमारादि चारों भाई घनीभूत होकर एक प्रह्लादके रूपमें प्रकट हुए। उन चारोंकी ज्ञान-निष्ठा, वैराग्य-निष्ठा, भक्ति निष्ठा, धर्म-निष्ठा, विवेक-निष्ठा और न्याय-निष्ठा प्रह्लादमें एकत्र होकर तबतक उनकी सहायता करती रही, जबतक हिरण्यकशिपुका उद्धार नहीं हो गया।

प्रह्लादके पुत्र हुए विरोचन और विरोचनके पुत्र हुए बलि। यह कथा कल आ चुकी है कि प्रह्लादने अपनी न्याय-निष्ठाके कारण अपने पुत्रके पक्षमें न्याय नहीं दिया और उनके पुत्रने यह जानते हुए कि शत्रु वेश बदलकर उनका शरीर माँगने आये हैं अपनी धर्म-निष्ठा के कारण अपना शरीर उनको दे दिया। बलि तो ऐसे हैं कि उनको सम्पूर्ण भागवत-धर्मका ज्ञान है। यह बात भागवतमें वहाँ आयी है, जहाँ भागवत-धर्मके सर्वज्ञोंका वर्णन है-

स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः।
प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम्।। ६-३-२०

जैसा कि कल बताया गया, बलिने अपने गुरु शुक्राचार्यके मना करनेपर भी भगवान्के प्रति अपना धर्म समर्पित कर दिया। लोक-परलोक समर्पित करनेका अर्थ यही होता है कि धर्मका फल भी समर्पित कर दिया जाय। धर्मका फल है सुख, जो इस लोकमें भी मिलता है और परलोक में भी मिलता है। धर्म दृष्टादृष्ट फलक होता है। जीवनमें भी इसका सुख है और मरनेपर भी इसका सुख है। इसलिए बलिने लोक-परलोकका हेतु सुख और सुखका हेतु धर्म, दोनोंको भगवान्के चरणोंमें अर्पित कर दिया। भगवान्ने भी उनको अपने चरणोंमें ले लिया, स्वीकार कर लिया। भगवान्ने बलिसे केवल तीन पग धरती माँगी थी। लेकिन सारी धरती दो पगोंमें पूरी हो गयी।

अब जब यह प्रश्न उठा कि तीसरे पगके लिए स्थान कहाँसे आये तब भागवत-धर्मके ज्ञाता बलिको जो वस्तु समर्पित करनी चाहिए, वह उन्होंने समर्पित कर दी अर्थात् अपने-आपको समर्पित कर दिया।

प्रश्न यह है कि कोई अपने-आपको समर्पित कैसे करेगा ? यह दर्शन-शास्त्रका सिद्धान्त है कि कर्ता कर्मका विषय नहीं होता। जैसे कोई अपने पाँवसे अपने कन्धेपर नहीं बैठ सकता, वैसे ही कर्ता कर्मका विषय नहीं हो सकता। इसको कर्तृ—कर्म विरोध बोलते हैं। कोई कहे कि मैं अर्पण करता हूँ तो यह वैसे ही होगा, जैसे गन्धर्व-विवाह होता है। आज विवाह हुआ, कल मनमुटाव हुआ और परसों तलाक हो गया। इसलिए भगवान् जब स्वयं स्वीकार करते हैं। तभी अहंकारका पूर्ण समर्पण होता है। भगवान्‌की स्वीकृतिके बिना समर्पण नहीं होता। कोई अपने-आपको स्वयं देगा तो उसे लौटा लेनेका भी अधिकार रहता है। लेकिन जब भगवान् ले लेते हैं तब कोई अपनेको लौटा नहीं सकता। यह भक्ति-शास्त्रका सिद्धान्त है।

इसलिए भगवान्‌ने स्वयं अपना पाँव बलिके सिरपर रखकर उसको स्वीकार कर लिया और कहा कि बलि, तुम्हारा धर्म-कर्म, सुख-दुःख, शरीर, अन्तःकरण, बुद्धि, अहंकार तुम जो कुछ कभी थे, आज हो और आगे होओगे, वह सब मेरा ! इसको कहते हैं भगवान्‌की स्वीकृति।

असलमें जब लेनेवालेकी स्वीकृति हो तभी देनेवालेका देना पूर्ण होता है। अपनी ओरसे देते जाओ और लेनेवाला ले नहीं तो पूर्णता कहाँसे आयेगी ? इसलिए बलिका समर्पण पूर्ण हुआ।

अब समर्पणमें कोई कोर-कसर तो नहीं है, यह जानने और जनानेके लिए भगवान्‌ने गरुड़से कहा कि बलिको बाँध दो। गरुड़ने आज्ञाका पालन किया और बलि बाँध दिये गये।

आप ध्यान दीजिये उस दृश्यपर ! जिस समय बलि बाँध दिये जाते हैं, उसी समय प्रह्लाद वहाँ आते हैं—यह देखनेके लिए कि उनके पौत्र बलिकी भगवद्भक्ति कितनी बढ़िया है, कितनी उच्चकोटिकी है !

फिर वे भगवान्‌की स्तुति करते हैं कि प्रभो, आपने ही इस बलिको ऐश्वर्य दिया था और आपने ही उसे ले लिया ! इसप्रकार आपका देना और लेना दोनों ही कल्याणकारी हैं।

इसके बाद बलिकी पत्नी विन्ध्यावली कहती है कि महाराज, आप सदासे सारे विश्वके स्वामी रहे हैं और आगे भी रहेंगे। जो लोग मूर्ख हैं, वे ही संसारकी सम्पत्तिको अपनी समझते हैं-'**स्वाम्यं तु तत्र कुधियोऽपर ईश कुर्युः।**' आपने बहुत अच्छा किया, जो अपनी चीज आपने ले ली।

इतनेमें ब्रह्माजी भी आये और वे कहने लगे- प्रभो, जो आपको एक दूबका अंकुर अर्पित करता है, एक चूल्लू पानी देता है, उसको परम कल्याणकी प्राप्ति हो जाती है। लेकिन इस बलिने तो आपको त्रिलोकीका दान कर दिया है और आपने इसके अहंकारको भी स्वीकार कर लिया है। फिर यदि यह भी बन्धनमें रहेगा तो आपकी भक्तिका सम्प्रदाय ही लुप्त हो जायेगा।

भगवान्ने कहा कि ब्रह्माजी, जिसके ऊपर मैं अनुग्रह करता हूँ, उसका सब-कुछ अपना लेता हूँ, कुछ भी नहीं छोड़ता, जिससे कि मनुष्य धनमदके द्वारा मतवाला न हो और मेरा अथवा अन्य किसीका तिरस्कार न करे—

ब्रह्मन् यमनुगृह्णामि तद्विशो विधुनोम्यहम्।
यन्मदः पुरुषः स्तब्धो लोकं मां चावमन्यते।। ८-२२-२४

भगवान् आगे कहते हैं कि मैंने अपने हाथपर कुश, अक्षत, जल लेकर संकल्प लिया है। इसलिए जब मैंने बलिका सब-कुछ ले लिया तब मेरा भी सब-कुछ बलिका हो गया। अब तो थोड़े दिनोंके लिए सुतल लोकमें जायेंगे; वहाँ सारा वैभव है, नित्य सत्संग मिलेगा, प्रहलादजी भी चलेंगे और मैं इनके पास पहरेदार बनकर रहूँगा।

देखो, भगवान्ने बलिका सर्वस्व ले लेनेके बाद क्या दिया ? स्वयं अपनेको गदापाणि होकर उनके सेवकके रूपमें उपस्थित कर दिया। कहते हैं कि वहाँ बलिके महलमें बारह दरवाजे थे। एक बार रावण उनसे लड़ने गया तो अन्य किसी ने तो रोक नहीं लगायी, लेकिन वह जिस दरवाजेपर पहुँचे वहाँ देखे कि एक बौना-सा मनुष्याकार व्यक्ति गदा लेकर खड़ा है। जब बारहों दरवाजोंपर एक ही व्यक्ति दिखायी पड़ा तब रावणको बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने कहा कि कौन हो तुम, जो मुझे भीतर नहीं जाने देते ? वामन बोले कि अभी तुम्हारे भीतर जानेका समय नहीं है।

रावणने कहा कि मैं तुमको उठाकर पटक दूँगा, मारुँगा और भीतर घुस जाऊँगा। यह सुनकर वामन भगवान्ने अपने वाम पादांगुष्ठ से रावणको ऐसा धक्का दिया कि पातालसे उछलकर लंकामें जा गिरा और फिर कभी बलिका सामना करनेके लिए नहीं आया।

इस प्रसंगमें यह विदित होता है कि भगवान्का भजन करनेवालोंके जीवनमें चाहे जो उतार चढ़ाव आये, लेकिन अन्ततोगत्वा उन्हें सब-कुछ मिल जाता है। बलिको भगवान्की कृपासे वैभव मिला, सुरक्षा मिली सत्संग मिला, जो पद छिन गया था वह मिला। और स्वयं भगवान्भी मिल गये। यही बलि

अगले मन्वन्तरमें इन्द्र होगें। इस समय जो इन्द्र हैं, उनका मन्वन्तर पूरा होते ही बलि इन्द्र हो जायेंगे।

बलि-प्रसंग पूरा हो जानेपर आठवें स्कन्धके अन्तिम चौबीसवें अध्यायमें परीक्षितके प्रश्नके अनुसार श्रीशुकदेवजी महाराज वेदके प्रामाण्यका वर्णन करते हैं और कहते हैं कि वेदका लोप प्रलयमें भी नहीं होता। प्रलयके समय भगवान् मत्स्यके रूपमें जलचर बन करके एक नावपर समग्र ओषधियों और प्राणियोंके बीजके साथ सप्तर्षियों तथा राजर्षि सत्यव्रतकी रक्षा करते हैं। पहले मत्स्य भगवान् राजर्षि सत्यव्रतकी अंजलिमें आगये थे। उस समय राजर्षि सत्यव्रतने मत्स्य भगवान्से कहा था कि मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा। लेकिन मत्स्य भगवान्ने प्रकट कर दिया कि कोई किसीकी रक्षा नहीं करता, केवल ईश्वर ही सबकी रक्षा करता है। मनुष्यमें किसी की रक्षा करनेका जो अभिमान है, वह झूठा है। मत्स्य भगवान्ने राजर्षि सत्यव्रत को स्पष्ट कर दिया कि तुमने तो केवल कमण्डलुमें, सरोवरमें मेरी रक्षा की, लेकिन मैं प्रलयके जलमें तुम्हारी रक्षा कर रहा हूँ। इसके अनुसार मत्स्य भगवान्ने अपने स्वर्णाकार शृंगमें राजर्षि सत्यव्रतकी नाव बाँधकर उनकी रक्षा की और उनको वेदज्ञानका उपदेश किया, जिसको मत्स्यपुराण कहते हैं।

राजा सत्यव्रतने भगवान्से प्रार्थना की कि प्रभो, संसारके जीवोंका आत्मज्ञान अनादि अविद्यासे ढक गया है, उनकी बुद्धि विषय-प्रवण हो गयी है, इसलिए आप उसकी निवृत्तिके उपायका उपदेश कीजिये।

इस प्रार्थनाके उत्तरमें भगवान्ने कहा कि देखो, इस अज्ञानकी निवृत्तिका उपाय वैदिक ज्ञान है। उसका आश्रय लिए बिना धर्म, भक्ति, लोक, परलोक किसीका भी रहस्य ठीक-ठीक समझमें नहीं आता। उस ज्ञानका निर्माण न ईश्वर करता है, न जीव करता है। वह न जड़में-से निकलता है और न शून्यमेंसे निकलता है। वह तो अनुभव-स्वरूप अखण्ड ज्ञान है।

इस प्रसंगके साथ आठवाँ स्कन्ध समाप्त होता है और इसके बाद नवाँ स्कन्ध प्रारम्भ होता है। मैं आपको नवें स्कन्धका सार-सार सुनाना चाहता हूँ। क्योंकि मेरे मनमें यह लालच है कि हमलोग जल्दी-से-जल्दी श्रीकृष्ण लीलामें पहुँच जायँ। इसलिए मैं बहुत संक्षेपमें वंशवर्णन करना चाहता हूँ। स्वयं राजा परीक्षितने भी नवम स्कन्धकी कथा सुननेके बाद श्रीशुकदेवजी महाराजसे कहा कि आपने वंशोंके विस्तारका वर्णन तो कर दिया, अब मुझको श्रीकृष्णचरित सुनाइये—

कथितो वंशविस्तारो भवता सोमसूर्ययोः।
राज्ञां चोभयवंश्यानां चरितं परमाद्भुतम्।। १०-१-१

अब आप देखिये कि नवम स्कन्ध क्या है ? अष्टम स्कन्धको सद्धर्म-स्कन्ध कहा गया है और नवम स्कन्धको 'ईशानुकथा स्कन्ध।' सद्धर्म और ईशानुकथामें अन्तर होता है। सद्धर्म धर्मानुष्ठानकी कथा होता है, वह विशेष रूपसे चरितको शुद्ध करनेके लिए होता है। परन्तु ईशानुकथा भक्तोंकी कथा है। इसलिए ईशानुकथामें मन्वन्तरेशोंकी, मन्वन्तरोंके स्वामियोंकी, उनके बच्चोंकी, अनुयायियोंकी और उनकी प्रजाकी कथाका वर्णन है।

भक्ति हृदयकी वस्तु है। उनमें कैसा चन्दन लगायें-आड़ा या खड़ा ? कौन-सी माला पहनें-तुलसी या रुद्राक्षकी और किस रंगका कपड़ा धारण करें पीला या लाल इन सब बातोंका वर्णन नहीं है।

जीव भगवान्‌का अंश है। वह चाहे पेड़के रूपमें हो, चाहे लताके रूपमें हो, चाहे पशुके रूपमें हो और चाहे पक्षीके रूपमें हो। अंशका अपने अंशीके प्रति लगाव कहीं-न-कहीं रहता ही है। भक्ति भजनीय को छोड़कर और कहीं नहीं रह सकती। इसीलिए आप देखेंगे कि श्रीमद्‌भागवतमें सब भक्त हैं।

वैवस्वत मन्वन्तरमें चौबीस प्रकारकी प्रवृत्तियोंके अनुसार जो स्वाभाविक चरित्र आते हैं और उनको धर्ममें ढालना जैसे सत्पुरुषोंका काम होता है, वैसे ही चतुर्विंशति प्रकारकी वासनाके अनुरूप प्रकृतिको भगवद्भावमें ढालनेके लिए चौबीस अध्यायोंका यह नवम स्कन्ध है। इसमें वर्णित सैकड़ों-हजारों व्यक्तियोंमें-से एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं है, जो मुक्त न हो। उनमें कोई भी बन्धनमें नहीं रहता। सबमें वैराग्य भरा पड़ा है।

वासनाकी निवृत्तिके लिए दो चीजें चाहिए। एक तो चाहिए वैराग्य और दूसरी चाहिए भगवान्‌की भक्ति। भक्तिसे वासना रूपान्तरित हो जाती है, बदल जाती है और वैराग्य वासनाको क्षीण कर देता है। इसलिए नवम स्कन्धमें दोनों बातोंका वर्णन है।

वैवस्वत मनुके वंशमें दस पुत्र हुए और वे सब-के-सब बड़े-बड़े राजा हुए। सूर्यवंशी राजाओंकी कथा बारह अध्यायोंमें है, क्योंकि सूर्य द्वादशात्मा हैं। भगवान् विष्णु भी द्वादशात्मा हैं। इसलिए भगवान् श्रीकृष्णका जन्म चन्द्रवंशमें हुआ तो उनका वर्णन भी द्वादशात्माके रूपमें ही हुआ। इस तरह बारह-बारह अध्यायोंमें विभाग करके सूर्य-चन्द्र वंशोका वर्णन किया गया है।

मनु-पुत्रोंमें किसीने ज्ञानामार्गको पुष्ट किया, किसीने वैराग्य-मार्गको पुष्ट किया, किसीने भक्ति-मार्गको पुष्ट किया और किसीने प्रतिज्ञा-पालन मार्गको पुष्ट किया। इसप्रकार प्रत्येक मनु-पुत्रमें एक-न-एक वैलक्षण्य है। जब आप किसीका चरित्र पढ़ें, तब पहले यह पकड़ लें कि उसमें क्या विशेषता है। श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने अपने 'तत्त्वार्थ-दीप' नामक निबन्ध में सबकी

विशेषताओंका उल्लेख किया है, और भी बड़े-बड़े आचार्योंने उसकी व्याख्या की है।

वैवस्वत मनु पहले सन्तानहीन थे। उन्होंने वसिष्ठजी द्वारा यज्ञ करवाया। उसमें संकल्प तो किया गया था पुत्र-प्राप्तिके लिए, लेकिन हो गयी पुत्री। जब यह विचार हुआ कि ऐसा कैसे हो गया? तब पता चला कि महारानीने ब्रह्माको पुत्रकी जगह पुत्री प्रदान करनेकी प्रार्थना कर दी। अन्तमें वसिष्ठजीने भगवान्से प्रार्थना की और उनकी कृपासे लिंग-परिवर्तन हो गया, पुत्री पुत्र हो गयी। लेकिन वह पुत्र कुछ दिनों बाद शंकरजीके कोपसे फिर पुत्री हो गया। बादमें यह व्यवस्था हुई कि वह कुछ दिन पुरुष और कुछ दिन स्त्री रहेगा।

इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है ! इस अनिर्वचनीय सृष्टिमें सब-कुछ सम्भव है। हम अपने सीमित ज्ञानके आधारपर सृष्टिकी अनिर्वचनीयताको समझ नहीं सकते। प्रकृतिमें कितने तत्त्व, कितने रहस्य छिपे हुए हैं और इसमें समर्थ महापुरुष क्या-क्या कर सकते हैं, इसको समझना बहुत कठिन है। जो ईश्वरके भक्त हैं और जिनके जीवनमें ईश्वरकी शक्ति प्रकट हुई है, वे असम्भवको भी सम्भव कर सकते हैं।

इसके बाद मनु-पुत्र राजा शर्याति और च्यवन ऋषिकी कथाका वर्णन है। राजा शर्यातिकी एक कन्या थी, जिसका नाम था सुकन्या। वह बड़ी रूपवती थी। एक दिन राजा अपनी कन्या और कुछ सैनिकोंके साथ वनमें घूमते-घूमते च्यवन ऋषिके आश्रममें जा पहुँचे। वहाँ सुकन्याने देखाकि एक बाँबीके छेदमें-से दो ज्योतियाँ दिखाई पड़ रही हैं। उसको बड़ा कौतूहल हुआ। उसने काँटा उठाकर दोनों ज्योतियोंको वेध दिया। अब तो उनमें-से बहुत-सारा खून बह चला। इधर राजाके साथ जो सैनिक थे, उनके मल-मूत्र रुक गये। राजाको बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने कहा कि अवश्य ही हमारे आदमियोंसे कोई-न-कोई अपराध हुआ है। सुकन्याने डरते-डरते अपना अपराध स्वीकार किया। राजा घबरा गये। लेकिन च्यवन ऋषिने प्रकट होकर उनकी घबराहट दूर कर दी और सुकन्यासे विवाह करनेका प्रस्ताव किया। राजाने उनके साथ सुकन्याका विवाह कर दिया।

कुछ समयके अनन्तर अश्विनीकुमार च्यवन ऋषिके आश्रमपर आये और उन्होंने उनको उनकी प्रार्थनापर यौवन प्रदान कर दिया। इससे च्यवन ऋषि बहुत प्रसन्न हुए और वे अश्विनीकुमारोंको यज्ञका भाग दिलवाने लगे। उनको यज्ञका भाग मिलना इसीलिए बन्द हो गया था कि वे वैद्य थे। वैद्योंको परोपकारके लिए ही सही, वनस्पतियाँ बहुत उखाड़नी पड़ती हैं। वे लोग औषधियोंमें गन्दी वस्तुओंका, यहाँतक कि मांसादिका भी प्रयोग करते हैं।

इसीलिए देवतालोग उनको यज्ञ-भाग नहीं देते थे। लेकिन च्यवन ऋषिकी कृपासे उनको यज्ञ-भाग प्राप्त होने लगा।

महर्षि च्यवन इतने तेजस्वी थे कि जब वे अपने श्वसुर शर्यातिसे अश्विनीकुमारोंको यज्ञ-भाग देनेके लिए सोमयज्ञ करवा रहे थे तब इन्द्रसे देखा नहीं गया और उन्होंने शर्यातिको मारनेके लिए वज्र उठाया, लेकिन महर्षि च्यवनने उनका हाथ स्तम्भित कर दिया। फिर जब सब देवताओंने प्रार्थना की और अश्विनीकुमारोंको यज्ञ भाग देना स्वीकार किया तब महर्षि च्यवनने इन्द्रको क्षमा किया।

मनु-वंशमें ही एक नाभाग हुए। वे गुरुकुलमें पढ़ने-लिखनेके लिए गये थे, जहाँ बहुत दिनोंतक रह गये। जब घर लौटकर आये तब देखा कि उनके भाइयोंने उनका हिस्सा बाँट लिया है, उनके लिए कुछ भी छोड़ा नहीं हैं। जब उन्होंने भाइयोंसे पूछा कि मेरा हिस्सा कहाँ है तब उनको यह उत्तर मिला कि तुम्हारे हिस्सेमें ये बूढ़े बाप हैं। इनके सिवाय और कोई हिस्सा तुम्हारा नहीं है।

यह सुनकर नाभाग अपने पिताके पास गये और उनको उन्होंने सब हाल बताया। पिता बोले कि देख बेटा, ये लोग तुम्हारे साथ बेईमानी तो कर रहे हैं, लेकिन तुम चिन्ता मत करो। अमुक जगह ब्राह्मण लोग यज्ञ कर रहे हैं, उनसे अमुक सूक्तके पाठमें भूल होगी। वह भूल तुम बता दोगे तो वे लोग तुमको यज्ञका द्रव्य दे देंगे।

नाभागने पिताकी बात मान ली। वे यज्ञ-स्थलपर गये और जब पिता द्वारा बतायी व्यवस्थाके अनुसार द्रव्य मिलनेपर उसे उठाने लगे तब रुद्रने आकर रोक दिया और कहा कि यह यज्ञशेष द्रव्य तो हमारा हिस्सा है। तुम इसे कैसे ले जा रहे हो ? नाभागने कहा कि मुझको तो यह द्रव्य याज्ञिक ब्राह्मणोंने दिया है। रुद्र बोले कि अच्छा इस सम्बन्धमें तुम्हारे पिता जो निर्णय करेंगे, वह मैं मान लूँगा। इस पर नाभाग अपने पिताके पास गये। उनके पिताने सब-कुछ सुनकर यही निर्णय दिया कि रुद्र ठीक कहते हैं, वह रुद्रभाग ही है बेटा ! तेरा भाग नहीं है।

नाभागके पिताके इस न्यायपर रुद्र देवता बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने नाभागको यज्ञकी सारी सम्पत्ति देकर सम्पन्न बना दिया।

इसी तरह मनुवंशमें नाभाग के पुत्र हुए अम्बरीष। वे भगवान्‌के ऐसे भक्त थे कि उनका कलेजा भगवत्प्राप्तिके लिए भट्ठेकी तरह जलता रहता था। उनमें भगवान्‌के लिए व्याकुलता थी, तपन थी, जलन थी- इसीलिए उनका नाम अम्बरीष पड़ा था। उन्होंने अपना सारा जीवन भगवान्‌की सेवामें लगा

दिया था। वे भगवान्‌के मन्दिरमें पैदल चलकर जाते और वहाँ अपने हाथसे झाड़ू लगाते। उनको भगवान्‌की सेवामें बड़ा आनन्द आता था।

एक बार अम्बरीषने ऐसा संकल्प किया कि वे वर्षपर्यन्त नियम-पूर्वक एकादशी व्रत करेंगे। अन्तमें जिस दिन उनको पारण करना था, उस दिन द्वादशी बहुत थोड़ी सी थी। उसी समय दुर्वासाजी महाराज उनके अतिथि हो गये। अम्बरीषने उनको आमन्त्रित करते हुए प्रार्थना की कि आप हमारे यहाँ भोजन कीजिये। दुर्वासाने कहा कि अभी तो मैं अपने शिष्यों-सहित यमुना-स्नान और सन्ध्या-वन्दन करुँगा। उसके बाद लौटकर हम लोग तुम्हारे यहाँ भोजन करेंगे।

लेकिन दुर्वासाजीके लौटनेमें देर होने लगी और उधर द्वादशीमें पारण करनेका मुहूर्त्त था, वह बीतने लगा। अम्बरीष धर्म-संकटमें पड़ गये। उनके पूछनेपर ब्राह्मणोंने यह व्यवस्था दी कि अब थोड़ा-सा भगवान्‌के चरणामृतका जल मुहूर्तके भीतर ले लीजिये। वह एक तरहसे भोजन भी हो जायेगा और एक तरहसे भोजन नहीं भी होगा-'अशितं नाशितं च तत्।

देखो, हमलोग जिसको 'नाश्ता'बोलते हैं, वह 'नाशितं' ही तो है। वह पूरा भोजन नहीं होता, लेकिन भूखको समाप्त कर देता है। इसीलिए उसको 'नाशितं' बोलते हैं।

तो ब्राह्मणोंकी व्यवस्थाके अनुसार अम्बरीषने 'नाशितं' और 'अशितं' दोनोंके बीचमें भगवान्‌के चरणोदकको ग्रहण कर लिया। इतनेमें ही दुर्वासाजी लौट आये और जब उनको पता चला कि अम्बरीषने जल ग्रहण कर लिया है, तब वे बहुत नाराज हुए। उन्होंने अम्बरीषको मारनेके लिए क्रोधसे कृत्या उत्पन्न कर दी। लेकिन अम्बरीषकी रक्षातो भगवान्‌का चक्र कर रहा था। वह कृत्याको अम्बरीषकी ओर आते देखकर उसपर टूट पड़ा। उसके प्रहारसे कृत्या मर गयी। लेकिन इतनेसे ही उसको सन्तोष नहीं हुआ, इसलिए वह दुर्वासाजीकी ओर झपट पड़ा। अब तो दुर्वासा उसके डरसे भागने लगे। वे भागते-भागते ब्रह्मलोकमें पहुँचे। लेकिन वहाँ उनकी रक्षा कौन करे ? ब्रह्माजीने कहा कि हम तो भगवान्‌के अधीन हैं, कुछ नहीं कर सकते। इसी तरह जब दुर्वासा कैलास-पहुँचे तो वहाँ भी उनको ब्रह्माजी जैसा ही उत्तर मिला। वहाँसे दुर्वासा वैकुण्ठ गये और विष्णु भगवान्‌से रक्षा की प्रार्थना की। परन्तु विष्णु भगवान्‌ने उनको क्या उत्तर दिया, यह देखिये-

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः।।

नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।
श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा।। ९-४-६३-६४

दुर्वासाजी, मैं तो भक्तोंके पराधीन हूँ-'हम भगतनके भगत हमारे'-भक्त हमारे हैं और हम भक्तोंके हैं। जैसे सती स्त्री अपने सज्जन पतिको वशमें कर लेती है, वैसे ही भक्त अपनी भक्तिके द्वारा मुझे वशमें कर लेते हैं। इसलिए इस स्थितिमें मैं स्वयं तो आपकी कुछ सहायता नहीं कर सकता, लेकिन आपको सब उपाय बता सकता हूँ। वह उपाय यह है कि जिसका अनिष्ट करनेसे आपको इस विपत्तिमें पड़ना पड़ा है, उसीके पास आप जाइये। वही आपकी सहायता कर सकते हैं।

अब तो दुर्वासाजी, अम्बरीषकी शरणमें आये और उनके पैरोंपर गिर पड़े। अम्बरीषने कहा कि हाय-हाय महाराज, आप यह क्या करते हैं ? ऐसा न करें आप !; इसके बाद अम्बरीषने हाथ जोड़कर सुदर्शनचक्रकी स्तुति की और सुदर्शनचक्रने दुर्वासाजीको छोड़ दिया। फिर जब सुदर्शन-चक्र शान्त हो गया तब अम्बरीषने दुर्वासाजीको प्रणाम करके भोजन कराया और फिर स्वयं भी भोजन किया।

यहाँ दुर्वासाको भगवान्‌ने जो उपदेश किया है, उसीके आधारपर भक्तिमार्गके चार सम्प्रदाय आधारित हैं और उन्हींको चारों अपना आचार्य मानते हैं।

कई लोग कहते हैं कि दुर्वासाजी जो इतना क्रोध करते हैं, यह उनका अन्याय है। लेकिन ऐसी बात नहीं है। क्योंकि दुर्वासाजी तो स्वयं भगवान्‌के बड़े तत्त्वज्ञानी भक्त हैं और शंकरजी के अंश हैं। वे स्वयं अपनेको तो बदनाम करवाते हैं, किन्तु यह प्रकट करते हैं कि भक्तोंकी महिमा कितनी अधिक है और भगवान् उनकी रक्षा कैसे करते हैं ? यदि दुर्वासाजी अम्बरीषपर नाराज न होते तो यह लोगोंको कैसे मालूम पड़ता कि भक्त इतना सहिष्णु होता है और भगवान् भक्तकी रक्षा कैसे करते हैं ? इस प्रकार दुर्वासाजी अपनेको बीचमें डालकर भक्त और भगवान् दोनोंकी महिमा बढ़ाते हैं। असलमें दुर्वासाजीका बाहरी आचरण तो क्रोधीका दिखायी पड़ता है, परन्तु यदि हम विचार करके देखें तो उनके भीतर प्रेम-ही-प्रेम दिखायी देगा।

अब श्रीशुकदेवजी महाराज इक्ष्वाकु वंश, मान्धाता, सौभरि ऋषि, त्रिशंकु और हरिशचन्द्रकी कथा सुनाते हुए सगर-चरित्रका वर्णन करते हैं। उन्होंने बताया कि इसी मनु-वंशमें महाराजा सगरके पुत्रोंने अपने चोरी गये अश्वको ढूँढ़नेके लिए एक खाई खोद डाली। खोजते खोजते वे कपिल भगवान्‌के आश्रमके पास गये। वहाँ घोड़ा बँधा देखा तो वे सब कपिल भगवान्‌को चोर-

चोर कहकर सम्बोधित करने लगे। कपिलदेवजीने उनपर दृष्टि डाली तो सारे सगर-पुत्र भस्म हो गये।

देखो, किसीको बिना देखे या सोचे-समझे चोर कहना बड़ा भारी अन्याय है। सगर-पुत्रोंने ऐसा किया तो उन्हें अपने पापके फलस्वरूप भस्म हो जाना पड़ा।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, सगरके एक पुत्रका नाम था असमञ्जस, जो उनकी दूसरी पत्नी केशिनीसे उत्पन्न हुए थे। असमञ्जसके पुत्रका नाम था अंशुमान्। उन्होंने कपिलदेवजीके पास जाकर उनको प्रसन्न किया और उनके यहाँ बँधा घोड़ा ले आये। कपिलदेवजीने घोड़ा ले जाने की आज्ञा देते हुए कहा कि, अंशुमान् बेटा, तुम्हारे भस्मी-भूत चाचाओंका उद्धार केवल गंगा-जलसे हो सकेगा। अन्य कोई उपाय नहीं है।

घोड़ा प्राप्त करके सगरने अपने यज्ञको सम्पन्न किया और अपने पौत्र अंशुमान्का राज्याभिषेक करके स्वयं बन्धन मुक्त हो गये। इसके बाद अंशुमान्ने अपने चाचाओंके उद्धारके लिए गंगाजीको हिमालयसे धरतीपर लानेकी बड़ी चेष्टा की। लेकिन उनको सफलता नहीं मिली। उनके पुत्र दिलीपने भी वैसी ही तपस्या की, परन्तु उनको भी सफलता नहीं मिली। अन्तमें अंशुमान्की तीसरी पीढ़ीमें भगीरथ बड़े भारी प्रयासके बाद गंगाको हिमालयमें-से निकालकर धरतीपर लानेमें सफल हुए। उनसे धरतीका जितना उपकार हुआ, मंगल हुआ; यह बतानेकी आवश्यकता नहीं।

गंगाजी दिव्य शक्ति-सम्पन्न हैं। उन्होंने ब्रह्म-दण्ड द्वारा दग्ध राजा सगरके पुत्रोंको पवित्र कर दिया। गंगा शब्दका अर्थ होता है 'गच्छति अथवा गं गगनं गच्छति व्याप्नोति।' दोनों तरहसे इस शब्दकी व्युत्पत्ति होती हैं-एकमें 'ग' प्रत्यय होता है और दूसरेमें 'गगनं गच्छति'। इसप्रकार दो धातुओंसे शब्द बना है। गंगा आकाश-व्यापिनी ज्ञान धारा हैं, विष्णुपदी हैं, भगवान्के चरणोंसे निकली है। इसके स्नानसे, पानसे, दर्शनसे मनुष्यका जीवन पवित्र हो जाता है। गंगाके तीन रूप हैं- 'आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक। आधिभौतिक रूप सबके सामने प्रकट है, आधिदैविक और आध्यात्मिक रूपोंको महापुरूष लोग जानते हैं।

भगीरथके वंशमें सुदास हुए। वहाँसे इस वंशका परिवर्तन हो गया। इस वंशमें भगवान् रामचन्द्र प्रकट होनेवाले थे, इसलिए वसिष्ठजीके द्वारा वंश-परिवर्तन हुआ। फिर इसी वंशमें रघु, अज और दशरथ उत्पन्न हुए। दशरथके चार पुत्र थे- रामचन्द्र, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न।

श्रीमद्भागवतमें भगवान् श्रीरामचन्द्रका चरित्र केवल तीन अध्यायोंमें वर्णित है। किन्तु सप्ताह-कथा कहनेवाले वक्ता लोग उसका वर्णन करनेमें बहुत समय लगाते हैं। कोई-कोई तो ऐसे हैं, जो सात दिनोंकी कथामें तीन दिनोंतक केवल रामचरित्रमानस ही सुनाते हैं। क्योंकि उनको और कोई कथा कहनी नहीं होती। भगवान् रामका चरित्र इतना प्रसिद्ध है कि वाल्मीकि आदि मुनियोंने भी उसका गायन किया है। महाभारतमें भी उसका वर्णन है। फिर गोस्वामी तुलसीदासजी द्वारा वर्णित रामचरितको तो अधिकांश लोग जानते हैं। इसीलिए मैं यहाँ भागवतोक्त रामचरित्रको बहुत संक्षेपमें ही सुनाता हूँ।

श्रीमद्भागवतके अनुसार श्रीरामचन्द्रका जन्म केवल कौशल्यासे ही नहीं होता। कौशल्या शुद्ध बुद्धिरूप हैं, दशरथ शुद्ध मनरूप हैं और उन दोनोंके द्वारा हृदयमें भगवत्तत्वका आविर्भाव होता है। इस बातको प्रकट करनेके लिए भागवतकार ऐसे ढंगसे वर्णन करते हैं कि भगवान् श्रीरामचन्द्रके आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यत्मिक तीनों रूप सिद्ध हो जायँ।

श्रीशंकराचार्य भगवान् श्रीरामचन्द्रकी आध्यात्मिक व्याख्या इस प्रकार करते हैं—

तीर्त्वा मोहार्णवम् हत्वा कामक्रोधदिराक्षसम्।
शान्तिसीतासमायुक्तः आत्मारामो विराजते।।

श्रीरामानुजाचार्यजी महाराजने तो अपने गुरुसे अठारह बार वाल्मीकि रामायणका श्रवण किया और उनको अठारह प्रकारके अर्थ ज्ञात हुए, अनुभवमें आये। उनमें-से एक अर्थ आध्यात्मिक भी है। इसलिए श्री रामचरित्रके आध्यात्मिक अर्थकी परम्परा प्राचीन कालसे ही चली आरही है।

श्रीमद्भागवतमें ताड़का-वधका वर्णन नहीं है, परन्तु सुबाहुके बधका वर्णन है। उसके अनुसार भगवान् रामचन्द्रने मारीचको तो फेंक दिया और सुबाहुको मार दिया ! उसमें भगवान् रामचन्द्रकी बाल लीलाओंका वर्णन बहुत कम है, परन्तु जितना भी वर्णन है, उसके द्वारा हमलोग बहुत-कुछ सीख सकते हैं- जैसे हमें अपने माता-पितासे किस तरह प्रेम करना चाहिए, कैसे उनकी आज्ञा माननी चाहिए, कैसे अपनी सौतेली माताकी बातको असली माताकी बातकी अपेक्षा अधिक महत्त्व देना चाहिए, किस तरह अपने भाइयोंसे प्रेम करना चाहिए, कैसे ऋषियोंका सत्संग करना चाहिए और किस प्रकार अपने छोटे भाइयोंसे खेलते समय उनको जिता देना चाहिए।

श्रीमद्भागवतके अनुसार भगवान् श्रीरामका चरित्र प्रतिज्ञा-पालनका वन-गमनका, क्लेश-सहनका, पृथिवीके भार उतारनेका, पत्नीके प्रति महती प्रीतिका

और अपनी प्रजाके पोषणका चरित्र है। उन्होंने प्रजाके लिए अपने अत्यन्त सुखमय जीवनको भी दुःखमय बना लिया। उत्तर रामचरितमें वे कहते हैं

स्नेहं दयां च मैत्रीं च अथवा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा।।

मैं लोगोंकी प्रसन्नताके लिए, आनन्दके लिए अपना स्नेह छोड़ सकता हूँ, अपनी दया छोड़ सकता हूँ। सुख छोड़ सकता हूँ। यहाँ तक कि अपनी पत्नी जानकी को छोड़ सकता हूँ। ऐसा करनेमें मुझे जरा भी व्यथा नहीं होगी।

इसीसे श्रीमद्भागवतमें कहा गया—'**उपासितलोकाय उपशिक्षितात्मने**' अर्थात् भगवान् श्रीरामका यह विशेषण है कि उन्होंने अपने मनको तो शिक्षा दी, लेकिन दूसरोंको शिक्षा नहीं दी। 'उपासित लोकाय' का अर्थ है कि 'उपासितो लोको येन' अर्थात् भगवान् श्रीरामचन्द्रने किसी ईश्वरकी, ब्रह्मकी अथवा अपनी उपासना नहीं की, केवल अपनी प्रजाकी उपासना की। इसीलिए भगवान् श्रीराम वनमें गये और वहाँ उन्होंने अनेक प्रकार के कष्ट सहे।

एकबार जानकीजीने भगवान् रामसे कहा कि अब आप दण्डकारण्यमें आगये हैं। यहाँ बड़े-बड़े राक्षस विचरते हैं। यदि वे आपके हाथमें धनुष बाण आदि अस्त्र-शस्त्र देखेंगे तो आपको क्षत्रिय समझकर आपपर आक्रमण कर देंगे। इसलिए यहाँ हमलोगोंको शान्त तपस्वीके रूपमें रहना चाहिए। इसपर भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने जानकीजीको उत्तर दिया-जानकी, मैं अपना जीवन छोड़ सकता हूँ लक्ष्मण सहित तुमको भी छोड़ सकता हूँ, लेकिन अपनी प्रतिज्ञा नहीं छोड़ सकता। मैंने एक बार प्रतिज्ञा कर ली सो कर ली, प्रतिज्ञा पालन मेरा परम धर्म है। इसीलिए कहा गया-'**रामो द्विर्नाभिभाषते, रामो विग्रहवान् धर्मः।**'

भगवान् श्रीरामचन्द्र ऋषियोंसे तो मिले ही, शबरीके आश्रममें भी गये। शबरीकी दशा यह थी कि वह रोज-रोज अपने यहाँ भगवान्के आनेका सपना देख रही थी। इसीलिए किसी भोजपुरी भाषाके कविने कहा कि 'सबरी देखे ले सपनवाँ आज घर रामा अइहें ना !' वह रोज-रोज भगवान् रामके लिए फल इकट्ठा करती, रोज-रोज उनके लिए रास्ता साफ करती, रोज-रोज अपनी कुटिया लीपती और लोगोंसे कहती-फिरती कि आज जरूर आयेंगे। आसन बिछाकर प्रतीक्षा करती और सोचती आज आकर इसपर बैठेंगे।

भगवान् श्रीराम शबरीके मनकी बात जानते थे, इसलिए स्वयं उसके आश्रममें गये। अब तो शबरीके आनन्दका ठिकाना नहीं रहा। कहने लगी कि महाराज, मैं तो दीन-हीन नारी हूँ। अनधिकारिणी हूँ। आपकी सेवा कैसे कर

सकूँगी ? इसपर भगवान्ने कहा कि अरी ओ शबरी, सुन ! मैं तुमको एक बात सुनाता हूँ , उपदेश करता हूँ। शबरी बोली कि अच्छा महाराज, आप मुझे उपदेश करेंगे ? जरूर कीजिये महाराज ! भगवान् बोले कि देख शबरी, एक भक्ति तो होती है सन्तोंका सत्संग करना और दूसरी भक्ति होती है मेरी कथामें प्रेम होना—

प्रथम भगति संतन कर संगा।
दूसरी रति मम कथा प्रसंगा।।

इसी तरह भगवान् भक्तिके नव प्रकारोंका वर्णन कर गये और बोले कि यदि इनमें-से एक भक्ति भी मनुष्यके जीवनमें आजाये तो वह मेरा सबसे बड़ा प्रिय होता है। फिर शबरी, तेरे अन्दर तो नवों प्रकारकी भक्ति है—

सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे।

देखो, यहाँ भगवान्ने अपने मुँहसे शबरीकी जैसी प्रसंसा की है, वैसी प्रशंसा अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकती। असलमें भगवान्को शबरीके लिए कोई उपदेश नहीं करना था, केवल अपने श्रीमुखसे उसकी प्रशंसा करनी थी, वह उन्होंने कर दी।

इसके बाद भगवान् श्रीरामचन्द्रने सुग्रीवसे मित्रता की, समुद्रपर सेतु बाँधा। सेतु बाँधना तो भगवान् श्रीरामचन्द्रका काम ही है। उनके कारण वसिष्ठ और विश्वामित्रमें मित्रता हुई, दशरथ और जनक सम्बन्धी बने तथा केवट और वसिष्ठका मिलन हुआ। जहाँ-जहाँ अलगाव था, इस पार उस पारके दो किनारे हो गये थे, वहाँ-वहाँ भगवान्ने उनको जोड़कर एक कर दिया।

तो सुग्रीवसे मित्रताके बाद अन्तमें भगवान्ने लंकापर चढ़ाई कर दी, युद्धके द्वारा रावणादि राक्षसोंपर विजय प्राप्त की और वे वहाँसे सीताजीको लौटा लाये। अयोध्या लौटनेपर उनका राज्याभिषेक हुआ और फिर उन्होंने सारी प्रजाके लिए सुव्यवस्था की। उनका रामराज्य आज भी आदर्श माना जाता है।

भगवान् श्रीरामचन्द्र इतने त्यागी थे कि उन्होंने अपने पास केवल वस्त्र और यज्ञोपवीत रक्खा, शेष सारी सम्पत्ति, सारा राज्य ब्रह्मणोंको दान कर दिया। ब्राह्मणोंने कहा कि महाराज, राज-काज तो आप ही सम्हालिये, यह हम लोगोंसे नहीं सम्हलेगा, क्योंकि हमलोग तो वेद-पाठमें, भजनमें लगे रहेंगे। इसलिए राज्य-शासन तो आपकी ओरसे ही होना चाहिए। भगवान्ने ब्राह्मणों की प्रार्थना स्वीकार कर ली और उनकी ओरसे राज्य-शासन करने लगे।

भगवान् श्रीरामचन्द्र प्रजाकी परिस्थिति जाननेके लिए रातमें नगर-भ्रमण किया करते थे। उनका मत था कि राजाको केवल गुप्तचरोंकी बातपर विश्वास न करके अपनी प्रजाके सुख-दुःखका प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहिए। एक बार नगर-भ्रमण करनेके समय उनको अपने धोबीके मुँहसे सीताजीकी निन्दा सुनायी पड़ी। केवल इसी बातपर उन्होंने सीताजीको लक्ष्मणके द्वारा महर्षि वाल्मीकिके आश्रममें भेज दिया।

भगवान् रामका यह निर्णय देखनेमें तो बड़ा कठोर था, लेकिन उसके पीछे उनका एक दृष्टिकोण था। यदि भगवान् श्रीराम सीताजीको वाल्मीकि-आश्रममें नहीं भेजते तो सीताजी उनसे कितना प्रेम करती हैं— यह बात प्रकट नहीं हो सकती थी। रावण तो सीताजीका बलात् अपहरण करके उनको लंकामें ले गया था। सीताजी विवश थीं। उनके कारण युद्ध हुआ और वे लंकासे लौटायी गयीं। इसमें उनका कोई अपराध नहीं था। फिर भी धोबीके द्वारा उनकी निन्दा सुनकर उनको वाल्मीकि आश्रममें भेज दिया गया। लेकिन धन्य हैं सीताजी कि इतनेपर भी उनके मनमें रामजीके प्रति किसी प्रकारका दुर्भाव नहीं आया।

देखो, एक बार किसीने महात्मा गांधीसे पूछा था कि पाण्डवोंने द्रौपदीके साथ, नलने दमयन्तीके साथ जो अन्याय किया, उसका क्या उत्तर है ? महात्माजीने उत्तर दिया कि यह प्रश्न तो द्रौपदी, दमयन्ती और सीतासे ही पूछना चाहिए कि उन्होंने अपने प्रति पाण्डवोंका, नलका और रामका अन्याय माना या नहीं माना।

सीताजीका भगवान् श्रीरामके प्रति इतना प्रेम था कि उनके कठोर-से-कठोर व्यवहारका भी उनके ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, किसी प्रकारका दुर्भाव नहीं पैदा हुआ। इसीलिए महर्षि वाल्मीकिको कहना पडा कि 'सीतायाः चरितं महत्' अर्थात् सीताका चरित्र महान् है।

श्रीमद्भागवतमें भगवान् श्रीरामकी तीस पीढ़ियोंके नाम गिनाये हुए हैं और वे सब-के-सब राजा हुए हैं। रामचरित्रके बाद विदेह-चरित्रका वर्णन हैं। राजा निमि ज्ञानी हो जानेके कारण विदेह अर्थात् अशरीर हो गये। उनका जो वंश चला, वह निमिवंश अथवा चन्द्र-वंशके नामसे प्रसिद्ध हुआ। अत्रिके नेत्रसे चन्द्रमाकी उत्पत्ति हुई और वहींसे चन्द्र वंश चला।

चन्द्र-वंशमें ही विश्वामित्र, परशुराम और सहस्रार्जुन की कथा है। सहस्रार्जुन इतना बली था कि उसने रावण-जैसे पराक्रमी योद्धाको भी परास्त कर दिया। इसलिए कोई यह न समझे कि चन्द्रवंशमें पैदा हुए लोग वीर नहीं होते।

चन्द्रवंश मनःप्रधान और सूर्यवंश बुद्धिप्रधान है। सौर-तत्त्व प्रधान होता है बुद्धिमें और चान्द्र-तत्त्व प्रधान होता है मन में। रस-जीवी होता है मन और प्रकाश-जीवी ज्ञानजीवी होती है बुद्धि-प्रकाश और ज्ञानके आधार पर बुद्धि चलती है तथा आह्लाद, सुख एवं रसके आधारपर मन चलता है। यही दोनों वंशोंका अन्तर है, वैशिष्ट्य है।

भगवान् सौर और चान्द्र दोनों वंशोमें प्रकट होते हैं। इसका अर्थ है कि चाहे मनसे प्यार करो, चाहे बुद्धिसे विचार करो, भगवान्‌की प्राप्ति विचार और प्यार दोनोंसे होती है।

चन्द्रवंशमें ही पुरूरवाका उपाख्यान है। वात्स्यायनके काम-शास्त्रमें एक कथा ऐसी आती है जब राजा पुरूरवा इन्द्र-लोकमें गये तब वहाँ सब देवता उनका स्वागत करनके लिए खड़े थे। देवराज इन्द्र पुरूरवाको परिचय देते जायँ कि ये अमुक देवता हैं, ये अमुक देवता हैं और पुरूरवा उन सबको हाथ जोड़कर प्रणाम करते जायँ। वहीं अर्थ-देवता और काम-देवता भी खड़े थे। पुरूरवाने इन्द्र द्वारा उनका परिचय प्राप्त करके भी उन दोनोंको नमस्कार नहीं किया, क्योंकि उनके मनमें अर्थ और काम दोनोंके प्रति आदर-भाव नहीं था। इसलिए दोनों देवता पुरूरवासे नाराज हो गये और उन्होंने उनको शाप दे दिया कि तुम चक्रवर्ती सम्राट् तो हो जाओगे, लेकिन न तो तुमको अर्थका सुख मिलेगा और न कामका।

देखो, मनुष्यके जीवनमें जैसे धर्म और मोक्ष आदरणीय हैं, वैसे ही अर्थ और कामका भी महत्त्व है। क्योंकि मनुष्यको जीवन-निर्वाहके लिए अर्थकी भी आवश्यकता होती है और भोगकी भी। इसलिए वे भी देवता हैं और सर्वथा उपेक्षणीय नहीं हैं।

इन्द्रलोकमें ही पुरूरवाका परिचय उर्वशीसे हुआ। यह कथा वेदोंमें भी आती है। उर्वशी जहाँ प्रेम करनेवाली थी, वहीं कटुभाषिणी भी थी। कटुभाषिणी इसलिए थी कि एक दिन उसे पुरूरवाको छोड़कर और उनके हृदयमें वैराग्य उत्पन्न करके लौट जाना था। वह उनसे प्रेम इसलिए करती थी कि उनके द्वारा उससे श्रेष्ठ वंशका विस्तार हो।

इसके बाद श्रीशुकदेवजी महाराज जमदग्नि, परशुराम और विश्वामित्र आदि की कथा सुनाते हुए ययाति के चरित्रका वर्णन करते हैं। ययातिका विवाह शुक्र-पुत्री देवयानी और वृषपर्वा-पुत्री शर्मिष्ठासे हुआ था। इन दोनोंमें बड़ा विरोध था। फिर भी दोनोंसे सन्तानोत्पत्ति हुई। देवयानीसे यदु और तुर्वसु दो पुत्र हुए तथा शर्मिष्ठासे तीन पुत्र हुए— द्रुह्यु, अनु एवं पुरु। सबसे ज्येष्ठ पुत्र यदु और सबसे कनिष्ठ पुत्र पुरु हुए। यदुके वंशमें ही आगे चलकर

कई पीढ़ियों के बाद भगवान् श्रीकृष्णका जन्म हुआ। ययातिमें भोग और वैराग्य दोनोंका ही प्राबल्य था। भोग इतना कि उन्होंने अपने छोटे पुत्र पुरुकी जवानी लेकर बहुत वर्षोंतक भोग भोगा और जब उनमें वैराग्यका उदय हुआ तब उन्होंने पुरुको उसकी जवानी लौटा दी और उसे अपना राज्य सौंपकर वनमें चले गये। वहाँ उन्होंने आत्म-साक्षात्कार करके भागवती गति प्राप्त की।

ययातिके बाद पुरुके वंशमें राजा दुष्यन्त, उनके पुत्र भरत और रन्तिदेवका वर्णन आता है। भरत कितने वीर हुए ! वे पाँच वर्षकी अवस्थामें ही बड़े-बड़े शेरोंको बाँधकर उनके साथ खेला करते थे। ऐसा लगता था कि भरतके जीवनमें मानों भगवान्का शौर्य और वीर्य मूर्तिमान् होकर प्रकट हो गया है।

इसी प्रकार रन्तिदेवकी कथा बड़ी अद्भुत है। उनको अड़तालीस दिनोंतक अन्न-जल नहीं मिला। उनचासवें दिन जब थोड़ा-सा अन्न-जल मिला और पक-पकाकर तैयार हुआ तब एक विद्वान् अतिथि उनके घर आगये। इसलिए रन्तिदेवने उनको भोजन कराया। उसके बाद जो बचा, वह एक शूद्र अतिथिकी सेवामें चला गया। अन्तमें एक कसाई आया और रन्तिदेवने उस कसाईको बचा-खुचा अन्न-जल खिला-पिला दिया। रन्तिदेव समझते थे कि भगवान्की भक्ति सबके भीतर होती है। वे भगवान्से यह प्रार्थना करने लगे—

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् पराम् अष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा ।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजाम् अन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः ।।

९-२१-१२

प्रभो, मैं आपसे कुछ नहीं चाहता-न परा—गति चाहता हूँ, न अष्ट—सिद्धि चाहता हूँ और न मोक्ष चाहता हूँ। मुझको तो आप कृपा करके एक वस्तु दे दीजिये। वह वस्तु यह है कि इस संसारमें जितने भी दुःखी हैं, आर्त्त हैं, उनके हृदयोंमें मुझे निवास-स्थान मिल जाय, उनके दिलोंमें मैं बैठ जाऊँ।

यहाँ मानो भगवान्ने पूछा कि तुम लोगोंके दिलोंमे बैठकर क्या करोगे रन्तिदेव ! मैं तो सबके हृदयोंमें रहता ही हूँ। फिर वहाँ तुम्हारा क्या काम है ?

रन्तिदेव बोले कि महाराज, मैं जानता हूँ कि आप सबके दिलोंमें बैठे रहते हैं। लेकिन टुकुर-टुकुर देखते रहते हैं। फिर भी आप सबके हृदयोंमें बैठकर देखते रहिये। संसारके सब जीव अपने-अपने हिस्सेका सुख भोगें, किन्तु मैं उनके हृदयोंमें बैठकर उनका सारा दुःख अकेले ही भोग लेना चाहता हूँ। क्योंकि संसारके प्राणी बहुत दुःखी हैं। इसलिए उनके दुःखोंका निवारण हो जाय और वे सब सुखी हो जायँ, यही मेरी इच्छा है भगवान्।

अब तो रन्तिदेवके हृदयकी उदारता, उदात्तता देखकर उनके सामने ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों ही प्रकट हो गये और बोले—रन्तिदेव, तुम्हें तकलीफ देनेके लिए अतिथि बनकर कोई ब्राह्मण, शूद्र अथवा चाण्डाल नहीं आया था। हम तीनों ही तीनोंके रूपमें आये थे। संसारको यह दिखानेके लिए कि जिनका हृदय उदार होता है, पवित्र होता है, उनकी बुद्धि और भावना कैसी होती है।

राजा रन्तिदेवके बाद इसी वंशमें ज्यामघ नामका एक ऐसा राजा हुआ, जो कहीं विजय प्राप्त करने गया तो वहाँकी राजकुमारी भोज्याको अपने रथपर बैठाकर ले आया। उसकी पत्नी शैव्याने उस लड़की को देखा तो वह बोली कि अरे ओ कपटी, जहाँ मुझे बैठना चाहिए, वहाँ तुम किसको बैठाकर ले आये हो ?

राजा ज्यामघ अपनी पत्नीसे बहुत डरता था। इसलिए बोला कि इसको तो तुम्हारी पुत्रवधू बनानेके लिए ले आया हूँ। पत्नी बोली कि अभीतक तो हमारे कोई पुत्र नहीं है। रिश्ते-नातेका भी कोई पुत्र तुमने नहीं पाला है। फिर तुम इसको पुत्रवधू कैसे बनाओगे ?

राजाने कहा 'अभी तक तो कोई पुत्र नहीं है। लेकिन आगे तुमसे जो पुत्र होगा, उसीसे इसका विवाह किया जायेगा।'

अब तो राजाकी पत्नी-भक्तिसे देवता लोग बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा कि जैसे पति-भक्तिसे पत्नीका कल्याण होता है, वैसे ही पत्नी-भक्तिसे पतिका कल्याण होना चाहिए। यह कहकर देवताओंने शैव्याको एक जवान पुत्र दे दिया और उससे कन्याका विवाह हो गया।

इसके बादकी कथा यह है कि यदु-वंशमें ही मथुरा नगरीके राजा शूरसेन हुए। उन्हींसे कौरवों और पाण्डवोंका वंश चला। उन सबके वंशोंका वर्णन करते हुए सैकड़ों-हजारों नाम दिये हुए हैं। यहाँ समया-भावके कारण सबकी चर्चा नहीं की जा सकती। मैं तो आपको बहुत संक्षेपमें सुनाता आ रहा हूँ। जैसे कोई गाँवमें तृणोंको स्पर्श करता हुआ चलता जाता है, वैसे ही मैं इन कथाओंको छूता हुआ चल रहा हूँ- 'ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति।'

शूरसेन-वंशमें ही आगे चलकर अनेक पीढ़ियोंके बाद वसुदेवजी हुए। उनकी पत्नी थीं देवकी। उनके गर्भसे पहले सात पुत्र हुए। आठवें पुत्रके रूपमें भगवान् श्रीकृष्णका जन्म हुआ। उन्होंने अपने जन्ममात्रसे ही इस धरतीको धन्य बना दिया। उनका ज्ञान, प्रेम, सौन्दर्य और माधुर्य जिनकी आँखोंमें समा गया, जिनके दिलोंमें बस गया, उनका कल्याण हो गया।

इसी प्रसंगके साथ श्रीशुकदेवजी महाराजने नवाँ स्कन्ध पूरा कर दिया है। दसवें स्कन्धके प्रारम्भमें परीक्षितने उनसे कहाकि महाराज, आपने राजाओंके वंशोंका वर्णन तो बहुत विस्तारसे किया, किन्तु यदुवंशमें अवतरित भगवान् श्रीकृष्णके जन्मकी कथाको केवल पाँच श्लोकोंमें ही पूरा कर दिया। इससे मुझे तृप्ति नहीं हुई है। इसलिए आप कृपया विस्तारसे श्रीकृष्ण-चरित्रका वर्णन कीजिये।

यहाँ परीक्षितने श्रीकृष्ण-चरित्रके सम्बन्धमें जो उद्‌गार प्रकट किये हैं, उनसे यह विदित होता है कि एक श्रोताके हृदयमें भगवान्‌की लीला-कथा सुननेके लिए ऐसी ही उत्तम श्लाघा होनी चाहिए, वे कहते हैं—

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद् भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात्।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत विनापशुघ्नात्।।१०-१-४

महाराज, भगवान्‌का चरित्र तो एक औषधि है, भवरोगकी औषधि है, जन्म-मरणसे छुड़ानेवाली औषधि है। वह किसी लालची वैद्यकी बनायी औषधि नहीं है। क्योंकि लालची वैद्य तो रोगको लम्बा कर देते हैं, जिससे कि उनकी जीविका चलती रहे। किन्तु यह औषधि तो ऐसी है कि इससे गुणोंको बड़े-बड़े तृष्णारहित भक्त-पुरुष भगवान्‌की समीपताका अनुभव करते हुए रस ले-लेकर गाते रहते हैं। यह औषधि कड़वी भी नहीं है, मीठी है- कानके लिए भी मीठी है और मनके लिए भी मीठी है। एक तो यह चरित्र मुक्त-पुरुषोंके द्वारा गाया गया है, दूसरे मुमुक्षुओंके लिए भवरोगकी ओषधि है और तीसरे कान एवं मनको सुख देनेवाला है। इसलिए यदि कोई इससे अलग रहता है तो वह अपशुघ्न है।

देखो, 'अपशुघ्न'का अर्थ है' अपशुकम् आत्मानम् हन्ति'—यह तो आत्मघाती है, अपनेको ही अपने आनन्दसे, सुखसे वंचित कर रहा है।

परीक्षितने आगे कहा कि महाराज, मेरे युधिष्ठिर आदि पितामह कौरव-सेनाके समुद्रके साथ लड़ रहे थे और उसको पार नहीं कर सकते थे। क्योंकि वहाँ भीष्म, द्रोण और कर्ण जैसे बड़े-बड़े वीर थे। किन्तु मेरे पितामह भगवान् श्रीकृष्णके चरणारविन्दका आश्रय लेकर और उसको अपनी नाव बनाकर कौरव-सेनाके सागरसे पार हो गये।

द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टमिदं मदंगं सन्तानबीजं कुरुपाण्डवानाम्।
जुगोप कुक्षिं गत आत्तचक्रो मातुश्च मे यः शरणं गतायाः।।

१०-१-६

महाराज, जब मैं अपनी माताके गर्भमें था तब अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रसे मेरा शरीर जल गया था। उस समय मेरे मनमें कोई भाव नहीं था। न मैं बोल

सकता था, न भगवान्‌को जानता था और न उनकी शरण ग्रहण करने योग्य था। परन्तु फिर भी मेरी माताके शरणागत होनेपर भगवान् मेरी रक्षा के लिए दौड़कर आगये। वे केवल गदा अथवा चक्रसे अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रका निवारण कर सकते थे। लेकिन वे मेरे लिए त्वरामें आगये कि उन्होंने एक हाथसे गदा और दूसरे हाथसे चक्रका प्रयोग कर दिया तथा मुझे ब्रह्मास्त्रसे बचा लिया।

महाराज, उन्हीं प्रभुका चरित्र मैं श्रवण करना चाहता हूँ। मुझे न तो भूख है, न प्यास है। केवल आपके श्रीमुखसे भगवान्‌के कथामृतका पान करते रहनेकी अभिलाषा है।

यह सुनकर श्रीशुकदेवजी महाराजने परीक्षितके कथनका अभिनन्दन किया और कहा—

वासुदेवकथाप्रश्नः पुरुषांस्त्रीन् पुनाति हि।
वक्तारं पृच्छकं श्रोतृंस्तत्पादसलिलं यथा ।। १०-१-१६

राजन्, जब कोई भगवान्‌के चरित्रके सम्बन्धमें प्रश्न करता है तब प्रश्नकर्ता, उत्तरदाता और श्रोता तीनों ही पवित्र हो जाते हैं। प्रश्नकर्ताकी पाप-दग्ध हुई जीभका पाप मिट जाता है, उत्तरदाताकी मौन जीभ बोलने लगती है और श्रोताके शून्य कानमें रस प्रवेश करने लगता हैं। जगत्‌की, भोगकी, राजाकी, भ्रष्ट लोगोंकी, स्त्रीकी, पुरुषकी, धनकी, नास्तिककी चर्चा करते-करते, सुनते-सुनते हमारी जीभ, हमारे कान और हृदय अत्यन्त कलुषित हो गये हैं। इसलिए जब भगवान्‌के चरित्रकी गंगा हृदयमें प्रवेश करती है, तब मनुष्य पवित्र ही नहीं, पवित्रतम हो जाता है।

इसके बाद श्रीशुकदेवजी महाराजने बिना किसी भूमिकाके ही भगवान्‌के चरित्रका वर्णन प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने कहा—

भूमिर्दृप्त - नृपव्याज - दैत्यानीक - शतायुतैः।
आक्रान्ता भूरिभारेण ब्रह्माणं शरणं ययौ।। १०-१-१७

देखो, यहाँ पृथिवीके ब्रह्माजीके पास जानेका वर्णन आता हैं। इससे यह शंका मत करना कि जब पृथिवी ब्रह्माजीके पास चली तब उसपर निवास करनेवाले लोग कहाँ रहे ? पृथिवीमें उसका एक अधिदेवता रहता है। जैसे घरका एक देवता होता है, ग्रामका एक देवता होता है, वैसे ही पृथिवीका भी एक देवता होता है। प्रत्येक पदार्थमें चैतन्य-शक्ति भरपूर है और वही वस्तु-अविच्छिन्नचैतन्यशक्ति अपना काम करती है।

लक्ष्मी दो तरहकी हैं—एक कृषि-लक्ष्मी और दूसरी स्वर्ण-लक्ष्मी। कृषि-लक्ष्मी अचल सम्पत्ति और स्वर्ण-लक्ष्मी चल सम्पत्ति है। भूदेवी अचल सम्पत्तिकी देवी हैं और लक्ष्मीजी चल सम्पत्तिकी देवी हैं। दोनोंके स्वामी भगवान् हैं। इसलिए कोई भी अपनेको श्रीपति या भूपति कहनेका अधिकारी नहीं है। एक मात्र सर्वान्तर्यामी नारायण भगवान् ही असली श्रीपति और भूपति हैं।

इसलिए जब भूदेवी वैकुण्ठमें जानेके लिए उद्यत हुई तब उन्होंने, सोचा कि मैं अकेली कैसे जाऊँ ? यह सोचकर वह नारायणके पुत्र ब्रह्माके पास गयीं। ब्रह्मा नारायणके पुत्र तो हैं, परन्तु न तो लक्ष्मी देवीके द्वारा उत्पन्न हैं, और न भूदेवी के द्वारा। वे तो नारायणके नाभि-कमलसे उत्पन्न हैं। इसलिए वे भूदेवी और लक्ष्मीदेवी दोनोंके प्रति तटस्थ हैं।

फिर भी ब्रह्माजी तुरन्त पृथिवीके दुःखको अपना दुःख समझ गये। वे स्वयं रजोगुणके देवता हैं। उन्होंने तमोगुणके देवता रुद्रको तथा अन्य सात्विक देवताओंको बुलाया। वे सबलोग मिलकर पृथिवीके साथ क्षीरसागरके तटपर गये। वहाँ उन सबने पुरूष-सूक्तसे नारायण भगवान्‌की स्तुति की।

पुरुष-सूक्त माने भगवान्‌की वाणी। उसमें वर्णन यह है कि समग्र सृष्टि भगवान्‌का विराट् रूप है और इसके भीतर नारायण भरे हुए हैं। इसमें जो-कुछ भी है, वह सब भगवान्‌का विस्तार है।

इसी पुरुष-सूक्तसे भगवान्‌की स्तुति करते-करते ब्रह्माजीकी समाधि लग गयी। उनके हृदयाकाशमें भगवान् प्रकट हुए। उन्होंने कहा कि तुमलोग भूदेवीका दुःख बतानेके लिए मेरे पास आये हो। लेकिन भूदेवीका पति तो मैं ही हूँ। इसलिए मुझे पहलेसे ही मालूम है कि उसको क्या कष्ट है ? वह पति कैसा होगा, जिसको अपनी पत्नीका दुःख ही मालूम न हो और उसके पास कोई डेपुटेशन आकर बताये कि आपकी पत्नीको तकलीफ है। इसलिए देवताओं, मुझे तो पहलेसे ही सब-कुछ मालूम है—'**पुरैव पुंसावधृतो धराज्वरः।**'

अब जब ब्रह्माजीकी समाधि टूटी तब उन्होंने देवताओंसे कहा कि भगवान् आनेवाले हैं। तुम सबलोग ब्रजमें चलकर यदुवंशमें प्रकट हो जाओ। थोड़े दिनोंमें ही भगवान् आयेंगे और वसुदेवके घरमें अवतीर्ण होकर धरतीके भारका हरण करेंगे।

देखो, पृथिवीपर भार क्या है ? पृथिवी तो सत्तारूप है। इसपर जो दैत्यभाव है, अहंकार है, मोह-ममता है; उसीका भार है। जब मोह-ममता, अहंकार आदिसे ग्रस्त होकर मनुष्य दैत्यप्राय हो जाता है तब पृथिवी के ऊपर उसका भार बढ़ जाता है।

ब्रह्माजीने कहा कि नारायणके साथ-साथ संकर्षण भी आयेंगे। अबकी बार बड़े भाई बलराम बनकर आयेंगे। क्योंकि रामावतारमें छोटे भाई लक्ष्मण बनकर आये थे तो कभी-कभी श्रीरामजी उनको डाँट दिया करते थे। उनकी एक भी नहीं चलती थी। इसलिए उन्होंने कहा है कि अबकी बार बड़ा भाई बनकर चलूँगा तो कभी-कभी मैं डाँट दिया करूँगा। क्योंकि छोटे भाईको बड़े भाईकी बात माननी पड़ती है। संकर्षणको तो भगवान्‌की सेवा करनी है, चाहे छोटे भाई बनकर करें या बड़े भाई बनकर करें । संकर्षण के साथ-साथ भगवान्‌की सेवाके लिए योग-माया भी आयेंगी।

ब्रह्माजीकी बात सुनकर देवता लोग प्रसन्न हो गये और लौट गये। इधर व्रजमें वसुदेवजीका विवाह देवकीजीसे हुआ। उनको बड़ा भारी दान-दहेज मिला।

देखो, पहलेके लोग अपनी बेटीको उसके विवाहके अवसरपर तो बहुत-कुछ देते थे, बादमें भी देते रहते थे। क्योंकि उस समय अचल सम्पत्तिमें लड़कीके भागका विधान नहीं था, केवल चल सम्पत्तिमें ही विधान था। इसलिए पूर्व कालके लोग स्वेच्छासे ऐसी व्यवस्था रखते थे कि लड़कीको भी लड़के-के बराबर ही सम्पत्ति मिल जाय।

देवकीजीकी बिदाईके समय मथुराके तत्कालीन राजा उग्रसेनका बेटा कंस अपनी चचेरी बहन देवकी और बहनोई वसुदेवको प्रसन्न करनेके लिए उनके रथकी बागडौर पकड़कर चला। उसके पीछे-पीछे सैकड़ों सुनहले रथ चल रहे थे।

उसी समय देवताओंने मनमें यह विचार किया कि यदि कंस देवकी-वसुदेवका इतना भक्त हो जायेगा तो इनके पुत्ररूपमें प्रकट होकर भगवान् इसको कैसे मारेंगे ?

इसलिए यहाँ जाहिर कर देना चाहिए कि कंसकी मृत्यु देवकीके गर्भसे उत्पन्न होने वाली है। इतनेमें आकाशवाणी हो गयी कि अरे ओ नासमझ कंस, तू किससे प्रेम कर रहा है ? इसी देवकीके आठवें गर्भसे तेरी मौत होनेवाली है—

अस्यास्त्वामष्टमो गर्भो हन्ता यां वहसेऽबुध। १०-१-३४

यहाँ देखो, आकाशवाणीने न बेटा कहा, न बेटी कहा, केवल आठवाँ गर्भ कहकर कंसको गड़बड़-झालेमें डाल दिया। यह भी देखने योग्य है कि इस प्रसंगमें कि खलकी प्रीति कैसी होती है !

आकाशवाणी सुनते ही कंसने रथकी बागडोर छोड़ दी, देवकीकी चोटी पकड़कर उसको सड़कपर खींच लिया तथा हाथमें तलवार लेकर मारनेके लिए तैयार हो गया। उसको यह विचार नहीं हुआ कि मथुराकी सड़कपर हज़ारों लोग चल रहे हैं। नवविवाहिता बहनके हाथमें मंगल सूत्र बँधा हुआ है और वह विदा होकर ससुराल जा रही है। उसको मारनेपर लोग क्या कहेंगे! क्षणभर पहले कंस जिस बहिनके प्रति इतनी प्रीति जाहिर कर रहा था उसीके साथ इतना वैर हो गया उसका! इसीलिए सन्त तुलसीदासजीने कहा है कि खलकी प्रीति स्थिर नहीं होती—'**खल की प्रीति यथा थिर नाहीं।**' जिसके हृदयमें जो भाव होता है, वह स्वार्थका बाधा पड़ते ही प्रकट हो जाता है और अपना काम कर दिखाता है। यही स्वार्थी मनुष्यकी पहचान है।

लेकिन यहाँ जो चमत्कार हो रहा है, वह आप देखिये। देवकी की चोटी पकड़ी गयी है। उसकी गरदनपर तलवार पड़नेवाली है। उसके पति वसुदेव वहाँ खड़े हैं, फिर भी वह न तो कंससे कहती है कि भैया, तुम मुझसे बहुत प्यार करते हो, मुझे क्यों मार रहे हो और, न वसुदेवजीसे कहती हैं कि क्या तुम नपुसंक हो ? मुझसे तुमने प्यार किया है, मैं तुम्हारी पत्नी हूँ, यह मुझे मार रहा है, इसलिए तुम इसको मारते क्यों नहीं ? कुछ भी नहीं बोलती, क्षमाकी मूर्ति है देवकी ! सहिष्णुताकी मूर्ति है देवकी ! शान्तिकी मूर्ति है देवकी !!

इसलिए यहाँ प्रकट हो गया कि ऐसी ही माताके गर्भसे भगवान् प्रकट होते है। देवकी क्या है ? वह सर्वदेवतामयी हैं—'देवकी सर्व-देवता।' देवकी सूक्ष्म बुद्धिरूपा है-'**दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।**' इसी तरह वसुदेवजी क्या हैं ? वे विशुद्ध सत्त्व हैं—**सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितम्।**'

अतः वसुदेवजीने बड़ी शक्तिसे कंसकी प्रशंसा करते हुए कहा कि कंसजी आप यह क्या कर रहे है ? संसारमें बड़े-बड़े शूरवीर आपकी प्रशंसा करते हैं—'**श्लाघनीयगुणः शूरः।**' लेकिन जब आप अपनी इस बहिनको मार देंगे तब आपकी निन्दा होने लगेगी।

रही बात मरनेकी ! वह तो एक दिन मरना ही है। उसके लिए इस बेचारीको क्यों मारना ? यह संसार तो स्वप्नके समान है। मौत जिसकी चोटी पकड़कर खड़ी है, उसको तो संसारमें किसी भी प्राणीसे द्रोह नहीं करना चाहिए। द्रोहका मूल है वैर, वैरका मूल है क्रोध और क्रोधका मूल है द्वेष; केवल अज्ञान-मूलक अभिमानसे ये हमारे जीवनमें आते हैं। इसलिए किसीसे भी द्वेष नहीं करना चाहिए—

तस्मान्न कस्यचिद् द्रोहमाचरेत् स तथाविधः। १०-१-४४

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, जब इस प्रकार समझाने-बुझानेपर भी कंस नही माना तब वसुदेवजीने सोचा कि इस समय जहाँतक बुद्धि चले, वहाँतक मृत्युको हटाना चाहिए—

मृत्युर्बुद्धिमतापोह्यो यावद्बुद्धिबलोदयम्। १०-१-४८

वसुदेवजीने विचार किया कि अभी बच्चे तो हैं नहीं, पता नहीं बच्चे होंगे भी या नहीं होगें ? इसलिए भविष्यमें होनेवाले व बच्चोंको लेकर अपनी पत्नीको इस समय मरने दूँ—यह किसी प्रकार नीति-संगत नहीं है। हो सकता है कि बच्चोंको होनेतक कंस स्वयं ही मर जाय अथवा बच्चे पैदा होकर इसको मार डालें। आगे न जाने क्या होगा ? इसलिए भविष्यकी कल्पना न करके अभी मुझे देवकीको बचाना चाहिए।

यह सोचकर वसुदेवजीने प्रतिज्ञापूर्वक कहा कि कंसजी, आप चिन्ता न करें। आपकी बहिन देवकीके गर्भसे जितने भी बच्चे होंगे, उन्हें मैं आपको दे दिया करूँगा।

वसुदेवजी इतने सत्यवादी थे कि उनकी बात सुनकर कंस-जैसे क्रूर कर्मीके हृदयमें भी उनके प्रति विश्वास हो गया और उसने देवकीको छोड़ दिया।

इसके बाद जब देवकीके गर्भसे पहला बच्चा हुआ तब वसुदेवजी उसको लेकर कंसके पास आये। कंसने उसको देखकर कहा कि अरे इसको लौटाओ बाबा, यह नन्हा मेरा क्या बिगाड़ेगा। जब आठवाँ हो तो ले आना।

नारदजीने सोचा कि कंस तो भक्त होता जा रहा है। यदि पृथिवीका भार नहीं उतरेगा तो काम कैसे बनेगा ? उन्होंने कंसके पास जाकर उसको उल्टा-सीधा समझा दिया। फिर तो कंसने देवकी-वसुदेवको जेलमें डाल दिया और उनसे जो-जो बच्चे होने लगे, उनको मारने लगा। उधर उसने अपनी पुलिसको आज्ञा दे दी कि मेरे पिता उग्रसेनको, जो राजा बने बैठे हैं, पकड़ लो।'

लेकिन उसकी पुलिसके आदमियोंने कहा कि जबतक आपके पिता राजा हैं तबतक आपके हुक्मकी कोई कीमत नहीं है। हम आपके कहनेसे राजा उग्रसेनको जेलमें नहीं डाल सकते।

इसके बाद कंसने अपनी सेनाको भी ऐसी ही आज्ञा दी। लेकिन सेनाने भी उसकी आज्ञा नहीं मानी। फिर तो वह स्वयं अपने हाथमें हथकड़ी-बेड़ी लेकर, उग्रसेनके पास पहुँचा और वहाँ भरी सभामें उनके हाथपाँव में हथकड़ी-बेड़ी पहना दीं। कोई कुछ नहीं बोल सका। उसकी दुष्टताकी हद हो गयी—

स्वंय निगृह्य बुभुजे शूरसेनान् महाबलः । १०-१-६९

इस श्लोकार्धमें जो 'स्वयं' शब्दका प्रयोग है, इससे सिद्ध होता है कि कंसको जब उसके सिपाहियोंको सहयोग नहीं मिला तब उसने खुद अपने पिताको हथकड़ी-बेड़ी लगाकर जेलमें डाल दिया और वह राजा बन बैठा।

इसके बाद उसने असुरोंका संगठन प्रारम्भ किया। जरासन्धने तो अपनी बेटियोंसे कंसका विवाह कर दिया। फिर वह बाणासुर, भौमासुर, अघासुर, बकासुर, आदि सब असुरोंसे बड़ी घनिष्ठ मित्रता स्थापित करके यदुवंशियोंको दुःख देने लगा।

इसके अनन्तर कंसके सुखका अन्त भी समीप आना ही था। जो दूसरोंको कष्ट पहुँचाकर अपना जीवन चलाना चाहता है, उसका विनाश अवश्यम्भावी है। हिंसा कभी टिक नहीं सकती। उससे किसीका जीवन सफल नहीं हो सकता।

कंसकी क्रूरता देखो, कि उसने एक-एक करके देवकीके छः बच्चे मार दिये ! आध्यात्मिक दृष्टिसे वे छहों बच्चे षड्विकार थे। षड्विकारोंका शमन हो जानेपर ही आत्माका साक्षात्कार होता है। इसलिए जब षड्विकार-स्वरूप छः बच्चे मार दिये गये, तब सातवें गर्भमें बलरामजी आये। उन्होंने कहा कि पहले मैं चलकर देखूँगा कि भगवान्के पलने लायक जगह है या नहीं ?

इधर भगवान्ने अपनी योगमायासे कहा कि बलरामजीने स्थानकी शुद्धि कर दी है। इसलिए इसको उठाकर रोहिणीके पेटमें रख दो और उसके बाद मैं देवकीके गर्भमें आता हूँ।

अब जब भगवान् देवकीके गर्भमें आगये तब उससे ऐसी ज्योति निकलने लगी, मानो घड़ेके भीतर कोई मणि रक्खी हो और उसकी चमक बाहर निकल रही हो।

कंसने देवकीकी दीप्ति देखी तो कहने लगा कि इसके गर्भमें मुझको मारनेवाला आगया है क्या ? इसलिए अब मुझे इसके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिए ?

देखो, देवकीके गर्भमें भगवान् कैसे आये थे ? वसुदेवने देवकीको मानसिक दीक्षा देकर गर्भमें भगवान्की स्थापना की थी। वसुदेवने मनसे ही दीक्षा दी और देवकीने भी मनसे ही उसको ग्रहण किया। लेकिन बात यह है कि ऐसी कौन-सी जगह है, जहाँ स्वयं भगवान् विराजमान न हों ? भगवान् सब जगह रहते हैं, इसलिए गर्भमें भी रहते हैं।

यही कारण है कि भगवान्‌को गर्भमें धारण की हुई देवकी को देखकर कंसके मनमें सद्‌बुद्धि आगयी और वह बोला कि अरे यह तो स्त्री है, मेरी बहिन है, गर्भवती है। इसको मैं मारूँगा तो लोग मुझपर थूकेंगे ! मेरी बड़ी निन्दा होगी। इसलिए इस समय इसको मारना उचित नहीं है।

इसके बाद कंस यह प्रतीक्षा करने लगा कि इसका जन्म कब हो- '**आस्ते प्रतीक्षंस्तज्जन्म।**' कंसको सोते, बैठते, उठते, खाते, पीते सब समय कृष्ण-कृष्णका ही दर्शन होने लग गया। कभी वह अपनी परछाईसे डर जाय तो कभी अपने पाँवकी ध्वनिसे सहम जाय। प्रतिक्षण उसको सामने कृष्ण दिखायीं पड़ें। भले ही कंसकी कृष्णके प्रति द्वेष-बुद्धि थी, परन्तु उसका जीवन कृष्ण स्मरणसे भर गया। वह कृष्णमय हो गया, तन्मय हो गया।

अब ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र आदि सब देवता कंसके कारागारमें आये और देवकीके गर्भकी स्तुति करने लगे। श्रीमद्भागवतमें गर्भस्तुति अद्भुत है-

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः।। १०-२-२६

देवताओंने कहा कि प्रभो, आपका व्रत सत्य है। आप गर्भमें आकर और यहाँका कष्ट देखकर लौट न जायँ। आपने प्रतिज्ञा की है। अपना व्रत पूरा कीजिये। बीचमें मत लौट जाइये। आप अपनी बात बदलते नहीं हैं, सत्य ही आपका साधन है। तीनों कालों और तीनों लोकोंमें आप ही सत्य हैं। आप पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाशकी योनि हैं और इन्हीं पंचतत्वोंमें आप रहते हैं। ये सब सत्य हैं, परन्तु आप सत्यके भी सत्य हैं। हम आपकी शरणमें आये हैं।

देवताओं ने आगे कहा कि प्रभो, आप अवतार इसलिए लेते हैं कि आपकी साकार मूर्ति लोगोंको मिले और वे आपकी पूजा कर सकें, आपका स्मरण कर सकें।

सत्त्वं विशुद्धं श्रयते भवान् स्थितौ शरीरिणां श्रेयउपायनं वपुः।१०-२-३४

भगवान्, आप उपासना करनेकेलिए ही शरीर धारण करते हैं, जिससे वेद, क्रियायोग, तपस्या और समाधिके द्वारा आपकी आराधना हो सके।

सत्त्वं न चेद्धातरिदं निजं भवेद् विज्ञानमज्ञानभिदापमार्जनम्। १०-२-३५

प्रभो, यदि आप इस रूपमें अवतार न लेते तो कैसे सिद्ध होता कि भगवान् हैं ! लोग आपके सम्बन्धमें अनुमान ही लगाते रह जाते। सभी आपको

अनुमानसे ही सिद्ध करनेका प्रयास करते। आपका प्रत्यक्ष दर्शन तो किसीको होता ही नहीं।

इसके बाद देवताओंने भगवान्‌के चरणोंमें वन्दना की और देवकीको सम्बोधित करते हुए कहा कि माता, आपकी कोखमें भगवान् पधार चुके हैं। अब आप कंससे तनिक भी मत डरिये। वह तो चन्द दिनोंका ही मेहमान है। आपके पुत्र यदुवंशकी रक्षा करेंगे।

इसप्रकार देवताओंने भगवान् और देवकी माताकी स्तुति की। जब जन्मका समय नजदीक आया तब ब्रह्मा और शंकरजीने कहा कि देवताओं, अब चलो। तुम्हारे पीछे-पीछे हम भी निकलते हैं। लेकिन देवताओंने कहा कि आपलोग यहाँ रहकर कुछ और भी आनन्द लेंगे। इसलिए हमलोग यहाँसे पहले नहीं निकलेंगे। यह कहकर देवताओंने गर्भगृहको घेर लिया और वे ब्रह्मा, शंकरको निकलनेही न दें। फिर ब्रह्मा, शंकर क्या करते ? जब वे दोनों आगे-आगे निकले तब उनके पीछे देवतालोग निकलकर स्वर्गमें गये—

ब्रह्मेशानौ पुरोधाय देवाः प्रतिययुर्दिवम्। १०-२-४२

अन्तमें जब भगवान्‌के जन्मका समय उपस्थित हुआ तब श्रीशुकदेवजी महाराजने उसका बड़ा सुन्दर वर्णन किया। आप भी उनके मूल श्लोकोंका रसास्वादन कीजिये—

अथ सर्वगुणोपेतः कालः परमशोभनः।
यर्ह्येवाजनजन्मर्क्षं शान्तर्क्षग्रहतारकम्।।
दिशः प्रसेदुर्गगनं निर्मलोडुगणोदयम्।
मही मंगलभूयिष्ठपुरग्रामव्रजाकरा।।
नद्यः प्रसन्नसलिला ह्रदा जलरुहश्रियः।
द्विजालिकुलसंनादस्तबका वनराजयः।।
ववौ वायुः सुखस्पर्शः पुण्यगन्धवहः शुचिः।
अग्नयश्च द्विजातीनां शान्तास्तत्र समिन्धत।। १०-३-१-४

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, सारी प्रकृति वासक नायिकाके समान सजधज गयी। उसकी भूत-शुद्धि हो गयी। वह सज-सँवरकर भगवान्‌के स्वागतके लिए उन्मुख हो गयी। उसके बाद क्या हुआ-यह एक व्रजभाषा-कविके शब्दोंमें सुनिये—

सोई परिपूरन अपार पारब्रह्म राशि,
देवकीके कोरे एकबार ही कुरै परी।

भगवान् प्रकट हो गये। वसुदेवजीने देखा कि उनके आनन्दकी सीमा नहीं रही। लेकिन आनन्द होनेपर भी यदि हाथ-पाँव बँधे ही रह जायँ, खुले नहीं तो क्या आनन्द हुआ ? फिर भी वसुदेवजीने जेलमें ही दस हजार गायोंके दानका संकल्प कर दिया और भगवान्के साथमें खड़े होकर उनकी स्तुति करने लगे।

अब यह प्रसंग कल सुनाया जायेगा।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

: ६ :

भगवान् जब साधकके हृदयमें प्रकट होते हैं तब उसकी एक विशेष स्थिति हो जाती है। साधकके पक्षमें उसको कहते है चित्तकी शुद्धि। इसी तरह जब सगुण, साकार जगत्का कल्याण और भक्तोंका पक्षपात करनेवाले भगवान् प्रकट होते हैं तब समग्र सृष्टिमें, प्रकृतिमें एक विलक्षणता आजाती है।

इसीलिए श्रीमद्भागवतमें श्रीशुकदेवजी महाराज ने बताया कि भगवान्के प्राकट्यके समय काल सर्वगुण-सम्पन्न हो गया-बाहरसे सुहावना और भीतरसे अन्तःकरण-शोधक। दिशाएँ निर्मल हो गयीं। आकाशमें चमचमाते तारे उग आये। शीतल-मन्द-सुगन्ध वायु बहने लगी। अग्नि शान्त होकर प्रज्वलित हो गयी। नदी-नद-समुद्र सब-के-सब वर्षाऋतुमें ही निर्मल हो गये। पृथिवीमें चारों ओर मंगल-ही-मंगल होने लगा। सबके मन प्रसन्न हो गये। साधु-देवताओंकी आत्मा आनन्दसे भर गयी। तात्पर्य यह कि प्रकृतिने भगवान्के शुभागमनके अवसरपर अपनेको उन्मुख करके भगवान्के प्रति अर्पित कर दिया।

यह तो आपको कल बताया ही जा चुका है कि देवकी सूक्ष्म बुद्धि हैं, वसुदेव विशुद्ध अन्तःकरण हैं और इन दोनोंके संयोगसे भगवान् श्रीकृष्णका अवतरण होता है।

आप जानते ही हैं कि श्रवणके बाद भगवान्के प्रकट होनेका मंगलमय अवसर आता है। इसीलिए श्रावणके बाद भाद्र मास आता है, जो भद्रमय होता है-'भद्रं कर्णेभिः शृणुयामः।' भद्र उसे कहते हैं, जो अपनी उपस्थितिके साथ-ही-साथ आनन्द देता है। फिर जो भाद्रमासका कृष्णपक्ष है, वह तो भगवान्के नामका ही है। जहाँ घनघोर अन्धकार छाया रहता है, वहीं भगवान् प्रकट होते हैं।

कृष्णपक्षमें जो अष्टमी तिथि है, वह मध्यवर्तिनी तिथि है। सात तिथियाँ उसके पहले हैं और सात तिथियाँ बादमें हैं। मध्य तिथिमें भगवान्का जन्म हुआ। अष्टमी तिथिकी मध्यरात्रिमें भगवान्का जन्म क्यों हुआ ? इसलिए हुआ कि भगवान् चन्द्रवंश में उत्पन्न हुए हैं। चन्द्रमाकी मुख्य पत्नी निशा है और चन्द्रमा निशानाथ हैं। अतः निशाके सन्धिकालमें परमात्माका प्रकाश होता है।

इसके अतिरिक्त रोहिणी नक्षत्र अजन्मा ब्रह्माका नक्षत्र है। बलरामजी की माताका नाम है रोहिणी। इसलिए भगवान्‌ने रोहिणी नक्षत्रमें जन्म लिया और भी सारी बातें हैं इस प्रसंगकी। लेकिन समयाभावके कारण उन सबकी चर्चा नहीं की जा सकती।

भगवान्‌के प्रकट होनेपर उनकी ओर सबसे पहले वसुदेवजीकी दृष्टि गयी। वे उनका दर्शन करके चकित हो गये और सोचने लगे कि अरे, हमारे घरमें भगवान्‌का जन्म हो गया! आश्चर्य, महदाश्चर्य! भगवान् कितने छोटे हैं। ऐसा तो कोई बालक सृष्टिमें पैदा ही नहीं होता।

तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं चतुर्भुजं शंखगदार्युदायुधम्।
श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभं पीताम्बरं सान्द्रपयोदसौभगम्।।
महार्हवैदूर्यकिरीटकुण्डलत्विषा परिष्वक्तसहस्रकुन्तलम्।
उद्दामकाञ्च्यङ्गदकंकणादिभिर्विरोचमानं वसुदेव ऐक्षत।।

१०-३-९-१०

वसुदेवजीने कहा— अद्भुत है यह बालक! कमलके समान तो इसकी खुली-खुली आँखे हैं, जबकि बच्चे पैदा होते हैं तो उनकी आँखे बन्द रहती हैं,उनके हाथ दो होते हैं, यह तो चतुर्भुज है! अवश्य ही चारों हाथोंसे भक्तोंके कल्याणमें लगा हुआ, चारों पुरुषार्थोंको देनेवाला और चारों अवस्थाओंका भोक्ता प्रभु हमारे सामने प्रकट हुआ है। इसके चारों हाथोंमें शंख-चक्र-गदा-पद्म हैं और यह समग्र आभूषणोंसे आभूषित है।

यहाँ पहले श्लोकके दूसरे चरणमें जो 'अरि' शब्द आया है, उसका अर्थ चक्र ही होता है। **'अरा सन्त्यस्य इति आरिः'**-चक्रः, जिसमें अरे होते हैं, आरे होते हैं, उसे चक्र बोलते हैं।

वसुदेवजीने जब बालकका यह रूप देखा तब उनका सिर झुक गया, उनके हाथ जुड़ गये और उन्होंने यह निश्चय किया कि ये साक्षात् भगवान् हैं, उनकी स्तुति की।

देखो, जब किसी आश्चर्यपूर्वक पवित्र वस्तुका दर्शन होता है तब मन अपने आप ही उसका स्तवन करने लगता है। निरुक्तका यह कथन सम्भवतः आपको बताया जा चुका है कि यदि तुम परमात्माको पहचानोगे नहीं तो वह तुम्हारी रक्षा कैसे करेगा। ज्ञात होनेपर ही कोई देवता अपने रूपकी रक्षा करता है, अन्यथा नहीं करता-**'अविदितं देवो नैनं भुनक्ति।'**

इसलिए वसुदेवजीने कहा कि महाराज, मैंने आपको पहचान लिया। आप साक्षात् जगत्‌के कारण हैं। केवल निमित्तकारण अर्थात् बनानेवाले ही

नहीं, बननेवाले भी आप ही हैं। बननेवालेकी विशेषता यह होती है कि वह अपने कार्यमें विद्यमान होता है। जैसे घड़े में उपादान कारणके रूपमें मिट्टी मौजूद होती है, वैसे ही विश्व-सृष्टिके रूपमें भगवान् बना है। इसलिए कण-कणमें भगवान् भरपूर है। बनानेवाला है चेतन और बननेवाला है सत्। सत्-चित्का जो अविनश्वर रूप है, अविनाशी रूप है, वह आनन्दघन परमात्मा है।

यदि कहो कि जब परमात्मा सब है तब दिखायी क्यों नहीं पड़ता ? तो, इसका उत्तर यह है कि संसारमें कितनी ही चीजें होनेपर भी दिखायी नहीं पड़तीं। इसी तरह परमात्मा है तो सब वस्तुओंमें, परन्तु हमारी आँखोंमें, हमारी इन्द्रियोंमें इतनी शक्ति नहीं है कि हम उन्हें पहचान सकें। जब हमारी इन्द्रियाँ भक्ति-ज्ञानसे विशिष्ट होती हैं तब परमात्माके दर्शनमें सफल होती हैं ! साधारण आँखें तो जड़को ही देखती हैं।

जब वसुदेवजीने स्तुति कर ली तब देवकी-की-आँखे खुलीं और उसने भी साक्षात् नारायणके दर्शन किये। फिर देवकीने उनकी स्तुति करते हुए कहा कि हमारे हृदयमें रहकर अध्यात्मदीप प्रकाशित करनेवाले साक्षात् ब्रह्म तुम्हीं हो। यह कितने बड़े आश्चर्यका विषय है कि जो सम्पूर्ण विश्वसृष्टिको अपने भीतर धारण करता है, वह मेरे गर्भमें आया। भला दुनियामें कौन इसपर विश्वास करेगा ? बुद्धिमान् लोग तो कहेंगे कि नहीं, कहीं अवतार होता ही नहीं। लेकिन यहाँ तो भगवान्का अवतार बिल्कुल प्रत्यक्ष है, हमारी आँखोंके सामने है। यदि संसारका कोई राजा है और वह अपने राज्यमें दौरा नहीं करता, प्रजासे नहीं मिलता तो जिन्दा है या मर गया-इसका पता कैसे चले ?

इसलिए भगवान् ऐसे हैं, जो सृष्टिके रूपमें बनते हैं, बनाते हैं और स्वयं उसको देखते रहते हैं। फिर प्रकट होकर भक्तोंको दर्शन देते हैं। हमारा हृदय भगवान् रूपी सरोवरमें अवतरण करे, उतरे, इसके लिए अवतार-रूप सोपान है—'**अवतरणं अवतारः।**' इसी सोपानके द्वारा हम ब्रह्महृदमें अवतीर्ण हो सकते हैं। जो अन्तर्यामी हमारे स्वरूपमें बैठे हुए हैं, वही हमारे अन्तःकरणके द्वारा, हमारी इन्द्रियोंके द्वारा बाहर देखनेमें आते हैं। यदि प्रभुका अवतार न हो तो उनको कौन पहचाने ?

देवकीने कहा कि प्रभो, हम तुमको पहचानते तो हैं, लेकिन डर भी लगता हैं कि यदि अभी कंस आजाय तो क्या होगा ?

भगवान्ने कहा कि तुम लोगोंने अपने पूर्व-पूर्व जन्मोंमें मेरे लिए बड़ी तपस्या की थी। जब मैं वर देनेके लिए तुम्हारे सामने आया तब तुम लोगोंने मेरे जैसा पुत्र माँगा। लेकिन मेरे-जैसा तो दुनियामें कोई है नहीं—

अदृष्ट्वान्यतमं लोके शीलौदार्यगुणैः समम्। १०-३-४१

फिर मैं अपने समान पुत्र कहाँ से देता ? तुम्हारी माँग मैं पूरी नहीं कर सका। इसलिए जैसा तुमने माँगा था, उसका तिगुना होकर तीन बार तुम लोगोंका पुत्र बना। क्योंकि कोई उदार व्यक्ति किसीको उसकी माँगी हुई चीज न दे सके तो उसी चीजके समान तीन चीजें दे देता है। मैंने तुम लोगोंको जो अपना चतुर्भुज रूप दिखाया है, यह पूर्व जन्मकी याद दिलानेके लिए है।

इसके बाद भगवान्ने वसुदेव-देवकीको यह प्रेरणा कर दी कि तुम लोग अब मुझको गोकुलमें ले चलो।

असलमें भगवान् जबतक गोकुलमें नहीं जायँ तबतक गोकुलकी सार्थकता नहीं है। भगवान् केवल इन्द्रियोंके पीछे रहनेके लिए नहीं हैं। केवल अन्तःकरणमें ध्यान करनेके लिए नहीं हैं, भगवान् तो हमारी इन्द्रियोंके साथ खेलनेके लिए हैं। इसीलिए भगवान्का, परब्रह्म परमात्माका साधारणीकरण होकर हमारी आँखोंके सामने आगया।

अब जब वसुदेवजीने भगवान्को गोकुल पहुँचानेका संकल्प किया तब ऐसी लीला हुई कि भगवान् वसुदेवजीकी गोदमें आगये। वसुदेवजीकी हथकड़ी-बेड़ी छूट गयी। भला भगवान् जिसकी गोदमें हों, उसके लिए हथकड़ी-बेड़ीका बन्धन और फाटक बन्द होनेकी बाधा क्या चीज है! सब-के-सब बन्धन छूट गये, फाटक खुल गये।

इसके बाद जब वसुदेवजी भगवान्को लेकर गोकुलकी ओर चले तब विमुखजन-मोहिनी माया मथुरामें प्रकट हो गयी। थोड़ी-थोड़ी फुहियाँ गिरने लगीं। मथुराके जो लोग बाहर सोये थे, अपनी-अपनी खाट उठाकर घरके भीतर चले गये। रास्ता साफ हो गया। भगवान् नगरके बाहर निकल गये। उनपर फुहियोंका जो पानी पड़ रहा था, उसका निवारण शेष भगवान् अपने फणोंसे करने लगे।

इधर यमुनाजीने देखा कि एक साँप तो मेरे जलके भीतर पहलेसे ही है, यह दूसरा साँप भी मेरी ओर बढ़ता चला आरहा है। अब क्या होगा ? उन्होंने अपनी धाराको तेज कर दिया और कहा कि मैं इस साँपको बहाकर बाहर कर दूँगी। लेकिन जब उनकी दृष्टि भगवान्पर पड़ी तब उन्होंने सोचा कि यदि मैं कोई उद्दण्डता करुँगी तो ये मेरे साथ ब्याह कैसे करेंगें ?

आप जानते ही हैं कि भगवान् आगे चलकर कालिन्दीजी अथवा यमुनाजीसे ब्याह करनेवाले हैं। वे व्रजमें भी भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेयसी हैं और समुद्रके, रत्नाकरके द्वारा द्वारकामें पहुँचती हैं तो वहाँ भी चतुर्थ पटरानी होती हैं।

इसलिए भगवान्‌के सामने कालिन्दीने अपना हृदय खोलकर रख दिया। वे सूख-सी गयीं, उनमें कहीं घुटने भर, कहीं टखनेभर और कहीं जाँघ भर पानी रह गया। वसुदेवजी आरामसे उस पार चले गये। जब गोकुल पहुँचे तब वहाँ भगवान्‌की स्वजन-मोहिनी मायाने ऐसी लीला रची कि नन्दभवनके सारे किवाड़ खुल गये। यशोदा मैया सो गयीं और सारे गोकुलवासी भी निद्राग्रस्त हो गये।

देखो, ऐसा भगवान् आपको संसारके किस मजहबमें मिलेगा, जो सोते हुए व्यक्तिके घरमें अपने-आप पहुँच जाय ? सोते हुएके पास आनेवाले भगवान्‌का ही नाम सगुण भगवान् है, साकार भगवान् है, दयालु भगवान् है। जहाँ न जप है, न ध्यान है, न समाधि है, न साधन है, वहाँ एक सोते हुए प्राणीके पास भगवान् स्वयं पधार रहे हैं।

वसुदेवजीने भगवान्‌को यशोदा मैयाके पास सुला दिया और उनके पास जो माया प्रकट हुई थी, उसको उठाकर साथ ले गये। इसपर भगवान्‌ने विचार किया कि देखो, ये भक्त होकर मुझको तो छोड़े जा रहे हैं और मायाको उठाकर लिये जा रहे हैं। इधर मैं जिसके पास पहुँचकर लेटा हूँ, वह तान दुपट्टा सो रहा है। यहाँ न मेरा स्वागत है, न सत्कार है। ये न आओ बोलते हैं, न जाओ बोलते हैं, यह कितना आश्चर्य है !

इसलिए भगवान् रोने लग गये। उनके रोनेकी आवाजसे यशोदा मैयाकी नींद टूट गयी। लेकिन यह प्रसंग मैं आपको बाद में सुनाऊँगा। अभी तो आप वसुदेवजीके साथ मथुरा लौटिये।

जब वसुदेवजी मायाको लेकर कंसके कारागारमें लौटे तब वहाँ क्या हुआ ? भगवान् गोदमें आये तो हथकड़ी-बेड़ी छूट गयी और माया गोदमें आयी तो फिर हथकड़ी-बेड़ी का बन्धन लग गया।

जब वसुदेवजी बँध गये तब माया देवी रोने लग गयीं। कंसके पहरेदार जग गये। उन्होंने कंसको खबर दे दी। कंस तो प्रतीक्षामें ही था। वह बिना जूता पहने, बिना टोपी लगाये, नंगे पाँव-नंगे सिर तलवार हाथ में लेकर वसुदेव-देवकीके पास पहुँच गया। उसको देखकर देवकीने सोचा कि हमारे बेटेकी रक्षा इसीकी वजहसे हुई है, इसलिए हमारा धर्म है कि हम इसको बचायें। इसलिए उन्होंने उसको छोड़ देनेके लिए कंससे बहुत अनुनय-विनयकी। लेकिन कंस किसीकी अनुनय-विनयको कहाँ मानता है ? उसने तत्काल उस माया देवीको उठाकर पत्थरपर पटक देनेका प्रयास किया। लेकिन माया देवी पत्थरपर गिरी नहीं, कंसके हाथसे छूटकर आकाश में उड़ गयीं। बादमें वही विन्ध्यावासिनी देवीके नामसे चारों ओर प्रसिद्ध हो गयीं।

कंस लज्जित-सा हो गया। वह पहले तो वसुदेव-देवकीके सामने वेदान्तका वर्णन करने लगा, बोला कि कौन किसको मारता है ? आत्मा तो अजर है, अमर है, असंग है, कभी मरता नहीं है। लेकिन मैंने तुम लोगोंके साथ बहुत अन्याय किया है। इसलिए तुम लोग मुझे क्षमा करो।

लेकिन कंस जबतक देवकी-वसुदेवके पास था तबतक तो उसकी बुद्धि बहुत बढ़िया रही, उसके ऊपर उनके सत्संगका प्रभाव बना रहा। लेकिन जब वह वहाँसे घर लौटा और उसको अपने कुटिल मन्त्रियोंका कुसंग मिल गया तब उसकी बुद्धि फिर बदल गयी। उसके कुटिल मन्त्रियोंने कहा कि स्वामी, जब उस देवीने यह घोषणा कर दी है कि आपको मारनेवाला कहीं पैदा हो चुका है तब क्यों न हम सभी बच्चोंको मार डालें ! कंसने मन्त्रियोंकी हाँ-में-हाँ मिलाते हुए सभी बच्चोंको मारनेकी आज्ञा दे दी।

लेकिन जहाँ अन्याय होता है, वहाँ चार दिनकी चाँदनी होती है। वह देरतक टिक नहीं सकती। जिसकी मृत्यु पास आजाती है वह असत्य, अन्याय और बेईमानीका पक्ष लेता है तथा अन्ततोगत्वा उसका विनाश हो जाता है।

अब आप गोकुलमें नन्दबाबाके घर चलिये। वहाँ जब बालक रोने लगा तब यशोदाजी तो जग ही गयीं, झट दासियाँ भी आगयीं। उन सबने जब बालकको देखा तो उनके आनन्दका पारावार नहीं रहा। सबके मुँहसे यह निकलने लगा कि 'नन्दके आनन्द भयो, नन्दके आनन्द भयो !' जब नन्दबाबाके कानोंमें यह ध्वनि पहुँची और उनको मालूम हुआ कि हमारे बेटा हुआ है तब उनकी खुशीका ठिकाना नहीं रहा !

देखो, यहाँ एक सिद्धान्त प्रकट हुआ। वह यह कि भगवान् पेटसे पैदा होनेपर ही किसीके बेटे नहीं होते। असलमें भगवान्‌काजो बेटापन है, वह भावसे है। जिसके हृदयमें यह पक्का भाव है-दृढ़ विश्वास है कि भगवान् हमारे पुत्र हैं, उसके वह पुत्र बनकर रहे हैं। इसी तरह जो भगवान्‌को स्वामी, सखा अथवा प्रियतमके रूपमें मानता रहा है, उसके वे स्वामी, सखा, व प्रियतम बन गये हैं। क्योंकि भगवान् तो भावग्राही हैं और गीतामें उनकी प्रतिज्ञा है—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** । इसीलिए श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं—

नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने जाताहलादो महामनाः। १०-५-१

देखो, वसुदेव-देवकीके मनमें यह भाव जरा कम जमा कि भगवान् हमारे पुत्र हैं। क्योंकि वे उनके सामने चतुर्भुज-रूपसे प्रकट हुए थे। चतुर्भुजको बेटा माननेमें उनको थोड़ा-थोड़ा संकोच भी होता था। लेकिन नन्द-यशोदाके घरमें तो भगवान् नन्हें बालकके रूपमें आये। इसलिए उनका भगवान्‌के प्रति

पुत्र-भाव पक्का हो गया, वे विश्वास करने लगे कि ये हमारे बेटा हैं।

वैसे हमारे वैष्णव सम्प्रदायके लोगोंने अपने भावराज्यमें दो श्रीकृष्ण पैदा किये हैं– एक मथुराके कारागारमें और दूसरे यशोदा मैयाके घरमें। जब वसुदेवजी अपने बेटेको लेकर मथुरासे गोकुलमें आये तब वे नन्द-नन्दनमें समा गये। यह बात वल्लभ-सम्प्रदाय और चैतन्य-सम्प्रदाय दोनोंमें मानी जाती है। परन्तु इन दो सम्प्रदायोंके अतिरिक्त अन्य किसी भी सम्प्रदायमें श्रीकृष्णको दो नहीं माना गया है।

तो, नन्दबाबाके हृदयमें पूर्ण विश्वास है कि श्रीकृष्ण उन्हींके बेटे हैं। दक्षिणमें श्रीवैष्णव-सम्प्रदायके लोग ऐसा मानते हैं कि जो वसुदेव-नन्दन कंस-कारागार में पैदा हुए, वे तो देवकीजीकी गोदमें ही रहे। उन्होंने कहा कि मैं अपनी माँको छोड़कर गोकुलमें क्यों जाऊँगा ? वे बारह वर्षोंतक वहीं गुप्त रूपसे रहे। माँ देवकी उनको दूध पिलाती, खिलाती और लाड़ लड़ाती थीं। यदि देवकीको मालूम हो जाता कि हमारा लाला हमारे पास नहीं है, तब तो उनका दिल ही फट जाता। यह बात तमिल भागवतमें कही हुई है।

जो हो, जब नन्दबाबाको मालूम हुआ कि उनको बेटा हुआ है तब उन्होंने तुरन्त वेदज्ञ ब्राह्मणोंको बुलवाया और उनसे सब संस्कार करवाये। हमारे व्रजके कथावाचक-लोग इस प्रसंगको बहुत विस्तारसे सुनाते हैं, नाचते हैं, कूदते हैं, खेलते हैं। उनके दो-तीन घण्टे इसी प्रसंगका वर्णन करनेमें बीत जाते हैं।

वेदज्ञ ब्राह्मणोंने नन्दबाबाके यहाँ स्वस्ति-वाचन किया। नन्दबाबाने उल्लासमें भरकर अपने सब खजाने खोल दिये, बड़े-बड़े दान किये। आनन्दके अवसरपर जिसकी मुट्ठी खुले नहीं तो समझना चाहिए कि उसके हृदयमें कोई आनन्द ही नहीं हुआ। आनन्द तो सारे तनावोंको ढीला करके मनुष्यको उन्मुक्त कर देता है।

नन्दबाबाने अपने यहाँ बेटा होनेके उपलक्ष्यमें दानका ऐसा सत्र चलाया कि जिसको चाँदी चाहिए, वह चाँदी ले जाय। जिसको सोना चाहिए, वह सोना ले जाय। जिसको मोती चाहिए वह मोती ले जाय और जिसको हीरा चाहिए, वह हीरा ले जाय। जिसको यह मालूम पड़े कि उसने ग़लतीसे छोटी चीज ले ली है, वह उसको बाहर ले जाकर फेंक दे और बड़ी चीज ले जाय।

लोग अपना-अपना अभीष्ट पदार्थ प्राप्त करनेके लिए नन्दभवनकी ओर आने लगे। नन्दबाबाने मुँह-माँगे दान दिये। वे तिलके पर्वत बना-बनाकर और उनको सुनहले रत्नोंसे ढक-ढककर दान करने लगे। उन्होंने बड़े-बड़े गोदान दिये।

जीव गोस्वामीका कहना है कि नन्दबाबाने इस अवसरपर बीस लाख गौओंका दान किया और श्रीधर स्वामी कहते हैं कि दो लाख गौओंका। इस प्रकार महात्मा लोग नन्दबाबाके गोदानकी संख्या भिन्न-भिन्न बताते हैं। इस तरह सारे ब्रजमें आनन्दोल्लास छा गया। बन्दीजन महिमाका गान करने लगे। स्तुतियाँ होने लगीं।

कहते हैं कि जब नन्दबाबाने उस महोत्सवमें रोहिणीजीको नहीं देखा, तब वे उनके पास गये और बोले कि लाला तो तुम्हारा ही है। फिर क्यों अकेली बैठी हो ? चलो अपने पुत्रका जन्मोत्सव मना लो। रोहिणीजी धर्मशास्त्रके इस नियमको मानती थीं कि जब पति साथ न हो तो पत्नीको शृंगार करके किसी उत्सवमें नहीं जाना चाहिए। लेकिन नन्दबाबाके कहनेपर वे भी जन्मोत्सवमें सम्मिलित हो गयीं।

जहाँ भगवान्का निवास होता है, वहाँ लक्ष्मीका भी निवास होता है। इसलिए वे वैकुण्ठ छोड़कर आयीं और सारे व्रजमें व्याप्त हो गयीं— **'रमाक्रीडमभून्नृप।'**

देखो, जब लक्ष्मीजी भगवान्के बिना कहीं जाती हैं तब उल्लूपर चढ़कर जाती हैं। उनकी अपनी सवारी उल्लू ही है। मतलब यह कि जब भगवान्के बिना जाती हैं तब लोगोंको उल्लू बनाकर लौट आती हैं। लेकिन जब भगवान्के साथ गरुड़ारूढ़ होकर जाती हैं तब खूब आनन्द देती-लेती हैं।

अब जब गोकुलमें उत्सव सम्पन्न हो गया तब नन्दबाबाके ध्यानमें आया कि कंसको भी प्रसन्न रखना चाहिए। इसलिए वे उसको वार्षिक कर देनेके लिए मथुरा गये और वहाँ डेरा डालकर कई दिनोंतक रहे। उन्होंने कंसको कर चुका दिया। उसके बाद वसुदेवजी उनसे मिलनेके लिए आये।

श्रीमद्भागवतमें नन्द-वसुदेवका जो मिलन-संवाद है, वह अद्भुत है। वसुदेवजीने नन्दजीके सामने बिल्कुल ही प्रकट नहीं किया कि उनके इतने बच्चे मारे गये। उनकी लड़की उड़ गयी और कंसने उन लोगोंको जेलमें डाल रक्खा था ! वे तो आनन्दपूर्वक यह कहने लगे कि नन्दजी, आपको इस उम्रमें निराश हो जानेके बाद भी पुत्रकी प्राप्ति हुई है, यह भगवान्की बड़ी कृपा हैं। जब सारा परिवार सुखी रहता है तभी गृहस्थ लोग सुखी रहते हैं। गृहस्थ का सुख अकेले सुखी रहनेमें नहीं है। इसलिए आपके यहाँ जो सुख आया है, वह हम सबके लिए भी बड़ा सुखदायी है।

परन्तु यहाँ नन्दबाबाने अपने सुखकी कोई चर्चा ही नहीं की। उन्होंने कहा कि देखो वसुदेवजी, मैं जानता हूँ कि तुम्हें जेलमें रहना पड़ा, तुम्हारे

बच्चे मारे गये और एक कन्या थी, जो आकाशमें उड़ गयी। इसलिए हमलोग तो तुम्हारे दुःखसे बहुत दुःखी हैं।

इस मिलन-प्रसंगसे यह शिक्षा मिलती है कि जब किसीसे मिलना हो तब उसके सामने केवल अपनी-ही-अपनी नहीं हाँकनी चाहिए, बल्कि सामनेवालीकी परिस्थिति देखकर उसके अनुरूप बात करनी चाहिए। इसलिए नन्दबाबाने देखा वसुदेवके दुःखको और वसुदेवजीने देखा नन्दबाबाके सुखको।

इसके बाद वसुदेवजीने कहा कि देखो नन्दजी, तुम जल्दीसे जल्दी गोकुल लौट जाओ क्योंकि वहाँ बड़े-बड़े उत्पात हो रहे हैं।

नन्दबाबा जानते थे कि वसुदेवजी बड़े सत्यवादी हैं। इसलिए उनकी बात कभी झूठी नहीं हो सकती। योग-दर्शनमें कहा गया है कि यदि किसीके जीवनमें सत्यकी प्रतिष्ठा होती है तो उसकी वाणीसे निकली हुई बात सच्ची हो जाती है। उसके लिए कर्म करनेकी कोई आवश्यकता नहीं होती- '**सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।**' सच्चे आदमीकी जबान जरूर सच्ची होती है, फलती है।

इसलिए वसुदेवजीकी बात सुनकर नन्दबाबाको यह चिन्ता हो गयी कि गोकुलमें न जाने क्या उत्पात हो रहे हैं ! तुरन्त उनके छकड़े जुड़ गये और वे लोग गोकुलकी ओर लौट पड़े। सत्पुरुषका यह स्वभाव होता है कि जब उसे विपत्तिकी आशंका होती है, तब वह भगवान्‌की शरण ग्रहण करता है। क्योंकि भगवान्‌का स्मरण समग्र विपत्तियोंसे रक्षा करनेवाला होता है—'**हरिःस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्।**'

इधर व्रजकी स्थिति यह थी कि वहाँ कंस की प्रेरणासे पूतना पहुँच चुकी थी। उसकी कथा आपलोगोंने सुनी ही होगी। श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज कहते हैं कि पूतना अविद्या है—

अविद्या पूतना नष्टा गन्धमात्रावशेषिता।

वह पवित्रात्मा बालकोंको हरकर ले जाती है। इसीलिए उसका नाम होता है पूतना- '**पूतानपि नयति।**' पूतना एक ग्रह है, जो बच्चोंको लगता है—ऐसा शास्त्रोंमें वर्णन मिलता है। बाल-संहितामें उसकी शान्ति करानेकी विधि भी लिखी है।

पूतना जन्मसे राक्षसी थी। बड़ा भंयकर स्वभाव था उसका। वह खून पीनेवाली बालघातिनी थी। वह कंसकी प्रेरणासे गोकुल आयी थी। वहाँके लिए बड़ा सुन्दर वेश बनाया उसने जैसे साक्षात् लक्ष्मी हो। उसके बालोंमें मालतीके फूल लगे हुए थे, हाथमें वह कमल लिए हुए थी। उसने बड़ी सुन्दर वेश-भूषा धारण करके गोकुलमें प्रवेश किया।

इधर भगवान्ने ऐसी प्रेरणा की कि पूतना और किसीके घरमें न चली जाय, नहीं तो वहाँके बालकोंको मारेगी, इसलिए सीधे मेरे पास आजाय। ऐसा ही हुआ उसे देखकर लोग मुग्ध हो गये। किसीने नन्दबाबाके घर जानेमें उसके सामने कोई रुकावट नहीं डाली।

जब पूतना नन्दमहलमें पहुँची तो उसने देखा कि पलंगपर नन्हें श्यामसुन्दर लेटे हुए हैं। अभी उनके मुँहमें दाँत नहीं है। उनकी आँखे बन्द हैं। उनके साँवरे शरीरपर झीना पीताम्बर पड़ा हुआ है। एक ओर रोहिणी मैया बैठी हैं,दूसरी ओर यशोदा मैया ! दोनों अपने लालको देख-देखकर आनन्दित हो रही हैं।

श्रीकृष्णकी वह दिव्य झाँकी देखकर आनन्द तो पूतनाको भी आया, लेकिन वह एक भयंकर दुस्संकल्प लेकर वहाँ आयी थी। इसलिए उसने कहा कि अरी, तुमलोगोंके यहाँ पहले कोई बच्चा नहीं हुआ क्या ? यह बच्चा भूखा-प्यासा है और तुमलोग टुकुर-टुकुर देख रही हो !

यह कहकर उसने झट उठा लिया गोदमें ! यशोदा मैयाको उसकी बात सुनकर बड़ा ही आनन्द आया कि यह हमारे लालासे कितना प्रेम कर रही है ! कोई भी माँ अपने बच्चेसे प्रेम करनेवालेपर खुश हो जाती है !

तो, जब पूतनाने भगवान्‌को गोदमें उठा लिया तब उन्होंने अपनी आँखें बन्द कर लीं। भगवान्ने अपनी आँखें क्यों बन्द कीं-इस बातको लेकर श्रीहरिसूरिने अपने हरि-भक्तिरसायन नामक ग्रन्थमें कोई बारह-चौदह उत्प्रेक्षाएँ की हैं। उनमें-से कुछका रसास्वादन आप भी कीजिये।

भगवान्ने सोचा कि पूतनाने इस जन्ममें तो कोई साधन किया नहीं है, पूर्व जन्ममें किया है या नहीं-यह देखना चाहिए। इसका ध्यान करनेकेलिए भगवान्ने अपनी आँखें बन्द कर लीं। दूसरा भाव यह है कि पूतना दूध पिलानेके लिए तो माँकी तरह आयी है, लेकिन वेश इसने पत्नीका बनाया है और मुझको जहर पिलाना चाहती है-इसलिए इसका मुँह नहीं देखना चाहिए। तीसरा भाव यह है कि पूतना दक्षिणायन -उत्तरायण किसी भी मार्गसे जाने योग्य नहीं है, इसलिए भगवान्ने अपने दोनों नेत्र बन्द कर लिये। चौथा भाव यह यह है कि मैं तो व्रजमें आया था दही-दूध-मक्खन खानेकेलिए, लेकिन मुझे पूतनाका जहर पीना पड़ रहा है। इसलिए आँख बन्द कर लेना ही ठीक है।

श्रीहरिसूरिकी उत्प्रेक्षाओंके अतिरिक्त श्रीवल्लभाचार्यजीने भी पाँच-छः और श्रीजीवगोस्वामीने भी छः-सात उत्प्रेक्षाएँ की हैं। इस प्रकार भगवान्‌के द्वारा आँख बन्द करनेके प्रसंगको लेकर महात्माओंने कुल बीस-पच्चीस

प्रकारकी उत्प्रेक्षाएँ की हैं। लेकिन भगवान् तो बालक हैं, बाल-लीला कर रहे हैं, अतः उनके लिए आँख बन्द करना स्वाभाविक है।

अब जब पूतनाने अपना विष-बुझा स्तन बालकके मुँहमें डाला तब वह उसको पुचर-पुचर पीने लगा। बालकको तो पता नहीं चलता कि कौन अच्छा है, कौन बुरा है। जो उसको अपनी गोदमें लेकर दूध पिलाना चाहता है, उसका दूध पीनातो बालकका सहज स्वभाव है। इसलिए भगवान् पूतनाका स्तन पीने लगे। जब वे पीते-पीते उसके प्राणोंको खींचने लगे तब वह व्याकुल हुई और बोलने लगी कि छोड़ो-छोड़ो—'मुञ्च मुञ्च !'

जब किसीको पूतना लगती है तब मन्त्र जाननेवाले लोग बोलते हैं कि अरी ओ पूतने, तू इसको छोड़ दे, छोड़ दे-'पूतने मुञ्च मुञ्च !'

इसलिए जब वह बालक पूतनाको लग गया तब पूतना ही मन्त्र पढ़ने लगी कि अरे ओ बालक, मुझे छोड़ दे, छोड़ दे—'मुञ्च मुञ्च !' लेकिन भगवान्ने कहा कि पूतने, मुझे पकड़ना तो आता है, छोड़ना नहीं आता। आजतक मैंने किसीको पकड़कर छोड़ा नहीं है। फिर तुमको कैसे छोड़ दूँ ?

इसके बाद पूतना मरकर गिर पड़ी। उसका असली रूप प्रकट हो गया। कथा-वाचक लोग कहते हैं कि पूतनाका ऐसा भयंकर और लम्बा-चौड़ा शरीर था कि वह मरकर गिरी तब बहुत दूर-दूरतक उसके अंग-प्रत्यंग बिखर गये। जहाँ उसका हाथ गिरा, वह हाथरस हो गया, जहाँ उसकी अलकें गिरी, वह अलीगढ़ हो गया और जहाँ गरल गिरा, वह आगरा हो गया ! धरतीपर गिरते समय उसके लम्बे-चौड़े शरीरके आघातसे छः कोसतकके क्षेत्रमें जितने भी वृक्ष थे, उन सबका विध्वंस हो गया।

अब गोपियोंने देखा कि विशालकाय पूतना तो धरतीपर गिरी पड़ी है और हमारा लाला निर्भय होकर उसकी छातीपर खेल रहा है। वे निडर होकर उसके पास गयीं और लालाको उठाकर ले आयीं। फिर भगवान्का नाम ले-लेकर उसकी रक्षा करने लगीं। उन्होंने पहले तो गायके खुरकी धूल बालकपर लगायी, उसके बाद गोमूत्रसे स्नान कराया और फिर गोबरका तिलक लगाकर उसके ऊपर गायकी पूँछ घुमायी। इसके पश्चात् उनको ख्याल आया कि अरे हमलोगोंने तो यह सब मुर्देको छूनेके बाद अपवित्र अवस्थामें किया है। इसलिए उन्होंने अपनेको जलादिका स्पर्श और कवच-पाठ आदिके द्वारा पवित्र किया, फिर लालाकी दुबारा रक्षा की।

लेकिन यशोदा मैयाकी तो यह दशा थी कि उनको अपने लालाके जिन्दा होनेका विश्वास ही न हो। वे एक ओर सहमी हुई चुपचाप खड़ी थीं। उनकी यह अवस्था देखकर गोपियाँ बोली कि मैया, तेरेको कोई स्वप्न आ

गया है क्या ? तेरा लाला कहीं गया नहीं है; देख ले, आकर। उन्होंने लालाको वहीं सुला दिया जहाँ रोज मैया सुलाती थीं। वहाँ मैया गयीं तो देखा कि लाला आनन्दसे है फिर भी मैयाने कहा कि बाबा, मुझे अब भी विश्वास नहीं होता, पता नहीं क्या जादू कर गयी हो वह राक्षसी ! फिर जब मैयाने गोदमें लिया और लाला उसका दूध पुचर-पुचर पीने लगे तब मैयाका भय दूर हुआ। अब तो मैया अपने लालाको एक-एककी गोदमें ले जाकर रखें और कहें कि तुम्हारे ही पुण्य-प्रतापसे इसकी रक्षा हुई है।

अब आप इस प्रसंगपर एक दृष्टि डालिये। यह भगवान्‌की कृपाका प्रसंग है। इसमें एक बात तो यह कही गयी कि जब पूतना-जैसी जहर पिलानेवालीको भी भगवान् अपनी गति दे सकते हैं तब जो गायें और ग्वालिनें प्रेमसे अपना दूध पिलाती हैं, उनको क्या देंगे ? फिर मैयाका स्थान सर्वोपरि है। उसपर तो भगवान् स्वयं अपनेको न्यौछावर करके उसे हमेशाके लिए दे दें तब भी कोई आश्चर्य नहीं है। जब पूतनाको यह गति मिली तब माताको क्या गति मिलेगी, इसको कोई कैसे समझा सकता है ? असलमें वात्सल्य-प्रेमकी महिमा अवर्णनीय है।

दूसरी बात यह देखिये कि जब भगवान् पूतना जैसी राक्षसीको भी सद्‌गति दे सकते हैं तब यदि कोई उनको प्रेम से अपना पुत्र समझे तो उसे क्या देंगे ? भगवान्‌ने यह नहीं देखा कि पूतना राक्षसी है, मारनेवाली है, केवल यही देखा कि यह तो मुझे मेरी माँ की तरह दूध पिलाने आयी है। उन्होंने उसका विष नहीं देखा, केवल उसका प्यार देखा, मातृत्व देखा, वात्सल्य देखा।

आजभी कोई भगवान्‌से जिस-किसी भावके साथ प्रेम करे, यहाँतक कि दुर्भावसे भी उनके पास जाय तो वे उसको पूतनाकी तरह सद्‌गति प्रदान कर सकते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

पूतनाके बाद शकटासुरके उद्धारका प्रसंग आया। उस दिन भगवान्‌का जन्म-नक्षत्र था और उसी दिन उन्होंने करवट बदली थी। यशोदा मैया ब्राह्मणोंको विदा करके अन्य सत्कर्मोंमें लगी थीं। उन्होंने अपने लालाको एक छकड़ेके नीचे सुला दिया और स्वयं मेहमानोंके स्वागत सत्कारोंमें लग गयीं। लालाने देखा कि अन्य सबका तो हो रहा है स्वागत-सत्कार, केवल मेरे लिए ही कोई अच्छी जगह नहीं है। छकड़ेके नीचे तो मैं सुलाया गया हूँ और मेरे ऊपर एक जड़को स्थापित कर दिया गया हैं।

देखो, चेतनके ऊपर जड़को बैठाना तो वैसा ही है, जैसे मनुष्यके ऊपर पैसेको बैठा दिया जाय। आदमी हमेशा पैसेसे बड़ा होता है। पैसा आदमीसे

बड़ा नहीं होता। जड़से चेतन बड़ा होता है, चेतनसे ऊपर जड़की स्थापना नहीं होनी चाहिए।

लेकिन उस दिन गोकुलमें चेतनके ऊपर छकड़ेके रूपमें जड़की स्थापना हुई और फिर उस जड़पर दूध-दही-मक्खन-घी आदिसे भरे हुए बड़े-बड़े बर्तन रख दिये गये। अरे बाबा, भगवान्‌से भी बड़ा कोई रस है, कोई आनन्द है, जो उनके ऊपर रखा जाय ? इसलिए यशोदा मैयाके लालाने रोते हुए कहा कि यह सब क्या हो रहा है ? फिर उन्होंने अपने चरणारविन्दसे छकड़ेको छू दिया। वे न तो त्रिविक्रमके समान लम्बे हुए और न नृसिंहके समान कठोर हुए। उनका तो वही शिशुरूप रहा। वही नन्हें-नन्हें, कोमल पाँव रहे उनके। लेकिन फिर भी उनके स्पर्श-मात्रसे छकड़ा उलट गया और उसपर रक्खे गये सारे-के-सारे दूध दही-मक्खन-घी आदि धरतीपर बिखर गये। अब तो जो लोग दूसरी ओर देखते रहे थे, उन सबकी दृष्टि उस छकड़ेको उलटनेवाले लालाकी ओर चली गयी। इसीको कहते हैं निरोध ! इसीसे श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धको निरोध-स्कन्ध बोलते हैं।

कस्य निरोधः ? भक्तस्य।
कस्मिन् निरोधः ? भगवति।
केन निरोधः ? भगवता।

इसका अर्थ है कि निरोध किसका होता है ? भक्तका। कहाँ निरोध होता है ? भगवान्‌में। कौन निरोध करता है ? स्वयं भगवान् निरोध करते हैं। उनकी लीलाएँ ऐसी-ऐसी होती हैं, जो सबके मनको बरबस अपनी ओर खींच लेती हैं।

लेकिन यशोदा मैयाने तो इसे किसी ग्रहका उत्पात ही समझा और अपने रोते हुए लाड़ले लालाको गोदमें लेकर दूध पिलाने लगीं। नन्दबाबाने ब्राह्मणोंसे पूजा-पाठ करवाया और अपने लालाके कल्याणके लिए आशीर्वाद प्राप्त किया क्योंकि उनको विश्वास था कि ब्राह्मणोंका आशीर्वाद कभी निष्फल नहीं होता।

एक दिनकी बात है, यशोदा मैया अपने लालाको अपनी गोदमें लिये हुए थीं। उन्होंने अनुभव किया कि उनके लालाका भार एकाएक बढ़ गया है। उन्होंने सोचा कि अरे, मेरा यह नन्हा-मुन्ना बालक इतना भारी कैसे हो गया ? वे अपने लालाका भार नहीं सम्हाल सकीं और उसको धरतीपर बैठाकर परमात्माका स्मरण करती हुई काममें लग गयीं।

उसी समय एक बड़ा भारी वातचक्र अथवा ववण्डर आया और वह यशोदानन्दनको आसमानमें उड़ा ले गया। भगवान् आकाशकी ओर चाहे जितनी दूरतक उठ जायें, लेकिन जब तृणावर्त उनको कंसके पास ले जाना चाहे तो उधर न जायँ। अब नन्दनन्दनने तृणावर्तका गला पकड़ा और उसके सहारे नीचे लटक गये। तृणावर्त कहने लगा कि अरे, यह क्या है ? उसने उनको अपनेसे भारी नीलगिरिकी चट्टान समझा। भगवान्‌ने कहा कि मैं तो बालक हूँ, मुझको कोई ऐसी-वैसी पहचान नहीं है जो मुझको गोदमें ले लेता है, मैं उसका गला पकड़ लेता हूँ।

इसीसे तुम मरते हो तो मरो। इसमें मेरा कोई अपराध नहीं है। मैं तो अपना काम कर रहा हूँ।

यहाँ श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने तृणावर्तको बड़ा भारी असुर बताया है और कहा है कि वह वातके रूपमें स्वयं काम ही आया था श्रीकृष्णको उड़ा ले जानेके लिए।

तो, तृणावर्तने जब यह समझा कि मेरे गलेमें लटकनेवाला कोई मुझसे भी भारी पत्थर है वह नन्दभवनके पूर्व द्वारकी ओर पड़े हुए पत्थरपर गिर पड़ा और उसकी मृत्यु हो गयी। गोपियोंने दौड़कर बालकको गोदमें उठा लिया; समझा कि ब्राह्मणोंके आशीर्वादसे ही हमारे लालाकी रक्षा हुई है। पापी अपने पापसे मारा गया और हमारा यह सीधा-सरल बालक सुरक्षित रह गया।

अब तो यशोदा मैयाका मन एक क्षणके लिए भी अपने लालासे अलग होनेका नहीं होता। एक दिन वे अपने लालाको गोदमें लेकर दूध पिलाने लगीं। लालाको परिश्रम न करना पड़े, इसलिए उन्होंने अपना स्तन अपने आप उसके मुँहमें डाल दिया और उनका दूध स्वतः झर-झर गिरने लगा।

एकदार्भकमादाय स्वांक मारोप्य भामिनी।
प्रस्नुतं पाययामास स्तनं स्नेहपरिप्लुता।। १०-८-३४

देखो, माताका जो स्नेह है, वह सृष्टिमें और कहीं होता ही नहीं। यह केवल माँकी ही विशेषता है कि उसके हृदयमें अपने लालाके लिए जो अमूर्त स्नेह होता है, वह दूध बनकर निकल आता है। स्नेह साकार भाव नहीं, निराकार भाव है, हृदयमें रहनेवाला है; लेकिन जब वह माँके शरीरमें पैदा होता है तब साकार दूधका रूप ग्रहण करके पुत्रके मुखमें प्रवेश करता है। बालक अपनी माँका हृत्पिण्ड है। जो माता अपने बालकको दूध नहीं पिलायेगी, उससे वह कैसे आशा कर सकती है कि उसका बालक आगे चलकर उसकी आज्ञाका पालन करेगा और अपनी पूर्व संस्कृतिकी रक्षा करेगा ?

तो, जब यशोदा-मैयाका दूध अपने-आप ही उसके लालाके मुँहमें झर-झर झरने लगा तब उसको इस बातका ख्याल आया कि हमारा लाला कहीं ज्यादा दूध पी लेगा तो कहीं इसे अपच न हो जाय, कोई रोग न हो जाय। इसलिए वे अपने लालाको हँसानेका प्रयास करने लगीं। वे मुस्करा-मुस्कराकर लालाकी ओर देखें और उसका मुँह चूम लें। भगवान्‌ने सोचा कि अब मेरी मैया मुझे दूध पिलाना नहीं चाहती। इतनेमें उनको जँभाई आगयी। जँभाई आते ही मैयाने देखा कि लालाके मुँहमें तीनों लोक हैं। वह चकरा गयीं। भगवान्‌ने मानों कहा कि अरी मैया,मैं तेरा दूध अकेला नहीं पी रहा हूँ, सारा विश्व तेरा दूध पी रहा है। तू मेरे मुँहमें देखले, तुझको सम्पूर्ण विश्व दिखायी देगा—

विश्वं विभागि पयसोऽस्य न केवलोऽहम्,
अस्माददर्शि हरिणा किमु विश्वमास्ये।

भगवान्‌ने अपने मुँहमें विश्वको प्रकट कर दिया, पर मैया बोलीं कि मेरी गोदमें मेरा नन्हा-सा लाला, इसका जरा-सा मुँह इसकी मुट्ठी भर कमर ! फिर इसके पेटमें इतना बड़ा गड़बड़झाला कहाँसे पैदा हो गया ! अवश्य ही यह सब मेरी निगोड़ी आँखोंका ही दोष है, जो इस तरहकी चीजें दिखायी पड़ रही हैं। यह सब मेरी दृष्टि-सृष्टि है, सृष्टि-दृष्टि नहीं है। इतना सोचनेके बाद मैयाने अपनी आँखें बन्द कर लीं।

देखो, भगवान्‌की योग-माया बार-बार अपनी प्रभुता, अपना ऐश्वर्य दिखानेके लिए आती है, लेकिन प्रेमियोंका अपने प्रभुके प्रति इतना प्रेम होता है कि वहाँ योगमायाकी ऐश्वर्य-शक्ति सफल नहीं होती। यशोदा मैयाको तो यह सब देखनेमें आश्चर्यमात्र होता है, उसपर और कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

जब यशोदा मैयाको भगवान्‌ने अपने मुँहमें अपना विश्व दिखाया तब उनके रूपका दर्शन हो गया। अब रूपके साथ-साथ उनका नाम भी प्रकट होना चाहिए। इसलिए मथुरामें वसुदेवजीको प्रेरणा हुई कि गोकुलमें हमारे लालाका नामकरण-संस्कार होना चाहिए। क्योंकि संस्कारोंसे ही जीवनमें संस्कृति एवं धर्मकी रक्षा होती है। यही कारण है कि हमारे धर्मशास्त्रोंने संस्कारोंपर बल दिया है और आज भी बड़े-बड़े विद्वानोंके यहाँ समय-समयपर संस्कार सम्पन्न होते हैं। संस्कार अनेक हैं—जैसे गर्भाधान-संस्कार, पुंसवन-संस्कार, सीमन्तोन्नयन-संस्कार, जातकर्म-संस्कार आदि-आदि। इन संस्कारोंसे ही जीवनके विकारोंकी निवृत्ति होती है।

अतः वसुदेवजीकी प्रेरणासे श्रीगर्गाचार्यजी महाराज नन्द-नन्दनका नामकरण-संस्कार सम्पन्न करनेके लिए गोकुल आये। वे बड़े भारी तपस्वी

और विद्वान् थे। नन्दबाबाने तो उनका दर्शन करके कहा कि हमारे घर गर्गाचार्यजी महाराज क्या आये, साक्षात् भगवान् ही आगये ! उन्होंने उनका बड़ा भारी स्वागत-सत्कार किया। फिर बोले कि महाराज, आपतो बहुत बड़े ज्योतिषी हैं; हमारे पुत्रोंका नामकरण कर दीजिये।

गर्गाचार्यजीने कहा कि देखो नन्दजी, मैं हूँ तो यदुवंशियोंका पुरोहित; लेकिन तुम्हारे बेटोंका नामकरण-संस्कार धूमधामसे करुँगा तो पापी कंसके मनमें शंका हो जायेगी और वह सोचेगा कि कहीं यही वसुदेवका बेटा तो नहीं है। '**पापी सर्वत्र पापमाशंकते**' पापी पुरुषका यह स्वभाव है कि उसके मनमें सबके अन्दर पाप-ही-पाप दिखायी पड़ता है। पाप हो चाहे न हो, पापीके मनका पाप उसकी बुद्धिपर छा जाता है और वह सर्वत्र पाप-ही-पाप देखने लगता है।

अब तो नन्दजी सब-कुछ समझ गये और बोले कि आप नामकरण करना चाहते हैं, पर अकेलेमें, जिससे कंसको पता न चले तो ठीक है। जहाँ हमारी गौएँ रहती हैं, वहाँ एकान्त है। आइये, हमलोग वहीं बैठ जायँ। वहाँ स्थानको लीप-पोतकर पवित्र करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी। बहुत अधिक पूजा-पाठ भी मत कीजिये। गौएँ सब देवताओंकी देवता हैं। वहीं स्वस्ति-वाचन करके नामकरण-संस्कार कर दीजिये।

गर्गाचार्यजी महाराजने नामकरण-संस्कार सम्पन्न किया। बड़े भैयाके नाम बलराम, संकर्षण आदि रक्खे और छोटे भैयाके नाम वासुदेव, श्रीकृष्ण आदि।

अब तो नन्दबाबाके घरमें आनन्द-ही-आनन्द छा गया। रोहिणी और यशोदा दोनों माताएँ अपने-अपने लाड़लोंसे लाड़ लड़ाने लगीं। थोडे ही दिनोंमें दोनों भैया घुटनोंके बल चलने लगे। फिर वे गायोंके हीलमें जहाँ गोबर-मूत्र सना रहता है, घुस जायँ और उसमें खेलने लगें। वहाँसे जब बाहर निकलते तब उनके शरीर गोबर-मूतसे सने रहते, लेकिन उनकी माताएँ हँसती हुई उसी अवस्थामें उनको गोदमें ले लेतीं, यह नहीं कहतीं कि बेटे, पहले तुमलोग स्नान कर आओ। उसके बाद हम तुम्हें अपनी गोदमें लेंगी। क्योंकि वात्सल्य कहते ही उसको हैं, जो अपने आश्रितजनके दोषोंको अपनी प्रसन्नताका साधन बना ले—

आश्रितजनदोषभोग्यतापादनम् वात्सल्यम्।

कहते हैं कि जब सूरदासजी श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजसे मिले तब उनके सामने अपना यह प्रसिद्ध पद गाने लगे—'**मो सम कौन कुटिल खल कामी**' इसपर श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने कहा कि अरे सूरदास, इस प्रकार

तुम घिघियाते क्यों हो ? कोई दूसरा पद गाओ। सूरदासने पूछा कि महाराज, क्या गायें ? श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने कहा कि भगवान्‌की लीलाके पद गाओ। अब तो सूरदासने अपना स्वर बदल दिया और गा उठे—

सोभित कर नवनीत लिये।

घुटुरुवन चलत स्याम मनि आँगन, मुख दधि लेप किये।।

भगवान्‌की यह लीला सूरदासकी कवि-कल्पनाकी लीला नहीं, वास्वतिक लीला है। इसको भक्त सूरदासकी बाहरसे अन्धी, किन्तु भीतरसे ज्योतिर्मय आँखोंने प्रत्यक्ष देखा और उसका वर्णन किया। इस प्रकारकी अनन्त लीलाओंके दर्शन और वर्णन सन्त कवि करते आये हैं।

तो अब श्रीकृष्ण अपने घरमें अनेक प्रकारकी अचगरी करने लगे। मैया कहीं इधर-उधर चली जाय तो चुपकेसे मक्खन निकालकर खा लिया करें। मैया हाथ-मुँहमें लगा मक्खन देखकर पूछें कि अरे लाला, यह क्या कर दिया तूने ? श्रीकृष्ण बोले कि मैया, तूने मेरे हाथमें जो लाल-लाल पद्‌मराग-मणि पहना दिया है, इससे मेरा हाथ जल रहा है। इसलिए मैंने जलन बुझानेके लिए मक्खन के बर्तनमें हाथ डाल दिया। मैया कहे कि अच्छा बेटा ! हाथ तो डाल दिया, लेकिन मुँह में मक्खन कैसे लग गया ? श्रीकृष्ण उत्तर दें कि मुँहपर बैठी हुई मक्खीको उड़ाने लगा तो मक्खन लग गया ! मैया सब-कुछ समझती और हँसकर रह जाती।

देखो, यह बाल-लीलाका प्रसंग है। इसमें यह बताया गया है कि बच्चे अपने घरमें कैसे हँसते, खेलते और बात करते हैं। आप ईश्वरका ध्यान करते जाइये तो निराकार, निर्विकार, निर्गुण, निर्धर्मक ईश्वर आपके मनमें नहीं आयेगा। लेकिन यदि आप किसी बालकमें भगवद्भावकी स्थापना कर लें तो आपको ऐसा रस आयेगा कि आपके मनसे संसारका चिन्तन दूर हो जायेगा।

अब श्रीकृष्णकी बाल-लीलाएँ अपने घर तक ही सीमित नहीं रहीं, वे गोपियोंके घर जाकर भी कुछ ऐसी ही लीलाएँ करने लगे। गोपियाँ तो यह सब चाहती ही थीं। फिर भी वे नन्दभवन पहुँचकर यशोदा मैयाको उलाहना दें कि तुम्हारा लाला यह करता है, वह करता है। लेकिन एक ओर तो वे उलाहना देतीं और दूसरी ओर प्रेमभरी दृष्टिसे श्रीकृष्णको देखती भी जातीं। जब यशोदा मैया गोपियोंका यह हाल देखतीं तब असलियत समझ जातीं और हँस देतीं।

देखो, यहाँ भगवान्‌की लीलाओंमें क्या झूठ है, क्या सच है, इसपर लौकिक दृष्टिसे विचार मत करो। यह सब तो ध्यानकी लीलाएँ हैं। श्रीशुकदेवजी महाराजने इन लीलाओंके वर्णन-प्रसंगमें झूठ-सचकी कोई बात नहीं कही है।

केवल यही कहा है कि गोपियोंने यशोदा मैयाके पास आकर ऐसे-ऐसे उलाहने दिये। उन्होंने चोरीके किसी भी प्रसंगका वर्णन अपनी ओरसे नहीं किया। केवल गोपियोंके उलाहनोंका वर्णन किया है। वे कहते हैं कि मैंने यही देखा कि गोपियाँ यशोदा मैया को उलाहना दे रही हैं। उसमें क्या सच है, क्या झूठ है-इसे वे धींगरी गोपियाँ जानें, मैं नहीं जानता।

अब, जहाँ माँ अपने बच्चेको बहुत प्यार करती है, वहाँ उसपर कभी-कभी नाराज भी होती है। लेकिन वह नाराज तभी होती है, जब बच्चा अपने स्वास्थ्यके अथवा हितके विरुद्ध काम करता है।

ऐसे अनेक प्रसंग यशोदा मैयाके सामने भी आये। एक दिन श्रीकृष्णने माटी खा ली और ग्वालबालोंने यशोदा मैयासे उसकी शिकायत कर दी। फिर तो यशोदा मैयाने झट जाकर अपने बायें हाथसे श्रीकृष्णका दाहिना हाथ पकड़ लिया और दायें हाथमें छड़ी लेकर कहने लगीं-क्यों रे लाला, तूने माटी खायी है ?

कस्मान्मृदमदान्तात्मन् भवान् भक्षितवान् रहः।
वदन्ति तावका ह्येते कुमारास्तेऽग्रजोऽप्ययम्।।

१०-८-३४

जब मैयाने डाँटा तब श्रीकृष्णने कहा कि मैंने माटी नहीं खायी। मैया बोली कि तेरे सखा-सँघाती ग्वालबाल ऐसा कहते हैं। श्रीकृष्णने कहा कि वे झूठे हैं। मैया बोली कि तुम्हारा दाऊ दादा भी तो यही कहता है। श्रीकृष्णने उत्तर दिया कि सब-के-सब झूठे हैं। मैया, मैंने अपनी दृष्टिसे तो कुछ खाया ही नहीं। क्योंकि मेरे सिवाय तो दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। जीव तो अज्ञानी हैं। उनकी दृष्टिसे यदि खा भी लिया तो क्या हुआ ? यदि तुम इनकी बात-सच्ची मानती हो तो मेरा मुँह देख लो—

नाहं भक्षितवानम्ब सर्वे मिथ्याभिशंसिनः।
यदि सत्यगिरस्तर्हि समक्षं पश्य मे मुखम्।। १०-८-३५

इस कथनमें श्रीकृष्णकी चालाकी यह थी कि मैयाने दूध पिलाते समय मेरा मुँह देखकर जैसे अपनी आँखें बन्द कर लीं, वैसे ही आज भी कर लेंगी। लेकिन आज मैयाने आँखे बन्द नहीं की। इसलिए जब श्रीकृष्णने मुँह खोला तब उसमें मैयाको सम्पूर्ण विश्व दिखायी पड़ा। अब तो मैया अपने हाथसे साँटी फेंककर कहने लगी कि अरे देखो तो सही, हमारे लालाके मुँहमें यह सब क्या है ? क्या मैं कोई सपना देख रही हूँ ? क्या यह कोई माया है अथवा क्या हमारा लाला ही ईश्वर है ?

अब तो श्रीकृष्णने सोचा कि यदि मैया मुझे ईश्वर-रूपमें पहचान जायेगी तब गोदमें नहीं बैठायेगी, दूध नहीं पिलायेगी और सिंहासनपर बैठाकर आरती उतारेगी। इसलिए उन्होंने तुरन्त अपना मुँह बन्द कर लिया और कहा कि मैया, तू मेरी मैया है कि नहीं ? मैया बोली कि हाँ बेटा, मैं ही तेरी मैया हूँ और यह कहकर झट गोदमें ले लिया। श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं—

त्रय्या चोपनिषद्भिश्च सांख्ययोगैश्चसात्वतैः।
उपगीयमानमाहात्म्यं हरिं सामन्यतात्मजम्।। १०-८-४५

परीक्षित, देखो यशोदा मैयाका सौभाग्य ! सारे वेद, उपनिषद् और शास्त्र जिसकी महिमा गाते हैं, उसको वे अपना लाला मानकर, बेटा मानकर उससे लाड़ लड़ाती हैं और प्यार करती हैं।

यहाँ राजा परीक्षितने प्रश्न कर दिया-महाराज, यह तो बताइये कि नन्द-यशोदाको इतना बड़ा सौभाग्य कैसे प्राप्त हो गया ? उन्होंने ऐसा कौन-सा व्रत और तप किया, जिसको करनेसे साक्षात् भगवान्, ऐसे लालाके रूपमें प्राप्त होते हैं ? देखो, भगवान् कहाँ मिलते हैं ? हमारे मन की गोद में मिलते हैं। हम जितना-जितना यह सोचेंगे कि भगवान् हमारे मनसे दूर हैं, उतना-ही-उतना वे हमसे दूर होंगे और जितना-जितना हम यह सोचेंगे कि भगवान् हमारे पास हैं, उतना-ही-उतना वे हमारे पास होंगे। वस्तुतः भगवान् न पास हैं, न दूर हैं,'वे तो सर्वत्र भरपूर हैं। भावके भूखे हैं। जैसा भाव होता है, उसी के अनुरूप वे मिलते हैं।

इसलिए परीक्षितको श्रीशुकदेवजी महाराजने बताया कि जब ब्रह्माजीके आदेशसे द्रोणवसु अपनी धरा नामकी पत्नीके साथ सृष्टिमें आने लगे तब उन्होंने उनसे प्रार्थना की—'महाराज, हमारा जन्म सृष्टिमें हो, लेकिन हमारे हृदयमें भगवान्की भक्ति बनी रहे और हमें उनसे प्यार करनेका मौका मिलता रहे।' वही द्रोणवसु और उनकी पत्नी धरा दोनों नन्द-यशोदाके रूपमें अवतरित हुए। यद्यपि वे नित्य लोकमें रागात्मिका भक्तिके रूपमें रहते हैं, फिर भी भगवान् प्रकट होकर और साधारण रूप धारण करके उनके प्रेमको स्वीकार करते हैं। इसलिए नन्द-यशोदाको किसी व्रत, तपस्या या धर्मानुष्ठानसे भगवान्की प्राप्ति नहीं हुई, बल्कि महापुरुषके आशीर्वादसे हुई। प्रजापतिने नन्द-यशोदाको आशीर्वाद दे दिया कि भगवान् तुम्हारे पुत्र हो जायेंगे और वे पुत्र हो गये !

इसलिए श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, भगवान् महात्माओंके आशीर्वादसे तो मिलते हैं, जप-तप-व्रतसे नहीं मिलते। तुम तो मैया द्वारा 'साँटी लै उगलावति माटी' वाली बातपर आश्चर्य करते हो, लेकिन यह देखो-मैयाने तो एक दिन श्रीकृष्णको ऊखलमें बाँध दिया—

एकदा गृहदासीषु यशोदा नन्दगेहिनी,
कर्मान्तरनियुक्तासु निर्ममन्थ स्वयं दधि।
यानि यानीह गीतानि तद्बालचरितानि च,
दधिनिर्मन्थने काले स्मरन्ती तान्यगायत।।
क्षौमं वासः पृथुकटितटे बिभ्रती सूत्रनद्धं,
पुत्रस्नेहस्नुतकुचयुगं जातकम्पं च सुभ्रूः।
रज्ज्वाकर्षश्रमभुजचलत्कंकणौ कुण्डले च,
स्विन्नं वक्त्रं कबरविगलन्मालती निर्ममन्थ।। १०-९-१-४

कहाँ तो माँका इतना प्रेम और कहाँ वह अपने हृदयके टुकड़ेको दास-दासियोंपर छोड़ दे। लेकिन यहाँ तो यशोदा मैयाने अपने सब दासी-दासोंको लगा दिया दूसरे काममें, उनसे कह दिया कि तुमलोग इन्द्र-पूजाकी तैयारी करो और स्वयं लालाके लिए अपने हाथसे दही मथने लगीं। दही मथते समय मैया श्रीकृष्णके चरित्रोंका स्मरण करने लगीं—भला देखो तो, उस दिन किस तरह चन्द्रमाको खेलनेके लिए माँग रहा था, कैसी जिद्द की थी उसने उस दिन ! इस प्रकार मैया वाणीसे तो श्रीकृष्णका चरित्र गुनगुना रही है, हृदयसे श्रीकृष्णका स्मरण कर रही है और उसको मक्खन खिलानेके लिए दहीका मन्थन कर रही है।

श्रीशुकदेवजी महाराजने इस झाँकीका वर्णन करते हुए कहा है कि यशोदा मैयाके शरीर पर रेशमी वस्त्र है, उनकी कमरमें डोरी बँधी है, उनके सामने मटका-मथानी है और वह दही मथ रही हैं। परिश्रम करनेके कारण उनके सिरसे मालतीके फूल गिर रहे हैं और मुँहपर पसीना आरहा है।

इसप्रकार जबतक भक्तका दर्शन नहीं होगा तबतक भगवान्‌का दर्शन नहीं हो सकता। जहाँ भक्त होता है, वहाँ भगवान् चारों ओर मँडराते रहते हैं। मैं आपसे सीधे एक बात पूछता हूँ। क्या आप विश्वास करते है कि इस संसारमें ऐसा भी कोई आदमी है, जिसको भगवान्‌के दर्शन हुए हैं ? यदि नहीं करते, तो आप अपने लिए भी भगवत्प्राप्ति का विश्वास नहीं कर सकते। यदि आप की दृष्टिमें कोई भगवत्प्राप्त नहीं है तो आप ही ऐसी क्या-विशेषता रखते हैं कि आपको भगवान्‌का दर्शन होगा ?

श्रीशुकदेवजी महाराजने यशोदा मैयाका दर्शन करनेके बाद देखा कि एक ओर पलंगपर भगवान् सो रहे हैं। रातमें गोपियाँ आयी थीं। मैयाने कहा कि तुमलोग जरा लालाकी देख-भाल करो, मैं दूधमें जामन डालकर आती हूँ। अपने हाथसे जो जामन डाला जाता है, उससे दही खट्टा होनेका डर नहीं

रहता, क्योंकि अपना अन्दाज ठीक रहता है। दूध कितना पका हुआ है और जामन कैसा है, यह देखना बहुत जरूरी है। ऐसा-वैसा जामन लेकर दूधमें नहीं डाल देना चाहिए दूध भी पवित्र होना चाहिए, जामन भी पवित्र होना चाहिए और अपना हाथ भी पवित्र होना चाहिए, तभी स्वादिष्ट दही जमता है।

तो, रातमें जब यशोदा मैया जामन डालने चली गयीं तब श्रीकृष्णने गोपियोंको यह दिखानेके लिए कि मैं सो रहा हूँ, थोड़ी लम्बी साँस ली। इससे गोपियाँ समझ गयीं कि ये सो रहे हैं और फिर वे आपसमें बात करने लगीं। श्रीकृष्ण गोपियोंकी बात सुननेके बड़े प्रेमी हैं। इसलिए वे उनकी बात सुनते-सुनते आँख बन्द करते हैं तो वह खुल जाती है और रोमांच रोकना चाहते हैं तो हो जाता है। झूठ-मूठ नींदका बहाना कर रहे हैं, क्योंकि उनका मनतो गोपियोंकी प्रेमभरी बात सुननेमें, और वह भी अपने सम्बन्धमें, लगा हुआ है। इसप्रकार सारी रात बीत गयी।

जब प्रातःकाल हुआ और श्रीकृष्ण जागे तो उन्होंने देखा कि मैया तो है नहीं। कहाँ गयी ? पुकारा मैया ओ मैया ! फिर अँगड़ाई ली, पलँगपर इधर-उधर हुए, आँख मली, काजल मुँहपर फैल गया। उठकर पलँगपर बैठ गये। पाँव नीचे लटका दिये। मैया रोज हाथ-मुँह धुलाती थी। लेकिन आज अबतक आयी ही नहीं। कहाँ गयी वह ? इतनेमें एक ओर देखा तो मैया दही मथती दिखायी पड़ी। अब तो श्रीकृष्ण पलँग-परसे उतरकर वहाँ आये और बोले कि मैया, मैं तो दूध पीऊँगा। लेकिन मैया दधि-मन्थनमें इतनी तल्लीन थी कि उसने अपने लालाकी ओर ध्यान नहीं दिया। फिर तो श्रीकृष्ण धरतीपर लोट गये।

यहाँ देखो मैयाका सौभाग्य, उसपर पूर्ण ब्रह्मकी कृपा ! भगवान् मैयाका दूध पीनेके लिए मचल रहे हैं और धूलमें लोटने लगे हैं ! फिर तो मैयाको उन्हें अपनी गोदमें उठाना पड़ा। उसने दही मथना छोड़ दिया। जब अमृत ही मिल गया तब समुद्र-मन्थनकी क्या जरूरत ! मैया दूध पिलाने लगी और श्रीकृष्ण पीने लगे !

इतनेमें जो दूध एक ओर आगपर गर्म हो रहा था, वह उफनकर नीचे गिरने लगा। मैयाने कहा कि अरे, यह तो वह दूध है, जो हजारों गायोंका दूध सौ गायोंको, सौ गायोंका दूध दस गायोंको और दस गायोंका दूध एक पद्मगन्धा गायको पिलाकर निकाला जाता है। वह यदि उफनकर नीचे गिर गया तो मैं लालाको क्या पिलाऊँगी ? इसलिए मैं पहले उस दूधको बचा लूँ और फिर उसके बाद लालाको अपना दूध पिलाऊँगी, क्योंकि मेरा दूध तो

मेरी छातीमें सुरक्षित है ही। यह सोचकर मैयाने लालाको एक ओर किया और उस दूधको बचाने चली गयीं।

यहाँ यह बात देखनेकी है कि जिससे प्रेम होता है, उसको छोड़कर भी कभी-कभी उसकी प्रिय वस्तुकी रक्षा करनी पड़ती है। प्रेमकी एक पहचान यह भी है कि प्रेमी अपने प्यारेके काम आनेवाली वस्तुको सुरक्षित रखता है।

फिर दूध तो स्वयं जन्म-जन्मका भक्त है। वह न जाने कितने जन्मान्तरोंके बाद दूध बनकर आया है। पहले घास बना, गायके पेटमें गया, दूध बना और दूध बनकर बाहर निकला तो अब आगपर जल रहा है, तप कर रहा है। उसने देखा कि भगवान् तो अपनी मैयाका दूध पी रहे हैं, अब वे मैयाका ही दूध पीयेंगे। मैं तो उनके मुखारविन्दमें पहुचूँगा ही नहीं। इसलिए अच्छा है कि आत्महत्या कर लूँ और वह उफनकर आगमें जलने लगा।

लेकिन मैयासे नहीं रहा गया और उसने अपने लालाको छोड़कर उस उफनते दूधको उठा लिया। उसको एक जगहपर रखकर लौटी तो जहाँ वह कृष्णको छोड़ गयी थी, वहाँ वे थे ही नहीं। फिर कहाँ चले गये ?

यहाँ श्रीशुकदेवजी महाराजने वर्णन किया है कि जब मैया श्रीकृष्णको बैठाकर उफनते दूधको बचानेके लिए चली गयी तब उन्हें क्रोध आ गया। यहाँ आप 'क्रोध' शब्दसे चौंकिये नहीं। क्योंकि मैया उन्हें दूध पीता छोड़कर चली गयी थी, इसलिए उनको क्रोध आना स्वाभाविक था। लेकिन इस क्रोधके पीछे उनका अपनी मैयाके प्रति कितना प्रेम है, यह भी तो देखिये। यदि वे मैयाके पास दूध पीने नहीं आते, सोते ही रहते तो क्या उनका प्रेम प्रकट होता ? उनके आने पर मैय्या ने दूध नहीं पिलाया होता तो क्या उनका प्रेम प्रकट होता ? फिर यदि मैया के चले जाने पर उनकों क्रोध नही आता तो क्या उनका प्रेम प्रकट होता ? यह तो एक नमूना है, इस बातका कि भगवान् अपने भक्तसे कितना प्रेम करते हैं और महापुरुषके आशीर्वादसे जीवको इतना बड़ा सौभाग्य प्राप्त हो सकता है कि वह साक्षात् भगवान्‌को अपना अमृतमय दूध पिला सकता है। इस प्रसंगमें महापुरूषका आशीर्वाद, भक्तका भगवान्‌के प्रति प्रेम और भगवान्‌का भक्तके प्रति प्रेम—इन तीनों बातोंकी महिमा प्रकट होती है।

एक दृष्टिकोण यह भी है कि जिसके मनमें काम-क्रोध-लोभ आयेगा, वह चाहे साक्षात् भगवान् ही क्यों न हो, उसकी दुर्गति होगी, उसको बन्धनमें बँधना पड़ेगा। इसलिए साधकोंको सावधान रहना चाहिए और यह बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि जब काम-क्रोध-लोभ भगवान्‌को भी नहीं छोड़ते तब जीवको तो छोड़ेगे ही कैसे ?

यह भी द्रष्टव्य है कि भगवान् अपने भक्तको प्रसन्न करनेके लिए काम-क्रोध-लोभ तो स्वीकार करते ही हैं, उसके हाथसे बँधना भी पसन्द करते हैं। ऐसे भगवान्को छोड़कर जो दूसरे किसीसे प्रेम करता है, उसकी बुद्धिको क्या कहा जाय ?

जब श्रीकृष्णको क्रोध आया तब उन्होंने यशोदा मैयाकी ददिया सासके जमानेका मटका फोड़ दिया। उससे इतना दूध फैला कि नन्दभवनमें एक नया क्षीर-सागर जैसा बन गया। फिर श्रीकृष्ण मानों यशोदा मैयाके पास जाकर बोले कि जब माँ बच्चेकी देख-रेख नहीं करेगी तो बच्चा क्या करेगा ? यह कहकर वे उलटे हुए ऊखलपर बैठ गये। उनको खलकी संगति प्राप्त हो गयी और वे वहाँ बासी मक्खन खाने लगे। स्वयं तो थोड़ा खायें और बहुत-सारा वानरोंको बाटें।

इसी बीचमें मैया उधर लौट आयी और वह दृश्य देखकर कहने लगी कि भई, मेरा लाला चोर विद्यामें भी बहुत निपुण हो गया है। अच्छा, आज इसको मजा चखाती हूँ। यह कहकर मैया श्रीकृष्णको पकड़नेके लिए धीरे-धीरे उनकी ओर बढ़ी। लेकिन जब श्रीकृष्णने देखा कि मैयाके हाथ में छोटीसी छड़ी है तब वे डरके मारे ऊखलसे कूदकर भागखड़े हुए। मैयाने उनका पीछा किया। आगे-आगे श्रीकृष्ण और पीछे-पीछे मैया। दर्शन कीजिये इस दृश्यका ! लेकिन यह भी ध्यानमें रखिये कि जबतक जड़ पदार्थ हाथमें है और हृदयमें उसका चिन्तन है तबतक चैतन्य हमारी पकड़में नहीं आ सकता, हम भगवान्को नहीं पां सकते।

लेकिन अन्तमें भगवान्ने स्वयं सोचा कि यदि भक्त मुझको पकड़ नहीं सकेगा तो दुनियामें मेरी भक्तिका सम्प्रदाय कैसे चलेगा ? भक्तिका सम्प्रदाय तो तभी चलता है, जब भगवान् झुकते हैं। यदि भगवान् झुकें नहीं और अपना सिर सीधे खड़ा करके हमेशा दण्ड देनेके लिए तैयार रहें तो भक्तिका नहीं, भयका सम्प्रदाय चल पड़ेगा। यदि भगवान् अपने भक्तोंके साथ न्याय करने लगें तो यमराज क्या करेंगे ? न्याय करनेके लिए तो यमराज हैं ही। भगवान्तो क्षमा करनेके लिए हैं। राष्ट्रपति क्षमा करनेके लिए ही होता है। फाँसीकी सजा देनेके लिए नहीं। इसलिए भगवान् अपने भक्तोंके सामने झुकते हैं, उन्हें क्षमा करते हैं, उनपर दया करते हैं, करुणा करते हैं। यदि ऐसा न हो तो संसारका कोई प्राणी भगवान्की भक्ति कैसे करेगा ?

इसलिए भगवान् यशोदा मैयाके हाथों पकड़े गये। लेकिन जब उन्होंने यशोदा मैयाके हाथोंमें अब भी छड़ी देखी तब वे डर गये और बोले कि मैया, पहले अपने हाथकी यह छड़ी फेंक दें। इससे मुझे बड़ा डर लगता है।

मैयाने कहा कि अरे वानर, अरे चंचल, अरे चटोरे, तूने मेरी ददिया सासके जमानेका मटका क्यों फोड़ दिया ?

श्रीकृष्ण बोले कि मैया, अब मैं ऐसा कभी नहीं करूँगा। तू यह छड़ी अपने हाथसे फेंक दे।

देखो, यह है भक्तिकी महिमा। ऐसा भगवान् आपको दुनियाके किसी भी मजहबमें नहीं मिलेगा, जो अपने भक्तके सामने भयभीत होकर आँसू बहा रहा हो और जिसके आँसू उसकी आँखोंके काजलको बहा-बहाकर उसके मुँहपर फैला रहा हो ? भगवान् अपनी भगवत्ताको, ईश्वरताको छोड़कर अपने भक्तके सामने कैसे हो जाते हैं, यह इस प्रसंगमें देखने लायक है।

अब जब मैयाने श्रीकृष्णको बाँधना चाहा तब योगमायाने उनको बाँधनेसे रोक दिया। उसने कहा कि कहीं-अद्वितीयमें, असंगमें, नाम-रूपसे रहितमें, परिपूर्णमें बन्धन होता है ? बन्धन तो वहाँ होता है, जहाँ नाम-रूप होता है-रजोगुण-तमोगुण होता है।

लेकिन भगवान् इतने दयालु हैं कि उन्होंने योग-मायाकी बात नहीं मानी और देखा कि उनको बाँधते-बाँधते मैयाके घरकी सारी रस्सी दो अंगुल कम पड़ रही है, मैया थक गयी है और इसके चेहरेपर पसीना आगया है तब वे बन्धनमें आगये। यह बात भागवतमें बहुत स्पष्ट है कि जब भक्तका यह अभिमान कि वह भगवान्को बाँध लेगा, टूट जाता है तब भगवान् उसपर कृपा करते हैं।

स्वमातुः स्विन्नगात्राया विस्रस्तकबरस्रजः।
दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपयाऽऽसीत् स्वबन्धने।।

१०-९-१८

यहाँ लोग प्रश्न करते हैं कि भगवान् स्वयं बँधे या अपनी माँके हाथ से बँधे ? अरे बाबा, मैयाके हाथसे उनके बँधनेमें तुम्हें क्या बुरा लगता है ? जब मैया थक गयी, उसको पसीना आगया तब भगवान् उसके हाथसे बँध गये। 'भक्तजनपरिश्रमः भगवन्निष्ठा कृपा च उभयमेव बन्धनहेतुः'—भगवान्के बँधनेमें कारण क्या है ? एक तो भक्त यह समझ ले कि उसके बलसे भगवान् नहीं बँध रहे हैं और दूसरे भगवान्के हृदयमें करुणाका उदय हो जाय। बस, इन दोनोंकारणोंसे भगवान् बँध जाते हैं।

एवं संदर्शिता ह्यङ्ग हरिणा भृत्यवश्यता।
स्ववशेनापि कृष्णेन यस्येदं सेश्वरं वशे।। १०-९-१९

जिनके वशमें ब्रह्मा-विष्णु-महेश हैं, वे भगवान् यह दिखा रहे हैं कि

दुनियाके लोगो, देख लो ! मैं परमेश्वर होता हुआ भी अपने भक्तके वशमें हूँ। वह मुझे बाँधता है और मैं बँध जाता हूँ।

नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया।
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत् प्राप विमुक्तिदात्।। १०-९-२०

मेरी यह करुणा और कृपा ब्रह्मा-शंकर-लक्ष्मीको भी प्राप्त नहीं होती, लेकिन मैं अपने भक्तपर ऐसी करुणा-कृपा करता हूँ। इसीलिए मैं भक्त और भक्तिके वशमें हूँ और भक्तके हाथों बँध जाता हूँ।

अब जब मैयाने श्रीकृष्णको बाँध लिया तब उसके हृदयमें वात्सल्य उमड़ा। उसने सोचा कि लालाने सवेरेसे कुछ खाया-पीया नहीं है। यह नटखट चाहे जितना भी हो, है तो अपना लाला ही। जाऊँ जरा इसके लिए मक्खन-रोटी तैयार कर लूँ, फिर लाकर इसे खिलाती हूँ। यह सोचकर मैया मक्खन-रोटी तैयार करने चली गयीं।

इधर बँधे-बँधे ही श्रीकृष्णकी दृष्टि पड़ी यमलार्जुनपर, जो पूर्वजन्ममें कुबेरके नलकूबर और मणिग्रीव नामक पुत्र थे और नारदजीके शापसे जड़-वृक्ष हो गये थे। इसलिए भगवान्ने कहा कि मुझे तो मैयाने नहीं, नारदजीने बाँधा है, जिससे कि मेरे द्वारा इन वृक्षोंका उद्धार हो जाय। मैं तो अपने भक्तके वचनसे बँधा हुआ हूँ, मेरी मैया तो मुझे बाँधनेमें यों ही निमित्त बन गयी है।

यहाँ आप भगवान्की लीलापर ध्यान दीजिये। भगवान् जीवका उद्धार करते हैं, यह कौन-सी बड़ी बात है ? इसमें क्या आश्चर्य है ? मैयाने भगवान्की कमरमें एक रस्सी बाँध दी, जो पहले नहीं थी और उस रस्सीमें एक ऊखलरूप खल भी बँध गया। लेकिन वह भी जब भगवान्के पीछे-पीछे उन जड़ वृक्षोंके बीचमें गया तब उसके द्वारा उनका उद्धार हो गया। ऐसी स्थितिमें यदि स्वयं भगवान् किसीके हृदयमें आजायँ तो उसके उद्धारमें क्या है ?

कुबेर-पुत्र नलकूबर और मणिग्रीव अपने श्रीमदसे अन्धे हो रहे थे। उनके पास परस्त्री भी होती थी, जुआ भी होता था, शराब भी होती थी। वे नंगे होकर शंकरजीके कैलास पर्वतके पास विहार-विलास कर रहे थे। उनको देखकर नारदजीके मनमें कृपा उमड़ी। उन्होंने सोचा कि इन श्रीमदान्धोंको मार्ग-दर्शन करना चाहिए। यह सोचकर नारदजी बोले कि ये वृक्ष-योनिमें जाने योग्य हैं। इन्हें जब तक भगवान् श्रीकृष्णकी प्राप्ति न हो और इनके भीतर भगवद्भक्ति न आये तबतक जड़ वृक्ष बनकर गोकुलमें रहें।

इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण ऊखल-सहित उन यमलार्जुन कहलानेवाले वृक्षोंके बीचमें प्रविष्ट हुए। उनके प्रविष्ट होते ही दोनों वृक्ष तड़तड़ाकर गिर

पड़े। लेकिन उनकी ध्वनि वहीं अवरुद्ध हो गयी, किसी को सुनायी नही पड़ी। उनमें-से दो देवता निकले। उन्होंने भगवान्‌की सर्वरूपमें स्तुति करते हुए प्रार्थना की—

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां
हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः।
स्मृत्यां शिरस्तव निवास जगत्प्रणामे
दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम्।।१०-१०-३८

प्रभो, हमारी वाणी आपका वर्णन करे। केवल आपका ही नहीं आपके अन्दर यह जो गुण बँधा हुआ है, रस्सी बंधी है, इसका भी वर्णन करे। क्योंकि इसी गुणने, रस्सीने हमें इस बन्धनसे छुड़ाया है।

इसके बाद भगवान्‌ने प्रसन्न होकर कहा कि नलकूबर और मणिग्रीव, तुमलोग ऐसा समझो कि नारदजीने तुमको शाप नहीं दिया था, तुमपर कृपा की थी। उन्हींकी कृपाके कारण मैं तुम्हारे पास आया हूँ। सन्तके दर्शनसे कभी बन्धन नहीं होता।

अब तो नलकूबर और मणिग्रीवने जिस तरह फोटो खींचनेवाले बोलते हैं, वैसे ही कहा कि महाराज, आप थोड़ी देरके लिए इस ऊखलपर बैठे रहिये, आपकी कमरकी रस्सी भी बँधी रहे; जिससे कि हम आपका अच्छी तरह दर्शन कर लें और आपकी यही मूर्ति हृदयमें धारण करके यहाँसे लौटें। हे दामोदर, आपकी कमरमें जो गोंकी रस्सी बँधी हुई है, इसीसे आप हमारा उद्धार करते हैं।

इस प्रकार स्तुति और प्रार्थना करके जब नलकूबर और मणिग्रीव चले गये, तब वृक्षोंके टूट गनि गोकुलमें पहुँची। नन्दबाबा आदि सभी दौड़ पड़े। इतनेमें नन्दबाबाकी दृष्टि श्रीकृष्णके बन्धनपर पड़ी। उन्होंने कहा कि अरे, मेरा बेटा तो बँधा हुआ है। उन्होंने झट जाकर बन्धन खोला और श्रीकृष्णको गोदमें उठा लिया।

देखो, मैयाने तो बन्धन लगाया, लेकिन नन्दबाबाने उसको खोल दिया, उन्हें मुक्ति दे दी। वस्तुतः भगवान्‌के स्वरूपमें न तो कोई बन्धन है और न मुक्ति है। अध्यारोपसे ही बन्धन और उसके अपवाद से मुक्तिकी सिद्धि होती है।

अब नन्दबाबाने श्रीकृष्णको गोदमें लिये-लिये पूछा कि लाला, तुमको किसने बाँधा ? उस समय श्रीकृष्ण उनके कन्धेपर चढ़ गये थे, उनकी दाढ़ीसे खेलने लगे थे और नन्दबाबा नाच रहे थे। श्रीकृष्णने उनके कानके पास मुँह

ले जाकर धीरेसे कह दिया कि बाबा, मुझे मैयाने बाँधा था। नन्दबाबाने कहा- अच्छा तुम्हें तुम्हारी मैयाने बाँधा था ? फिर तुम मैयाके पास कभी मत जाना। 'हाँ बाबा, कभी नहीं जाऊँगा'—श्रीकृष्णने कहा।

लेकिन इतनेमें ही उनको मैया दीख गयी। अब तो झट नन्दबाबाके कन्धेसे कूद पड़े श्रीकृष्ण और मैयाकी गोद में चढ़कर दूध पीने लगे ! चारों ओर मंगल-ही-मंगल हो गया।

अब आज यहीं विश्राम देते हैं। आगेका प्रसंग कल सुनायेंगे।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

: १० :

भगवान्‌की एक ही लीला अनेक प्रयोजन सिद्ध करती है। कल जो भगवान्‌की ऊखल-बन्धन लीलाका प्रसंग चल रहा था, उसका एक अर्थ तो यह हुआ कि काम-क्रोध-लोभ यदि बड़े-बड़े शक्तिशाली ब्रह्मादिके—यहाँ तक कि साक्षात् ईश्वरके जीवनमें भी आजायें तो उनको भय, पलायन, बन्धन स्वीकार करना पड़ता है।

दूसरा अर्थ यह है कि भगवान् अपने भक्तपर करुणा करके स्वयं काम-क्रोध-लोभ आदि स्वीकार करते हैं और स्वयं बद्ध होकर भी बन्धन में पड़े हुए जीवों को मुक्त करते हैं। स्वतः बद्ध भगवान्‌के द्वारा केवल नलकूबर-मणिग्रीवकी ही मुक्ति नहीं होती, जो उनकी इस लीलाको पढ़ते लिखते और सुनते-सुनाते हैं, उनकी भी मुक्ति हो जाती है !

तीसरा अर्थ यह है कि केवल महापुरुषका आशीर्वाद, प्रसाद या वरदान ही भगवान्‌को वशमें करनेके लिए पर्याप्त है, जैसा कि प्रजापतिकी कृपासे ही नन्द-यशोदाको इस प्रकारका सौभाग्य मिल गया।

चौथा अर्थ यह हुआ कि सगुण भगवान्‌ने स्वयं ही अपने गुण धारण कर रक्खे हैं। गुण माने रस्सी, बन्धन। निर्गुणमें भले ही बन्धन न हो और वह अपनी ओर किसीको आकर्षित न करे, परन्तु सगुण भगवान्‌को भक्त लोग और भक्तलोगोंको सगुण भगवान् अपने गुणोंसे बाँध लेते हैं। यह बन्धन परमानन्ददायी है।

पाँचवाँ अभिप्राय यह निकलता है कि भगवान्‌में न बन्धन है और न मुक्ति है। गुण तो उनका स्पर्श ही नहीं करता। यशोदा मैयाने उनमें गुणका, बन्धनका अध्यारोप किया तो वे बँध गये और नन्दबाबाने बन्धनका अपवाद कर दिया तो वे मुक्त हो गये। उनका परमात्मरूप स्वतः सिद्ध है।

भगवान्‌की ऊखल-बन्धन-लीला करुणा-प्रधान लीला है। इसको विचारपूर्वक देखनेपर एक बात स्पष्ट होती है। वह यह कि जैसे त्वं-पदलक्ष्यार्थ एक है, वैसे ही वाच्यार्थमें, जीवमें जो दोष-गुण हैं, उनको ईश्वर स्वीकार करता है और ईश्वरमें जो विशेषताएँ हैं, उनको जीव स्वीकार करता है। अन्यथा जीव और ईश्वरके सखात्वकी सिद्धि नहीं होगी। ईश्वर स्वयं दूर बैठा रहे और

उसीका सखा जीव बन्धनोंमें पड़ा रहे-यह कैसे हो सकता है ? अतः ईश्वरने दिखाया कि हे जीव, मैं और तुम दोनों सखा-सखा बराबर हैं। जिस तरह मेरे भीतर भी भय है, पलायन है, बन्धन है, लेकिन फिर भी मैं मुक्त हूँ-इसी तरह तुम भय-पलायन-बन्धन आदिसे युक्त होनेपर भी मुक्त हो सकते हो।

अब आगे बढ़िये और चलिये गोकुलमें, नन्द-यशोदाके आँगनमें ! वहाँ क्या हो रहा है देखिये—

दोर्भ्यां दोर्भ्यां व्रजन्तं व्रजयुवतीजनाह्वानतः प्रोल्लसन्तं
मन्दं मन्दं हसन्तं मधुमधुरवचो मेति मेति ब्रुवन्तम्।
गोपाली-पाणिताली-तरलितवलयध्वानमुग्धान्तरालम्
वन्दे तं देवमिन्दीवरदलिततनुं सुन्दरं नन्दबालम्।।

नन्दबाबाके आँगनमें एक साँवरा-साँवरा धूलि-धूसरित बालक गोपियोंकी तालीपर नृत्य कर रहा है। गोपियाँ कहती हैं कि नाचो लाला नाचो, तुम्हें माखनका लोंदा मिलेगा। इसपर बालक और नाच रहा है। यह दृश्य देखा एक गोपीने और उसने अपनी सखीसे कहा—

शृणु सखि कौतुकमेकं नन्दनिकेतांगने मया दृष्टम्।
गोधूलिधूसरिताङ्गो नृत्यति वेदान्तसिद्धान्तः।।

अरी सखी है तो बालक, वह भी धूलि-धूसरित और गोपियोंके कहनेपर नाच रहा है। परन्तु जानती हो यह कौन है ? साक्षात् वेदान्तका सिद्धान्त है।

देखिये, आप शालिग्रामकी शिलामें विष्णु-बुद्धि कर सकते हैं, तब इस बालकमें ब्रह्मबुद्धि करनेमें क्या संकोच है ? इसलिए आपकी आँखोंके सामने जो बालक है, उसमें ब्रह्म-बुद्धि कीजिये और फिर देखिये कि कितना आनन्द आता है आपको !

जीव ब्रह्मको वेद-वृक्षकी शाखापर ढूँढ़ते-ढूँढ़ते हार गया और वह कहीं नहीं मिला। लेकिन अब मिल गया है। कहाँ मिला है भाई ? गोपीके आँचलमें।

वरमिममुपदेशमाद्रियध्वं निगमवनेषु नितान्तचारखिन्नाः।
विचिनुत भवनेषु वल्लभीनामुपनिषदर्थमुलूखले निबद्धम्।।

'कृष्ण-कर्णामृत'के कवि कहते हैं कि आप निगम-वनमें उपनिषदोंके अर्थको मत ढूँढ़िये। गोपियोंके गोष्ठमें ढूँढ़िये। देखिये, वह ऊखलमें बँधा हुआ है। उसके साथ कमरमें एक रस्सी जोड़ दी गयी। उस रस्सीसे एक ऊखल जुड़ गया और उस खलरूप ऊखलमें इतना सामर्थ्य आगया कि उसने जड़ वृक्षोंको भी देवता बनाकर रख दिया।

यह भगवद्-रस ऐसा है कि यदि इसका आस्वादन हो जाय तो वैराग्यके लिए प्रयत्न करनेकी आवश्यकता नहीं है। यह जहाँ एकसे लगा कि दूसरा अपने-आप छूट जाता है। इसीलिए एक सन्त कविने कहा—

जो मोहि राम लागते मीठे।
तो अनरस षट्रस नवरस ह्वै जाते सब सीठे।

तो, नाच रहा है बालक ! यशोदा मैया कहती हैं कि लाला, अब नाचना बन्द करो, वह बाट उठाकर ले आओ ! बालक दौड़ता-दौड़ता बाट उठाने जाता है। लेकिन वह अभी इतना छोटा है कि बाट उससे नहीं उठता। हाथ लगानेसे नहीं उठता तो उसपर लोट जाता है, छातीसे लगाता है, प्रयास करते-करते उसका मुँह लाल हो जाता है। यशोदा मैया कहती हैं कि लाला, नहीं उठता तो जाने दे ! यशोदा मैया लालाको छातीसे लगा लेती है।

इतनेमें नन्दबाबा आते हैं और कहते हैं कि लाला खडाऊँ ले आओ। बालक दौड़कर खड़ाऊँ उठा लाता है ! नन्दबाबा बालकको गोदमें उठा लेते हैं, पुचकारते हैं, प्यार करते हैं।

यह लीला चल रही है भगवान् बाल-गोपालकी, नन्द-यशोदाके घरमें ! असलमें यदि भगवान् भक्तके वशमें न हों तो जीव भी भगवान्के वशमें कैसे रहे ? यहाँ तो एकांगी प्रेम नहीं है, परस्परका प्रेम है। भगवान् एकांगी प्रेमपर नहीं रीझते, परस्पर प्रेमपर रीझते हैं। वृन्दावनकी यही विशेषता है कि वहाँ एकांगी प्रेम नहीं है, परस्परका प्रेम है।

इतना प्रेम है वहाँ कि जब पेड़ गिर गया तब गोप इकट्ठे हुए और बोले—नन्दबाबा अब गोकुलमें बड़े-बड़े उपद्रव होने लगे हैं। हमारे लालाको पूतना लेकर उड़ गयी और उसने जहर पिला दिया, लेकिन ईश्वरकी कृपासे वह स्वयं मर गयी ! उसके ऊपर छकड़ा गिर पड़ा और उससे भी हमारे लाला की रक्षा हो गयी। फिर वह बवण्डरमें उड़ गया और उससे भी बच गया ! अब ये पुराने पेड़ गिर गये और इनसे भी हमारे लालाको कोई क्षति नहीं पहुँची। इसमें कोई सन्देह नहीं कि महापुरुषोंकी, भगवान् की बड़ी कृपा हम सब पर है लेकिन गोकुलके पेड़-पौधे बहुत पुराने हो गये हैं। यहाँ जीव-जन्तु भी बहुत रहने लगे हैं। उनसे हमारे बालकोंका अनिष्ट हो सकता है। इसलिए चलो हम लोग यह गाँव छोड़ दें और वृन्दावन चलें !

देखो, एक बालकके लिए सारे-के-सारे गोप अपना घर-गाँव छोड़कर, खेत-खलिहान छोड़कर केवल अपनी चल सम्पदा और गायोंके साथ दूसरे गाँवमें जाकर वहीं बस जाते हैं। यह आश्चर्य नहीं तो और क्या है ?

अब जब सब गोपी-गोप और ग्वाल-बाल वृन्दावन आगये तब वहाँकी शोभा देखकर श्रीकृष्ण आनन्दमें मग्न हो गये और नाचने लगे। उनके मनमें वृन्दावन, गोवर्द्धन और यमुना-पुलिनके प्रति प्रीति उत्पन्न हो गयी—

वृन्दावनं गोवर्द्धनं यमुनापुलिनानि च।
वीक्ष्यासीदुत्तमा प्रीती राममाधवयोर्नृप।। १०-११-३६

उन्होंने कहा कि हम तो अब वनमें बछड़े चराने जायेंगे। वे इस योग्य हो भी चले थे। इसलिए उनकी जिद्द सबको माननी पड़ी।

देखो, बच्चोंकी सब बातें टाल नहीं देनी चाहिए। उनको यह नहीं कहना चाहिए कि तुम बेवकूफ हो, हम तुम्हारी जिद्द नहीं मानते। बड़े-बूढ़े पुरानी पीढ़ीमें रहते हैं और बालक नयी पीढ़ीके लिए तैयार होते हैं। दोनोंमें पच्चीस-पचास वर्षका फर्क होता है। इसलिए उनको उनकी परिस्थितिके अनुसार तैयार होने देना चाहिए।

तो, जब श्रीकृष्ण अपने साथी ग्वाल-बालोंके साथ बछड़ोंको चरानेके लिए वनमें जाने लगे तब वहाँ एक दिन वत्सासुर मिला। वत्सासुर ममत्वका रूप है। उसने सोचा कि बछड़ोंके प्रति इनकी बड़ी ममता है।

देखो, ममतामें बुराई पहचानी नहीं जाती। जिससे द्वेष होता है, उसका गुण नहीं दीखता और जिससे राग होता है—ममत्व होता है, उसका दोष नहीं दिखायी देता। वैसे तो गुण-दोष सबमें थोड़े बहुत होते हैं, लेकिन राग-द्वेष तो मनुष्यको अन्धा बना देते हैं।

वत्सासुरने सोचा कि यदि मैं बछड़ा बनकर चलूँगा तो श्रीकृष्ण बछड़ोंके प्रति ममता होनेके कारण मुझको पहचानेंगे नहीं। यह सोचकर वह बछड़ा बन गया और श्रीकृष्णके बछड़ोंमें मिल गया।

लेकिन श्रीकृष्णकी पैनी नजरको कौन धोखा दे सकता है ? उन्होंने उसको पहचान लिया और बोले कि देखो दाऊदादा, हमारे बछड़ोमें आज एक नया-नया बड़ा सुन्दर बछड़ा आया है। वे उसको दिखाते-दिखाते उसके पास पहुँच गये। उन्होंने पीछेसे पूँछ-सहित उसके दोनों पाँव पकड़ लिये और उसको चारों ओर घुमाया। अब तो उसका बछड़ेका बनावटी रूप छूट गया और वह अपने असुर रूपमें प्रकट हो गया। श्रीकृष्णने उसको एक पेड़पर पटक दिया और उसका प्राणान्त हो गया। ग्वाल-बालोंने उसको देखा तो कहा कि अरे, यह तो बड़ा भारी असुर था। उन्होंने आनन्दमें भरकर श्रीकृष्णको अपनी बाँहोमें भर लिया, उनसे बड़ा प्रेम किया और उछल-उछलकर कहने लगे कि असुर मारा गया, असुर मारा गया।

दूसरे दिन श्रीकृष्ण अपने साथियोंके साथ बछड़े चराने गये तो यमुना-जलसे बने सरोवरमें एक बड़ा भारी बगुला बैठा हुआ दिखायी पड़ा। आप लोग जानते ही हैं कि बगुला कितना दम्भी पक्षी होता है उसके-जैसा दम्भी पक्षी मिलना मुश्किल है। वह एक पाँवपर खड़ा होकर ऐसे दिखायी देता है, जैसे तपस्या कर रहा हो। लेकिन जहाँ कोई मछली सामने आयी कि उसको गड़प जाता है।

ग्वाल-बालोंने देखा कि उस बुगलेका कैसा तो श्वेतवर्ण है, वह कैसा तो मौन है और कैसे एक पाँवपर खड़ा है। लेकिन जब श्रीकृष्ण उसके पास गये तब वह उनपर टूट पड़ा और उनको निगल गया। लेकिन यही उसकी भूल थी। श्रीकृष्णको निगल जानेके कारण उसका मुँह जलने लगा। क्योंकि श्रीकृष्णका नाम मुँहमें रखने योग्य है, उनकी मूर्ति मुँहमें रखने योग्य नहीं है। बकासुरने उल्टा काम कर दिया, जिससे वह कृष्णवर्त्मा हो गया और उसके मुँहमें आग लग गयी। उसने श्रीकृष्णको उगल दिया। श्रीकृष्णने बाहर निकल कर उसके दोनों चोंच पकड़ लिये और उसको चीरकर फेंक दिया।

अब जब देवताओंने देखा कि श्रीकृष्णने दम्भको मार दिया है, इसके पहले वे पूतना-रूप अविद्याको मार चुके हैं और काम-रूपी बवण्डरको शान्तकर चुके हैं, तब वे उनपर पुष्पोंकी वर्षा करने लगे तथा उनके पुजारी बन गये।

एक दिन ऐसा हुआ कि बलरामजी तो अपना जन्म-नक्षत्र होनेके कारण घरमें ही रह गये और श्रीकृष्ण बाकी सब ग्वाल-बालोंको साथ लेकर बछड़ोंको चरानेके लिए वनमें गये वहाँ ग्वाल-बाल उनके साथ खेलने लगे और यह भूल गये कि श्रीकृष्ण ईश्वर नहीं, मनुष्य हैं।

असलमें नाट्य वही है, अभिनय वही है, जिसमें इतनी तन्मयता हो जाय कि परोक्ष भी अपरोक्ष और अपरोक्ष भी परोक्ष प्रतीत होने लगे। श्रीकृष्णने ऐसा ही किया और वे मनुष्य होकर खेलने लगे। यहाँ श्रीशुकदेवजी महाराज परीक्षितसे कहते हैं कि जिन भगवान्‌के चरणोंकी धूलि जन्म-जन्मान्तरकी तपस्यासे भी नहीं मिलती, वे स्वयं ग्वाल-बालोंके बीचमें खेल रहे हैं—

यत्पादपांसुर्बहुजन्मकृच्छ्रतो
धृतात्मभिर्योगिभिरप्यलभ्यः।
स एव यद्दृग्विषयः स्वयं स्थितः
किं वर्ण्यते दिष्टमतो व्रजौकसाम्।। १०-१२-१२

तो, जिस समय श्रीकृष्ण ग्वाल-बालोंके साथ खेलमें निमग्न थे, एक अघासुर आया। अघ माने होता है पाप और भोगके बिना उसकी मृत्यु नहीं

होती-'**न हन्यते भोगं विना इति अघः।**' आपको कोई पुरस्कार मिले तो आप उसको बिना लिये ही अस्वीकार कर सकते हैं, परन्तु यदि दण्ड मिले तो उसे भोगे बिना छुट्टी नहीं मिलती। पुण्यके फलसे, उसको भोगे बिना छुट्टी मिल सकती है, उसका अर्पण हो सकता है; परन्तु पापका फल भोगे बिना उससे छुटकारा नहीं मिल सकता। इसीलिए उसको अघ कहते हैं। उससे रक्षा नहीं है, वह भोगना ही पड़ेगा।

अघासुर एक तो पूतना अविद्या और बकासुर दम्भका भाई था, दूसरे कंसकी प्रेरणासे आया था, इसलिए उससे ग्वाल-बालोंका सुख देखा नहीं गया। उसने अपना मुँह फैला दिया। ग्वाल-बाल उसको पहचानते नहीं थे। जिसको कभी पापका अनुभव नहीं होगा, वह उसको पहचानेगा कैसे? इसलिए ग्वाल-बालोंने समझा कि यह तो वृन्दावनकी शोभा है। देखते-देखते सारे ग्वाल-बाल बछड़ोंके साथ-साथ उसमें घुस गये। अघासुर सोचने लगा कि अब श्रीकृष्ण मेरे भीतर आजायें तो मैं अपना मुँह बन्द कर लूँ।

इधर भगवान् श्रीकृष्णने देखा कि जहाँ मेरा भक्त है, वहीं तो मैं निवास करता हूँ। सचमुच भगवान्ने अपना कोई घर बनाया हुआ नहीं है। भगवान्का घर प्रत्येक प्राणीका हृदय ही है और यह बात उन्होंने स्वयं ही गीतामें कही है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। गी० १८-६१

इसलिए जहाँ भक्त, वहाँ भगवान्। यदि बेचारा भक्त अघके, पापके, ईर्ष्याके मुँहमें चला जाय तो वह स्वयं बच नहीं सकता; भगवान् ही उसे बचाते हैं। भगवान् निर्गुण होते तब तो टुकुर-टुकुर ताकते रहते और कहते कि मेरे स्वरूपके सिवाय तो और कुछ है ही नहीं। लेकिन यहाँ सगुण भगवान् बोले कि जहाँ मेरे भक्त चले गये हैं, वहाँ मैं जरूर जाऊँगा। यही तो भगवान्की भगवत्ता है। वे पतितको पावन बनाते हैं, पिछड़े हुएको आगे बढ़ाते हैं और नीचको ऊँचा बनाते हैं। उनकी प्रतिज्ञा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।।
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय, प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।।

गी० ९-३०,३१

इसलिए भगवान् अघासुरके मुँहमें घुस गये। वह इस प्रतीक्षामें था ही, उसने अपना मुँह बन्द कर लिया। इसपर श्रीकृष्णने कहा कि बेटा, तुमने तो

हमारे निकलनेका रास्ता बन्द कर दिया, लेकिन अब हम तुम्हारे दरवाजेसे निकलते हैं ! इतनेमें अघासुरका ब्रह्मरन्ध्र फट गया और उसमें से श्रीकृष्ण ग्वाल-बालों तथा बछड़ोंके साथ बाहर निकल आये। उसी समय अघासुरमें-से एक ज्योति निकली और श्रीकृष्णमें समा गयी।

इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। अघकी आत्मा भी परमात्मा ही है। दोनोंका वस्तुतत्त्व एक ही है। जहाँ पुण्यकी सत्ता है, वहीं पापकी भी सत्ता है। सत्ता एक ही होती है। पाप-पुण्य दोनोंका प्रकाशक एक ही होता हैं। प्रियता दोनों में अनुगत होती है।

इसलिए जब अघासुरकी ज्योति श्रीकृष्णमें समा गयी तब देवलोकमें बड़ा भारी महोत्सव मनाया जाने लगा। उस समय ब्रह्माजी महाराज जीवोंको शरीर प्रदान कर रहे थे। यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि वे मैटरके निर्माता नहीं हैं, केवल पुर्जोंको जोड़नेवाले हैं। यही उनका कारखाना है। क्योंकि प्रकृतिका उपादान पहलेसे रहता है, अन्तःकरण पहलेसे रहता है और कर्म पहलेसे रहता है। इसलिए ब्रह्माजी तो केवल शक्ल-सूरत यानी बाडी ही बनाते हैं।

जब ब्रह्माजी ने देवताओं द्वारा मनाये जा रहे महोत्सवकी ध्वनि सुनी तब बाहर निकलकर आये और यह सोचने लगे कि महोत्सव मनाया कहाँ जा रहा है। लेकिन वह उनके दरवाजेपर नहीं, स्वर्गमें नहीं, धरतीपर मनाया जा रहा था। धरतीपर भी केवल व्रजभूमिमें ! अब तो वे पहुँच गये वहाँ। उन्होंने सब-कुछ देखा-समझा तो बोले कि अरे, अघासुरकी मुक्ति हो गयी ! हमारे वेद-पुराण, शास्त्र में तो कहीं भी पापकी मुक्ति नहीं लिखी है। पापकी मुक्ति तो अद्वय परमात्मामें ही है। इसलिए यह संवैधानिक नहीं है। फिर क्या है ? जो परमात्मा संविधानसे परे सर्वथा स्वतन्त्र हैं, उन्हींकी यह नित्य-लीला है। ब्रह्माजीने कहा कि अच्छा चलो, कुछ और भी लीला देखें ! क्या सचमुच ऐसा हो सकता है ?

जब ब्रह्माजी वहाँ पहुँचे तब उन्होंने जो लीला देखी, वह और भी विलक्षण थी। वह भी संविधानके विरुद्ध ही थी। अघासुरके मुँहमें-से निकलनेके बाद बछड़े, ग्वाल-बाल और स्वयं श्रीकृष्ण यमुना तटपर गये। वहाँ उन लोगोंने उन सब छींकोंको, जो उनके साथ अघासुरके मुँहमें चले जानेके कारण विषैली हो गयीं थीं, ,खोला। उनमें-से खाद्य-पदार्थ निकाला और सब-के-सब भोजन करने बैठ गये। बीचमें श्रीकृष्ण और उनके चारों ओर एक-दो-तीन करके अनेक पंक्तियोंमें ग्वाल-बाल !

देखो, यह सख्य-रसकी लीला है। जैसे मधुर-रसमें गोपियोंके साथ

रास-लीला होती है—नृत्य-वाद्य-संगीत और अभिनय होता है, वैसे ही आज ग्वाल-बालोंके साथ भोजनकी लीला हो रही है। भगवान् अपने मित्रोंके साथ, सखाओंके साथ भोजन कर रहे हैं। वह दृश्य देखकर श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं—

बिभ्रद् वेणुं जठरपटयोः शृंगवेत्रे च कक्षे
वामे पाणौ मसृणकवलं तत्फलान्यङ्गुलीषु।
तिष्ठन् मध्ये स्वपरिसुहृदो हासयन् नर्मभिः स्वैः
स्वर्गे लोके मिषति बुभुजे यज्ञभुग् बालकेलिः।। १०-१३-११

अरे बाबा, कितने बड़े आश्चर्यकी बात है कि जो यज्ञमें बड़े-बड़े आवाहन-मन्त्र पढ़नेपर भी साक्षात् आकर भोजन नहीं करते, वे इन ग्वाल-बालोंके साथ बैठकर भोजन कर रहे हैं। उनके पास न थाली है, न पत्तल है। समस्त ग्वाल-बालोंको यही अनुभव हो रहा है कि उन्हींके सामने श्रीकृष्ण बैठे हैं। उनके बाँयें हाथमें दही-भात है और वे दाहिने हाथसे ले-लेकर खा रहे हैं। उन्होंने वेणुको लगा लिया है फेंटमें।

इसीसे महात्मा लोग उनको उलाहना देते हुए कहते हैं कि तुम इन ग्वालोंके आँगनके कीचड़में तो खेलते हो और ब्राह्मणोंके यज्ञमें आनेमें तुम्हें शर्म आती है। जब गौएँ हम्बारव करती हैं, हुँकारती हैं, डकराती हैं, तब तुम भी उनके साथ बोलने लगते हो, लेकिन वेद-मन्त्र तुमसे बोले नहीं जाते। गोकुलकी गँवार ग्वालिनोंके पीछे-पीछे तो चलते हो, लेकिन महात्माओंके सामने आनेमें तुम्हें लज्जा आती है! अरे भाई समझ गये, तुम किसी विधि-विधानके नहीं, प्रेमके आधीन हो! प्रेमसे ही तुम्हारी प्राप्ति होती है।

ग्वाल-बालोंका प्रेम इतना अद्भुत है, विलक्षण है कि उनको श्रीकृष्णके ऐश्वर्यका कभी भान ही नहीं रहता। जब उनपर कोई संकट पड़ता है तब वे यही कहते हैं कि कन्हैया, हमारी अपेक्षा अधिक बलवान् है। इसलिए उसको जरा पुकार लो कि वह आकर हमारी मदद करे।

एक बार श्रीराधारानीकी सखी ललिताने मथुराकी ओर उड़कर जा रहे हंस-पक्षीको पुकारा और कहा कि अरे ओ हंस, सुन मेरी बात! श्रीकृष्णके पास जाकर कह देना कि आप कंसको मारकर मथुराके राजा बन बैठे हैं। लेकिन आपके विरहकी ज्वालासे जलकर व्रजके ग्वाल-बाल गिरिराजकी तलहटीमें बेहोश पड़े हैं। उनकी साँस बहुत धीमी-धीमी चल रही है। इनके पूर्वपरिचित हरिण इनके पास आकर इनको सूँघते हैं। लेकिन उस समय उनकी आँखोंसे इतने आँसू गिरे हैं कि मानों वे मूर्च्छित ग्वाल-बालोंके मुँहपर पानी छिड़क रहे हों और कह रहे हों कि प्यारे, होशमें आओ!

इस तरह व्रजकी समस्त गोपियाँ, गोपों और ग्वाल-बालोंको श्रीकृष्णके प्रति अवर्णनीय प्रेम है तथा वे सब उन्हींके स्मरण-चिन्तनमें निमग्न हैं।

ब्रह्माजीने यह सब देखा तब वे आश्चर्यचकित हो गये। उन्होंने सोचा कि कैसी अद्भुत है यह व्रजभूमि ! इतनेमें ब्रह्माजीकी दृष्टि ग्वाल-बालोंपर पड़ी, जो श्रीकृष्णके साथ भोजन करते हुए अत्यन्त आनन्दित हो रहे थे ! लेकिन उनको तो जात-पाँत और जूठन आदि का कोई विवाद ही नहीं है। ब्रह्माजीने कहा कि यह सब क्या हो रहा है। इस प्रकारका आचरण तो वेद-विरुद्ध है।

इधर ब्रह्माजी ऐसा विचार कर रहे थे और उधर बछड़ोंको हरी-हरी घास चरनेका लोभ हो गया-'तृणलोभिता।' वे जंगलमें घुस गये। ग्वाल-बालोंकी दृष्टि भी श्रीकृष्णकी ओरसे हटकर बछड़ोंकी ओर चली गयी। उनके मनमें बछड़ोंके प्रति ममता उमड़ आयी और वे उनको लौटानेकी चिन्तामें पड़ गये। यह देखकर मानों श्रीकृष्णने कहा कि ठहरो-ठहरो, मैं तुम्हारे सामने बैठा हूँ और तुम लोग मुझे न देखकर बछड़ोंको देखने लगे हो !

देखो, सम्पूर्ण श्रीमद्भागवतमें यह बात देखनेमें आती है कि जब-जब लोगोंकी दृष्टि श्रीकृष्णपरसे हटती है तब-तब कोई-न-कोई उपद्रव खड़ा हो जाता है। यशोदा मैया पूतनाको देखने लगीं तो वह श्रीकृष्णको उठाकर ले गयी। जब वे अन्य लोगोंको देखने लगीं तब छकड़ा गिर गया। जब उनका ध्यान घरके काम-काजकी ओर चला गया तब श्रीकृष्ण बवण्डरमें उड़ गये। इसी तरह जब वे श्रीकृष्णको ऊखलमें बाँधकर घरके भीतर चली गयीं तब पेड़ गिर पड़े।

इसलिए यहाँ भी वैसा हुआ। जब ग्वाल-बाल बछड़ोंको देखने लगे तब श्रीकृष्णने कहा कि तुम लोग भोजन करो। मैं बछड़ोंको लौटाकर ले आता हूँ। लेकिन बछड़े थे कहाँ ? ब्रह्माजीने उनका हरण कर लिया था। जब श्रीकृष्ण बछड़ोंको ढूँढने गये तब उन्होंने ग्वालबालोंका भी हरण कर लिया और सबको ले जाकर समाधि-गुफामें बन्द कर दिया। भक्तिकी दृष्टिसे समाधि एक गुफा होती है और उसकी चर्चा आगे की जायेगी।

जब श्रीकृष्णने देखा कि न तो बछड़े मिल रहे हैं और न ग्वाल-बाल तब वे सब-कुछ समझ गये। उन्होंने कहा कि अच्छा, यह ब्रह्माजीकी करामात है। वे मेरी लीला देखना चाहते हैं।

लेकिन लीला किसकी दिखायी जाय? किसी वैयाकरणके सामने वेदका पाण्डित्य और वेदज्ञके सामने व्याकरणका पाण्डित्य दिखानेसे क्या लाभ है ? इसलिए जो जिस विषयके निपुण हों, उनके सामने उसी विषयकी चर्चा करनी चाहिए।

भगवान्‌ने कहा कि ब्रह्माजी, तुम्हें विश्व बनानेकी चातुरी आती है और तुम पुर्जे जोड़-जोड़कर बढ़िया-बढ़िया चीजें बनाते हो। लेकिन आज देखो मैं सृष्टि बनाता हूँ। इसमें न तो पहलेसे जीव है, न पहलेसे प्रकृति है, न पहलेसे कर्म है और न पहलेसे अन्तःकरण है-कुछ भी मसाला नहीं है। फिर भी मैं अकेला ही अनेक रूप ग्रहण करता हूँ।

भगवान्‌की कला कैसी अद्भुत है। उसके सामने कोई मसाला नहीं, कोई भीत नहीं, कोई आधार नहीं, कोई शरीर नहीं, कोई कलम नहीं, कोई तूलिका नहीं, कोई रंग नहीं, फिर भी वह चित्र बनाता है। वह स्वयं ही अनेक रूप ग्रहण कर लेता है।

स एकधा भवति, द्विधा भवति, त्रिधा भवति,
पञ्चधा भवति, सप्तधा भवति, अनेकधा भवति।

इसीलिए गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा—

शून्य भीतिपर चित्र रंग नहि तनु बिनु लिखा चितेरे।

इसलिए भगवान् श्रीकृष्णने अपने संकल्पमात्रसे ऐसी विश्व सृष्टि बना दी; जो एक वर्षतक चलती रही। इस अद्भुत सृष्टिको देखकर बलरामजीके मनमें शंका हुई तो भगवान्‌ने उनको संक्षेपमें बता दिया कि ऐसा-ऐसा हुआ है। क्योंकि श्री बलरामजी भगवान्‌के मित्र भी हैं, आसन भी हैं, प्रकृति भी हैं और प्रधान भी हैं, इसलिए भगवान्‌ने उनको थोड़ा-सा रहस्य बता देना ठीक समझा।

जब ब्रह्माजी बछड़ों और ग्वाल-बालोंको छिपाकर अपने लोकमें गये तब वहाँ पहलेसे ही एक दूसरे ब्रह्मा आ गये थे। द्वारपालोंने उनका तिरस्कार किया और उनको भीतर घुसने नहीं दिया। वहाँसे पुनः व्रजमें आये तो देखते क्या हैं कि उनके छिपाये ग्वाल-बाल और बछड़े अपने स्थान पर अचेत पड़े हैं। लेकिन उन्हीं के समान दूसरे ग्वालबाल और बछड़े पहलेकी तरह क्रीड़ा कर रहे हैं। अब तो ब्रह्माजीके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहा। उसी क्षण वे सब ग्वाल-बाल और बछड़े ब्रह्माजीको श्रीकृष्णके रूपमें दिखायी पड़े। यह सब देखकर ब्रह्माजी चकित हो गये, उनका तेज फीका पड़ गया और वे एक कठपुतलेकी तरह मौन होकर खड़े हो गये।

इतीरेशेऽतर्क्ये निजमहिमनि स्वप्रमितिके
परत्राजातोऽतन्निरसनमुखाब्रह्मकमितौ।
अनीशेऽपि द्रष्टुं किमिदमिति वा मुह्यति सति
चच्छादाजो ज्ञात्वा सपदि परमोऽजाजवनिकाम्॥ १०-१३-५७

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, यद्यपि ब्रह्माजी समस्त विद्याओंके अधिपति हैं तथापि वे भगवान्‌की दिव्य लीलाको तनिक भी नहीं समझ सके कि वह क्या है ? यहाँतक कि वे अपनी आँखोसे भगवान्‌के उन रूपोंको देखनेमें भी असमर्थ हो गये। उनकी आँखें चौंधिया गयीं। जब भगवान् श्रीकृष्णने ब्रह्माजीकी यह दशा देखी तब तुरन्त अपनी मायाका पर्दा हटा लिया।

अब तो ब्रह्माजी होशमें आये। उन्होंने भगवान्‌का दर्शन किया। वे अपने वाहन हंसपरसे कूद पड़े, भगवान्‌के चरणोंमें लोट-पोट हो गये और स्तुति करने लगे।

देखो, यहाँ यह बताया गया है कि परमात्मा अद्वितीय है। प्रकृति भी परमात्माका ही नाम है। परमात्मा के सिवाय और कुछ भी नहीं है।

इस अद्वैत-सिद्धान्तका साक्षात्कार ब्रह्माजीने किया। उन्होंने सोचा कि विवेकसे काम नहीं चलेगा। अब तो ज्ञानस्वरूप ब्रह्मकी ही आवश्यकता है। क्योंकि विवेक तो दो-को अलग-अलग करनेके लिए होता है और ज्ञान दो को एक कर देता है। इसलिए ब्रह्माजीने प्रार्थना की—

नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय
गुञ्जावतंस - परिपिच्छलसन्मुखाय।
वन्यस्रजे कवलवेत्र - विषाणवेणु-
लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय।। १०-१४-१

प्रभो, मैं निर्गुण-सगुण कुछ नहीं जानता। मेरा सर्वस्व तो मेरी आँखोंके सामने खड़ा है-दही भातका ग्रास लिये हुए, कमरकी फेंटमें बाँसुरी डाले हुए, पीताम्बर धारण किये हुए यह साँवरा-साँवरा नन्द-नन्दन ! मैं इसके सिवाय और किसी को नहीं जानता। इसलिए मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

इस प्रकार स्तुति करते-करते ब्रह्माजी कहने लगे कि यह सम्पूर्ण विश्व परमात्माको न जाननेका परिणाम है। अज्ञानके कारण ही इसकी उत्पत्तिका भ्रम हो जाता है और ज्ञान होते ही इसका आत्यन्तिक प्रलय हो जाता है। परमात्माके स्वरूपमें न बन्धन है, न मोक्ष है-वैसे ही, जैसे सूर्यके स्वरूपमें न दिन है, न रात है। सूर्यने कभी दिन-रात देखा ही नहीं है।

आत्मानमेवात्मतयाविजानतां तेनैव जातं निखिलं प्रपञ्चितम्।
ज्ञानेन भूयोऽपि च तत्प्रलीयते रज्ज्वामहेर्भोगभवाभवौ यथा।।

अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ द्वौ नाम नान्यौ स्त ऋतज्ञभावात्।
अजस्रचित्यात्मनि केवले परे विचार्यमाणे तरणाविवाहिनी।।

१०-१४-२५-२६

ब्रह्माजीने आगे कहा कि प्रभो, मुझे आपकी कृपा चाहिए, मुक्ति नहीं चाहिए, जन्म चाहिए। मुझे इस व्रजमें कुछ बना दीजिये।

इसपर मानों भगवान्‌ने पूछा कि क्या बना दें ब्रह्माजी ! फिरसे ब्रह्मा बना दें। ब्रह्माजीने कहा कि नहीं महाराज, ब्रह्मा नहीं। मुझको तो व्रजमें कुछ बनाइये। भगवान्‌ने कहा कि अच्छा व्रजमें क्या बना दें—गाय बना दें, बछड़ा बना दें या ग्वाल बना दें ? ब्रह्माजीने कहा कि नहीं महाराज, इनका तो मैं अपराधी हूँ। मुझे यह सब मत बनाइये। कुछ ऐसा बना दीजिये, जिससे इनके चरणोंकी धूल मुझपर पड़े।

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्माजीको विदा करके उस यमुना पुलिनपर आगये, जहाँ उन्हींने ग्वाल बालों को छोड़ा था। उसके पहले ही ब्रह्माजीने अपने द्वारा छिपाये हुए बछड़ों और ग्वाल-बालोंको वहाँ पहुँचा दिया था। उन ग्वाल-बालोंने जब अपने प्यारे श्रीकृष्णको देखा तब कहा कि कन्हैया, तुम भले आये। तुम्हारा स्वागत है। देखो अभी हमने तुम्हारे जानेके बाद एक कौर भी नहीं खाया है। भगवान् हँसते हुए अपने उन सखाओंके मध्य बैठ गये और उनके साथ भोजन करने लगे।

यहाँ श्रीशुकदेवजी महाराज परीक्षितको बताते हैं कि यद्यपि भगवान् श्रीकृष्णको गये एक बर्षका समय व्यतीत हो गया था, लेकिन उनकी मायाके प्रभावसे ग्वाल-बालोंको एक क्षण-जैसा प्रतीत हुआ।

इसके बाद राम और कृष्णकी आयु इस योग्य हो गयी कि उनको गाय चरानेकी भी अनुमति मिल गयी। दोनों भाई अपने-अपने साथी ग्वाल-बालों सहित गायोंको चराने वनमें जाते और वहाँकी शोभा देख-देखकर हर्षित होते।

देखिये, यहाँ आप भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा गो-चारण प्रारम्भ होनेके प्रसंगपर यह विचार कीजिये कि आपका गोचारक कौन है ? गोकुल माने एक गाँव-विशेष ही नहीं होता, इन्द्रियोंका समूह भी होता हैं—'गवां कुलं गोकुलम्।' यह आपके पास भी है। आपके कान गाय हैं और आपकी आँखें तथा नाक गाय हैं। ये सब विषयों को ग्रहण करती हैं। इसलिए उनके चरवाहेपर ध्यान देना जरुरी हैं। विचार कीजिये कि इनका चरवाहा काम तो नहीं हैं। आपकी इन्द्रियोंका संचालन काम करता है या आपका अन्तर्यामी परमेश्वर करता हैं ? जब आप इसपर ध्यान देंगे तभी इन्द्रियोंका संचालन ठीक-ठीक होगा।

वृन्दावनमें ऐसा ही हो रहा है। यहाँ गो-चारण करानेवाला साक्षात् परमेश्वर है, क़ाम नहीं है, कामी नहीं है, जीव भी नहीं है। यहाँ ईश्वरने अपना साधारणीकरण कर लिया है। वह निराकारसे साकार बनकर वैकुण्ठसे वृन्दावन आकर हमारी इन्द्रियोंके सामने हो गया है। क्योंकि जहाँ हम रहते हैं वहीं आकर ईश्वर हमारा उद्धार कर सकता है। हम तो ईश्वरके पास पहुँच नहीं पाते। यदि ईश्वर भी हमारे पास नहीं पहुँचे तो जीव और ईश्वरका मिलन कैसे होगा ? यदि कहो कि ईश्वर कैसे आता है तो जैसे वाच्यार्थरूप जीव आता-जाता है, वैसे ही वाच्यार्थरूप ईश्वर भी आता जाता है। अन्तर इतना ही है कि जीव अविद्यासे आता-जाता है और ईश्वर मायासे आता-जाता है।

तो, एक दिन भगवान् श्रीकृष्ण गो-चारणके लिए वनमें गये तो वहाँकी शोभा देखकर बलरामजीको सम्बोधित करते हुए कहने लगे—दाऊ दादा, बड़े-बड़े देवता तो आपकी पूजा करते ही हैं, लेकिन ये वृक्ष भी अपने फल-फूलोंकी सामग्री लेकर आपकी ओर झुक रहे हैं ! आपको नमस्कार कर रहे हैं ! देखिये न, वनके मोर, हिरण और कोयल आदि आपको देख-देखकर कितने प्रसन्न हो रहे हैं ! यहाँकी हरी-हरी घास भी आपके चरणोंका स्पर्श प्राप्त करके अपनेको धन्य बना रही है। असलमें सारी वनश्री आपकी सेवा कर रही है।

इस प्रकार राम-कृष्ण वनके सौंदर्यका अवलोकन करते हुए विचरण कर रहे थे कि श्रीदामा नामक सखाने उनसे कहा-यहाँसे थोड़ी ही दूरपर ताड़का एक विशाल वन है। उसमें मीठे-मीठे फल पककर गिरते रहते हैं। लेकिन वहाँ धेनुक नामका एक बड़ा दुष्ट दैत्य रहता है। वह किसीको फल खाने नहीं देता। हमें उन फलोंको खानेकी बड़ी इच्छा है। इसलिए तुम लोग हमारे साथ चलकर हमें वहाँके फल खिलाओ।

यह सुनकर राम-कृष्ण हँस पड़े और ग्वाल-बालोंको साथ लेकर ताल-वनकी ओर गये। वहाँ पहुँचकर बलरामजीने अपने बलवान् हाथोंसे ताल-वृक्षोंको हिला-हिलाकर उनके बहुत सारे फल धरतीपर गिरा दिये और उनको ग्वाल-बाल खाने लगे।

इतनेमें गधेके रूपमें रहनेवाला धेनुकासुर दौड़ता हुआ आया और उसने बलरामजीपर आक्रमण कर दिया। यद्यपि धेनुकासुर बहुत बली था, तथापि बलरामजीने एक हाथसे उसके पीछेके दोनों पाँव पकड़ लिये और उसको चारों ओर घुमाकर ऐसा पटका कि उसके प्राण निकल गये।

श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने धेनुकासुरको देहाध्यास बताया है-'देहाध्यासो हि धेनुकः।' उनके कथनानुसार देहमें जो अध्यास है, उसीका नाम धेनुक है और जो ताल, ताड़ या तार है, वह ॐकार है। उसके सेवनमें देहाध्यास बाधक है। इसलिए बलरामजीने श्रीकृष्णके साथ जाकर देहाध्यासरूप धेनुकासुरका वध कर दिया।

उसके बाद कालिय-दहका प्रसंग आता है। उपनिषदोंमें दहर शब्दका प्रयोग है। उस दहर शब्दका ही ह्रद हो गया और ह्रदका हिन्दीमें दह हो गया।

एक दिन बलरामजी तो घर पर ही रह गये। लेकिन श्रीकृष्ण ग्वाल-बालों और गायोंके साथ यमुना-तटके ऐसे स्थानपर पहुँच गये, जहाँ कालिय नाग रहता था और जिसके विषके कारण वहाँका जल बड़ा विषैला हो गया था। लेकिन गर्मीके कारण गाय और ग्वाल-बाल इतने प्यासे थे कि उन्होंने उसपर ध्यान नहीं दिया तथा पानी पी गये। विषैला पानी पीते ही सब-के-सब मर गये। लेकिन भगवान् श्रीकृष्णने अपनी अमृतवर्षिणी दृष्टिसे सबको जीवित कर दिया।

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने विचार किया कि सूर्यतनया यमुनाजी तो मेरी प्रेयसी हैं, प्यारी हैं। व्रज-लीलामें विहार-स्थली और द्वारका-लीलामें चौथी पटरानी। इनके पेटमें यह कालिय नाग कहाँसे आगया। इसको तो मैं निकाल बाहर करूँगा।

श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज कहते हैं कि हमारी इन्द्रियाँ कालियनागके समान हैं और इनका जो विषय-सम्पर्क है, वह विषके समान है।

इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण भक्तोंकी इन्द्रियोंको शुद्ध करनेके लिए कालिय नागको निकालनेके लिए, शंकरजीकी तरह विषपान करके प्राणियोंकी रक्षा करनेके लिए यमुना-जलमें कूद पड़े।

वहाँ कालिय नाग तो सो रहा था, नागिनोंने श्रीकृष्णको देखा तो कहा कि अरे तुम कैसे आगये ? जल्दी भाग जाओ। हमारा पति विषैला है। श्रीकृष्णने कहा कि होने दो विषैला और उन्होंने लपककर उसको ऐसा लात जमाया कि वह फुफकारता हुआ जाग गया। लेकिन उसकी दृष्टि जब श्रीकृष्णपर पड़ी तब वह मुग्ध हो गया और बोलाकि देखो, आजतक मैंने किसीको क्षमा नहीं किया है। लेकिन तुम्हारा सौन्दर्य देखकर मैं मुग्ध हूँ। इसलिए अपना भला चाहो तो लौट जाओ यहाँ से।

श्रीकृष्णने कहा कि अरे कालिय, मैं यों ही लौट जानेके लिए यहाँ नहीं आया हूँ। मेरे यहाँ आनेका मतलब तुमको बाहर निकालना है। यदि तुमको

यह मंजूर हो तो जल्दी यहाँसे बाहर चले जाओ, नहीं तो आओ तुमसे दो-दो हाथ हो जाय।

इसके बाद श्रीकृष्ण और कालियनागमें पैंतरेबाजी शुरू हुई। एक बार तो कालियने श्रीकृष्णको अपने नाग-पाशसे जकड़ भी लिया और उनके मर्मस्थानोंपर इतने दंश मारे कि वे क्षणभरके लिए निश्चेष्ट भी हो गये। वह दृश्य देखकर व्रजमें हा-हाकार मच गया। सबलोग रोने-पीटने लगे। लेकिन बलरामजी श्रीकृष्णके प्रभावको जानते थे। इसलिए उन्होंने सबको समझा-बुझाकर धैर्य बँधाया।

जब श्रीकृष्णने देखा कि सबलोग मेरे लिए व्याकुल हो रहे हैं तब वे अपने शरीरको फुलाकर नाग-पाशसे मुक्त हो गये। अब तो कालियनाग और भी बबूला होकर फुफकारने लगा। लेकिन श्रीकृष्णने ऐसी छलाँग लगायी कि वे उसके सौ-फणवाले सिरपर चढ़ गये और वहाँ ताण्डव नृत्य करने लगे। उस नृत्यको देखनेके लिए गन्धर्व आगये, अप्सराएँ आगयीं और ब्रह्मा-शंकर आदि बड़े-बड़े देवता आगये। श्रीशुकदेवजी महाराज वर्णन करते हैं—

तच्चित्रताण्डवविरुग्णफणातपत्रो
रक्तं मुखैरुरु वमन् नृप भग्नगात्रः।
स्मृत्वा चराचरगुरुं पुरुषं पुराणं
नारायणं तमरणं मनसा जगाम।। १०-१६-३०

परीक्षित, भगवान् श्रीकृष्णने कालियनागके सिरपर ऐसा अद्भुत ताण्डव नृत्य किया कि उनके पदाघातसे कालियनागके फणोंके छत्ते छिन्न-भिन्न हो गये। उसका प्रत्येक अंग चूर-चूर हो गया। उसके मुँहसे खूनकी उल्टियाँ होने लगीं। इसके बाद भगवान्‌की स्मृति हो आयीं और वह मन-ही-मन उनका शरणागत हो गया।

अब तो कालियनागकी पत्नियाँ स्तुति करने लगीं। अद्भुत स्तुति है उनकी ! उन्होंने कहा कि प्रभो, आपने हमारे पतिको दण्ड दिया—यह आपका न्याय नहीं, अनुग्रह है। क्योंकि आपके चरणोंकी प्राप्ति तो बड़ी-बड़ी तपस्यासे भी नहीं होती। हमारा पति तो अपराधी है। इसपर आप जो अनुग्रह कर रहे हैं, वह न जाने इसकी कितनी तपस्याका फल है।

इसके बाद श्रीकृष्ण प्रसन्न होकर कालियनागके सिरसे उतर गये। वह होशमें आया और कहने लगा कि श्रीकृष्ण आप चाहे निग्रह कीजिये, चाहे अनुग्रह कीजिये। चाहे मुझे दण्ड दीजिये, चाहे मेरे ऊपर कृपा कीजिये लेकिन मैं बात तो दो-टूक कहूँगा। आप स्वयं बताइये कि आपने यह सृष्टि बनायी है

या नहीं ? 'हाँ भाई बनायी है।' आप स्वयं सृष्टि बने है या नहीं ? 'बने हैं।' 'आप इस सृष्टिके अभिन्ननिमित्तोपादान कारण हैं या नहीं ?' 'हैं, अवश्य हैं।' 'यहाँकी सारी जातियाँ-आकृतियाँ, सारे स्वभाव, समस्त गुण-दोष-वीर्य-ओज आपके द्वारा निर्मित हैं या नहीं '? 'हैं।' 'मुझे आपने सर्प बनाया या नहीं'? 'बनाया'। 'मेरे दाढ़में आपने जहर दिया या नहीं' ? 'दिया।'

'तब फिर मैं कौन-सा नया काम कर रहा हूँ ? आपकी मौज हो तो मुझे तार दीजिये या छोड़ दीजिये लेकिन इतना सुन लीजिये कि यहाँकी जो भी करतूत हैं, कारस्तानी है, वह सब आपकी है।'

अब तो भगवान् श्रीकृष्ण निरुत्तर-जैसे हो गये। उन्होंने कहा कि अच्छा तुम गरुड़जीके डरसे यहाँ आकर रह रहे थे। लेकिन अब मैं यहाँ लीला-विहार करुँगा। इसलिए तुम्हारा यहाँ रहना ठीक नहीं है। मैंने तुम्हारे सिरपर अपना पाँव रख दिया है, जिसके फलस्वरूप तुम मुक्त हो गये हो ! अब तुम्हें गरुड़से कोई डर नहीं है। इसलिए जहाँसे आये हो वहाँ चले जाओ।

देखो, भगवान्के राज्यमें सर्प भी एक प्राणी है। इसलिए उसकी भी उपयोगिता है और उसको भी रहनेकी जगह और खुराक मिलनी चाहिए।

यहाँ परीक्षितके पूछनेपर शुकदेवजी महाराजने गरुड़ और कालिय नागकी लड़ाईका कारण बताते हुए कहा- एक बार कालियनागने गरुड़के हिस्सेकी बलि नहीं दी थी। इसलिए गरुड़जी उसपर नाराज हो गये। पहले तो उसने लड़ाई की, लेकिन बादमें हारकर यमुनाजलमें छिप गया।

फिर भी गरुड़जी कालिय-दहमें आते नहीं थे। क्योंकि एकबार सौभरि ऋषिने गरुड़जीको यह शाप दिया था कि यदि यहाँ आओगे तो मर जाओगे। किन्तु इसप्रकार सौभरि ऋषिका भगवान्के वाहनको शाप दे देना अनुचित था। इसलिए वे स्वयं बड़े भोगमें फँस गये। इधर कालिया-दहपर गरुड़जी नहीं आये तो भगवान् आये और उन्होंने उस स्थानको निर्दोष बना दिया।

कालियनागका दमन करनेके बाद श्रीकृष्ण जब उस कुण्डसे बाहर निकले, तब सबने उनको गलेसे लगा लिया। नन्दबाबाने ब्राह्मणोंको बड़े-बड़े द्रान दिये। यशोदा मैयाके तो मानों प्राण ही लौट आये।

उस समयतक सूर्यास्त हो गया था और सारे-के-सारे व्रजवासी तन-मनसे बहुत थक गये थे। इसलिए सब वहीं यमुना-तटपर सो गये। एकाएक आधी रातमें वहाँ आग लग गयी और उससे सब व्रजवासी घिर गये। सबने रक्षाके लिए राम-कृष्णको पुकारा। श्रीकृष्णने स्वजनोंको संकटमें पड़ा देखकर उस आगका पान कर लिया।

देखो, यह अग्नि देवाग्नि थी। उसने सब जहरीली चीजोंको इसलिए जला दिया कि कहीं सवेरे उठकर व्रजवासी अपनी गौओंके साथ उन चीजोंका उपयोग करके विष-पीड़ित न हो जायें।

अग्निकी उत्पत्ति भगवान्‌के मुखसे हुई है और उनके मुखमें ही उसका लय हो जाता है। इसीलिए भगवान्‌ने अग्निको अपने मुखमें ले लिया।

इसके बाद बलरामजी द्वारा प्रलम्बासुरके वधका वर्णन है। प्रलम्ब बड़ा भयंकर दानव था। उसकी यह इच्छा थी कि वह राम और कृष्ण दोनोंका हरण करके ले जाय। लेकिन बादमें जब उसने देख लिया कि श्रीकृष्णका हरण करना उसके बूतेकी बात नहीं है, तब केवल बलरामजीको हर ले जानेका विचार किया।

इधर श्रीकृष्ण उसको पहचान गये थे और यह सोच रहे थे कि कैसे उसका वध किया जाय। उन्होंने एक योजना बनायी, ग्वाल-बालोंसे कहा कि आज हमलोग दो दलोमें बँटकर खेल खेलेंगे। इसके अनुसार एक दलके नायक बलरामजी हो गये और दूसरे दलके नायक श्रीकृष्ण।

प्रलम्ब ग्वाल-बालका वेश बनाकर श्रीकृष्णके दलमें सम्मिलित हो गया। खेलके नियमानुसार जो दल हारता था, वह जीतनेवाले दलके खिलाड़ियोंको अपने-अपने कन्धोंपर बैठाकर ढोता था। इसलिए बलरामजीके दलकी जीत हो जानेपर श्रीकृष्णने श्रीदामाको अपनी पीठपर चढ़ाया और प्रलम्बने बलरामजी को।

प्रलम्ब तो इस अवसरकी ताकमें ही था। इसलिए वह बलरामजीको पीठपर चढ़ाते ही भाग खड़ा हुआ। आगे जाकर उसने अपना असली रूप प्रकट कर दिया। बलरामजी उसका इरादा समझ गये। उन्होंने प्रलम्बके सिरपर ऐसा घूँसा मारा कि उसका सिर चकनाचूर हो गया और वह निष्प्राण होकर धरतीपर गिर पड़ा। अब तो ग्वाल-बालोंके आश्चर्यकी सीमा नहीं रही ! वे सब बलरामजीपर अपनी शुभकामनाओंकी वर्षा करने लगे।

इसके अनन्तर श्रीकृष्ण द्वारा गौओं और ग्वाल-बालोंको दावानलसे बचानेका प्रसंग आता है। एक बार गौएँ चरती-चरती हरी घासके लोभसे बहुत बड़े गहन-वनमें घुस गयीं। श्रीकृष्ण, बलराम और ग्वाल-बालोंको यह पता ही नहीं चला कि गौएँ किधर गयीं ? वे उनके पैरोंके निशानके सहारे उनको ढूँढते-ढूँढते आगे बढ़े तो उन्होंने देखा कि गौएँ मुञ्जावटीमें घिरकर डकरा रही हैं। जब श्रीकृष्णने उनके नाम ले-लेकर उनको पुकारना शुरू किया तब वे हर्षित होकर हुँकारने लगीं।

इतनेमें अकस्मात् दावाग्नि लग गयी और बड़े जोरकी आँधी भी चलने लगी। अब तो गौओंके साथ-साथ ग्वाल-बाल भी संकट में फँस गये। सबने आर्त होकर बलरामजी तथा श्रीकृष्णको पुकारा और यह प्रार्थना की कि बचाओ-बचाओ! श्रीकृष्णने कहा—मित्रों, डरो मत। अपनी आँखें बन्द कर लो। अब तो सबने आँखें बन्द कर लीं और श्रीकृष्ण ने अपनी योग-शक्ति द्वारा वह दावानल पी ली।

देखो, यहाँ जो अग्नि थी, वह असुर-अग्नि थी। लेकिन भगवान् श्रीकृष्ण उसको भी इसलिए पी गये कि कार्यका लय कारणमें ही होता है।

जब सायंकाल हो गया तब भगवान् श्रीकृष्णने बलरामजीके साथ गौएँ लौटायीं और उनके पीछे-पीछे व्रजकी ओर चल पड़े। उस समय ग्वालबाल नकी स्तुति करते हुए चल रहे थे। व्रजमें पहुँचनेपर नन्द-यशोदा और गोप-गोपियोंको श्रीकृष्णका दर्शन करके परमानन्दकी प्राप्ति हो गयी।

आध्यात्मिक दृष्टिसे यह बात समझने योग्य है कि किसी असुरका नाश बलरामरूप बल द्वारा होता है तो किसी असुरका नाश श्रीकृष्णरूप ज्ञान द्वारा होता है। इसलिए साधना-कालमें आत्म-बल और तत्त्वज्ञान दोनोंकी आवश्यकता रहती है। बलहीन तत्त्वज्ञान दोषोंको नहीं मिटा पाता। वैसे तत्त्वज्ञान अपने आप में सम्पूर्ण है। वह न कर्मका फल है और न कर्मका जनक है। लेकिन साधना-कालमें शम-दमादिकी उत्पत्तिके लिए आत्म-बलकी आवश्यकता पड़ती है—'**नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः न मेधया न बहुना श्रुतेन।**' देहाध्यासके निवारणमें कुछ तो अभ्यास-बलकी आवश्यकता होती है। तत्त्व-ज्ञान तो इन दोनोंसे अलग ही है।

इन प्रसंगोंके पश्चात् वर्षा और शरद् ऋतुओंके वर्णन आते हैं। श्रीमद्भागवतमें इनका वर्णन वैसा ही है, जैसा गोस्वामी तुलसीदासकृत रामचरितमानसके किष्किन्धा-काण्डमें है। अत्यन्त विलक्षण है वह वर्णन भी। इसमें एक ओर आध्यात्मिक दृष्टान्त हैं और दूसरी ओर प्रकृतिके रूपोंका वर्णन है।

श्रीमद्भागवतके अनुसार शरदऋतु आनेपर वृन्दावनकी शोभा बहुत बढ़ गयी और श्रीकृष्ण गोचारणके लिए जाते समय वंशी-वादन करने लगे। उनकी वंशीध्वनिसे केवल गोपी-गोप ही नहीं, सारा चराचर जगत् मुग्ध हो गया।

श्रीमद्भागवतमें वेणु-गीतपर बीस श्लोकोंका एक पूरा अध्याय ही है। आपलोग उसे ध्यान पूर्वक पढ़ियेगा। ऐसे गीति-काव्य संस्कृत-साहित्यमें बहुत कम हैं। श्रीशुकदेवजी महाराज उसका प्रारम्भ करते हुए कहते हैं—

इत्थं शरत्स्वच्छजलं पद्माकर-सुगन्धिना।
न्यविशद् वायुना वातं सगोगोपालकोऽच्युतः।। १०-२१-१

परीक्षित, शरद्ऋतु आनेपर भगवान् श्रीकृष्ण ग्वाल-बालोंके साथ उस वनमें प्रविष्ट हुए, जिसके निर्मल जलाशयोंमें कमल खिले हुए थे और उसकी सुगन्धिमें सनकर मन्द-मन्द वायु बह रही थी।

'पद्माकरसुगन्धिना' इसका अर्थ यह है कि स्वयं पद्मा अर्थात् लक्ष्मी व्रजमें आकर अपने हाथसे एक-एक पौधेको सजाया करती थीं, जिससे भगवान् उनको भूल न जायें और उनके हाथों की सुगन्ध पाकर प्रसन्न होते रहें।

देखो, वृन्दावनका स्वरूप क्या है ? यह है कि एक तो यहाँ गिरिराज है, दूसरी बहती हुई नदी है और तीसरा निर्मल सरोवर है। निर्मल सरोवर भक्तजनोंके हृदय हैं। नदी भगवान्की ओर प्रवाहित होनेवाली वृत्ति है और गिरिराज पर्वत दृढ़ निष्ठा है। मतलब यह कि प्रेम-धाम वृन्दावनमें भक्तोंके निर्मल हृदय एवं उनमें वृत्ति-प्रवाह आपसमें अभिसार करते हैं और उनमें पर्वत जैसी दृढ़ निष्ठा है।

कुसुमितवनराजिशुष्मभृङ्ग-
द्विजकुलघुष्टसरःसरिन्महीध्रम्।
मधुपतिरवगाह्य चारयन् गाः
सहपशुपालबलश्चुकूज वेणुम्।। १०-२१-२

मधु कहते हैं बसन्तको। श्रीकृष्ण मधुपति हैं, बसन्तके स्वामी हैं। इसलिए उनके आनेसे सुन्दर-सुन्दर पुष्पोंसे परिपूर्ण हरे-हरे वृक्षोंमें भौरें गुनगुनाने और पक्षियोंके झुण्ड कलरव करने लगे। ऐसे वनमें मधुपति श्रीकृष्ण बलरामजी और ग्वाल-बालोंके साथ गो-चारणके लिए वनमें प्रविष्ट हुए। वहाँ जाकर उन्होंने अपनी बाँसुरी बजायी। वह वंशी-ध्वनि इतनी रसमयी थी कि उसे सुनकर गोपियाँ प्रेम-रससे परिपूर्ण हो गयीं।

देखो, रस कई प्रकार के होते हैं। जहाँ भगवान्के साथ पुत्र भाव है, वहाँ वात्सल्य होता है। वात्सल्यको कोई-कोई रस और कोई-कोई भाव मानते है। इसी तरह सख्यको कोई भाव मानते हैं, कोई रस मानते हैं। भवभूतिने कहा कि मैं तो केवल करुणको ही रस मानता हूँ-'एको रसः करुण एव।' क्यों कि अन्य रस तो करुण-रसके विवर्त हैं। साधु-महात्माओंने कहा कि शान्त ही एकमात्र रस है-'शान्तोऽपि नवमो रसः।' लेकिन नाट्य-शास्त्रने शान्तको रस नहीं स्वीकार किया है, गौण रस माना है।

परन्तु प्रेम-रसरूप, मधुर-रसरूप जो शृंगार है, यह सर्वसम्मत रस है। रस नहीं, रसराज है। इसीलिए भोजराजने कहा कि मैं तो और किसीको रस नहीं मानता, केवल शृंगारको ही रस मानता हूँ- 'शृंगार एव रसः।'

अब यह देखिये कि गोपी-गोप क्या हैं ? जो अपनी इन्द्रियोंसे श्रीकृष्ण-रसका पान करते हैं उनका नाम होता है गोपी-गोप। ये मनसे ध्यान नहीं करते, बुद्धिसे विचार नहीं करते, साक्षीके रूपमें अवस्थान नहीं करते और ब्रह्मसे एकताका निश्चय नहीं करते, बल्कि खुली इन्द्रियोंसे, खुली आँखोंसे परमात्माका रस लेते हैं इसीलिए इनको गोपी-गोप कहते हैं।

गोपी श्रुतिको भी कहते हैं, वृत्तिको भी कहते हैं और इडा-पिङ्गला आदि नाड़ियोंको भी कहते हैं। इनकी व्याख्या प्राचीन ग्रन्थोंमें है। जो लोग उस व्याख्याको अपने मनसे पढ़ते हैं, उन्हींको इसका अर्थ समझमें नहीं आता, कुछ–का–कुछ समझमें आता है। जब गोपियोंने श्रीकृष्णकी वंशी-ध्वनि सुनी तब उनकी सांसारिक कामना मिट गयी और उनके हृदयमें श्रीकृष्ण-विषयक कामनाका उदय हो गया-'वेणुगीतं स्मरोदयम्।' फिर श्रीकृष्णका स्मरण होते ही उनकी प्राप्तिकी आकांक्षा हो गयी, वे मानों उनकी आँखोंके सामने आकर खड़े हो गये और वे मन-ही-मन कहनें लगीं-

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद् वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः।।

१०-२१-५

श्रीकृष्ण ग्वाल-बालोंके साथ वृन्दावनमें प्रवेश कर रहे हैं, उनके सिरपर मयूर-पिच्छ है, कानोंपर कनेरके पीले-पीले पुष्प हैं, शरीरपर सुनहला पीताम्बर है और गलेमें सुगन्धित पुष्पोंकी बनी वैजयन्ती माला है। रंगमंचपर अभिनय करनेवाले श्रेष्ठ नटका-सा सुन्दर वेश धारण कर लिया है उन्होंने। बाँसुरीके छेदोंको वे अपने अधरामृतसे भर रहे हैं। उनके पीछे-पीछे चल रहे ग्वालबाल उनकी कीर्ति का गान कर रहे हैं। हमारा वैकुण्ठसे भी श्रेष्ठ वृन्दावन धाम श्रीकृष्णके चरण चिह्नोंसे और भी रमणीय हो गया है।

देखो, श्रीकृष्ण बर्हापीड कैसे हुए ? कहते हैं कि श्रीराधारानीके प्रिय मयूरके साथ नाचते-नाचते जब उसका पिच्छ गिर पड़ा तब उसे उठाकर उन्होंने अपने सिरपर धारण कर लिया और तबसे वे उसे अपने सिरपर बराबर धारण किये रहते हैं। इसीलिए 'बर्हापीड' कहलाते हैं।

श्रीकृष्णका वपु नटके समान है, वरके समान है। गायत्रीका 'वरेण्यं' उनमें वर बनकर आगया है। इसलिए वे 'नटवरवपु' हो गये हैं।

ईश्वर शब्दमें 'ईश्' धातु और 'वर' प्रत्यय है। उसमें वर है, वरत्व है। इसीलिए वह सम्पूर्ण विश्वका पति है, स्वामी है। श्रीकृष्णका यह वेश तो उनका अभिनय है, लेकिन निश्चित रूपसे वर वही हैं।

श्रीकृष्णके श्यामवर्णकी शोभा जहाँ-तहाँ व्यवधान डाल देनेसे और भी चमकने लगती है। जब वह श्रीराधारानीके रंगका पीताम्बर, वनमाला, कंगन और बाजूबन्द आदि पहन लेते हैं तब उनके शरीरका जितना भाग खुला रह जाता है, उसकी श्यामता और भी झलकने लगती है। उनका परिधान उनकी श्यामलताको झलकानेमें सहायक हो जाता है।

श्रीकृष्णका अधरामृत जिससे वे अपनी बाँसुरीके छिद्रोंको भर रहे हैं, धरतीका अमृत नहीं है। वह अलौकिक अमृत है। इसीलिए उनकी वंशीमें-से अलौकिक ध्वनि निकल रही है और उनके चरण-चिह्नोंसे अलंकृत होकर यह वृन्दावन धाम बैकुण्ठसे भी अधिक श्रेष्ठ तथा रमणीय हो गया है।

एक आचार्यने तो ऐसा लिखा है कि श्रीकृष्ण जब वनमें जाते हैं और उनको कहीं श्रीराधारानीके चरणोंका चिह्न दीख जाता है तब वे उसे अपने पीताम्बरसे आच्छादित कर देते हैं, जिससे कि उसे सूर्यका ताप न लग जाय।

श्रीराधारानी क्या हैं ? आराधिका को ही राधिका कहते हैं— 'सा राधिकाराधिका।'

ऐसी प्रेमकी भूमि है वृन्दावन ! यहाँकी जितनी भी लता-पता हैं, वृक्ष-वल्लरियाँ हैं, पशु-पक्षी हैं, धूलि कण हैं, वे सब-के-सब ध्येय हैं। ध्येय वस्तुमें जड़ता नहीं होती। यह तो चिन्मय होती है।

तो, गोपियोंके हृदयमें जो संगीत था, वह मुखर हो गया। जब हृदयमें ललित भावका उदय होता है तब वह वाणीपर आजाता है—चाहे वह ललित भाव सम्भोग श्रृंगारसे उत्पन्न हुआ हो, चाहे विप्रलम्भ श्रृंगार से उत्पन्न हुआ हो अथवा चाहे करुण से उत्पन्न हुआ हो। क्योंकि विप्रलम्भ श्रृंगार कभी -कभी करुणका रूप ग्रहण कर लेता है। इसलिए गोपियाँ आपसमें कहने लगीं—

अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः
सख्यः पशूननु विवेशयतोर्वयस्यैः।
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणु जुष्टं
यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम्।। १०-२१-७

अरी सखी, आँखोंका फल साक्षी नहीं है, ध्यान नहीं है। फिर आँखें क्यों मिली हैं ? क्या संसार देखनेके लिए मिली हैं ? नहीं-नहीं, संसार देखनेके लिए नहीं, श्यामसुन्दर श्रीकृष्णको देखनेके लिए मिली हैं। उन्हींको देखनेसे हमारी आँखें सफल होंगी।

इसके बाद गोपियाँ सर्वत्र श्रीकृष्णका दर्शन करने लगीं। उन्होंने देखा कि लताएँ भी श्रीकृष्णकी वंशीध्वनि सुनकर मधुक्षरण कर रही हैं। स्वर्गकी देवियाँ अपने स्वरूपको भूल गयी हैं, हरिणियाँ एकटक निहार रही हैं, गौओंको घास चरना और बछड़ोंको दूध पीना भूल गया है। उनके शरीरमें रोमांच हैं, आँखोंमें आँसू है और हृदयमें गोविन्द हैं।

देखो, वंशीकी ध्वनिपर मयूर भी नाच रहे हैं, सर्वत्र शान्ति-ही-शान्ति व्याप्त हो गयी है। वृक्षोंपर बैठे पक्षी अपनी खुली आँखोंसे श्रीकृष्णको निहार रहे हैं। यमुनाजीका जल स्तम्भित हो गया है, बह नहीं रहा है। वे श्रीकृष्णको कमलोपहार अर्पित कर रही हैं और पृथिवी रोमांचित हो रही है।

अरी सखी, भक्तिके लिए भी क्या कोई जात-पाँत होती है ? नहीं-नहीं, भक्त तो भीलनियाँ और भील भी होते हैं। मोर भी भक्त होते हैं, गौएँ भी भक्त होती हैं, धरती भी भक्त होती है और वृक्ष एवं लताएँ भी भक्त होती हैं। जहाँ भगवान् हैं, उनका संस्पर्श है वहाँ उनकी भक्ति रहती है। क्योंकि प्रीति प्राणिमात्रका स्वभाव है।

अरी सखी, जिस समय श्रीकृष्ण गायका नोहना अपने गलेमें मालाकी तरह डालकर और गायोंको फँसानेवाला फन्दा अपने सिरमें पगड़ीकी तरह बाँधकर निकलते हैं, उस समय उनको देखकर चलने-फिरनेवालोंका चलना-फिरना बन्द हो जाता है। उनको देखकर देखने-सुननेवाले चेतन भी जड़ भावापन्न हो जाते हैं—

अस्पदनं गतिमतां पुलकस्तरूणां
निर्योग – पाशकृतलक्षणयोर्विचित्रम्। १०-२१-१९

इस तरह 'जब श्रीकृष्ण वनमें जाते थे तब गोपियाँ उनके चरित्रका गान करके अपना समय व्यतीत करती थीं। भगवान्‌के विरहकालमें भक्त लोग इसी तरह भगवच्चरित्रके गान और भगवत्प्रेमके उल्लास द्वारा अपना समय व्यतीत करते हैं। अब जब हेमन्त ऋतु आयी तब नन्दव्रजकुमारिका गोपियाँ कात्यायनी देवीका पूजन और व्रत करने लगीं। वे प्रतिदिन यमुना-स्नान करतीं और यह प्रार्थना करतीं कि देवि, हम आपके चरणोंमें नमस्कार करती हैं— नन्दनन्दन श्रीकृष्णको आप हमारा पति बना दीजिये—'नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः।

अब आया चीर-हरणका प्रसंग ! चीर-हरण माने आवरण-भंग। आप इस बातको ध्यानमें रखिये कि ब्रह्म और आत्माकी एकताका साक्षात्कार आवरण-भंग होनेपर ही होता है। यदि पर्दा बना रहा तो साक्षात्कार नहीं होगा। यदि माँ अपने बेटेसे पर्दा करे और कहे कि मेरी छाती मत देखो, लोगोंको अश्लील लगेगा तो क्या वह उसको दूध पिला सकेगी ? यदि माँ अपने बच्चेसे पर्दा करे और उसको अपनी छाती का दूध न पिलाये तो उसका वात्सल्य कैसा ? कहाँसे उसको वात्सल्य-रसकी अनुभूति होगी ? न माँको होगी न बच्चेको होगी ? इसी तरह यदि पति-पत्नी आपसमें शरीरको ढककर रक्खें तो उनको क्या सहवासका अनुभव होगा ?

ठीक इसी प्रकार यदि ब्रह्म और जीवके बीचमें जो अविद्याका आवरण है, वह यदि भंग नहीं होगा तो ब्रह्मात्मैक्यका अनुभव नहीं हो सकता। जहाँ रसका अनुभव होना है, रसानुभूति होनी है, वहाँ आवरण-भंग अनिवार्य है।

इसीलिए भगवान् श्रीकृष्णने चीर-हरणके बहाने गोपियोंका आवरण-भंग किया और उनको यह वरदान दिया कि तुमने जिस कामनाको लेकर उपासना की है, वह पूरी होगी। अब तुम लोग घर लौट जाओ।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि चीर-हरणके समय श्रीकृष्ण अकेले नहीं थे, ग्वाल-बाल भी उनके साथ थे। उन गोपियोंके भाई-भतीजे भी श्रीकृष्णके साथ थे, जिनका चीर-हरण हुआ था। अतः रास लीलाके लिए उन सब की अनुकूलता प्राप्त हो गयी और उसकी तैयारी होने लगी। लेकिन उसके लिए अभी और भी अनेक लोगोंकी अनुकूलता प्राप्त करनी थी। धर्मकी पोथी ब्राह्मणोंके पास ही होती है और वे ही लोग सामने आकर धर्माधर्मका समर्थन या विरोध करते हैं। इसलिए उनको भी प्रभावित करके उनकी अनुकूलता प्राप्त करनेका अवसर उपस्थित हो गया।

एक दिनकी बात है, बलरामजी और श्रीकृष्ण ग्वाल-बालोंके साथ गौएँ चराते-चराते वृन्दावनसे दूर मथुराकी ओर निकल गये। ग्रीष्म ऋतु थी। सूर्यकी किरणें बड़ी प्रखर हो रहीं थीं। परन्तु घने घने वृक्ष सबके ऊपर छाया कर रहे थे। श्रीकृष्णने ग्वाल-बालोंको सम्बोधित करते हुए कहा कि मित्रो, इन वृक्षों को देखो। इनका सारा जीवन दूसरोंकी भलाई करनेमें ही व्यतीत होता है। ये स्वयं तो हवाके झोंके, वर्षा, धूप और पाला सहते हैं, परन्तु हम लोंगोंकी उनसे रक्षा करते हैं। इनके द्वारा सब प्राणियोंकी सेवा होती है। इनके पास जो भी जाता है, वह खाली हाथ नहीं लौटता। उसको ये जरूर कुछ-न-कुछ देते हैं। इनके पत्ते, फल, फूल, छाया, जड़, लकड़ी, राख, कोयला आदि सबसे लोगोंकी आवश्यकता पूरी होती है। इनका जीवन सबसे श्रेष्ठ है।

इस प्रकारकी बातें करते हुए श्रीकृष्ण और बलरामजी ग्वाल-बालों और गौओंके साथ यमुना-तटकी ओर निकल गये। उन सबने यमुनाका सुस्वादु जल गौओंको पिलाया और स्वयं भी जी भरकर पिया।

इतनेमें कुछ ग्वाल-बाल श्रीकृष्ण और बलरामजीके पास आये। वे उनको सम्बोधित करते हुए कहने लगे कि हमारा काम तो केवल जल-पानसे नहीं चल सकता। हमें तो बड़ी भूख लगी है, इसलिए कुछ खिलाओ। श्रीकृष्णने कहा कि अच्छा तुम्हें भूख लगीं है तो एक काम करो। यहाँसे थोड़ी दूरपर मथुराके वेदवादी ब्राह्मण यज्ञ कर रहे हैं। वहाँ जाओ और दाऊ दादा तथा मेरा नाम लेकर भोजन-सामग्री माँग लाओ।

इसके अनुसार ग्वाल-बाल यज्ञ स्थलपर गये और ब्राह्मणोंसे बोले कि यहाँ थोड़ी ही दूरपर राम-कृष्ण बैठे हुए हैं, उनको भूख लगी है। इसलिए आप लोग हमें कुछ भोजन-सामग्री दे दीजिये। हम जानते हैं कि जिस यज्ञमें पशु-बलि होती है, वहाँका अन्न हमें नहीं खाना चाहिए। लेकिन आपके यज्ञका अन्न खानेमें कोई दोष नहीं है।

दीक्षायाः पशुसंस्थायाः सौत्रामण्याश्च सत्तमाः।
अन्यत्र दीक्षितस्यापि नान्नमश्नन् हि दुष्यति।। १०-२३-८

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, उन ब्राह्मणोंको यह ध्यान नहीं रहा कि जो सम्पूर्ण विश्वका स्वामी है, वही उनसे अन्न मँगवा रहा है। उन्होंने राम-कृष्णको साधारण मनुष्य समझा और उनका सम्मान नहीं किया। असलमें वे ब्राह्मण थे तो बालकों-जैसी बुद्धिवाले, लेकिन अपनेको ज्ञान-वृद्ध मानते थे। इसलिए उन्होंने उन ग्वाल-बालोंको हाँ-ना कुछ नहीं कहा। ग्वाल-बाल निराश होकर लौट गये और उन्होंने राम-कृष्णको सब कथा कह सुनायी—

न ते यदोमिति प्रोचुर्न नेति च परन्तप।
गोपा निराशाः प्रत्येत्य तथोचुः कृष्णरामयोः।।
१०-२३-१२

अब आप देखिये कि इस प्रसंगमें क्या-क्या शिक्षा मिलती है? एक ओर पास-पड़ोसके लोग भूखे रहें और दूसरी ओर आहुति-पर-आहुति पड़े तो इस तरहका यज्ञ धर्मानुकूल नहीं होता। मनुष्यको भूखा रखकर यज्ञ सम्पन्न नहीं किया जा सकता। मनुस्मृतिमें भी लिखा है कि जब अपने पास नौकरों, चाकरों, स्वजनों और परिवारवालोंके लिए तीन वर्षोंतक खाने-योग्य सामग्री हो तभी यज्ञ करना चाहिए।

दूसरी बात इस प्रसंगमें ध्यान देने योग्य यह है कि ब्राह्मणोंने ग्वाल-बालोंको 'हाँ' या 'ना' कुछ नहीं कहा। इसका क्या अर्थ है ? यही है कि मनुष्यके कल्याणके दो मार्ग हैं-या तो ॐ बोलो या नेति-नेति बोलो। क्योंकि यह सम्पूर्ण विश्वसृष्टि ॐकार स्वरूप परमात्मा है—'ॐ कार एव सर्वम्।' इसीका व्याख्यान सर्वत्र है।

जब ग्वाल-बाल खाली हाथ लौट आये तब उन्होंने वहाँकी सब बातें बतायीं तब श्रीकृष्ण पहले तो खूब हँसे, फिर बोले कि अच्छा, अब तुम लोग उन ब्राह्मणोंकी पत्नियोंके पास जाओ और उनसे हमारा नाम लेकर भोजन-सामग्री माँगो। वे तुम्हें जरूर देंगी, वहाँसे तुम्हें खाली हाथ नहीं लौटना पड़ेगा।

अब जब ग्वाल-बाल ब्राह्मण-पत्नियोंके पास पहुँचे तब वे उनकी बात सुनते ही प्रेमसे भर गयीं और स्वयं अविलम्ब सब प्रकारकी भोजन-सामग्री लेकर श्रीकृष्णके पास पहुँच गयीं। उन्होंने भगवान्का ऐसा दिव्य दर्शन किया कि उसका वर्णन सुनकर श्रीचैतन्य महाप्रभु मूर्च्छित हो जाया करते थे। आप भी श्रीशुकदेवजी महाराजके शब्दोंमें उसका रसास्वादन कीजिये—

श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमाल्यबर्हधातुप्रवालनटवेषमनुव्रतांसे।
विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जं कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासम्।।
१०-२३-२२

यज्ञ-पत्नियोंने देखा कि श्रीकृष्णके साँवले शरीरपर सुनहला पीताम्बर झिलमिला रहा है। गलेमें वनमाला है, मस्तक पर मोर मुकुट है। उन्होंने नये-नये कोपलोंके गुच्छे शरीरमें लटकाकर नटवरका-सा वेश बना रक्खा है। उनका एक हाथ सखाके कन्धेपर है और दूसरे हाथ में कमलका पुष्प है। कानोंमें पुष्पोंके कुण्डल हैं, कपोलोंपर घुँघराली अलकें लटक रही हैं और उनका मुख-कमल मन्द-मन्द मुस्करा रहा है।

ऐसा दिव्य-दर्शन प्राप्त करके यज्ञ-पत्नियाँ अत्यन्त मुग्ध हो गयीं। उन्होंने श्रीकृष्ण-बलराम और ग्वाल-बालोंको खिलाया-पिलाया। फिर भगवान्की स्तुति करनेके बाद उनका अनुग्रह प्राप्त करके यज्ञ-स्थलपर लौट गयीं।

अब जब ब्राह्मणोंको मालूम हुआ कि उनकी पत्नियोंके हृदयमें भगवान् के प्रति अलौकिक प्रेम है तब वे अपनेको धिक्कारते हुए कहने लगे- हाय-हाय हमारी विद्या; हमारा कुल, हमारी जाति किस कामकी; जो हम भगवान्से विमुख हैं। हमारे हृदयमें भाव नहीं, भक्ति नहीं तो हमारा जीवन किस कामका ? हम तो ऐसे हैं कि जिसका सब कुछ है, उसीको हमने भोजन देनेसे इन्कार कर दिया—

धिग् जन्म नस्त्रिवृद् विद्यां धिग् व्रतं धिग् बहुज्ञताम्।
धिक् कुलं धिक् क्रियादाक्ष्यं विमुखा ये त्वधोक्षजे।।

१०-२३-३९

देखो, रास लीलाके लिए ग्वाल-बाल और गोप-कुमारियाँ तो पहले ही अनुकूल हो गयी थीं। अब ब्राह्मण भी अनुकूल हो गये। इसके बाद श्रीकृष्णने देवताओंको अनुकूल करनेका विचार किया। उसके लिए आगया कार्तिकका शुक्ल पक्ष और परम्पराके अनुसार इन्द्रपूजाकी तैयारी होने लगी।

उस दिन मैयाने अपने लाड़ले लाल श्याम-बलरामका खूब शृंगार किया, उनको गोराचनका तिलक लगाया और पीताम्बर धारण कराकर कहा कि बेटा, तुम लोग जाकर पिताजीको नमस्कार करो। दोनोंने नन्दबाबाको प्रणाम किया और श्रीकृष्णने बड़े प्रेमसे पूछा कि बाबा, यह सब क्या हो रहा है ? इतनी तैयारी किसके लिए हो रही है ?

नन्दबाबाने कहा कि बेटा, इन दिनों इन्द्र देवताकी पूजा होती है और यह हमारी कुल-परम्परासे चली आरही है। हमारा विश्वास है कि इन्द्रकी कृपासे ही वर्षा होती है, अन्न होता है और हमारे पशु तथा हम लोग जीवित रहते हैं। इसीलिए हमलोग इन्द्रकी पूजा करते हैं।

श्रीकृष्णने कहा कि बाबा, यह कैसी परम्परा है ? सबको अपने-अपने कर्मोंका फल भोगना पड़ता है। कर्मसे ही सब-कुछ मिलता है। प्रकृति अपने-आप सारा काम करती है। प्रकृति ही उपादान है और कर्म है निमित्त। उसीसे सारे भोग मिलते हैं। इसमें इन्द्र देवताकी क्या जरूरत है ? उसको तो हमारे कर्मका सेवक होना पड़ेगा।

श्रीकृष्णने फिर कहा कि बाबा, स्वर्गका इन्द्र स्वर्गमें रहता है। उसको हमलोगोंने कभी देखा नहीं है। हमारे पास न तो राज्य है और न कोई नगर है। हमारे तो गाँव भी नहीं है। हम तो वनवासी हैं और इस गिरिराजकी तलहटीमें रहते हैं।

न नः पुरो जनपदा न ग्रामा न गृहा वयम्।
नित्यं वनौकसस्तात वनशैलनिवासिनः।। १०-२४-२४

इसलिए हमारे देवता तो गिरिराज ही हैं। इन्हींसे हमको फल मिलता है, अन्न मिलता है और इन्हींसे हमारी गौएँ पलती हैं। फिर आपलोग इन्हींकी पूजा क्यों नहीं करते ?

इस-प्रकार ऐसा समझाया श्रीकृष्णने कि नन्दबाबा तो मान ही गये, अन्य गोपोंने भी उनकी सम्मति स्वीकार कर ली। कालात्मा भगवान् इन्द्रका घमण्ड

चूर-चूर करने के लिए तैयार हो गये। इन्द्र-पूजाके लिए जो सामग्री इकट्ठी की गयी थी, उसीसे नन्दबाबा तथा ग्वालोंने गिरिराजकी पूजा की।

देखो, यहाँ तो श्रीकृष्ण बालक होते हुए भी साक्षात् भगवान् हैं। इसलिए उनकी बात दूसरी है, लेकिन आपको पहले भी बताया जा चुका है कि यदि साधारण बालक भी युक्ति-युक्त बात कहे तो उसकी बात मान लेनी चाहिए। हमारे शास्त्रोंका यह कहना है कि बड़े-बूढ़े भी युक्ति-हीन विचार करें तो उससे धर्मकी हानि होती है—'**युक्तिहीन-विचारेषु धर्महानिः प्रजायते।**' इसलिए बड़े-बूढ़ोंको अपने अनुभव और दर्शनके अभिमानमें बच्चोंकी बातोंकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

अब आप स्वयं देखिये कि श्रीकृष्णने इन्द्र-पूजाका निषेध करके कितनी बड़ी क्रान्ति की और उस क्रान्तिका परिणाम क्या हुआ ? इन्द्रका असली रूप सब व्रजवासियोंके सामने प्रकट हो गया और उनका अभिमान चूर-चूर हो गया।

यह देखा गया कि किसीको कहींसे बराबर भेंट-पूजा मिलती हो तो उसको लेनेकी आदत पड़ जाती है और फिर कोई भेंट पूजा न दे तो उसे दुःख होता है। क्रोध आता है कि इस बार उसने भेंट-पूजा क्यों नहीं दी ? वह यह नहीं समझता कि भेंट-पूजा देने वाले की श्रद्धा पर निर्भर है, लेनेवालेका उस पर कोई हक नहीं है।

लेकिन इन्द्र व्रजवासियोंकी पूजापर अपना हक मानने लगे थे इसलिए जब वह नहीं मिली तब वे व्रजवासियोंपर नाराज हो गये। क्रोध मनुष्य अथवा देवताको कितना अन्धा बना देता है, इसका स्पष्ट उदाहरण उपस्थित हो गया। इन्द्रने क्रुद्ध होकर मेघोंसे कह दिया कि व्रजमें जितनी गौएँ हैं, पशु हैं, उनका नाश कर दो—'पशून नयत संक्षयम्।'

हे भगवान्, अपराध किया गोपोंने और उसका दण्ड दे रहे हो गायों को ? लेकिन इन्द्र तो क्रोधके मारे आग बबूला होकर विवेक भ्रष्ट हो रहे थे। इसलिए उन्होंने प्रलयकारी मेघोंको आदेश दे दिया कि व्रजपर चढ़ाई कर दो।

अब तो मेघोंने व्रज पर मूसलाधार वृष्टि प्रारम्भ की। चारों ओर बिजलियाँ चमकने लगीं। आँधीका वेग प्रचण्ड हो गया। बड़े-बड़े ओले गिरने लगे। ब्रजवासियोंमें हा-हाकार मच गया। वे सब श्रीकृष्णकी शरणमें आये और उनसे प्रार्थना करने लगे कि रक्षा करो, रक्षा करो।

भगवान्ने कहा कि तुम लोग चिन्ता मत करो और गोवर्द्धनके नीचे आ जाओ। यह कहकर उन्होंने गोवर्द्धन-धारण कर लिया।

आप लोगोंने ऋग्वेदमें सुबन्धुका उपाख्यान पढ़ा होगा। उसमें कहा गया है कि मनुष्यका हाथ ईश्वर है, ईश्वरसे भी बढ़कर है—'**अयं मे हस्तो भगवान्, अयं मे हस्तो भगवत्तरः।**'

इसका मतलब है कि जिसके पास हाथ है, उसको ईश्वरकी ओर देखनेकी और यह कहनेकी जरूरत नहीं है कि हमारे लिए यह कर दो, वह कर दो। अरे बाबा, तुम अपने हाथका उपयोग करो और जो कुछ भी करो, ईश्वरके लिए करो।

श्रीकृष्णने यही किया और अपना हाथ इन्द्रको दिखाते हुए बोले कि तुम व्रजवासियोंको कष्ट दे रहे हो तो लो, मैं तुम्हारे सिरपर पहाड़ रख देता हूँ। श्रीकृष्णने ऐसा इसलिए किया कि मनुष्यके हाथमें इन्द्रदेवताका निवास है; अतः उनके अभिमानको चूर-चूर करनेके लिए उन्होंने गोवर्द्धन पहाड़ उठाया और अपने हस्तेन्द्रियरूप इन्द्रके सिरपर रख दिया। फिर कहा कि इसको उठाओ बेटा ! मैं नहीं उठाता, तुम्हीं उठाओ और तबतक उठाओ जबतक तुम्हारा अभिमान चूर-चूर नहीं हो जाता !

अब तो इन्द्र लज्जित हो गये। उन्होंने मेघोंको बर्षा बन्द करनेकी आज्ञा दे दी और व्रजकी रक्षा हो गयी। आप लोग यह कथा जानते ही हैं।

जब श्रीकृष्ण द्वारा गोवर्द्धनको हाथपर उठाये सात दिन हो गये तब ग्वाल-बालोंने कहा कि तुमने तनिक भी विश्राम नहीं किया कन्हैया ! एक हाथपर पहाड़ लिये खड़े हो, तुम्हारा हाथ दुःखता होगा। अब थोड़ी देरके लिए श्रीदामाके हाथमें पहाड़ दे दो। हम तुम्हारे इस बायें हाथको जरा दबा दें, जिससे कि इसमें रक्तका संचार ठीक-ठीक होने लगे। यदि तुमको श्रीदामाके हाथमें पहाड़ देनेसे अपनी हेठी मालूम पड़ती हो तो उसको मत दो। दाहिने हाथपर पहाड़ रख दो। इससे बाँये हाथ को आराम मिल जायेगा।

श्रीकृष्णने कहा कि भाइयो, तुमलोग मेरी चिन्ता मत करो। तुमसे नहीं रहा जाता तो तुम अपने-अपने हाथ, अपनी-अपनी लाठियाँमें लगा दो। मुझे आराम मिल जायेगा।

इसीलिए जब ग्वाल-बाल तैशमें आते थे तब कहते थे कि अरे ओ कन्हैया, तुमने गिरिराजको अकेले थोड़े ही उठाया था। हमने भी तुम्हारे साथ-साथ अपने-अपने हाथ लगाये थे, अपनी-अपनी लाठियाँ लगायी थीं।

इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान्‌की कृपा प्राप्त करनेके लिए मनुष्यको अपना-अपना सहारा लगानेकी, अपना-अपना प्रयास करनेकी भी जरूरत होती है उसके बिना साधकका काम नहीं चलता।

जब इन्द्रका मान-मर्दन हो गया तब वे कामधेनुके साथ आये। उन्होंने भगवान्‌की स्तुतिकी और उनको गोविन्द-पदपर, उपेन्द्र पदपर अभिषिक्त किया। लेकिन कामधेनु तो कह बैठी कि इन्द्र देवताओंके इन्द्र रहें तो रहें, हम सब गौएँ इन्द्रको अपना इन्द्र नहीं मानेंगी। तबसे गौओंके इन्द्र स्वर्गके इन्द्र नहीं, साक्षात् भगवान् गोविन्द-गोपाल गौओंके इन्द्र हैं।

इसके बाद देवता तो श्रीकृष्णके अनुकूल हो ही गये, सब-के-सब गोप भी अनुकूल हो गये। इसी बीचमें श्रीकृष्णकी महिमा प्रकट करनेवाला एक और प्रसंग उपस्थित हो गया।

वह प्रसंग यह था कि एक दिन नन्दबाबा बड़े तड़के उठकर यमुनाजीमें स्नान करने गये। उस दिन द्वादशी तिथि थी, नन्दबाबाको समयपर एकादशी व्रतका पारण करना था, इसलिए उन्होंने जल्दी यमुना-स्नान करके कोई अशास्त्रीय काम नहीं किया था। टीकाकारोंका यह विवेचन बिल्कुल ठीक है कि उस समय नन्दबाबाका यमुना-स्नान सर्वथा शास्त्र-सम्मत था।

लेकिन वहाँ जो असुर रहता था, उसने नन्दबाबाको पकड़ लिया और वरुण-लोकमें ले गया। इधर व्रजमें यह खबर फैल गयी कि नन्दबाबा स्नान करते समय यमुनामें डूब गये। इससे समस्त व्रज-वासियोंमें शोककी लहर फैल गयी। श्रीकृष्ण सब कुछ जानते थे, वे यमुनाजीमें कूद पड़े और भीतर-ही-भीतर वरुण लोक पहुँच गये। वरुणने श्रीकृष्ण का सम्मान किया, उनकी पूजा की। नन्दबाबा वहाँ पहलेसे ही मौजूद थे ही। वरुण द्वारा श्रीकृष्णकी पूजा-अर्चा होते देखकर आश्चर्य चकित हो गये और मन-ही-मन बोलेकि अरे, हमारा बेटा इतना बड़ा है कि देवतालोग भी इसकी पूजा अर्चा करते हैं। श्रीकृष्ण नन्दबाबाको लेकर व्रजमें लौट आये।

जब ग्वालबालोंने सुना तब वे सब श्रीकृष्णपर नाराज हुए और उलाहना देते हुए बोले कि नन्दबाबा तुम्हारे बाप हैं, इसलिए तुम उनको उनके डूबनेका बहाना बनाकर वरुण-लोक दिखा लाये। लेकिन हम लोगोंको तुमने नहीं दिखाया।

श्रीकृष्णने कहा कि अच्छा बाबा, तुमलोग नाराज मत होओ। चलो तुमलोगोंको उससे भी अच्छा लोक दिखा लाता हूँ। वे सब ग्वाल-बालोंको वैकुण्ठ-लोक ले गये। वहाँ श्रीकृष्ण तो अपने सिंहासनपर विराजमान हो गये और ग्वाल-बाल दूर बैठकर दृश्य देखने लगे। उन्होंने देखा कि एक ओर ब्रह्माजी आकर श्रीकृष्णकी स्तुति कर रहे हैं और दूसरी ओर शंकरजी शान्त होकर समाधि लगाये हुए हैं। लक्ष्मी देवीकी यह स्थिति है कि वे श्रीकृष्णके भयसे काँप रही हैं।

ग्वाल-बालोंने लोगोंसे पूछा कि हम अपने श्रीकृष्णके पास कैसे पहुँचें ? उनको उत्तर मिला कि यहाँ तुम उनके पास नहीं जा सकते। ग्वाल-बालोंने कहा कि अच्छा हम पास नहीं जा सकते तो यह बताओ कि श्रीकृष्णकी बाँसुरी कहाँ है ? उनका मोर-मुकुट कहाँ है ? उनकी छड़ी कहाँ है ? हमें कुछ भी दिखायी नहीं देता।

जब ग्वाल-बालों को इसका कोई उत्तर नहीं मिला तब उन्होंने कहा कि हम यहाँ रहकर क्या करेंगे ? हम तो व्रजमें ही रहेंगे। इसके बाद वे श्रीकृष्णके साथ व्रजमें लौट गये।

इस प्रकार सबकी अनुकूलता प्राप्त कर लेने और सबपर अपना प्रभाव स्थापित कर लेनेके बाद वह दिन आगया, जिस दिन रास-लीला होती थी। श्रीशुकदेवजी महाराज उसका वर्णन प्रारम्भ करते हुए कहते हैं-

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः।। १०-२९-१

देखो, रास का अर्थ रसोंका समूह होता है। रस-स्वरूप श्रीकृष्ण का परमानन्द ही रासके रूपमें प्रकट हुआ है–'रसानां समूहो रासः। रस एव रासः। रसो वै सः। रसं लब्ध्वा आनन्दी भवति'। क्योंकि रस-पान करनेवाले जितने अधिक होंगे, उतने ही अधिक आनन्दका विस्तार होगा और वह अनन्त हो जायेगा। इस निश्चयके अनुसार श्रीकृष्णने गोपियाँ बनायीं, गोप बनाये और दिव्य वृन्दावन बनाया। फिर उनकी रास-लीला प्रारम्भ हुई।

रास-लीला कोई साधारण लीला नहीं है। उसके पहले गोपियोंके संन्यासका वर्णन है। गोपियाँ सब कुछ छोड़कर श्रीकृष्णकी शरणमें गयीं। श्रीकृष्णने पूर्वमीमांसा और धर्मका पक्ष लेकर गोपियोंके आगमनका निषेध किया। लेकिन गोपियोंने उत्तरमीमांसाका प्रश्न उठाकर श्रीकृष्णके निषेधको पूर्व पक्ष बना दिया और स्वयंको उपनिषद्के उत्तर पक्षमें स्थापित कर दिया। वहाँ धर्म और मर्यादाके नियम लागू नहीं होते। गोपियोंने कहा–

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं
सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्।
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्
देवो यथाऽऽदिपुरुषो भजते मुमुक्षून्।। १०-२९-३१

यह गोपियोंका प्रणय-गीत है। इसमें उन्होंने अपना स्वरूप प्रकट किया और कह दिया कि श्रीकृष्ण, तुम्हारे बिना न हमारे प्राण हैं, और न हमारे जीवन हैं।

इस प्रकार गोपियोंने श्रीकृष्णसे जो कुछ कहा, उसका वर्णन यहाँ समयाभावके कारण नहीं किया जा सकता। आपलोग मूल ग्रन्थ पढ़कर समझ सकते हैं। मैं इतना ही कहूँगा कि गोपियोंकी व्यथा देखकर अन्तमें आत्माराम श्रीकृष्णने उनकी बात स्वीकार कर ली और वे उनके साथ क्रीड़ा करने लगे। उन्होंने ऐसी व्यवस्था की कि सब गोपियाँ एक साथ उनकी क्रीड़ाका स्वाद लें।

अब क्रीड़ा करते-करते गोपियाँ यह समझने लगीं कि संसारमें अन्य स्त्रियोंकी अपेक्षा वही श्रेष्ठ हैं-यह उनकी भूल थी। क्योंकि अपने प्रियतमको छोड़कर दूसरेकी ओर अथवा अपनी ओर देखना—दूसरे शब्दोंमें परमात्माको छोड़कर अहं और इदंपर दृष्टि डालना प्रेममें बाधक है। तत्त्वज्ञानके प्रसंगमें भी अहं और इदंकी यही स्थिति है। यदि अहं स्पष्ट है तो मुख्य समानाधिकरणसे और यदि आभास मात्र है तो अहं-इदं दोनोंके बाध सामानाधिकरणसे ब्रह्मत्वका बोध होता है।

तो जब गोपियाँ श्रीकृष्णके साथ विहार करती-करती अपने अहंका स्मरण करने लगीं तब रासमें विघ्न उपस्थित हो गया। विघ्न यह उपस्थित हो गया कि श्रीकृष्ण गोपियोंको अपने मैं-की ओर देखते देखकर उनका गर्व और मान दूर करनेके लिए अन्तर्धान हो गये—

> **तासां तत् सौभागमदं वीक्ष्य मानं च केशवः।**
> **प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत।।**
>
> **१०-२९-४८**

जब मनुष्य अपने मैं को देखने लगता है तब अपरिच्छिन्न परमात्माका दर्शन बन्द हो जाता है। चाहे परिच्छिन्न इदंको देखो, चाहे परिच्छिन्न अहं को देखो, परिच्छिन्नता तो परिच्छेद सामान्यात्यन्ताभावसे अधिष्ठानमें दिखायी पड़ने के कारण दृष्ट ही नहीं है। अपने अधिकरणमें जिसका अभाव होता है, वह वस्तु सच्ची नहीं होती। इसलिए जब गोपियाँ अपने-आपको देखने लग गयीं तब भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन बन्द हो गया। फिर तो वे व्याकुल हो गयीं।

देखो, जीवके जीवनमें विरह भी आता है, संयोग भी आता है। संयोगमें सुख होता है और विरहमें दुःख होता है। लेकिन विरह भी एक प्रेम है और संयोग तो प्रेम है ही। जीवको दोनों दशाओंमें भगवान्‌के साथ कैसे रहना चाहिए-यह बात गोपियोंने अपने जीवनमें दिखायी है।

भगवान्‌श्रीकृष्णके अन्तर्धान होनेपर गोपियाँ व्याकुल होकर पहले वृक्ष-

वनस्पतियों आदि से पूछती फिरीं, फिर पागलोंकी तरह श्रीकृष्णकी लीलाएँ करने लगीं। अन्तमें जब श्रीराधारानीकी प्राप्ति हुई तब उनको इस बातका ख्याल हुआ कि यदि हम श्रीकृष्णकी खोज वनमें करती फिरेंगी तो वे हमसे दूर भागते फिरेंगे, जिससे उनको कष्ट होगा, इसलिए सब-की-सब गोपियाँ यमुनाजीके तटपर जाकर एकत्र हो गयीं और वहाँ गीत गाने लगीं, जो 'गोपी-गीतके नामसे प्रसिद्ध है।

यह 'गोपी-गीत' चित्र काव्य है। इसको ऐसे ढ़ंगसे लिखा जाता है कि इससे चित्र बन जाता है, तस्वीर बन जाती है। क्योंकि इसमें अक्षरोंके वैसे ही नियम हैं। प्रायः सातवाँ अक्षर वही होता है, जो पहला होता है और दूसरे अक्षर भी अधिकांश मिलते हैं। छन्दकी दृष्टिसे इसका नाम है 'कनकमंजरी'। आप भी इस गोपी-गीतका थोड़ा सा रसास्वादन कीजिये—

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि।
दयित दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते।।

१०-३१-१

गोपियाँ कहती हैं कि प्यारे श्रीकृष्ण, तुम्हारे प्रकट होनेसे व्रजकी महिमा बढ़ी है। तुमने अनेक-अनेक भयोंसे हमारी रक्षा की है। लेकिन आज तुम हमको अपनी आँखोंसे मार रहे हो—क्या यह हमारा वध नहीं है ? एक बार हमें दीख जाओ, जिससे कि हम मरनेके पहले तुम्हारा दर्शन कर लें। तुम केवल गोपीनन्दन नहीं हो, साक्षात् अन्तर्यामी परमात्मा हो। तुम हमें अपने मुखारविन्दका दर्शन अवश्य कराओ, अपने चरणाविन्द से हमारा स्पर्श करो। हमारे सिरपर अपना हाथ रख दो। हमको अपने अधरामृतका पान कराओ। हम तुम्हारी ही कथा सुन-सुनकर जीवित रही हैं। अब तुम्हारे बिना हम एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकतीं।

प्रहसितं प्रिय प्रेमवीक्षणं विहरणं च ते ध्यानमंगलम्।
रहसि संविदो या हृदिस्पृशः कुहक नो मनः क्षोभयन्ति हि।।

१०-३१-१०

प्यारे, तुम्हारी वह प्रेमभरी चितवन, तुम्हारा वह उन्मुक्त हास्य, तुम्हारी वह मीठी-मीठी वाणी हमारे हृदयोंको मुग्ध कर रही है। हमें दुःख तो इस बातका है कि तुम अँधेरे में छिप रहे हो, तुम्हें कहीं कोई काँटा न लग जाय, कुश न गड़ जाय और तुम्हें कहीं कोई पीड़ा न पहुँच जाय। इस दुःखसे हमारे हृदय फटे जा रहे हैं। तुम्हीं हमारे जीवन हो, तुम्ही हमारे प्राण हो, तुम्हीं हमारे सर्वस्व हो।

इस प्रकार विलाप करती हुई गोपियाँ जब फूट-फूटकर रोने लगीं तब श्रीकृष्ण प्रकट हो गये। वे न तो पेड़पर से उतरे, न पहाड़परसे आये, न यमुनामें-से निकले, क्योंकि वे तो गोपियोंके बीचमें ही थे—

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः।। १०-३२-२

भगवान् श्रीकृष्ण मुस्कराते हुए बोले कि अरी गोपियो , तुम लोग रोज मुझको कितना तंग करती थीं ? आज मैंने अपनेको जरा-सा-छिपा लिया तो यह दशा हो गयी ? अब तुमलोग फिर कभी मान मत करना।

अब तो गोपियोंने अपने प्रियतम श्रीकृष्णका बड़ा भारी स्वागत-सत्कार किया, यमुना-तटपर अपनी-अपनी ओढ़नी बिछाकर आसन बनाया और उसपर श्रीकृष्णको बैठाया। फिर वे उनसे प्रेम सम्बन्धी बातचीत करने लगीं।

अब आगेका प्रसंग आपको कल सुनाया जायेगा।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

: ११ :

जब प्रेमसे भगवान्‌का ध्यान होता है तब उनके प्रेमियों और कृपा-पात्रोंका भी ध्यान हो जाता है। यहाँतक कि भगवान् जिन वृक्ष-लताओंका स्पर्श करते हैं, जिस भूमि पर विचरण करते हैं, उनका भी ध्यान हो जाता है। ध्यानमें जो वस्तुएँ आती हैं, उनमें लौकिक-भौतिक जड़ वस्तु नहीं होती, वे तो ध्यानकी वस्तुएँ होती हैं। इसीलिए उन सबको चिन्मय कहते हैं। यह ज़ो इन्द्रियोंका राज्य है और जिसमें हम लोग व्यवहार करते हैं, वह हमको एक विलक्षण सृष्टिमें पहुँचा देता है। इसलिए ध्यानकी महिमा है।

तो चलो वृन्दावनकी उस दिव्य प्रेमभूमिमें, जहाँ कलके प्रसंगके अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण यमुनातट पर रासलीलाके लिए उद्यत बैठे हैं। वहाँ भगवान् निर्गुण नहीं सगुण हैं, निराकार नहीं साकार हैं और देवता नहीं, मनुष्यरूपमें हैं, परन्तु हैं सर्वांग-सुन्दर ! वहाँ गोपियाँ अपने हृदयमें भगवान्‌के लिए जिस आसनकी कल्पना करती हैं, वह आसन नहीं है, बल्कि उनकी ओढ़ी हुई ओढ़नियाँ हैं—जो एक-पर-एक बिछी हैं, उनके आँसुओंसे भीगी हैं और जिनमें उनके वक्षस्थल का चन्दन-केसर लगा हुआ है। वही आसन भगवान्‌के लिए बिछा है। ऐसा आसन भगवान्‌को और कहाँ मिलेगा ? उस आसन पर विराजमान हैं पीताम्बरधारी मुरलीमनोहर, मोरमुकुटवाले, साँवरे-सलोने व्रजराज-कुमार ! किसी गोपीने उनके पाँव पकड़ रखे हैं और किसीने उनके हाथोंको अपने हाथोंमें ले रखा है-इसलिए कि वे फिरसे कहीं भाग न जायें।

अब गोपियोंके मनमें कुछ प्रश्न करनेकी जिज्ञासा हुई। जैसे ब्रह्मविद्यामें जिज्ञासाका महत्त्व है, वैसे ही रस-विद्यामें भी है। गोपियोंने पूछा कि प्यारे श्यामसुन्दर, कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो प्रेम न करने वाले से प्रेम करते हैं, कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो प्रेम करने वालेसे भी प्रेम करते हैं और कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो दोनोंसे प्रेम नहीं करते। बताओ उनमें सबसे श्रेष्ठ कौन है ?

भजतोऽनुभजन्त्येक एक एतद्विपर्ययम्।
नोभयांश्च भजन्त्येक एतन्नो ब्रूहि साधु भोः।।१०.३२.१६

श्रीकृष्णने उत्तर दिया कि गोपियों सुनो ! जो प्रेम करने पर प्रेम करते हैं, वे तो संसारी लोग हैं। जो प्रेम न करने वालेसे प्रेम करते हैं, वे— माता-

पिता और सन्त ! वे केवल अपनी करुणासे ही प्रेम करते हैं, उनकी दृष्टिमें तुम प्रेम करो तो बहुत बढ़िया, न करो तो बहुत बढ़िया, लेकिन वे अपनी ओरसे सबके ऊपर प्रेम करते हैं। जो दोनोंसे प्रेम नहीं करते, वे कौन होते हैं, इसको तुमलोग समझो।

भजतोऽपि न वै केचिद् भजन्त्यभजतः कुतः।
आत्मारामा ह्याप्तकामा अकृतज्ञा गुरुद्रुहः।।१०.३२.१९

दोनोंसे प्रेम न करने वाले चार प्रकारके होते हैं-एक तो वे हैं, जो समाधिमें लगे रहते हैं। उनको पता ही नहीं कि कौन तो उनसे प्रेम करता है और कौन नहीं करता ? दूसरे वे होते हैं, जिन्हें परमात्माकी प्राप्ति हो गयी रहती है, जो व्यवहारमें संलग्न हैं, जिनको सबमें परमात्मा दीखता रहता है और जिनकी दृष्टि समदर्शी होती है। तीसरे लोग वे होते हैं, जिनको पता ही नहीं कि हमसे प्रेम करने वाला कौन है, कौन नहीं है अथवा जो पागल हैं। और चौथे वे हैं, जो गुरुद्रुह हैं, भयंकर अपराधी हैं। ऐसे लोग न तो प्रेम करनेवालेसे प्रेम करते हैं और न नहीं करनेवालेसे प्रेम करते हैं। वे तो केवल स्वार्थी होते हैं और दूसरोंको दुःख देते रहते हैं।

यह सुनकर गोपियोंने एक दूसरेकी ओर देखा और वे आपसमें ही बोलीं कि सखी, फिर हमारे ये श्यामसुन्दर इनमें से कौन हैं ? ये न तो आत्माराम हैं, न आप्तकाम हैं और न अकृतज्ञ हैं। फिर कौन हैं ? क्या ये भयंकर अपराधी हैं, जो हमारे प्रेम करने पर भी हमसे प्रेम नहीं करते ? गोपियोंके इस व्यंगका उत्तर देते समय श्रीकृष्णने अपना दुपट्टा अपने हाथमें ले लिया और कहा-

नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून् भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये।
यथाधनो लब्धधने विनष्टे तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद।।
१०.३२.२०

गोपियों, मैं ऐसा नहीं हूँ, जैसा तुम समझती हो। मैं प्रेम करनेवालोंसे इसलिए प्रेम नहीं करता कि उनका प्रेम केवल बाहर-ही-बाहर न रहे, बल्कि उनके हृदयमें, रोम-रोममें व्याप्त हो जाय।

अपनी इस बातको स्पष्ट करनेके लिए श्रीकृष्णने गोपियोंको समझाया कि मान लो किसी निर्धन व्यक्तिको सहसा बहुत-सारा धन मिल गया और वह उसको पाकर बहुत खुश हुआ। उस धनमें उसकी आसक्ति हो गयी और उससे उसका प्रेम हो गया। लेकिन उसके बाद उसका धन खो गया। अब उसकी क्या स्थिति होगी ? वह पहले जैसे बिना धनके रहता था, वैसे उससे रहा नहीं जायेगा। वह उस धनके लिए रोयेगा, व्याकुल होगा।

इसी प्रकार मैं जो एक बार मिलकर बिछुड़ जाता हूँ, उसका उद्देश्य अपने प्रति प्रेमीका प्रेम बढ़ाना ही होता है। मैं एक बार सामने आकर आँखोंसे ओझल इसीलिए होता हूँ कि देखनेवालेके दिलमें जाहिर हो जाऊँ, प्रकट हो जाऊँ।

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृंखलाः संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना।।
१०.३२.२२

प्यारी गोपियों, तुमने मेरे लिए लोक छोड़ा, परलोक छोड़ा, अपना स्वार्थ छोड़ा, सब कुछ छोड़ा और मुझसे प्रेम किया। अब तुम्हारा प्रेम कच्चा नहीं रहना चाहिए, पक्का हो जाना चाहिए। इसीलिए मैंने तुमको वियोग दिया, क्योंकि बिना वियोगके संयोगकी पुष्टि नहीं होती-

न विना विप्रलम्भेन सम्भोगो पुष्टिमश्नुते।

रही बात मेरी, सो तो मैं तुम्हारा ऋणी हूँ गोपियों ! यदि मैं ब्रह्माकी तथा अपनी ईश्वरीय आयुसे अनन्त कालतक भी तुमलोगोंके ऋणको उतारनेका प्रयास करूंगा तो कभी तुम्हारे प्रेमसे उऋण नहीं हो सकता।

श्रीकृष्णके मुँहसे यह सब सुनकर गोपियोंके हृदयमें जो विरह-व्यथा थी, वह दूर हो गयी और रास-नृत्य प्रारम्भ हो गया। रास-नृत्यके तीन रूप होते हैं। पहला रास-नृत्य यह है कि एक कृष्ण हैं और अनेक गोपियाँ हैं, माने एक नट है और अनेक नटी हैं। इसको हल्लीसक नृत्य कहते हैं। नाट्यशास्त्रकी परिभाषाके अनुसार एक ही नट इतनी फुर्तीसे ताललय पर नाचता है कि सब नटियोंको उसके सामीप्यका बोध होता है और वे समझती हैं कि नट मेरे साथ ही नृत्य कर रहा है।

दूसरे प्रकारके रास-नृत्यमें दो नटियाँ और एक नट होता है—'तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः।' इसमें एक नटीके कन्धे पर एक ही नटका हाथ पड़ता है। एक बायें होता है, दूसरा दायें होता है। इसमें कोई रसाभास नहीं होता।

परन्तु तृतीय प्रकारके रास-नृत्यमें जितनी गोपियाँ होती हैं, उतने ही श्रीकृष्ण होते हैं, क्योंकि वे अपने योग-बल से उतने ही रूप धारण कर लेते हैं—

कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः।

इस तृतीय प्रकारके रास-नृत्यका आध्यात्मिक स्वरूप देखो। जैसे कोई जिज्ञासु पुरुष वेदान्तका श्रवण-मनन करके निदिध्यासन कर रहा हो, उसमें एकके बाद दूसरी ब्रह्माकार वृत्तियाँ उदित तथा शान्त होती रहती हों और

दोनोंके मध्यमें सामान्य चेतन बार-बार साक्षात् दर्शन दे रहा हो, वही स्वरूप है इस नृत्यका ! इसमें भावाकार और ब्रह्माकार वृत्तियोंकी जो सन्धि है, वह साक्षात् ब्रह्म है और वही यह रास-नृत्य बन गया है-

पादन्यासैर्भुजविधुतिभिः सस्मितैर्भ्रूविलासै-
र्भज्यन्मध्यैश्चलकुचपटैः कुण्डलैर्गण्डलोलैः।।
स्विद्यन्मुख्यः कबररशनाग्रन्थयः कृष्णवध्वो
गायन्त्यस्तं तडित इव ता मेघचक्रे विरेजुः।।१०.३३.८

नृत्यके समय गोपियोंके पाँव आगे-पीछे पड़ रहे हैं। कभी मुस्कराती हैं, कभी भौहें मटकाती हैं। नाचते-नाचते उनकी कमर लचक जाती है। उनके वस्त्र सरक जाते हैं। कानोंके कुण्डल हिल-हिलकर कपोलों पर आ जाते हैं। नाचनेके परिश्रमसे उनके मुँह पर पसीनेकी बूँदें झलक रही हैं। उनके केशोंकी चोटियाँ ढीलीं पड़ गयी हैं। इस प्रकार नटवर नन्दलालकी प्रेयसी गोपियाँ उनके साथ गा-गाकर नाच रही हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीकृष्णके अनेक रूप तो साँवले-साँवले मेघ-मण्डल हैं, मेघ-चक्र हैं और उनके बीच-बीचमें गौरवर्णा गोपियाँबिजलीकी तरह चमक रही हैं।

गोपियाँ कौन हैं ? कृष्णवधू हैं, ये श्रीकृष्णका वहन करती हैं-'वहन्ति इति वध्वः।' जहाँ-जहाँ गोपी जाती हैं, वहाँ-वहाँ श्रीकृष्ण जाते हैं। बाँध लेनेवाली का नाम भी है वधू 'वध्नन्ति इति वध्वः।' जो अपने पतिको अपने भुज-पाशमें बाँध ले, उसका भार उठा ले, उसका नाम है वधू।

तो श्रीकृष्णके साथ गोपियोंका नृत्य देखकर चराचर जगत् आश्चर्यचकित है। काम-शास्त्रोंमें जितने बन्धनोंका वर्णन है,वे सब प्रकट हो रहे हैं। सब कुछ हो रहा है, परन्तु श्रीकृष्ण आत्माराम हैं। उनके चित्तमें विकार नहीं है। में-में, पें-पें करनेवाले संसारी लोग जैसे जरा-सा निमित्त प्राप्त होनेपर विकृत हो जाते हैं, वैसे श्रीकृष्णके मनमें कोई विकार नहीं है, क्योंकि वे अविकारी हैं। उन्होंने कामको कैद करके रास-विलासका आयोजन किया है।

जब रास-विलास सम्पन्न हो गया तब श्रीकृष्णने गोपियोंको उनके घर भेज दिया। यहाँ परीक्षितके मनमें शंका हुई और उन्होंने पूछ दिया कि भगवान् श्रीकृष्णने जो रास-विलास किया, वह धर्म-रक्षाके अन्तर्गत कैसे आ सकता है ?

श्रीशुकदेवजी महाराजने उत्तर दिया कि देखो, संसारके समग्र प्राणियोंके मनको अपनी ओर आकृष्ट करनेके लिए ही भगवान् श्रीकृष्णका मनुष्यावतार हुआ है। इसलिए यदि जीवन्मुक्त और कामी-से-कामी भी उनकी ओर आकृष्ट

न हो जाये तो उनकी लीलाका रस-रहस्य ही क्या रहेगा ? उनके अवतारका उद्‌देश्य यही है कि जो जहाँ हैं, जैसे हैं, वे वहाँसे वैसे ही उनकी ओर आकृष्ट हो जायें। विषयी विषय देखकर, अर्थी अर्थ देखकर कामी काम देखकर और जीवन्मुक्त उनको अपनी आत्माके रूपमें आस्वादन करके उनकी ओर आकृष्ट हों। सबको संसारकी ओरसे आकृष्ट करके अपने प्रेममें मग्न करनेके लिए ही भगवान् का अवतार हुआ है।

परन्तु सावधान ! भगवान्‌की इस लीलाका अनुकरण किसी मनुष्यको मनसे भी नहीं करना चाहिए। क्योंकि यदि शंकरजी के अतिरिक्त अन्य कोई विष-पान करेगा तो वह मर जायेगा-

नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः।
विनश्यत्याचरन् मौढ्याद्यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम्।।

१०.३३.३१

श्रीशुकदेवजी महाराज आगे कहते हैं कि जब जीव तत्त्वज्ञान हो जानेके बाद जीवन्मुक्त हो जाता है, उसके लिए कर्म-बन्धन नहीं रहता तब जिसमें कभी कर्म-बन्धन हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं उसके लिए कर्म-बन्धनकी कल्पना करना सर्वथा मिथ्या नहीं तो और क्या है ?

यत्पादपंकजपरागनिषेवतृप्ता योगप्रभावविधुताखिलकर्मबन्धाः।
स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमानास्तस्येच्छयाऽऽत्तवपुषः कुत एव बन्धः।।

१०.३३.३५

अन्तमें श्रीशुकदेवजी महाराज रास-लीलाकी फलश्रुति बताते हुए कहते हैं कि जो व्रज-वधुओंके साथ श्रीकृष्णकी इस क्रीड़ाका श्रवण-दर्शन श्रद्धापूर्वक करता है, इसको सत्य समझकर, आस्तिक्य बुद्धिसे ग्रहण करता है, उसकी कामाक्रान्त वृत्तिका निवारण हो जाता है और उसे पराभक्तिकी प्राप्ति होती है-

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः।। १०.३३.४०

देखो, इस बातको बार-बार दुहरानेमें कोई हर्ज नहीं है कि अत्यन्त विषयी शृंगार-रसासक्त पुरुषको भी अपनी ओर खींचनेके लिए ही भगवान्‌ने ऐसी लीला की, जिससे कि उस लीलाका श्रवण करके मनुष्यका मन संसार से उठ जाय, दोष-दृष्टि किये बिना ही, विवेक किये बिना ही वैराग्य हो जाय और भगवान् में मन लग जाय।

यदि त्वं-पदार्थके विवेक से वैराग्य आता है तो तत्पदार्थके विवेकसे वैराग्य क्यों नहीं आयेगा ? जैसे त्वं-पदवाच्यार्थका विचार करने पर संसारसे वैराग्य होता है, वैसे ही तत्पदवाच्यार्थका विचार करने पर भी मन संसारकी ओरसे हटकर भगवान्‌में लग जाता है। त्वं-पदार्थका जो नित्यानित्यसे विलक्षण विवेक होता है, वही तत्पदार्थका भी विवेक है और उसी विवेकका नाम होता है भक्ति। आत्मा-अनात्माके विवेकमें श्रद्धा न हो तब भी काम चलेगा, लेकिन जब ईश्वरका विवेक होगा तब परोक्ष वस्तुको स्वीकार करनेके लिए श्रद्धाकी आवश्यकता पड़ेगी। उसी श्रद्धासे पराभक्ति होती है और उसी पराभक्तिसे काम-रूप हृदयरोग सदासर्वदाके लिए निवृत्त हो जाता है।

महारासके बाद ब्रजवासियोंने अम्बिका-वनकी यात्रा की और वहाँ पशुपति भगवान् शंकर तथा देवीकी पूजा की। लेकिन उस अम्बिका-वनमें एक बड़ा भारी अजगर रहता था। उसने नन्दबाबाको पकड़ लिया। नन्दबाबा बहुत घबराये। अन्तमें श्रीकृष्णने अपने पाँवसे उस अजगरका स्पर्श किया तो वह मुक्त हो गया। वह पूर्वजन्मका विद्याधर था जो ऋषियोंके शापसे अजगर हो गया था। उसने श्रीकृष्णकी स्तुति की। उसके बाद सब लोग श्रीकृष्णका गुणगान करते हुए व्रजमें लौट आये।

वसन्त ऋतु आने पर बलरामजी और श्रीकृष्ण दोनों भाई मिलकर नृत्यगान करने लगे। गोपियाँ उसे देख-सुनकर मुग्ध हो गयीं और वे भी उस नृत्यगानमें सम्मिलित हो गयीं। उस नृत्यगानकी ऐसी परम्परा चली कि वह अभीतक चली आ रही है। अहीर लोग बसन्त और शरद् दोनों ऋतुओंमें गाँव-गाँव और मुहल्ले-मुहल्लेमें नृत्यगान करते हैं।

एक बार जब बलरामजी और श्रीकृष्ण गोपियोंके साथ नृत्यगान कर रहे थे, शंखचूड़ नामक असुर आया और वह गोपियों को उठाकर भाग खड़ा हुआ। गोपियाँ डरके मारे रो-रोकर चिल्लाने लगीं। बलरामजी और श्रीकृष्णके द्वारा पीछा करने पर शंखचूड़ने गोपियोंको तो छोड़ दिया तथा प्राण बचानेके लिए भागने लगा। बलरामजी गोपियोंकी रक्षा के लिए उनके पास रह गये, लेकिन श्रीकृष्ण उसका पीछा करते रहे। अन्तमें उन्होंने उसको मार दिया और उसके सिरसे मणि निकालकर बलरामजी को दे दी।

शंखचूड़-बधके बाद युगल-गीतका प्रसंग आता है। यह गोपियों द्वारा गाये गये पाँच प्रेमगीतोमें चौथा गीत है। इसके आदि, अन्तके दो श्लोकोंको छोड़कर शेष पच्चीस श्लोक युगल-गीतके हैं। इनमें क्या है ? श्रीकृष्णके सम्बन्धमें गोपियोंका परस्पर वार्तालाप है। जब श्रीकृष्ण-गोचारणके लिए वनमें चले जाते तब गोपियोंका चित्त भी उनके साथ चला जाता और वे वाणीसे

उनकी लीलाओंका वर्णन करती रहतीं। आप उनके वार्तालाप की बानगी देखिये-

वामबाहुकृतवामकपोलो वल्गितभ्रुरधरार्पितवेणुम् ।
कोमलांगुलिभिराश्रितमार्गं गोप्य ईरयति यत्र मुकुन्दः।।
व्योमयानवनिताः सह सिद्धैर्विस्मितास्तदुपधार्य सलज्जाः।
काममार्गणसमर्पितचित्ताः कश्मलं ययुरपस्मृतनीव्यः।। १०.३५.२.३

गोपियाँ आपसमें कहती हैं अरी सखी, हमारे प्यारे श्यामसुन्दर अपने प्रेमीजनोंको तो प्रेम बाँटते ही हैं, द्वेष रखनेवालोंको मोक्षतक प्रदान कर देते हैं। वे जब अपनी बाँसुरीको अपने अधरों से लगाकर, उसके छेदों पर अंगुलियाँ फिराते हुए मधुर-मधुर तान छेड़ते हैं तब उसे सुनकर औरोंकी तो क्या कहें, बड़े-बड़े सिद्धोंकी पत्नियाँ भी अपने-अपने पतियोंके साथ विमानों पर चढ़कर आकाशमें आ जाती हैं और बेसुध हो जाती हैं।

इस प्रकारकी चर्चाओं द्वारा गोपियाँ अपना समय व्यतीत करती थीं। उनका मन हर समय श्रीकृष्णमें ही लगा रहता था। वे श्रीकृष्णमयी हो गयी थीं। श्रीकृष्णकी लीलाओं तथा उनके गायनसे सारे व्रजमें आनन्दोल्लास छाया रहता था।

ऐसे ही अवसर पर एक दिन वृषभका, बैलका रूप धारण करके अरिष्टासुर आ गया। वृषभ कहते हैं धर्मको। धर्म मनुष्यकी कामना पूर्तिके लिए होता है। वह कामधुक है, जो चाहिए उससे प्राप्त कर लीजिये। परन्तु जब उसमें आसुर भावका आवेश हो जाता है तब वह भगवान् तथा उनके भक्तों को ही मारनेके लिए तैयार हो जाता है। असुर भावाक्रान्त वृषभने भी वही किया। इसलिए भगवान्ने उसको पीछे ढकेला और अन्ततोगत्वा उसका वध कर दिया।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित भगवान्की लीला बड़ी अद्भुत है। तुम जानते ही हो कि नारदजी कितने भगवत्परायण हैं और किस प्रकार लोगोंको भगवान्के दर्शन कराते रहते हैं। उनको कुछ ऐसा सूझा कि वे अरिष्टासुरके वधके उपरान्त कंसके पास पहुँच गये और उसको कह दिया कि देखो कंस, जो कन्या तुम्हारे हाथसे छूटकर आकाश में चली गयी थी, वह नन्द-यशोदाकी कन्या थी। वसुदेव-देवकीके पुत्र तो बलराम-कृष्ण हैं और उन्होंने ही तुम्हारे असुरोंका वध किया है।

यह सुनकर कंस अत्यन्त क्रुद्ध हो गया। उसने वसुदेव-देवकी को मारनेके लिए तलवार निकाल ली। लेकिन नारदजीने समझाया कि ऐसा मत करो, युक्तिसे काम लो।

यह कहकर नारदजी चले गये। कंसने वसुदेव-देवकीके फिर जेलमें डाल दिया और केशी आदि असुरोंको बुलाकर कहा कि तुम बलराम-कृष्णको मार डालो। केशीने कंसकी आज्ञा स्वीकार की और वह श्रीकृष्णको मारनेके लिए व्रजमें पहुँच गया। केशी हयग्रीव जैसा हिनहिनाने वाला था। उसने अपनी हिनहिनाहटसे व्रजमें आतंक मचा दिया। लेकिन भगवान् श्रीकृष्णके आगे उसकी क्या चलती ? उन्होंने उसके मुँहमें अपना हाथ ठूँस दिया, उसकी साँस रुक गयी और वह निष्प्राण हो गया।

केशीका वध हो जानेके बाद नारदजी भगवान् श्रीकृष्णके पास पहुँचे और एकान्तमें उनकी स्तुति करते हुए बोले—प्रभो, यह बड़े आनन्दकी बात है कि आपने खेल-खेलमें ही घोड़ेके रूप में रहने वाले केशी दैत्यको मार डाला। वह इतना भयंकर था कि उसकी हिनहिनाहट सुनकर देवता लोग स्वर्ग छोड़कर भाग जाया करते थे। अब मैं परसों आपके हाथों चाणूर-मुष्टिक, कुवलयापीड़ हाथी और स्वयं कंसको मरते देखूंगा-

चाणूरं मुष्टिकं चैव मल्लानन्यांश्च हस्तिनम्।
कंसं च निहतं द्रक्ष्ये परश्वोऽहनि ते विभो।।१०.३७.१६

इसके बाद नारदजीने उन असुरोंका भी नामोल्लेख कर दिया, जिनका वध श्रीकृष्णके द्वारा होने वाला था। यहाँतक कि द्वारका-निवासके समय भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा जो-जो कार्य सम्पन्न होने वाले थे, उन सबका उल्लेख भी वे कर गये। फिर भगवान्से विदा लेकर उन्होंने वहाँसे प्रस्थान किया।

नारदजीके इस भविष्य-वाचनमें किसी को आश्चर्य इसलिए नहीं होना चाहिये कि वे त्रिकालदर्शी हैं। उनको भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों का ज्ञान रहता है।

नारदजीके चले जानेके बाद श्रीकृष्ण ग्वाल-बालोंके साथ पशु-पालनके काममें पूर्ववत् लग गये और विविध क्रीड़ाओं द्वारा व्रजवासियोंको परमानन्द प्रदान करने लगे। एक दिन जब वे ग्वालबालोंके साथ लुकाछिपी का खेल खेल रहे थे तब व्योमासुर ग्वालबाल का रूप बनाकर आया और खेलमें सम्मिलित हो गया। वह बड़ा मायावी था। खेल-खेल में ग्वालबालों को चुरा-चुराकर पहाड़की गुफामें छिपा आता था। जब ग्वाल-बालोंकी संख्या कम हो गयी तब श्रीकृष्णको व्योमासुरकी करतूत समझमें आ गयी। उन्होंने झपटकर व्योमासुर को दबोच लिया और उसका गला घोंटकर मार डाला। फिर वे गुफा में ग्वाल-बालोंको बचा लाये।

इस प्रकार जब केशी-व्योमासुरका भी वध हो गया तब कंसने सोच

विचारकर धनुष-यज्ञके बहाने बलरामजी और श्रीकृष्णको मथुरा बुलानेकी योजना बनायी। वह अक्रूरसे मिला और उनसे हाथ मिलाकर बोला कि 'मुझसे तुम्हारी बड़ी मित्रता है।' तुम ब्रजमें जाओ और वहाँसे मेरे शत्रु बलराम-कृष्णको मथुरा बुला लाओ। मैं उनको कुवलयापीडसे मरवा डालना चाहता हूँ। यदि वे कुवलयापीडसे बच भी गये तो उनको चाणूर-मुष्टिक मार डालेंगे। फिर तो यह पृथिवी निष्कंटक हो जायेगी और यहाँ हम दोनोंका शासन रहेगा।

अक्रूर बोले कि आपकी योजना तो बहुत अच्छी है, लेकिन आगे क्या होगा—यह कौन जानता है। फिर भी मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा।

देखो, यदि कंस भगवान् श्रीकृष्णको मथुरा लानेके लिए किसी क्रूर व्यक्तिको भेजता तो वे कैसे आते? क्रूरका अर्थ हिंसक होता है और अक्रूर होता है वह व्यक्ति, जिसमें हिंसाका लेश भी न हो। अक्रूरता ही भगवान्‌को लाती है, हृदयकी निर्मलता और सरलता ही उन्हें प्रसन्न करती है। चित्तका टेढ़ापन भगवानको कभी प्रसन्न नहीं करता।

ज़ब अक्रूर रथारूढ़ होकर मथुरासे ब्रजके लिए चले तब उनके मनमें आया कि अहो, आज मुझको भगवान् राम-कृष्णके दर्शन मिलेंगे। मैं उनको देखते ही रथसे कूद पड़ूँगा और उनके चरणोंमें लोट जाऊँगा। फिर वे मेरे सिरपर अपने कर-कमल रक्खेंगे और मेरा सत्कार करेंगे।

इस प्रकार अक्रूरका ऐसा मनोराज्य स्थापित हुआ कि उनको रथका पथ ही भूल गया। वे मथुरा चले सबेरे और ब्रजमें पहुँचे शामको। यद्यपि उनका रथ बड़ा तेज चल रहा था, परन्तु जब चालक रास्ता ही भूल जाय तब क्या हो?

ब्रजमें पहुँचते ही अक्रूरको बलराम-कृष्णके दर्शन हो गये। वे दोनों भाई गो-दोहन स्थलपर विराजमान थे। उनको देखते ही अक्रूर अपने मनोराज्यके अनुसार रथपरसे कूद पड़े और राम-कृष्णके चरणोंमें धरतीपर लोट-पोट हो गये। उनकी आँखोंसे आँसू आगये। उनका शरीर रोमाञ्चित और हृदय प्रेम-गद्‌गद हो गया। बड़ी भारी रसानुभूति हुई उनको !

भगवान् श्रीकृष्णने अक्रूरको उठाकर हृदयसे लगा लिया। बलरामजीने भी उनको गलेसे लगाया और फिर दोनों भाई उनके दोनों हाथ पकड़कर उन्हें घर ले गये।

घरपर नन्दबाबाने अक्रूरका बड़ा भारी स्वागत किया। कुशल-मंगलके पश्चात् एक गाय लाकर उनके सामने खड़ी की गयी। क्योंकि अतिथिके आने पर उनके सामने गाय होनी चाहिए और यह प्रकट करना चाहिए कि इस

गायका दुग्ध-दही घी सब आपके लिए है। अतिथि सत्कारमें गायका निवेदन आवश्यक है। इसके बाद अक्रूरके पैर दबाकर उनकी थकावट दूर की गयी और उनको सुस्वादु भोजन कराया गया-

निवेद्य गां चातिथये संवाह्य श्रान्तमादृतः।
अन्नं बहुगुणं मेध्यं श्रद्धयोपाहरद् विभुः।।१०.३८.३६

इस प्रकार सेवा-सत्कारके पश्चात् जब सबलोग इधर-उधर हो गये तब राम-कृष्ण अक्रूर के पास आये। अक्रूरने उनको मथुराकी सब कथा कह सुनायी। पहले तो राम-कृष्ण हँसने लगे, फिर बोले कि चाचाजी, सब बातें लोगोंको मालूम न हों। आप तो सबसे यही कहिये कि मथुरा में धनुष-यज्ञ हो रहा है और बड़ा भारी दंगल होने वाला है। उसको देखनेके लिए कंसने आप सबको आमन्त्रित किया है। अक्रूरने राम कृष्णकी बात मान ली और वैसा ही कहा। नन्दबाबा ने डौंडी पिटवाकर सारे गाँवको सूचना दे दी और कहला दिया कि कल प्रातः दूध, दही, घी लेकर मथुरा चलना है।

लेकिन जब गोपियोंने राम-कृष्णके मथुरा जानेकी बात सुनी तब उनको बड़ा कष्ट हुआ, क्योंकि अबतक उनको उनका वियोग नहीं हुआ था। वे कहने लगे कि हे विधाता, तुम बड़े निर्दय हो। पहले तो तुम प्राणियोंको मिला देते हो, परन्तु उनकी आशा-अभिलाषा पूरी होनेके पहले ही उनको अलग-अलग कर देते हो। तुम्हारा यह खिलवाड़ बच्चोंके खेलकी तरह है—

अहो विधातस्तव न क्वचिद् दया
संयोज्य मैत्र्या प्रणयेन देहिनः।
तांश्चाकृतार्थान् वियुनङ्क्ष्यपार्थकं
विक्रीडितं तेऽर्भकचेष्टितं यथा।।१०.३९.१९

गोपियोंने आगे कहा कि हे विधाता, हम जानती हैं कि जो कुछ हो रहा है, इसमें अक्रूरका कोई दोष नहीं है। यह तो केवल तुम्हारी क्रूरता है। तुम्हीं अक्रूरके नामसे यहाँ आये हो और अपनी ही दी हुई आँखें हमसे छीन रहे हो ! तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए-

क्रूरस्त्वमक्रूरसमाख्यया स्म नश्चक्षुर्हि दत्तं हरसे बताज्ञवत्।
येनैकदेशेऽखिलसर्गसौष्ठवं त्वदीयमद्राक्ष्म वयं मधुद्विषः।।
१०.३९.२१

इस प्रकार उद्‌गार प्रकट करती हुई गोपियाँ श्रीकृष्णके विरहकी सम्भावनासे व्याकुल हो गयीं और 'हे गोविन्द, हे दामोदर, हे माधव' पुकार-पुकारकर रोने लगीं। रोते-रोते सारी रात बीत गयी।

दूसरे दिन प्रातःकाल नित्य कर्मसे निवृत्त होकर अक्रूरने अपना रथ जोड़ा और बलराम-कृष्ण, यशोदा मैया तथा अन्य गोपियोंको रोती बिलखती छोड़कर ऐसे चल पड़े, मानों कोई तमाशा देखने जा रहे हों। उनके रथके पीछे नन्दबाबा तथा उनका परिकर भी अपने-अपने छकड़ों पर दूध-दही-घी आदि लादकर चल पड़ा। लेकिन रथ और छकड़ोंकी चालका क्या मुकाबला ! रथ तो चला गया यमुनातट की ओर और छकड़े सीधे मथुराकी ओर चल गये।

मार्गमें अक्रूरके मनमें आता था कि मैं जो इन बालकोंको उस हत्यारे कंसके पास ले जा रहा हूँ, यह मुझसे बड़ा पाप तो नहीं हो रहा है ! भगवान्ने उनके इस मनोभावको ताड़ लिया। इसलिए जब अक्रूर यमुनाजीके किनारे रथको एक ओर खड़ा करके स्नान करने लगे तब भगवान्ने जलके भीतर ही उनको अपने शेषशायी नारायण-स्वरूप का दर्शन करा दिया। अक्रूरने उनकी स्तुति करते हुए कहा कि महाराज, मैं तो माया-मोहित हूँ। आपको क्या पहचानूँ ? सभी शास्त्र आपकी आराधनाके लिए हैं। आपने अनेक अवतार धारण किये हैं। सारी चराचर सृष्टि आपमें कल्पित है।

इसके बाद अब अक्रूर यमुना-जलसे बाहर निकले तब श्रीकृष्णने उनसे पूछा कि चाचाजी आप चकित क्यों हैं ? क्या आपने कुछ आश्चर्य देखा है ? अक्रूर बोले कि बाबा, जब तुमको ही देख लिया तब और आश्चर्य देखना क्या बाकी रहा ?

अब जब स्नानादिसे निवृत्त होकर राम-कृष्ण रथ द्वारा मथुरा पहुँचे तब उन्होंने देखा कि नन्दबाबा आदि तो अपने छकड़ोंके साथ पहले ही पहुँच गये हैं और उनका डेरा-डण्डा भी लग गया है। वहाँ श्रीकृष्णने अक्रूरसे कहा कि चाचाजी, अब आप मथुरा जाइये। अक्रूर बोले कि तुमलोग भी मेरे घर चलो। लेकिन श्रीकृष्ण ने कहा कि नहीं चाचाजी, हमलोग अपना सब काम पूरा करके ही आयेंगे।

इस पर अक्रूर अनमने होकर चले गये। उन्होंने कंसको बलराम-कृष्णके मथुरा आनेका समाचार सुना दिया और फिर अपने घर पहुँच गये।

दूसरे दिन तीसरे पहर बलरामजी और कुछ ग्वाल-बालोंको साथ लेकर श्रीकृष्ण मथुरा नगर में प्रविष्ट हुए। उन्होंने मथुरा नगरका जो वैभव और सौन्दर्य देखा, उसका वर्णन आप लोग श्रीमद्भागवतमें पढ़ सकते हैं। एक आदर्श नगरीके रूपमें प्रतिष्ठित थी मथुरा !

जब बलराम-कृष्णने मथुरामें प्रवेश किया तब सबसे पहले मिला कंसका धोबी ! वह कोई साधारण धोबी नहीं था। सैकड़ों धोबी उसके सहायक थे

और बड़े-बड़े वाहनों पर धुले-बिनधुले कपड़े अलग-अलग ले जाये जाते थे।

उस धोबीको देखकर श्रीकृष्णने कहा कि तुम्हारे पास हमारे पहनने योग्य जो भी कपड़े हों, हमें दे दो। लेकिन वह धोबी बड़ा मदान्ध था। इसलिए वस्त्र देना तो दूर रहा, उलटे धमकाने लगा। श्रीकृष्णको वस्त्रोंकी तो कोई जरूरत थी नहीं, उनका लक्ष्य तो मथुरामें आतंक फैलाना था। इसलिए जब वह धोबी आड़ी-टेढ़ी बातें करने लगा तब श्रीकृष्णने उसको ऐसा तमाचा जमाया कि उसका सिर धड़से अलग होकर गिर पड़ा। अब तो कोलाहल मच गया और लोग कहने लगे कि व्रजसे आये हुए ये बालक कितने ढीठ हैं ! जब इन्होंने धोबीके साथ ऐसा व्यवहार किया है तब पता नहीं कंसके साथ कैसा व्यवहार करेंगे ?

बलराम-कृष्ण ग्वाल-बालोंके साथ और आगे बढ़े तो सुदामा नामक एक मालीके घरमें अपने-आप घुस गये। उसने उनका खूब स्वागत-सत्कार किया। भगवान् उस पर प्रसन्न हो गये और उन्होंने उसको वरदान दे दिया कि तुम्हारे घरमें लक्ष्मी बढ़ेगी।

अब आपलोग यह देखिये कि श्रीकृष्णके अबतक के व्यवहारका परिणाम क्या निकला ? यह परिणाम निकला कि कंसके नौकर-चाकर तो श्रीकृष्णसे डर गये, लेकिन खेती-बाड़ी और बाग-बगीचोंका काम करने वालोंके हृदयमें उनके प्रति पक्षपात हो गया।

वहाँसे आगे बढ़े श्रीकृष्ण तो उनको मार्गमें मिल गयी कुब्जा और उसे सम्बोधित करते हुए उन्होंने पुकारा, 'अरी ओ सुन्दरी' !

इसी को भक्ति-शास्त्रमें भगवान्‌का अनुग्रह बोलते हैं। यदि ईश्वर जीवन पर अनुग्रह न करें तो ईश्वरकी ईश्वरता ही क्या है ? यदि साधना करने वाले शुद्ध पुरुष ही परमात्माको प्राप्त कर सकते हैं तो अशुद्ध हैं, पतित हैं, पापी हैं, वे उनकी प्राप्तिके लिए क्या करें ? यदि ऐसे लोगोंके प्रति भगवान्‌के हृदयमें करुणा न हो तो उनका करुणा-वरुणालय नाम किस काम का ?

इसलिए श्रीकृष्ण कुब्जाको 'सुन्दरी' शब्दसे सम्बोधित करके स्वयं उसके पास गये। यदि वे निर्गुण ब्रह्म होते तो उसके पास नहीं जाते। क्योंकि वहाँ तो साधन-चतुष्टय-सम्पन्न होकर और स्वयं आवरण-भंग करके ही जीवको निर्गुण ब्रह्मका साक्षात्कार करना पड़ता है।

कुब्जा त्रिवक्रा थी—तीन जगहसे टेढ़ी थी। कोई-कोई उसको आध्यात्मिक दृष्टिसे कुण्डलिनी-शक्ति बोलते हैं। लेकिन मैं तो ऐतिहासिक कुब्जाकी ही बात कर रहा हूँ। वह कंसके यहाँ जा रही थी। उसके पास चन्दन, अंगराग आदि जो कुछ भी थे, वे सब कंसके शरीरमें लगानेके लिए

थे। उसने श्रीकृष्णकी ओर देखातक नहीं था। लेकिन जब स्वयं श्रीकृष्णने उसको सुन्दरी कह दिया तब अत्यन्त मुग्ध हो गयी

श्रीकृष्ण बोले कि, सुन्दरी, तुम्हारे पास जो चन्दन और अंगराग है, वह हमें भी दो। इससे तुम्हारा कल्याण होगा।

कुब्जाने कहा कि महाराज, इस अंगरागके लिए आप दोनों से बढ़कर उत्तम पात्र और कौन मिलेगा? इसलिए जितना लेना हो ले लीजिये।

राम-कृष्ण दोनों भाइयोंने उसका अंगराग स्वीकार कर लिया। श्रीकृष्णने प्रसन्न होकर अपने पाँव से कुब्जा के दोनों पाँव दबाये और उसकी ठुड्ढीमें हाथ लगाकर उसको ऐसा उचकाया कि वह खट्से सीधी हो गयी। उसकी मुखाकृति तो पहलेसे ही सुन्दर थी, वह सीधी होनेके बाद सर्वांग-सुन्दरी हो गयी।

अब यह सब देखकर मथुरामें जितनी भी स्त्रियाँ थीं, उन सबने कहा कि हमें 'ब्यूटी हाउस' जानेकी क्या जरूरत है ? हम सब तो इसीसे प्रेम करेंगी। क्योंकि यह खट्से असुन्दरको भी सुन्दर बना देता है। मथुरामें सम्भवतः आधी आबादी तो स्त्रियोंकी ही रही होगी और वे सबकी सब श्रीकृष्णके पक्षमें हो गयीं।

इसके बाद कृपामूर्ति श्रीकृष्ण बलरामजी के साथ आगे बढ़े और धनुष-यज्ञके स्थल पर पहुँच गये। वहाँ श्रीकृष्णने धनुषको तोड़ डाला और जब उसके रक्षक आक्रमण करने लगे तब फिर वे वहाँसे अपने डेरे पर लौट गये। वहाँ उन्होंने खीर आदिका भोजन किया और आरामसे सो गये।

लेकिन जब कंसने यह सब सुना तब उसकी नींद हराम हो गयी। उसको जाग्रत-स्वप्न दोनों ही अवस्थाओंमें अपशकुन हुए और वह अपनी सम्भावित मृत्युसे भयभीत हो गया।

लेकिन फिर भी कंसने अपनी कुटिल योजनाका परित्याग नहीं किया। प्रातःकाल रंगस्थलका निर्माण करवाया और उसके द्वारपर धरतीको हिला देनेकी शक्तिवाला कुवलयापीड़ खड़ा करवा दिया। चाणूर-मुष्टिकको भी तैयार कर दिया।

इधर बलराम-कृष्णको भी कंसकी कुटिल योजनाका पता लग गया था। वे लोग रंगस्थलके द्वार पर अपनी मस्तानी चालसे पहुँच गये। उन्होंने कुवलयापीड़को मार दिया। उसके दोनों दाँत उखाड़कर अपने अपने कन्धे पर रख लिए और वे उसी वेशमें, शरीर पर पड़े हुए खून के छींटों सहित रंग-स्थलके भीतर घुस गये।

वहाँ रंग-स्थलमें जितने भी स्त्री-पुरुष उपस्थित थे, सबने अपनी-अपनी भावनाके अनुसार बलरामजी और श्रीकृष्णके दर्शन किये-''जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।' स्त्रियोंको काम, कंस और उसके पक्षके लोगोंको मृत्यु और विद्वानोंको विराट् रूपमें श्रीकृष्ण दिखायी पड़े। सामान्य दर्शकोंको उनका दर्शन करके ऐसा लग रहा था कि मानों नवों रस मूर्तिमान् होकर उनके सामने खड़े हों।

उसके बाद मल्ल-युद्ध प्रारम्भ हुआ और उसमें चाणूर-मुष्टिक आदि सभी मारे गये। मथुराके लोग श्रीकृष्णका शौर्य देखकर मुग्ध हो गये। सबकी सहानुभूति श्रीकृष्णके पक्षमें हो गयी।

लेकिन कंस, जो अपने सामन्तोंके साथ बड़े ऊँचे आसन पर बैठा था, क्रुद्ध हो गया और बड़बड़ाने लगा—पकड़ो इन दोनों बालकोंको मार डालो इनको !!

इतने में श्रीकृष्ण धीरेसे उछलकर उनके मंच पर चढ़ गये। कंस उठकर खड़ा हो गया। उसने अपनी तलवार निकाल ली, लेकिन श्रीकृष्णको तो किसी हथियारकी जरूरत थी नहीं। उन्होंने व्रजमें असुरोंको मारते समय किसी हथियारका उपयोग नहीं किया था—पूतनाको मुँहसे चूस लिया, चक्रवातका गला दबा दिया, बकासुरके चोचोंको हाथसे फाड़ दिया। इस प्रकार किसी भी असुरपर हथियार उठानेकी आवश्यकता नहीं पड़ी। इसलिये उन्होंने कंसकी चोटी पकड़ ली और उसको ऐसा धक्का दिया कि वह मंच पर से नीचे गिर पड़ा। उसके साथ-साथ श्रीकृष्ण भी कूदकर उसकी छाती पर चढ़ गये। इससे कंस इतना भयभीत हो गया कि उसका हार्टफेल हो गया ! श्रीकृष्णने न तो उसको घूँसा मारा, न थप्पड़ जमाया और न लात मारी। बिना प्रहार के ही डरके मारे उसके हृदयकी धड़कन इतनी बढ़ गयी कि वह अपने आप ही मर गया।

उसके बाद श्रीकृष्णने सबको समझा बुझाकर कंसकी अन्त्येष्टि क्रिया करवायी। फिर वे देवकी-वसुदेवके पास गये और उनको जेलसे छुड़ाया। देवकी-वसुदेवको उनके चतुर्भुज रूपका स्मरण हो आया। वे सोचने लगे कि अरे ये तो चतुर्भुज भगवान् हैं। इसलिए उन्होंने श्रीकृष्णको हृदयसे नहीं लगाया।

श्रीकृष्ण बोले कि पिताजी, माताजी, हमसे बड़ा अपराध हो गया, जो हमने आपकी सेवा नहीं की। जो पुत्र शक्ति रहते अपने माता-पिताकी सेवा नहीं करता, वह कभी कल्याण-भाजन नहीं हो सकता। दुष्ट कंसने आपको

इतने कष्ट दिये, लेकिन हमने अपनी पराधीनताके कारण आपकी कोई सहायता नहीं की।

यह सुनते ही वसुदेव-देवकीका हृदय भर आया। उन्होंने बलराम-कृष्णको अपनी गोदमें बैठा लिया और अपने आँसुओंसे उनका अभिषेक करने लगे। लेकिन उनका गला इतना रुँध गया कि वे कुछ बोल नहीं सके।

माता-पितासे मिलनेके बाद श्रीकृष्णने उग्रसेनको जेलसे छुड़ाया, उन्हें फिरसे राजा बनाया और कहा कि आप आजसे हमारे राजा हैं। हम आपके सेवक हैं। अब कोई आपका कुछ बिगाड़ नहीं सकता। हम आपके आज्ञाकारी अनुचरके रूपमें आपके पीछे खड़े हैं।

इस प्रकार श्रीकृष्णकी प्रेरणासे उग्रसेनका राज्य पुनः स्थापित हो जाने पर मथुराके लोग इतने प्रसन्न हुए कि जो बूढ़े थे जवान हो गये। किसीको कोई रोग-शोक अथवा दुःख-दैन्य नहीं रहा। मथुरा में सभी सौन्दर्य-माधुर्य प्रकट हो गये। चारों ओर श्रीसमृद्धि छा गयी। वास्तवमें जहाँ साक्षात् लक्ष्मीपति भगवान् निवास करते हों, वहाँ श्रीसमृद्धिका अभाव कैसे हो सकता है।

अब श्रीकृष्ण बलरामजीके साथ नन्दबाबाके डेरे पर पहुँचे, उनके गले लग गये और एकान्तमें बोले कि बाबा, हमारे सच्चे पिता तो आप ही हैं, क्योंकि आपने ही हमारा पालन-पोषण किया है। अब आपसे प्रार्थना है कि आप व्रजमें लौट जाइये। हम जानते हैं कि हमारे बिना आप लोगोंको बड़ा कष्ट होगा। लेकिन इस समय मथुरा के सुहृद्-सम्बन्धियोंको भी सुखी करना बड़ा जरूरी है। उसके बाद हम लोग आप लोगोंसे मिलने आयेंगे।

यह सुनकर नन्दबाबाको ऐसा लगा, मानो उन पर वज्रपात हो गया हो। उनकी वाणी बन्द हो गयी। वे चुपचाप आँसू पीकर रह गये। उन्होंने अपने छकड़े जुड़वाये और गोपों सहित व्रज लौट गये।

वहाँ यशोदा मैया बलराम-कृष्णको नहीं देखकर सब कुछ समझ गयीं और नन्दबाबा से बोलीं कि अपने पुत्रोंको मथुरामें छोड़कर अकेले लौटते समय तुम्हारे प्राण क्यों नहीं निकल गये ?

नन्दबाबाने कहा कि महर, तुम ठीक कहती हो, मुझे वहाँ मर जाना चाहिए था। लेकिन सोचो तो सही, अगर मैं वहाँ मर जाता तो हमारे लालाको कितना दुःख होता ? अब जबतक वे हमें नहीं मिलेंगे तबतक हम घुल-घुलकर मरते रहेंगे। मरेंगे-जीयेंगे, जीयेंगे-मरेंगे, लेकिन इसकी खबर लालाके कानोंतक नहीं पहुँचने देंगे। जिस बातसे अपने प्यारेको कष्ट होता हो, वह बात उसे

कभी नहीं बतानी चाहिए। वह प्रेमी क्या, जो स्वयं तो पीड़ा न सहे, लेकिन प्रियतमको पीड़ा सहनेके लिए मजबूर करे?

इधर जब देवकी-वसुदेव स्वस्थ हुए तब उन्होंने अपने बलराम कृष्णका यज्ञोपवीत-संस्कार सम्पन्न करवाया और उनके जन्मके समय मन-ही-मन गोदान करनेका जो संकल्प किया था, उसके अनुसार दस हजार गौओंका दान किया।

उसके उपरान्त वसुदेवजी ने बलराम-कृष्णको शिक्षा-दीक्षाके लिए सन्दीपन मुनिके आश्रममें उज्जैन भेज दिया। वहाँ दोनों भाई अनुशासन पूर्वक रहकर विद्याध्ययन करने लगे और उन्होंने थोड़े ही दिनोंमें समस्त विद्याओंका ज्ञान प्राप्त कर लिया। जब घर लौटनेका समय आया तब वे आचार्यजीके पास गये और उनसे विनम्रतापूर्वक बोले कि हम आपको क्या गुरुदक्षिणा दें? आचार्यजी दोनों भाइयोंकी अद्‌भुत महिमा और अनन्त शक्तिसे अवगत हो चुके थे। इसलिए उन्होंने अपनी पत्नीसे परामर्श करके कहा कि हमारा बालक प्रभास-क्षेत्रके समुद्रमें डूबकर मर गया था। तुमलोग उसको हमारे पास वापस ला दो। बलराम-कृष्णने उनकी आज्ञाके अनुसार उनके मृत पुत्रको यमलोकसे वापस लाकर उनकी आँखोंके सामने खड़ा कर दिया। फिर कहा कि महाराज, कुछ चाहिए तो माँग लीजिये।

गुरुजीने कहा कि पुत्रो, इससे बढ़कर दूसरी गुरुदक्षिणा और क्या होगी? जो तुम्हारे-जैसे पुरुषोत्तमोंका गुरु है, उसका कौनसा मनोरथ अपूर्ण रह सकता है? अब तुम लोग अपने घर जाओ। तुम्हें लोकपावनी कीर्ति प्राप्त हो। तुम्हारी पढ़ी हुई विद्या कभी विस्मृत न हो।

इस प्रकार गुरुजीसे आज्ञा-आशीर्वाद प्राप्त करके रामकृष्ण मथुरा लौट आये और वहाँके लोग बहुत दिनों बाद उनका दर्शन प्राप्त करके परमानन्दमें मग्न हो गये।

अब उद्धवजीके व्रजगमन का प्रसंग आता है। श्रीशुकदेवजी महाराज उद्धवजी का परिचय देते हुए कहते हैं-

वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री कृष्णस्य दयितः सखा।
शिष्यो बृहस्पतेः साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तमः।।१०.४६.१

परीक्षित, उद्धवजी वृष्णि-वंशियोंमें प्रधान पुरुष थे। साक्षात् वृहस्पतिजीके शिष्य और परम बुद्धिमान् थे। उनकी महिमाके सम्बन्धमें इससे बढ़कर बात और क्या हो सकती है कि वे भगवान् श्रीकृष्णके प्यारे सखा और सलाहकार भी थे। हरिवंश पुराणमें कहा गया है कि वसुदेवजीके एक भाईका नाम था देवभाग। उन्हींके पुत्र थे उद्धवजी। इसलिए वे श्रीकृष्णके चचेरे भाई भी लगते

थे। महाभारतके अनुसार वंश-परम्परामें उद्धवजी का नाम था वृहद्वल।

शाब्दिक दृष्टिसे उद्धवका अर्थ है—'उत्कृष्टो धवो यस्य।' जिसका स्वामी सर्वोत्कृष्ट हो, जो उत्सव-मूर्ति हो, श्रेष्ठ यज्ञमय हो और चलता फिरता भगवत्स्वरूप हो, उसका नाम है उद्धव।

एक दिन श्रीकृष्णने उद्धवजीसे एकान्तमें कहा कि तुम व्रजमें जाओ। वहाँ हमारे जो माता-पिता हैं, गोपी-गोप हैं, ग्वालबाल हैं, उनको मेरे वियोगका बड़ा भारी दुःख है। उसको जाकर मिटाओ।

यह सेवा प्राप्त करके उद्धवजीको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे रथारूढ़ होकर व्रजकी ओर गये। वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि व्रजमें तो बड़ा आनन्द है। घर-घरमें देवता और पितरोंकी पूजा हो रही है। सबके घरोंमें अग्नि-स्थापन है, सभी सानन्द हैं, सुखी हैं। गौएँ और बछड़े भी मस्त हैं और गोपियाँ गा रही हैं। फिर यहाँ श्रीकृष्णके वियोगका दुःख किसको है ?

बात यह थी कि सबके मनमें श्रीकृष्णके लौटनेकी आशा थी। सब समझते थे कि न जाने कब किस क्षण वे आ जायेंगे। फिर आकर देखेंगे कि उनकी गौएँ मुरझायी हुई हैं, घरोंमें स्वच्छता नहीं है और गोपियोंने बढ़िया वस्त्र नहीं पहन रखे हैं; तो उनको दुःख हो जायेगा। इसलिए उनको सुखी रखनेके लिए सब सुखी रहनेका नाट्य कर रहे थे। परन्तु सबके भीतर श्रीकृष्णके विरहकी ज्वाला जल रही थी।

उद्धवजी से मिलकर नन्दबाबा बहुत प्रसन्न हुए। उनको ऐसा लगा, मानो श्रीकृष्ण लौट आये हों ! उन्होंने उद्धवजीको खिलाया-पिलाया, विश्राम कराया और वे श्रीकृष्णकी लीलाओंका वर्णन करते हुए उनका कुशल-मंगल पूछने लगे। यशोदा मैया भी उनके पास ही बैठी थीं। लेकिन उन्होंने एक शब्द भी नहीं कहा। श्रीकृष्णकी एक-एक लीलाका स्मरण करके उनकी आँखोंसे आँसुओंकी और पुत्र-स्नेहकी बाढ़से स्तनोंसे दूधकी धारा बही जाती थी।

यशोदा वर्ण्यमानानि पुत्रस्य चरितानि च।
शृण्वन्त्यश्रूण्यवास्राक्षीत् स्नेहस्नुतपयोधरा।।१०.४६.२८

उद्धवजी श्रीकृष्णके प्रति नन्द-यशोदाका अनुराग देखकर आनन्द-मग्न हो गये और कहने लगे-नन्दबाबा और यशोदा मैया, आप लोग धन्य हैं, जो साक्षात् नारायण श्रीकृष्णके प्रति इतना वात्सल्य रखते हैं। लेकिन आपलोग खेद न करें। विचार करने पर आप लोग श्रीकृष्णको अपने पास ही देखेंगे। उनका न कोई प्रिय है, न अप्रिय है, वे सबके प्रति समान हैं।

दृष्टं श्रुतं भूतभवद्भविष्यत् स्थास्नुश्चरिष्णुर्महदल्पकं च।
विनाच्युताद् वस्तु तरां न वाच्यं स एव सर्वं परमार्थभूतः।।
१०.४६.४३

उद्धवजी ने कहा कि नन्दबाबा और मैया यशोदा, जो कुछ भी देखने सुननेमें आता है, जो कुछ भी हुआ है, हो रहा है और होगा जो कुछ भी जड़-चेतन है, जो कुछ भी बड़ा-छोटा है, वह श्रीकृष्णसे भिन्न नहीं है। सब कुछ साक्षात् श्रीकृष्ण ही हैं। सबके आत्माके भी आत्मा श्रीकृष्ण ही हैं।

इस प्रकार उद्धवजी नन्दबाबा और यशोदा मैयासे रात भर बातें करते रहे। दूसरे दिन प्रातःकाल गोपियाँ मिलीं। उन्होंने बहुत उलाहना दिया। फिर जब उद्धवजी उनसे एकान्तमें मिले तब एक गोपी ऐसी भावमग्न हो गयी कि उसने उड़ते हुए भँवरोंको भगवान्‌का दूत मान लिया और उसके माध्यमसे उद्गार प्रकट करने लगी। उसी का नाम भ्रमर-गीत पड़ गया। नन्ददास, सूरदास तथा दूसरे कवियोंने बड़े विस्तारसे उसका वर्णन किया है। भागवतमें भी मालिनी—छन्दके द्वारा उसका बड़ा सुन्दर वर्णन है-

मधुप कितवबन्धो मा स्पृशाङ्घ्रिं सपत्न्याः
कुचविलुलितमालाकुंकुमश्मश्रुभिर्नः।
वहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादं
यदुसदसि विडम्ब्यं यस्य दूतस्त्वमीदृक्।। १०.४७.१२

गोपी कहती है कि अरे ओ छलियाके मित्र, हमारे सामने मत खेल, अनुनय-विनय मत कर। तू स्वयं भी तो किसीसे प्रेम नहीं करता, यहाँ से वहाँ उड़ा करता है।

सकृदधरसुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा
सुमनस इव सद्यस्तयजेऽस्मान् भवादृक्।
परिचरति कथं तत्पादपद्मं तु पद्मा
ह्यपि बत हृतचेता उत्तमश्लोकजल्पैः।।१०.४७.१३

अरे भँवरे, जैसे तू फूलोंका रस लेकर छोड़ देता है, वैसे ही वे भी हैं। उन्होंने केवल एक बार अपना रस हम लोगोंको अवश्य दिया था। हाय-हाय लक्ष्मी कितनी भोली हैं कि उनके चरणोंकी सेवा करती हैं। वे उनकी चिकनी-चुपड़ी बातोंमें आ गयी होंगी।

यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुट्-
सकृददनविधूतद्वन्द्वधर्मा विनष्टाः।

सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना,
बहव इव विहंगा भिक्षुचर्यां चरन्ति।।१०.४७.१८

अरे भँवरे, उनका चरित्र सुनकर लोग घर-द्वार छोड़कर निकल जाते हैं। उनके माता-पिता रोते रह जाते हैं। उनकी पत्नी विलाप करती रह जाती हैं। परन्तु वे स्वयं भिखारी बन जाते हैं और पशु-पक्षियोंकी तरह वृक्षोंका आश्रय लेकर रहने लगते हैं।

इस प्रकार भ्रमर-गीतमें दस श्लोक हैं। इनमें प्रेम है, प्रणय है, स्नेह है, मान है, अनुराग है, भाव है, महाभाव है, अधिरूढ़ भाव है, मादन है, मोदन है। श्रीरूपगोस्वामीने इन दसों श्लोकोंके संजल्प, विल्प, चित्रजल्प आदि दस लक्षण बतायें हैं। चित्रजल्पमें गोपियाँ अपने प्रियतमके बारेमें चित्र-विचित्र बातें बोलती हैं।

गोपियोंका भाव देखकर उद्धवजी मुग्ध हो गये और कहने लगे कि अहो गोपियो, तुम धन्य हो, तुम्हारा प्रेम धन्य है। इस संसारमें दान, व्रत, तप, होम आदि विविध साधनोंके द्वारा भगवान्‌की भक्ति प्राप्त करनेका प्रयत्न किया जाता है। वह भक्ति ऋषि-मुनियोंके लिए भी दुर्लभ है। लेकिन तुमलोगोंने उस सर्वोत्तम प्रेम-भक्तिको प्राप्त करके उसका आदर्श स्थापित कर दिया है—

दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः।
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते।।
भगवत्युत्तमश्लोके भवतीभिरनुत्तमा।
भक्तिः प्रवर्तिता दिष्ट्या मुनीनामपि दुर्लभा।।

१०.४७.२४-२५

इसके बाद उद्धवजीने गोपियोंको श्रीकृष्ण-सन्देश सुनाया, जिसे सुनकर गोपियाँ बहुत प्रसन्न हुईं। उद्धवजी बहुत दिनोंतक व्रजमें रहकर श्रीकृष्णकी कथा कहते-सुनते रहे। उन्होंने श्रीकृष्णकी एक-एक लीलास्थली भी देखी। अन्तमें वे स्वयं इतने भाव-विभोर हो गये कि उनको भी यह उद्‌गार प्रकट करना पड़ा—

आसामहो चरणरेणजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्।।

१०.४७.६१

मेरे लिए सबसे अच्छी बात यही होगी कि मैं इस वृन्दावन-धाममें कोई

झाड़ी, लता या जड़ी-बूटी बन जाऊँ, जिससे कि इन गोपियोंकी चरण-धूलि मेरे ऊपर पड़ती रहे।

इन गोपियोंके लिए स्वजन छोड़ना, आर्य-पथ छोड़ना बड़ा मुश्किल था। ये स्वेच्छाचारिणी भी नहीं है। ऐसा भी नहीं कि इनका अपने परिवारके प्रति प्रेम नहीं है। ये तो अपने परिवारसे बड़ा प्रेम करती हैं। इनमें मर्यादा भी बहुत अधिक है। फिर भी इन्होंने श्रीकृष्णसे प्रेम करनेके लिए दुस्त्यज समाजका परित्याग कर दिया, यहाँतक कि अपना लोक परलोक, शरीर, स्वार्थ, सुख सब कुछ छोड़ दिया। धन्य हैं ये गोपियाँ !

अहो, जिन भगवान्‌को श्रुतियाँ ढूँढती रहती हैं, उनके चरण-चिह्नोंका सेवन इन गोपियोंने किया है। कितनी बड़भागिनी हैं ये।

देखो, श्रुतियाँ आत्माकी प्रधानता से प्रियताका निरूपण करती हैं। हम दूसरोंको तृप्त करनेके लिए प्रेम नहीं करते, आत्माको तृप्त करनेके लिए प्रेम करते हैं।

परन्तु यहाँ गोपियाँ तो अपने शरीर से प्रेम करती हैं—इसलिए कि यह श्रीकृष्णका शरीर है। गोपियोंका प्रेम ऐसा है कि जिसमें अभिमानकी गन्ध भी नहीं है। उनका तो यह हाल है कि उन्हें प्रपञ्चका विस्मरण हो गया है। वे श्रीकृष्णसे एक हो गयी हैं। उन्होंने प्रेमको पचा लिया है। वाणीका विषय नहीं बनाया है। उनमें प्रेमाभिमान भी नहीं है। वे तो सिर पर दही रखकर कहती फिरती हैं कि 'गोपाल लो ! गोपाल लो !' उनके रूपमें सम्पूर्ण स्नेह ही मूर्तिमान् हो उठा है—

ग्वालिनी प्रगट्यो पूरन नेहु।
दधिभाजन सिर पर लिए कहति गुपालहि लेहु।।

अन्तमें जब उद्धवजी मथुरा लौटने लगे तब नन्दबाबा आदि गोपोंने उनको बहुत-सारी भेंट-सामग्री दी और कहा-

कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया।
मंगलाचरितैर्दानै रतिर्नः कृष्ण ईश्वरे।।१०.४७.६७

उद्धवजी, हम नहीं जानते कि दूसरोंका ईश्वर कौन है, कैसा है- सगुण है, निर्गुण है, निराकार है या साकार है ? यह बात जो जानते हैं, वे जानें। हमारा ईश्वर तो श्रीकृष्ण है, इसलिए उसीमें हमारा मन लगा रहे—यही हम चाहते हैं।

जब उद्धवजी व्रजसे लौटकर मथुरा आये तब उन्होंने व्रजवासियोंकी दी हुई भेंट-सामग्री अन्य सबको तो दे दी, लेकिन श्रीकृष्णके सामने कोई भेंट-

सामग्री रखनेकी उनकी हिम्मत नहीं हुई। वास्तवमें व्रजवासियोंके प्रेमके सामने किसी भी भेंट-सामग्रीका क्या मूल्य है? व्रजके स्त्री-पुरुषोंकी तो कौन कहे, वहाँके तो वृक्ष भी मथुराकी ओर रुख करके श्रीकृष्णके लौटनेकी बाट जोहते हैं। व्रजकी लताओंसे भी इसीलिए मधुक्षरण होता है कि श्रीकृष्ण आकर उसका आस्वादन करें। वहाँकी गौओंकी आँखें भी इसीलिए मथुराकी ओर लगी रहती हैं कि श्रीकृष्ण आकर उनको प्यार करें, उनका पालन-पोषण करें।

उद्धवजीने श्रीकृष्णसे कहा कि आप तो बड़े कठोर हैं भगवन्! मैंने व्रजमें जाकर आँखोंसे देखा है और हृदयसे अनुभव किया है कि वहाँके लोग आपसे कितना प्यार करते हैं। फिर भी आप उन प्रेमियोंको छोड़ कर यहाँ आ गये।

इसके बाद श्रीकृष्णने उद्धवजीको दिखाया कि देखो, गोपियाँ जिस प्रकार मेरा ध्यान और स्मरण करती हैं, उसी प्रकार मेरा रोम-रोम भी गोपीमय हो गया है—'रोमरोम प्रति गोपिका !'

इसके बाद एक दिन भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवजीको साथ लेकर कुब्जाके घर गये। कुब्जाने बड़ा स्वागत-सत्कार किया। भगवान्‌ने उसको अभीष्ट वर दिया और वे उद्धवजीके साथ अपने घर लौट आये।

उसके कुछ समय अनन्तर श्रीकृष्ण बलरामजी और उद्धवजीके साथ अक्रूरजीके घर गये। अक्रूरजीने उनको आते देखकर उनकी अगवानी की। पहले अक्रूरजीने दोनों भाइयोंको नमस्कार किया और फिर दोनों भाइयोंने उद्धवजी सहित अक्रूरजीको प्रणाम किया। अक्रूरजीने राम कृष्णको श्रेष्ठ आसनों पर बैठाकर उनकी पूजा-अर्चा तथा स्तुति की और कहा कि आप लोगोंके पधारनेसे हमारा घर धन्य हो गया है।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा कि चाचाजी, आप एक बार हस्तिनापुर जाइये और वहाँसे हमारे सुहृद् पाण्डवोंका समाचार ले आइये। फिर मैं आपके द्वारा उनका समाचार जानकर ऐसा उपाय करूंगा, जिससे उन सुहृदोंको सुख मिले।

अक्रूरजी भगवान्‌की आज्ञानुसार हस्तिनापुर गये और वहाँ कुछ दिन रहकर उन्होंने कौरवों और पाण्डवों दोनोंकी परिस्थितियोंकी जानकारी प्राप्त की। उनको यह मालूम हो गया कि कौरवों द्वारा पाण्डवों पर बड़े-बड़े अत्याचार किये जा रहे हैं। जब वे पाण्डव-माता कुन्तीके पास गये तब कुन्ती उनको देखकर रोने लगीं। उन्होंने कहा कि अक्रूरजी, मैं शत्रुओंके बीच घिरकर शोकाकुल हो रही हूँ। मेरी वही दशा है, जो भेड़ियों के बीच हरिणीकी होती है। मेरे बेटे बिना बापके हो गये हैं। क्या हमारे श्रीकृष्ण कभी यहाँ आकर मुझको और मेरे इन अनाथ पुत्रोंको सान्त्वना देंगे ?

इतना कहते-कहते कुन्तीको ऐसा लगा कि श्रीकृष्ण उनके सामने ही खड़े हैं और वे कहने लगीं कि हे सच्चिदानन्द-स्वरूप श्रीकृष्ण, तुम महायोगी हो, विश्वात्मा हो, सारे विश्वके जीवनदाता हो ! हे गोविन्द, मैं अपने बच्चोंके साथ दुःख पर दुःख भोग रही हूँ। तुहारी शरणमें आयी हूँ। मेरी रक्षा करो, मेरी रक्षा करो, मेरे बच्चों को बचाओ।

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द शिशुभिश्चावसीदतीम्।।१०.४९.११

अक्रूरजीने कुन्तीको सान्त्वना देते हुए कहा कि आप चिन्ता मत कीजिये। आपके पुत्र अधर्मका नाश करनेके लिए पैदा हुए हैं। मैं भगवान् श्रीकृष्णको सब समाचार सुना दूँगा।

अब, जब अक्रूरजी मथुरा जाने लगे तब धृतराष्ट्रसे मिले और उनसे बोले कि महाराज, आप कुरुवंशियोंकी उज्ज्वल कीर्तिको और भी उजागर कीजिये। आप अपने भाई पाण्डुके परलोक सिधारने पर राजा बने हैं। इसलिए अपने पुत्रों और पाण्डवोंके साथ समानताका व्यवहार कीजिये। तभी आपको लोक-परलोकमें यश एवं सद्‌गतिकी प्राप्ति होगी, अन्यथा इसके विपरीत आचरण करने पर लोकमें निन्दा होगी और मरनेके बाद नरक में जाना पड़ेगा। यह दुनिया चार दिनकी चाँदनी है, सपनेका खिलवाड़ है। इसलिए अपने चित्तको काबूमें कीजिए और पक्षपातसे बचिये।

राजा धृतराष्ट्रने कहा कि अक्रूरजी, आप बात तो मेरे कल्याणकी कर रहे हैं। लेकिन मेरे चंचल चित्तमें आपकी यह शिक्षा तनिक भी ठहर नहीं रही है। मैंने सुना है कि सर्वशक्तिमान् भगवान् पृथिवीका भार उतारनेके लिए यदुकुलमें अवतीर्ण हुए हैं। इसलिए उनकी जैसी इच्छा होगी, वैसा ही होगा।

अक्रूरजी धृतराष्ट्रका अभिप्राय जान लेनेके बाद कौरव-पाण्डवोंसे प्रेमपूर्वक अनुमति लेकर मथुरा लौट आये और उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण तथा बलरामजीके सामने सारा समाचार कह सुनाया।

इसके बाद जरासन्धसे युद्ध और द्वारकापुरीके निर्माणका प्रसंग प्रारम्भ करते हुए श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित्, कंसकी दो पत्नियाँ थीं-एक का नाम था आस्ति और दूसरीका नाम था प्राप्ति-

अस्तिः प्राप्तिश्च कंसस्य महिष्यौ भरतर्षभ। १०.५०.१

देखो, आध्यात्मिक दृष्टिसे अस्ति-प्राप्तिका क्या अर्थ है ? अस्तिका अर्थ है कि हमारे पास इतना है और प्राप्तिका अर्थ है कि हमें इतना और मिलेगा। गीतामें इसका वर्णन है—'**इदमस्तीदमपि ते भविष्यति पुनर्धनम्।**'

अस्ति और प्राप्ति दोनों जरासन्धकी बेटियाँ थीं। जरासन्ध था तो दो टुकड़ोंमें, लेकिन जोड़कर एक बना दिया गया था। जरा नामक राक्षसीके द्वारा सन्धान करनेके कारण उसका नाम पड़ा जरासन्ध। यह देहाध्यास है। भागवतमें लिखा है जरासन्ध कर्म-बन्धन है। इसी कर्मबन्धनसे अस्ति-प्राप्तिके चक्करमें अभिमानी फँस जाता है।

तो, अस्ति-प्राप्ति दोनों अपने पिता जरासन्धके पास गयीं और उन्होंने उसको अपने पतिके मरनेकी कथा कह सुनायी। सुनकर जरासन्ध बड़ा क्रोधित हुआ। उसने तेईस अक्षौहिणी सेनाके साथ मथुरापर आक्रमण किया, परन्तु परास्त कर दिया गया। उसने सत्रह बार चढ़ाई की और हर बार श्रीकृष्ण-बलराम द्वारा उसे मुँहकी खानी पड़ी। क्यों न हो, जहाँ बलरामरूपी योग और श्रीकृष्णरूपी ज्ञान है, वहाँ जरासन्धका बल कैसे चल सकता है ?

लेकिन जरासन्ध अकेला नहीं था। इसलिए उसके पराजित हो जाने पर उसकी सहायताके लिए कालयवन आ गया। कालयवनको यह वरदान प्राप्त था कि जो उसके सामने आयेगा, उसको भागना पड़ेगा। श्रीकृष्ण इस बातको जानते थे। अतः उन्होंने मथुराकी रक्षाके लिए बलरामजी को नियुक्त कर दिया और स्वयं कालयवनके सामने आकर भाग खड़े हुए। कालयवन उनका पीछा करता-करता वहाँ पहुँच गया, जहाँ मुचुकुन्द सोये हुए थे। श्रीकृष्ण उन पर अपना दुपट्टा डालकर छिप गये। कालयवनने मुचुकुन्दको श्रीकृष्ण समझकर एक लात मारी। उससे मुचुकुन्दकी नींद टूट गयी और उनकी दृष्टि पड़ते ही कालयवन भस्म हो गया। श्रीकृष्ण मुचुकुन्दके सामने प्रकट हो गये। मुचुकुन्दने श्रीकृष्णको पहचान लिया और उनकी स्तुति की। श्रीकृष्णने मुचुकुन्दको अगले जन्ममें भक्त होनेका वरदान दिया और फिर वे वहाँसे मथुरा लौट आये।

मथुराके चारों ओर कालयवनकी सेनाने घेरा डाल रखा था और जरासन्ध भी अठारहवीं बार आक्रमण करनेकी तैयारी कर रहा था। इसलिए श्रीकृष्णने बलरामजीकी सलाहसे समुद्रके भीतर द्वारकापुरी का निर्माण किया और वहां रातों-रात अपने प्रियजनोंको पहुँचा दिया। फिर दोनों भाइयोंने कालयवन की सेनाका संहार करके उसकी सारी सम्पत्ति छीन ली।

उसी समय जरासन्धने समुद्रके समान उफनती तेईस अक्षौहिणी सेनाके साथ अठारहवीं बार मथुरा पर आक्रमण कर दिया। उसने कालयवनकी सेनासे छीनी हुई सारी सम्पत्ति लूट ली। जब अपवित्र धन घरमें आता है तब वह दुःखदायी हो जाता है। इसलिए श्रीकृष्णने उसे लुट जाने दिया।

श्रीकृष्ण-बलराम चाहते तो अठारहवीं बार भी जरासन्धको पराजित कर सकते थे। परन्तु उन्होंने हिंसा रोकने की दृष्टिसे इस बार युद्ध करना उचित नहीं समझा और बलरामजी के साथ नंगे पाँव भाग खड़े हुए। तभीसे उनका नाम रणछोड़ पड़ गया। भागते समय उन्होंने महात्माओंके आश्रममें भोजन किया, सत्संग किया और वे गिरिनार पहुँच गये। जरासन्ध भी उनका पीछा करता-करता वहाँ पहुँच गया। अन्तमें जब दोनों भाई पर्वतपर चढ़ गये तब जरासन्धने उसके चारों ओर आग लगवा दी। लेकिन श्रीकृष्ण-बलराम उस पर्वत पर से कूद पड़े और फिर द्वारका पहुँच गये।

देखो भाई ! चाहे श्रीकृष्ण हों चाहे श्रीराम, जब वे मनुष्य-शरीर धारण करके इस धरती पर आते हैं तब उनके जीवनमें भी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियाँ आती ही हैं। जो इनको सहकर निकलता है, वही महापुरुष होता है। श्रीकृष्ण प्रत्येक परिस्थितिमें मुस्कराते रहे। किसी भी परिस्थितिने उनको प्रभावित नहीं किया।

अब द्वारकामें सब व्यवस्था बैठ गयी, तब पहले बलरामजीका विवाह हुआ। क्योंकि शास्त्र-विधानके अनुसार बड़े भाईका विवाह पहले होना चाहिए। विवाह रेवतीके साथ हुआ, जो आनर्त देशके राजा रैवतकी कन्या थी।

कहा जाता है कि राजा रैवत अपनी पुत्री रेवतीके साथ ब्रह्माजीके पास गये और कहा कि आपकी सृष्टिमें जो सर्वश्रेष्ठ होगा उसीके साथ मैं अपनी कन्याका विवाह करूंगा।

ब्रह्माजी राजाकी बात पर हँसने लगे और बोले कि मेरे यहाँका तो एक ही मिनट बीता, लेकिन तुम्हारे तो युग-पर-युग बीत गये। अब तो न तुम्हारी राजधानी है और न वंशज हैं। तुम द्वारका जाओ और वहाँ अपनी कन्या रेवतीका विवाह बलरामजी से कर दो।

इस प्रसंगमें कथावाचक लोग कहते हैं कि रेवती बहुत लम्बी थी, क्योंकि वह सत्ययुगकी लड़की थी। बलरामजी द्वापरके थे, इसलिए रेवतीकी अपेक्षा बहुत छोटे थे। यह समस्या खड़ी हुई कि लम्बी लड़की और छोटे लड़केका विवाह कैसे हो ? बलरामजी बोले कि कोई बात नहीं, मैं ठीक कर देता हूँ। उन्होंने अपना हल उठाकर रेवतीके कन्धे पर लगाया और नीचेकी ओर खींचा तो रेवती बलरामजी के बराबर हो गयीं। लेकिन यह कथा श्रोताओंको हँसानेके लिए ही है। श्रीमद्भागवतमें ऐसा कहीं नहीं लिखा है।

जब बलरामजी का विवाह रेवतीके साथ हो गया तब श्रीकृष्णके विवाहोंका नम्बर आया। सबसे पहला विवाह हुआ रुक्मिणीके साथ, जो कुण्डिनके राजा भीष्मककी कन्या थी। भीष्मकका अर्थ होता है भयंकर समुद्र।

लक्ष्मी समुद्रकी पुत्री हैं, यह आप जानते ही हैं। रुक्मिणी भी स्वर्णलक्ष्मी थीं। इसीलिए वे उस भीष्मक-रूप समुद्रकी पुत्री थीं। उनका बड़ा भाई रुक्मी विष-जैसा था। समुद्रसे लक्ष्मीके पहले विष ही निकला था।

रुक्मी यह नहीं चाहता था कि उसकी बहिन रुक्मिणीका विवाह श्रीकृष्णके साथ हो। लेकिन रुक्मिणी चाहती थीं कि उनका विवाह उन्हींसे हो। क्योंकि वे उनकी महिमा और उनके सौन्दर्य-माधुर्यका वर्णन सुनकर उन पर मुग्ध थीं।

जब रुक्मीने रुक्मिणीका विवाह शिशुपालके साथ निश्चित कर दिया तब उन्होंने एक विश्वास-पात्र ब्राह्मणको अपने सन्देशके साथ श्रीकृष्णके पास भेजा। श्रीकृष्णने उस ब्राह्मणके आते ही अपना सिंहासन छोड़ दिया। उसी पर उसको बैठाया और अर्घ्य-पाद्यादिसे उसका सत्कार किया। फिर उससे पूछा कि ब्राह्मणदेवता, आप इतनी दूरका रास्ता तय करके आये हैं, इसलिए जरूर कोई-न-कोई सेवा मेरे लायक होगी। मैं जानता हूँ कि आप धनदौलतके लिए नहीं आये होंगे। क्योंकि ब्राह्मण तो सदा-सर्वदा सन्तुष्ट ही रहते हैं। इसलिए आप कृपया अपने आनेका कारण बताइये।

ब्राह्मणदेवताने कहा कि महाराज, रुक्मिणीने आपके पास विवाहका सन्देश भेजा है और कहा है—

श्रुत्वा गुणान् भुवनसुन्दर शृण्वतां ते
निर्विश्य कर्णविवरैर्हरतोऽङ्गतापम्।
रूपं दृशां दृशिमतामखिलार्थलाभं
त्वय्यच्युताविशति चित्तमपत्रपं मे।।१०.५२.३७

हे भवुनभूषण श्यामसुन्दर, मैंने लोगोंसे आपके गुण, रूप, सौन्दर्य, माधुर्य और शील-स्वभाव आदिके सम्बन्धमें सुना है। जो लोग आपके गुणोंका श्रवण करते हैं, उनके कानोंके रास्तेसे वे गुण हृदयमें प्रवेश कर जाते हैं और उनसे उनके अंग-अंगका ताप शान्त हो जाता है। मैं जानती हूँ कि आँखवालों के लिए आपका रूप धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंका फल एवं स्वार्थ-परमार्थ सब कुछ है। इसीलिए मेरा चित्त निर्लज्ज होकर आपमें प्रवेश कर रहा है। आप एक जन्ममें नहीं मिलेंगे तो सौ जन्मोंमें सही, मैं आपका वरण अवश्य करूंगी। क्योंकि मैंने अपनी आत्मा आपको अर्पित कर दी है।

अब आप देखिये कि सिंहका भाग कहीं गीदड़ न ले जाने पाये। इसलिए विवाहके पहले पधारिये और जब मैं कुल-परम्पराके अनुसार देवीकी पूजा करने मन्दिरमें जाऊँ तब मुझे वहाँ से हरण कर लीजिये।

यह सब सुनकर श्रीकृष्णने कहा कि ब्राह्मणदेवता, मैं भी रुक्मिणीसे बहुत प्रेम करता हूँ, यहाँतक कि रातमें मुझे नींद नहीं आती। मुझे मालूम है कि रुक्मी द्वेष-वश रुक्मिणीका विवाह मुझसे नहीं करना चाहता। परन्तु आप देखेंगे कि मैं शीघ्र ही शत्रुओंको तहस-नहस करके उनके पंजेसे रुक्मिणीको निकाल लाऊँगा-

तथाहमपि तच्चित्तो निद्रां च न लभे निशि।
वेदाहं रुक्मिणा द्वेषान्ममोद्वाहो निवारितः।।
तामानयिष्य उन्मथ्य राजन्यापसदान् मृधे।
मत्परामनवद्यांगीमेधसोऽग्नि-शिखामिव।।१०.५३.२-३

इसके बाद श्रीकृष्णने किसीसे सलाह नहीं ली- न तो माता-पितासे और न बलरामजीसे। अकेले ही रथपर ब्राह्मणके साथ बैठकर चल पड़े कुण्डिनपुरकी ओर ! वहाँ पहुँचनेमें देर नहीं लगी। किसीको यह पता नहीं चला कि वे बराती होकर आये है या घराती। आखिर शिशुपाल भी तो उनका फुफेरा भाई ही था। इसलिये कइयोंने समझा कि वे बराती होकर आये होंगे। जब भीष्मकने उनके आनेकी बात सुनी तब उनका बड़ा स्वागत-सत्कार किया और उनके लिए यथायोग्य निवासादिकी व्यवस्था की। नगर-निवासी उनके दर्शनार्थ आये और कहने लगे कि रुक्मिणीके योग्य वर तो यही हैं, इन्हींके साथ रुक्मिणीका विवाह होना चाहिए।

इधर द्वारकामें जब बलरामजी ने सुनाकि श्रीकृष्ण अकेले कुण्डिनपुर, चले गये हैं तब वे भी अपनी सेना लेकर वहाँ पहुँच गये। यद्यपि वे जानते थे कि कोई श्रीकृष्णका कुछ बिगाड़ नहीं सकता, तथापि उन्होंने सोचा कि इस समय कुण्डिनपुरमें बड़े-बड़े दुष्टलोग इकट्ठे हुए हैं और वे कुछ भी कर सकते हैं। इसलिए मेरा वहाँ रहना आवश्यक है। जहाँ आत्मीयता होती है, वहाँ अनिष्टकी आशंका हो ही जाती है।

जब शिशुपालके साथी राजाओंने बलराम-कृष्णके आनेकी बात सुनी तब वे चौकन्ने हो गये और रुक्मिणी जिस मार्गसे देवी-पूजा करने जानेवाली थीं, उसके दोनों ओर अस्त्रों-शस्त्रों सहित हाथी, घोड़ों और रथों पर सवार होकर सन्नद्ध हो गये। यथासमय रुक्मिणी अपने रक्षकोंके साथ पूजा करने आयीं। उन्होंने हाथ-पाँव धोकर कुल वधुओंकी सहायतासे पूजा की और देवीसे यही वर मांगा कि माँ, मेरा विवाह श्रीकृष्णके साथ ही हो। उनको ब्राह्मण द्वारा यह तो पता लग ही गया था कि श्रीकृष्ण आ गये हैं।

जब रुक्मिणी पूजा करके मन्दिरसे बाहर निकलीं तब उनका अद्भुत सौन्दर्य देखकर उनकी रक्षाके लिए एकत्र राजा लोग मूर्च्छित हो गये। वे

अपने हाथियों, घोड़ों और रथोंसे धरती पर आ गिरे तथा उनके हाथोंसे अस्त्र-शस्त्र छूट गये।

इतनेमें रुक्मिणीकी दृष्टि श्रीकृष्ण पर पड़ी। वे उनके रथ पर चढ़ना ही चाहती थीं कि श्रीकृष्णने आगे बढ़कर उनका हाथ पकड़ लिया। उनको अपने रथ पर बैठाया और जिस प्रकार सिंह सियारोंके बीचमें से अपना भाग ले जाता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण रुक्मिणीको लेकर बलरामजी तथा यदुवंशियों सहित वहाँ से चल पड़े।

जब राजा लोग होशमें आये और युद्धके लिए सन्नद्ध हुए तब बलरामजीकी सेना उनसे भिड़ गयी और उनको भगा दिया। लेकिन रुक्मिणीके भाई रुक्मीने कहा कि मैं अपनी बहिनके अपहरणका बदला लेकर रहूँगा। यदि मैं अपनी बहिनको लौटा नहीं सका तो फिर इस नगरमें नहीं आऊँगा।

यह प्रतिज्ञा करके रुक्मी अपनी सेनाके साथ श्रीकृष्णके पास पहुँच गया, लेकिन जब उसके साथी राजा अपनी-अपनी विशाल सेनाओंके साथ पराजित होकर भाग खड़े हुए थे तब वह अकेला क्या करता ? श्रीकृष्णने थोड़ी सी लड़ाईके बाद उसको पकड़ कर कुरूप कर दिया और फिर उसे बाँधकर रथपर रख दिया। रुक्मिणी अपने भाईकी यह दशा देखकर बड़ी दुःखी हो रही थीं। इतनेमें बलरामजी यदुवंशी वीरोंके साथ शत्रुसेनाको तहस-नहस करके वहाँ आ गये। उन्होंने रुक्मिणीको सान्त्वना दी और रुक्मीको बन्धन-मुक्त करके लौटा दिया। रुक्मी अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार कुण्डिनपुर नहीं गया और भोजकर नामक नगर बसाकर वहीं रहने लगा।

जब श्रीकृष्ण रुक्मिणीके साथ द्वारका पहुँचे तब सगे-सम्बन्धियोंको आमन्त्रित किया गया, ब्राह्मण लोग बुलाये गये और उन्होंने श्रीकृष्ण रुक्मिणीका विवाह शास्त्रोक्त रीतिसे सम्पन्न करवाया।

श्रीशुकदेवजी महाराजने परीक्षितको बताया कि रुद्र भगवान्ने कामको भस्म कर देनेके बाद उसकी पत्नी रतिकी प्रार्थना पर यह वरदान दे दिया-जाओ, तुम्हारे पतिका जन्म भगवान् वासुदेवके पुत्ररूपमें होगा।

वे ही कामदेव भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा रुक्मिणीके गर्भसे प्रद्युम्नके रूपमें प्रकट हुए। लेकिन अभी वे दस दिनके भी नहीं हुए थे कि शम्बरासुर उनको प्रसूतिकागृह से हर ले गया, और उनको समुद्रमें फेंककर घर लौट गया। उसको मालूम हो गया था कि यह मेरा भावी शत्रु है।

समुद्रमें बालक प्रद्युम्नको एक बड़ा भारी मच्छ निगल गया। उस मच्छको मछुओंने पकड़ लिया और शम्बरासुरको भेंट कर दिया। रसोइयोंने मच्छको काटा तो उसमें से एक बड़ा सुन्दर जीवित बालक निकला। उसको

शम्बरासुरकी दासी मायावती ने ले लिया और उसका पालन-पोषण करने लगी।

मायावती कामकी पत्नी रति ही थी, जो अपना नाम-रूप बदलकर शम्बरासुरके यहाँ सेवा करती हुई अपने पतिके पुनर्जन्मकी प्रतीक्षामें थी। उसको नारदजी द्वारा यह ज्ञात हो गया कि बालक प्रद्युम्नके रूपमें उसके पतिने ही जन्म ग्रहण किया है।

इसलिए मायावती-नामधारिणी रति प्रद्युम्नसे बहुत प्रेम करने लगी। प्रद्युम्न थोड़े ही दिनमें जवान हो गये। वे इतने सुन्दर थे कि स्त्रियाँ उनको देखकर मोहित हो जाती थीं। उनके प्रति मायावती रतिके हावभावमें भी परिवर्तन हो गया।

प्रद्युम्न इसको ताड़ गये। उन्होंने कहा कि तुम तो मेरी माताके समान हो। तुम्हारी बुद्धि उल्टी कैसे हो गयी ?

इसके बाद रतिने अपनी और उनकी सारी कथा सुना दी और कहा कि स्वामिन् ! आपके खो जानेसे आपकी माता बहुत व्याकुल रहती हैं। आपका द्वारका चलना बहुत जरूरी है। लेकिन इस मायावी और महाबली असुर शम्बरके रहते वहाँ जाना सम्भव नहीं है इसलिए आप इसको नष्ट कर दीजिये।

यह कहकर मायावती रति प्रद्युम्नको महामाया नामक एक विद्या सिखा दी और उसकी सहायतासे प्रद्युम्नने शम्बरासुरका वध कर दिया। इसके बाद रति अपने पति प्रद्युम्नको साथ लेकर आकाश-मार्गसे द्वारका गयी। वहाँ उन दोनोंकी बड़ी भारी शोभा हुई। उनका सौन्दर्य देखकर लोग मुग्ध हो गये। लेकिन श्रीकृष्णके सिवाय और कोई उनको पहचानता नहीं था और श्रीकृष्णने स्वयं उनका रहस्य खोलना उचित नहीं समझा।

अन्तमें नारदजी आये और उन्होंने प्रद्युम्न तथा रतिका परिचय दिया। फिर तो सबके आनन्दकी सीमा नहीं रही। प्रद्युम्न अपनी पत्नी रतिके साथ द्वारकामें निवास करने लगे।

रुक्मिणीके विवाहके बाद भगवान् श्रीकृष्णके विवाह जाम्बवती और सत्यभामाके साथ सम्पन्न हुए। इन दोनोंके विवाहकी कथाएँ स्यमन्तक मणिके माध्यमसे आपसमें जुड़ी हुई हैं। श्रीमद्‌भागवतमें इनके विवाहका जो वर्णन है, उसको सुनानेके पहले मैं श्रीरूप गोस्वामी-कृत 'ललितमाधव' नामक नाटककी कथा सुना देना चाहता हूँ।

उसके अनुसार जब भगवान् श्रीकृष्ण व्रजसे द्वारका चले गये और वहाँ गोपियाँ उनके वियोगसे व्याकुल होकर बेहोश हो गयीं तब वृषभानुजीने अपनी

बेटी राधाको उसी अवस्थामें स्वर्गलोक पहुँचा दिया। वहाँ भी उनको होश नहीं आया तब वे सत्यभामाके रूपमें परिणत होकर पिछली सब बातें भूल गयीं। फिर सूर्यभक्त सत्राजितने उनको अपनी बेटी बनाकर उनका विवाह श्रीकृष्णसे कर दिया।

इसी प्रकार व्रज में राधाकी सखी ललिता श्रीकृष्ण-विरहके असह्य हो जानेके कारण जब अपना शरीर-पात करनेके उद्देश्यसे एक पहाड़पर से कूदीं तब नीचे खड़े जाम्बवानने उनको सम्भाल लिया और अपनी बेटी बनाकर उनका नाम जाम्बवती रख दिया। फिर उनका विवाह भी श्रीकृष्णके साथ हो गया।

यह सब कथा-वैचित्र्य है और नाटककारोंको इस प्रकारका कथानक प्रस्तुत करनेका अधिकार है। श्रीमद्भागवतके अनुसार जाम्बवती और सत्यभामा के विवाह कैसे हुए—यह आप सुनिये।

द्वारकावासी सत्राजित सूर्यका बड़ा भारी भक्त था। इसलिए सूर्यने उसको एक मणि दे दी। उस मणिसे प्रतिदिन आठ भार सोनेकी प्राप्ति होती थी। श्रीकृष्णने सत्राजितसे कहा कि इतनी बड़ी मूल्यवान् वस्तु तो राष्ट्रीय सम्पत्तिके रूपमें सुरक्षित रहनी चाहिए। इसलिए तुम यह मणि राजा उग्रसेनको दे दो। लेकिन सत्राजितने श्रीकृष्णकी बात नहीं मानी। उसने अपने भाई प्रसेनको वह मणि दे दी।

एक दिन प्रसेन मणि धारण करके घोड़े पर चढ़ जंगलमें गया। वहाँ एक सिंहने घोड़े सहित उसको मार डाला। फिर जाम्बवानने सिंहको मारकर मणि ले ली।

इसप्रकार वह मणि कहाँ-कहाँ पहुँच गयी। लेकिन द्वारकामें श्रीकृष्णको यह कलंक लगाया गया कि उन्होंने ही वह मणि ले ली है। यहाँ देखना यह है कि कलंक किस प्रकार निर्दोष व्यक्तियोंको भी लग जाता है? जब भगवान् श्रीकृष्ण पर भी झूठा कलंक लग सकता है तब औरोंकी तो बात ही क्या है?

भगवान् श्रीकृष्णने कलंक-निवारणके लिए प्रयास प्रारम्भ किया। वे खोजते-खोजते जाम्बवान् गुफातक पहुँच गये। उनके साथ द्वारकाके और भी कई प्रतिष्ठित लोग थे। उन सबको उन्होंने गुफाके बाहर बैठा दिया और स्वयं अकेले ही उसके भीतर घुस गये।

वहाँ जाम्बवान्से श्रीकृष्णका आमना-सामना हुआ। अट्ठाईस दिनों तक उनमें भीषण मल्ल-युद्ध चलता रहा। अन्तमें जाम्बवान् भगवान्को पहचान गये

और मणिके साथ अपनी कन्या जाम्बवतीको श्रीकृष्णके चरणोंमें समर्पित कर दिया।

इधर द्वारकाके जो लोग श्रीकृष्णके साथ गये थे, उन्होंने बारह दिनोंतक तो गुफाके बाहर उनकी प्रतीक्षा की, उसके बाद निराश होकर अपने-अपने घर लौट गये। द्वारकामें श्रीकृष्णके लिए चिन्ता व्याप्त हो गयी। सभी लोग सत्राजितको कोसने लगे और श्रीकृष्णकी प्राप्तिके लिए दुर्गादेवीके मन्दिरमें गये। देवीने जिस समय लोगोंको आशीर्वाद दिया, उसी समय और वहीं मणि एवं नववधू जाम्बवतीके साथ श्रीकृष्ण प्रकट हो गये। द्वारकामें आनन्द-मंगल छा गया।

श्रीकृष्णने सत्राजितको बुलवाया और उसे मणि दे दी। वह बहुत लज्जित हुआ। कई दिनोंतक सोच-विचार करनेके बाद उसने अपनी कन्या सत्यभामाके साथ श्रीकृष्णका विवाह कर दिया और मणि भी उनको दे दी। लेकिन श्रीकृष्णने फिर मणि लौटा दी और कह दिया कि आप मणिको तो अपने पास ही रखिये, केवल उसका फल हमें दे दिया कीजिये।

इसके बाद जब श्रीकृष्ण और बलरामजी हस्तिनापुर गये हुए थे तब शतधन्वाने सत्राजितकी हत्या करके मणिका हरण कर लिया। सत्यभामाको अपने पिताके मारे जानेसे बड़ा दुःख हुआ। वे श्रीकृष्ण बलरामको सूचित करनेके लिए हस्तिनापुर पहुँच गयीं। श्रीकृष्ण-बलराम द्वारका लौटे। शतधन्वा भयभीत हो गया और मणि अक्रूरजीके पास रखकर बड़ी तेजीसे भाग निकला। श्रीकृष्ण और बलरामने उसका पीछा किया। मिथिलाके पास पहुँचते-पहुँचते श्रीकृष्णने उसको मार गिराया। लेकिन मणि उसके पास नहीं निकली। श्रीकृष्णने बलरामजीको यह बात बतायी। बलरामजीने भीतर-ही-भीतर उस पर विश्वास नहीं किया। वे वहीं से मिथिला-नरेशके पास चले गये।

श्रीकृष्ण द्वारका लौट आये। उन्होंने अक्रूरको, जो कृतवर्माके साथ डरके मारे द्वारका छोड़कर भाग गये थे, बुलवाया और उनसे कहा-चाचाजी, हमें मालूम है कि शतधन्वा वह मणि आपके पास छोड़ गया है। यद्यपि वह मणि उत्तराधिकार की दृष्टिसे हमारे पुत्रोंकी है, तथापि आप उसको अपने पास ही रखिये। लेकिन एक बहुत बड़ी कठिनाई यह है कि मेरे बड़े भाई बलरामजी उस मणिको लेकर मुझ पर विश्वास नहीं करते—

किन्तु मामग्रजः सम्यङ्‌ न प्रत्येति मणिं प्रति।

इसलिए आप एक बार उस मणिको दिखाकर सबका सन्देह दूर कर दीजिये।

इसके बाद अक्रूरजी ने सूर्यके समान प्रकाशमान मणि अपने वस्त्रमें से निकाली और श्रीकृष्णको दे दी। श्रीकृष्णने उसको भरी सभामें दिखाकर अपना कलंक-मोचन किया और फिर वह मणि अक्रूरजी को लौटा दी।

इसके उपरान्त कालिन्दी, मित्रविन्दा, सत्या, भद्रा और लक्ष्मणाके साथ श्रीकृष्णके विवाहोंका वर्णन है। उन सबकी चर्चा समयाभावके कारण नहीं की जा सकती। आप लोग उनका वर्णन श्रीमद्भागवतमें देख सकते हैं।

इन विवाहोंके बाद भौमासुर द्वारा बन्दिनी बनायी गयी सोलह हजार कन्याओंके उद्धारका प्रसंग आता है। कितना क्रूर था वह भौतिकवादी भौमासुर ! कहता था कि जब उन कन्याओंकी संख्या एक लाख हो जायेगी तब मैं उनसे विवाह करूंगा। उसने अपनी राजधानी प्राग्ज्योतिषपुरमें सुरक्षाके बड़े-बड़े प्रबन्ध कर रखे थे। इसके दुर्गमें प्रवेश करना बहुत कठिन था। किन्तु भगवान् श्रीकृष्णने अपने चक्रसे सभी सुरक्षा प्रबन्धोंको ध्वस्त कर दिया और उसका वध करके उसके द्वारा बन्दिनी बनायी गयी सोलह हजार कन्याओंको मुक्त कर दिया।

अब उन कन्याओंका क्या हो ? आप लोग आजकी परिस्थितिमें उनकी कठिनाइयोंकी कल्पना नहीं कर सकते। उस समय उनको न तो कहीं आश्रय मिल सकता था, न उनका विवाह हो सकता था और न उनके लिए समाजमें कोई समादृत स्थान बन सकता था।

इसलिए करुणावरुणालय भगवान् श्रीकृष्णने अपनी प्रगतिशील विचार-धाराके अनुसार स्वयं ही क्रान्तिकारी कदम उठाकर उनके साथ विवाह कर लिया। उनको पटरानी बनाकर द्वारका ले गये और उनसे अपनी वंश-परम्परा चलायी।

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने अपने आचरणके द्वारा तत्कालीन समाजको यह उपदेश दिया कि ऐसी विवश कन्याओंको हीन मत समझो, पतित मत मानो। वे सर्वथा निर्दोष हैं, निरपराध हैं। कुछ लोग यह प्रश्न उठाते हैं कि श्रीकृष्णकी इतनी पत्नियाँ कैसे हो सकती हैं ? लेकिन इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है।

देखो, भगवान् चन्द्रवंशी हैं। चान्द्र तिथियोंमें से एक होती है अमावस्या, दूसरी होती है पूर्णिमा और चौदह होती हैं प्रतिपदासे चतुर्दशी पर्यन्त इस प्रकार सोलह कलाएँ होती हैं चन्द्रमामें। अतः चन्द्रमाकी तरह श्रीकृष्णमें भी सोलह कलाएँ होती हैं। एक-एक कला सहस्र-सहस्र अंशोंवाली होती है। मनकी वृत्तियोंका भी यही हाल है। असलमें मनकी जितनी भी वृत्तियाँ हैं, सृष्टिमें जितने भी पदार्थ हैं, जितना भी चराचर जगत् है, उन सबके स्वामी

भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। ऐसी स्थिति में यदि भगवान् श्रीकृष्णको सोलह हजार पत्नियों का स्वामी बताया जाय तो इसमें किसीको कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

यह भी तो देखो कि एक ओर तो सहस्त्र-सहस्त्र पत्नियाँ थीं, दूसरी ओर उनके अनगिनत कामबाण थे। फिर भी वे अपने हाव-भाव अथवा नाज-नखरोंसे श्रीकृष्णके मनको लुभा नहीं पायीं, क्षुब्ध नहीं कर सकीं। क्योंकि आत्माराम भगवान् श्रीकृष्ण सर्वथा निष्काम होकर उनके साथ विहार करते थे। इसीलिए आगे चलकर श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं।

स्मायावलोकवदर्शितभावहारि
भ्रूमण्डलप्रहितसौरतमन्त्रशौण्डैः।
पत्न्यस्तु षोडशसहस्रमनंगबाणै-
र्यस्येन्द्रियं विमथितुं कर्णैर्न शेकुः।।१०.६१.४

एक दिनकी बात है, रुक्मिणी मान करके बैठ गयी थीं। इसपर भगवान् श्रीकृष्णने उनको ऐसी-ऐसी बातें सुनायीं कि आप सुनकर आश्चर्य करेंगे। उन्होंने कहा कि देखो रुक्मिणी, मैं तो अपने शत्रुओंको नीचा दिखानेके लिए तुमको हरकर लाया था। अब उन्होंने नीचा देख लिया। मेरे पास कुछ है नहीं। मैं तो निर्गुण हूँ, निर्धन हूँ। तुमने मुझसे ब्याह करके बड़ी गलती की। अब तुम जहाँ चाहो, चली जाओ और चाहे जिससे ब्याह कर लो।

इतना सुनना था कि रुक्मिणी मूर्च्छित होकर गिरने लगी। लेकिन भगवान् श्रीकृष्णने चतुर्भुज होकर उनको उठा लिया। समझाया-बुझाया और कहा कि बस इतनेसे ही बुरा मान गयीं ? अरे, गृहस्थोंके घरमें तो इस तरहके हास-परिहास होते ही रहते हैं। इसलिए तुम्हें दुःखी न होकर आनन्दित होना चाहिए।

महात्मा लोग इस कथाका यह रहस्य बताते हैं कि रुक्मिणीको कभी मनसे भी भगवान् के वियोगका अनुभव नहीं होता था। इसलिए भगवान्‌ने इस तरहकी बातोंसे उनको वाचिक वियोगका अनुभव करा दिया।

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णकी सन्ततियोंका वर्णन आता है। परन्तु उन सबकी चर्चा न करके मैं संक्षेपमें यही सुनाना चाहता हूँ कि रुक्मिणी नन्दन प्रद्युम्नका दूसरा विवाह उनके मामा रुक्मीकी कन्यासे हुआ था। यद्यपि रुक्मी अपमान भूला नहीं था, फिर भी उसने अपनी बहन रुक्मिणीको प्रसन्न करनेके लिए प्रद्युम्नका विवाह अपनी बेटीसे कर दिया।

प्रद्युम्नके पुत्र हुए अनिरुद्ध। अनिरुद्धका दूसरा विवाह भी रुक्मीकी

पौत्रीसे हुआ। उसी विवाहके अवसर पर जुआ खेलते समय बलरामजीने रुक्मीको मार डाला। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि रुक्मिणीहरणके समय जब श्रीकृष्णने रुक्मीको पराजित और कुरूप करके बाँध दिया था तब उसका पक्ष लेकर बलरामजी श्रीकृष्ण पर बहुत नाराज हो गये थे और उसको मुक्त करवा दिया था। लेकिन वही बलराम जी जुआमें बेइमानी और उपहास करते देखकर रुक्मी पर इतने क्रुद्ध हो गये कि विवाह-जैसे शुभावसरपर उसका वध कर बैठे। इससे सिद्ध होता है कि जुआ कितने बड़े अनर्थका हेतु है और उसके कारण कैसी-कैसी विषम परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

रुक्मिणी अपने भाईके मारे जाने पर बलरामजी से बहुत नाराज हो गयीं। श्रीकृष्णके घरमें कलहका वातावरण बन गया। अब श्रीकृष्ण क्या बोलें ? रुक्मिणीकी ओर बोलें तो बलरामजी नाराज और बलरामजी की ओर बोलें तो रुक्मिणी नाराज। इसलिए वे चुप लगा गये। कभी-कभी चुप हो जानेसे भी झगड़ा आगे नहीं बढ़ता, वहीं खत्म हो जाता है।

एक दिन नारदजी द्वारका आये और भगवान् श्रीकृष्णसे बोले कि महाराज, आपके यहाँ जो इतने बाल-बच्चे हैं, इनका कोई ध्यान रहता है या नहीं ?

श्रीकृष्णने कहा कि क्या बात है महाराज ? किसीसे कोई अपराध तो नहीं बन गया ?

नारदजीने कहा कि नहीं महाराज, किसीसे कोई अपराध तो नहीं बना। लेकिन अपको पता है कि आपका पौत्र पिछले चार महीनोंसे कहाँ है ?

श्रीकृष्णने पूछा कि कहाँ है महाराज ? सचमुच वह आजकल दिखायी नहीं पड़ता है।

इस पर नारदजीने वह सब कथा सुनायी कि किस प्रकार बाणासुरकी पुत्री ऊषाने स्वप्नमें अनिरुद्धको देखा, किस प्रकार उसकी सखी चित्रलेखाने अनिरुद्धका चित्र बनाकर ऊषाको दिखलाया, किस प्रकार चित्रलेखा अनिरुद्धका हरण करके ऊषासे के पास ले गयी, किस प्रकार अनिरुद्ध ऊषाके पास रहे और किस प्रकार बाणासुरने अनिरुद्धको बन्दी बना रखा है।

अब तो द्वारकामें यह खबर बिजलीकी तरह फैल गयी, यदुवंशियोंके क्रोधका पारावार नहीं रहा और उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण तथा बलरामजीके नेतृत्वमें बाणासुर पर चढ़ाई कर दी।

बाणासुर भगवान् शंकरका बड़ा भक्त था। एक दिन भगवान् शंकर उसके भक्तिभावसे प्रसन्न हुए और बोले कि वर माँग लो।

बाणासुरने कहा कि महाराज, मेरी ये हजार भुजाएँ, मेरे लिए भारभूत हो रही हैं। मुझसे कोई लड़नेवाला मिलता ही नहीं। इसलिए आइये, आप ही मुझसे युद्ध कर लीजिये।

इसपर भगवान् शंकरने कहा कि मूर्ख, तुझको बड़ा अभिमान हो गया है तो लो यह ध्वजा अपने महलपर टाँग दो। जिस समय दिन यह ध्वजा गिर जाय, समझ लेना कि तुझसे लड़ने वाला आगया। और वह ध्वजा यदुवंशी सेनाके आक्रमण करने पर गिर गयी। बाणासुरने यदुवंशियोंसे बड़ा घमासान युद्ध किया। उसकी ओरसे शंकरजी भी लड़ने आ गये। लेकिन भगवान् श्रीकृष्ण, बलरामजी तथा उसकी सेनाने सब परास्त कर दिया।

अन्तमें, भगवान् श्रीकृष्णने बाणासुरकी भुजाओंकी छँटनी कर दी और शंकरजीके कहने पर केवल उसकी चार भुजाओंको छोड़ दिया।

अन्तमें बाणासुरने अनिरुद्धको मुक्त किया, उनके साथ अपनी कन्या ऊषाका विवाह कर दिया और बहुत सा दान-दहेज देकर उन्हें विदा किया। ऊषा-अनिरुद्ध द्वारकामें आ गये और वहाँ बड़े प्रेम से रहने लगे। उनके साथ भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी भी अपनी सेना-सहित द्वारका लौट आये।

अब आगेकी कथा आपको कल सुनायी जायेगी।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

१२

भगवान्‌की वाणीकी पहचान क्या है ? यही पहचान है कि भगवान्‌की वाणी उनके सब बालकोंके लिए हितकारी होती है-चाहे वे बालक सत्त्वगुणी हों, रजोगुणी हों अथवा तमोगुणी हों ! जैसे पिता अपने पुत्रोंसे चाहता है कि उनके भीतर उसके सद्‌गुण आयें, वैसे ही भगवान् चाहते हैं कि सबमें सद्‌भाव, चिद्‌भाव और आनन्दभाव प्रकट हों। इसलिए जो वाणी त्रिगुणमय जीवोंके लिए हितकारी और उनमें सच्चिदानन्द भाव प्रकट करनेवाली होती है, उसीको भगवान्‌की वाणी कहा जाता है। जिस वाणीमें थोड़ा भी दलवाद, जातिवाद, सम्प्रदायवाद मिले और यह भावना प्रतीत हो कि अमुक पन्थवाले तो भगवान्‌के धाममें जायेंगे और अमुक पन्थवाले नरकमें जायेंगे, समझ लो कि वह भगवान्‌की वाणी नहीं है। क्योंकि भगवान् तो अपने सब बन्दोंका, बच्चोंका भला चाहते हैं।

भगवान्‌की वाणी ही नारायण, शिव, शेष, ब्रह्मा, नारद, व्यास, शुकदेव और सनकादिकके द्वारा श्रीमद्‌भागवतके रूपमें प्रकट हुई है। यह वाणी न केवल मनुष्योंके लिए, बल्कि पशु-पक्षी, लता-वृक्ष आदि सबके लिए, यहाँतक कि प्राणिमात्रके लिए कल्याणकारी है।

तो, एक दिन यदुवंशके राजकुमार लोग मैदानमें खेलने गये। उन्होंने खेलते-खेलते देखा कि कुएँ में एक बड़ा भारी गिरगिट पड़ा हुआ है। उसको उन्होंने बाहर निकालनेकी बड़ी कोशिश की, लेकिन वह नहीं निकला। अन्तमें जब भगवान् श्रीकृष्ण आये तब उनके स्पर्शमात्रसे वह गिरगिट देवता बन गया।

देवता बननेके बाद उसने बताया कि मैं पूर्व जन्ममें ईक्ष्वाकुका पुत्र राजा नृग था। मैंने अगणित गौएँ दान की थीं। यहाँतक कि इस पृथिवी पर जितने धूलिकण हैं, आकाशमें जितने तारे हैं और वर्षाके समय जितनी जलधाराएँ गिरती हैं, उनकी गणना की जा सके तो मैंने उतनी ही गौओंका दान किया था—

यावत्यः सिकता भूमेर्यावत्यो दिवि तारकाः।
यावत्यो वर्षधाराश्च तावतीरददां स्म गाः।।१०.६४.१२

फिर उसने अपने गिरगिट बननेका कारण बताते हुए कहा कि मेरी दान की हुई एक गायको लेकर दो ब्राह्मणोंमें झगड़ा हो गया। एक कहे कि यह गाय मुझे दानमें मिली है और दूसरा कहे कि नहीं, यह गाय मुझे दानमें मिली है। असलमें मेरी भूलसे उस गायका दान दो बार हो गया था। इसलिए उन ब्राह्मणोंके परस्पर विरोधी दावोंसे मेरी बुद्धि भ्रमित हो गयी। मैंने चाहा कि एक ब्राह्मणसे गाय खरीदकर दूसरेको दे दूँ। लेकिन दोनों ब्राह्मण नहीं माने और असन्तुष्ट होकर चले गये। जब मैं अपनी आयुसे मरा तब यमराजने मुझसे यह जानना चाहा कि मुझको पहले पापका फल चाहिए या पुण्य का? मैंने कह दिया कि मैं पहले पापका फल भोगना चाहता हूँ। इसलिए मुझे अपने पापके फलस्वरूप गिरगिट हो जाना पड़ा।

वाल्मीकि रामायणमें तो ऐसा लिखा है कि जब एक ही गाय दो ब्राह्मणों को दान में दे देने के कारण उन ब्राह्मणोंमें लड़ाई होने लगी और वे न्यायके लिए राजा नृगके पास गये तब राजा नृग जल्दी न्याय नहीं कर सके। वे कभी एक ब्राह्मणके पक्षमें सिर हिलायें तो कभी दूसरे ब्राह्मणके पक्षमें! न्याय देनेके पहले ही राजा नृग मर गये और उन्हें गिरगिट हो जाना पड़ा।

इस कथासे दो बातें सिद्ध होती हैं। एक तो यह कि हमारे धर्मशास्त्रके अनुसार कोई भी वस्तु एक ही बार दानमें दी जा सकती है, दो बार नहीं। किसी भी वस्तु का दान दो बार करना अधर्म है और मनुष्यको उसका फल भोगना पड़ता है।दूसरी बात यह कि राजाको न्याय करनेमें विलम्ब नहीं करना चाहिए।

दिव्य देहधारी नृगने कहा कि भगवन्, अब तो मैं आपकी कृपाके फलस्वरूप पाप-योनिसे छुटकारा पा चुका हूँ। इसलिए आप मुझे देवलोक जानेकी आज्ञा दीजिये और ऐसा अनुग्रह कीजिये कि मैं जहाँ-कहीं भी रहूँ, मेरा चित्त आपके चरणोंमें ही लगा रहे।

इस प्रकार स्तवन-नमन करके जब राजा नृग देवलोक चले गये तब भगवान् श्रीकृष्णने वहाँ पर उपस्थित अपने सभी कुटुम्बियोंसे कहा कि तुम लोग कभी ब्राह्मणोंका धन छीननेका प्रयास नहीं करना। जिस प्रकार मैं ब्राह्मणोंको प्रणाम करता हूँ, उसी प्रकार तुम लोग भी करना। जो मेरी इस आज्ञाका उल्लंघन करके ब्राह्मणोंका अपमान करेगा, उसको मैं कभी क्षमा नहीं करूँगा—

यथाहं प्रणमे विप्राननुकालं समाहितः।
तथा नमत यूयं च योऽन्यथा मे स दण्डभाक्॥१०.६४.४२

इसके बाद प्रसंग आता है बलरामजीके व्रजगमनका ! वहाँ बलरामजी ने दो महीनोंतक निवास किया और वे अपने सत्संग द्वारा श्रीकृष्ण-विरहसे सन्तप्त नन्दबाबा, यशोदा मैया तथा समस्त व्रजवासियोंको सुख प्रदान करते रहे।

एक बार व्रजमें बलरामजीके आह्वानको यमुनाजी ने अनसुना कर दिया तो वे अपने हलसे उनके टुकड़े-टुकड़े कर देनेके लिए तैयार हो गये। अन्तमें जब यमुनाजीको बलरामजीके पराक्रमका स्मरण हुआ तब वे उनसे क्षमा-याचना करने लगीं। बलरामजी ने उनको क्षमा कर दिया और फिर वे उनकी स्वच्छ जलधारामें गोपियोंके साथ क्रीड़ा करने लगे।

बलरामजी अभी व्रजमें ही थे कि पौण्ड्रकने, जो काशिराजका बड़ा मित्र था और उन्हींके पास रहता था, श्रीकृष्णको कहला भेजा कि असली वासुदेव तो मैं हूँ। उसने नकली हाथ लगाकर अपनेको चतुर्भुज भी बना रखा था। परन्तु भगवान् श्रीकृष्णके सामने दम्भ-कपट छल नहीं चल सकता। इसलिए उन्होंने उसको उसके साथी-सहित समाप्त करके दोनोंका उद्धार कर दिया।

काशिराजका पुत्र था सुदक्षिण ! उसने अपने पिताके वधका बदला लेनेके लिए काशीके ब्राह्मणों द्वारा श्रीकृष्णपर अभिचार करवाया। लेकिन उनके सुदर्शन-चक्रने अभिचारको व्यर्थ कर दिया और फिर उसी अभिचारके द्वारा सुदक्षिण तथा ब्राह्मण जल मरे।

इसके बाद अद्भुत-कर्मा बलरामजीके द्वारा द्विविद नामक शक्तिशाली और उपद्रवी बन्दरके वधका प्रसंग आता है। द्विविदका आध्यात्मिक अर्थ होता है द्विविद ! जिसका ज्ञान दो तरह का हो। न इस किनारेका हो न उस किनारेका, जिसमें अनिश्चय हो-संशय हो तथा जो चंचल हो, बन्दर हो, उसे कहते हैं द्विविद। उसीको दुविधा भी बोलते हैं। उससे सबका अहित होता है। इसलिए बलरामजीने बलपूर्वक उसका विनाश कर दिया।

इससे आगेकी कथा इस प्रकार आती है कि एक बार जाम्बवती नन्दन साम्ब हस्तिनापुरसे दुर्योधनकी कन्या लक्ष्मणाका हरण करके द्वारका लौट रहे थे कि कौरवोंने क्रुद्ध होकर उनको बन्दी बना लिया। जब यह समाचार नारदजी द्वारा यदुवंशियोंको ज्ञात हुआ तब वे कौरवों पर चढ़ाई करनेकी तैयारी करने लगे। बलरामजी हृदयसे चाहते थे कि कौरवों-यदुवंशियोंमें युद्ध न हो। इसलिए वे यदुवंशियोंको शान्त करके हस्तिनापुर गये और कौरवों से बोले कि तुम लोगोंने अन्यायपूर्वक साम्बको बन्दी बना लिया है। फिर भी हम तुमसे युद्ध नहीं चाहते। इसलिए तुम लोग साम्बको मुक्त कर दो और उसको उसकी नववधूके साथ द्वारका भेज दो।

बलरामजी यह समझते थे कि दुर्योधन उनसे गदा-युद्ध सीख चुका है, इसलिए उनकी बात मान लेगा। लेकिन वह तो बल-वैभवके घमण्डमें चूर हो रहा था, इसलिए बलरामजीकी बात सुनकर क्रोधके मारे तिलमिला उठा और दुर्वचन बोलने लगा।

यह देखकर बलरामजी ने कहा कि अच्छा, तुम मेरी बात नहीं मानते हो तो नष्ट होनेके लिए तैयार हो जाओ। मैं सारी पृथिवीको कौरव विहीन कर दूँगा।

यह कहकर बलरामजीने अपना हल उठाया और वे उसकी नोकसे हस्तिनापुरको खींचकर गंगामें डुबोने लगे। वहाँकी धरती डगमगा उठी और लोग त्राहि-त्राहि करने लगे।

अब तो कौरव घबड़ाये और बलरामजीकी शरणमें आकर उनकी स्तुति करने लगे। बलरामजीने शान्त होकर उनको अभयदान दे दिया।

इसके बाद दुर्योधनने अपनी प्रिय पुत्री लक्ष्मणाका विवाह साम्बके साथ कर दिया और उन दोनोंको बहुत-सा दहेज देकर बलरामजीके साथ विदा कर दिया। बलरामजीने द्वारका पहुँचने पर सब समाचार सुनाया तो यदुवंशियोंकी प्रसन्नताकी सीमा न रही।

इसके अनन्तर नारदजीके द्वारका पहुँचने और उनके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णके धर्माचरणको देखनेका वर्णन है। आप लोग इस प्रसंगको पढ़ेंगे तब देखेंगे कि भगवान् श्रीकृष्ण किस प्रकार अपनी प्रत्येक पत्नीके साथ गृहस्थ धर्मका पालन करते थे। सन्तोंके आनेपर उनके साथ कैसा व्यवहार करते थे और सब कुछ करते हुए भी कैसे असंग रहते थे।

यह सब अपनी आँखोंसे देखनेके बाद नारदजीने योगेश्वर भगवान्‌की स्तुतिकी और उनकी त्रिभुवनपावनी लीलाका गान करते हुए लौट गये। श्रीशुकदेवजी महाराजका कहना है कि जो भगवान् श्रीकृष्णकी इन लीलाओंका श्रवण-गायन करता है, उसको उनके चरणोंकी परम प्रेममयी भक्ति प्राप्त होती है।

इसके बाद श्रीशुकदेवजी महाराजने परीक्षितको भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेरणाप्रद दिनचर्याका श्रवण कराते हुए बताया कि एक दिन जब द्वारकामें सुधर्मा सभा जुड़ी हुई थी तब जरासन्ध द्वारा बन्दी बनाये गये राजाओंकी आरे से एक व्यक्ति आया और कहने लगा- प्रभो, वे सब राजा आपके शरणागत हैं और प्रार्थना करते हैं कि आप उनको क्लेश मुक्त कर दीजिये।

'इतनेमें नारदजी भी उस सुधर्मा सभामें आ गये और बोले कि महाराज, युधिष्ठिरजी यज्ञके द्वारा आपकी आराधना करके यश और ऐश्वर्यको प्रकट करना चाहते हैं।

इस प्रकार एकसाथ दो समस्याएँ आ गयीं, भगवान् श्रीकृष्णके सामने। यह वाद-विवाद होने लगा कि इनमें से किस बातको प्राथमिकता दी जाए ? पहले जरासन्ध पर चढ़ाई की जाय अथवा पहले युधिष्ठिरके यज्ञमें सम्मिलित हुआ जाय ?

देखो, श्रीमद्भागवतमें तो यह रोचक प्रसंग बहुत थोड़ा है, लेकिन महाभारतमें इसका वर्णन बड़े विस्तारसे किया गया है। महाभारतके अनुसार इस प्रश्न पर विचार करते-करते दो दल हो गये। एक दलके नेता हो गये बलरामजी और दूसरे दलके नेता हो गये उद्धवजी। बलरामजीके साथ कृतवर्मा आदि थे और उद्धवजीके साथ सात्यकि आदि। दोनों दलोंमें बड़ा वाद-विवाद हुआ।

बलरामजी आदिका कहना था कि हमें युधिष्ठिरके यज्ञसे क्या काम ? हमको तो जरासन्ध पर विजय प्राप्त करनी चाहिए।

लेकिन उद्धवजीका कहना था कि पहले हमें राजनैतिक दृष्टिसे अपना पक्ष प्रबल बनाना चाहिए। जरासन्ध बहुत बलवान् है। उस पर विजय प्राप्त करना आसान काम नहीं है। लेकिन पाण्डवोंका बल हमारे साथ हो जाने पर हम सरलतासे उस पर विजय प्राप्त कर लेंगे। युधिष्ठिरके यज्ञमें दिग्विजय करना अनिवार्य होगा और दिग्विजय तभी पूरी होगी, जब जरासन्ध पर विजय प्राप्त हो जायेगी। इसलिए जरासन्ध पर विजय प्राप्त करनेकी दृष्टिसे भी हमें पहले युधिष्ठिर के यज्ञमें सम्मिलित होकर उन्हें सहयोग देना चाहिए।

अन्तमें भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवजीकी सलाह मान ली और सबको इन्द्रप्रस्थ चलनेकी आज्ञा दे दी। उनसे आश्वासन प्राप्त करके जरासन्ध द्वारा बन्दी बनाये गये राजाओंका दूत वापस चला गया।

जब भगवान् श्रीकृष्ण बलरामजी और यदुवंशी सेनाके साथ इन्द्रप्रस्थ पहुँचे तब युधिष्ठिर और उनके भाइयोंको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने उनका बड़ा भारी स्वागत-सत्कार किया।

यज्ञके पहले युधिष्ठिरने दिग्विजयका आदेश प्रदान किया। अन्य सब राजा तो परास्त हो गये, किन्तु जरासन्ध परास्त नहीं हुआ। फिर दिग्विजय कैसे पूरा हो ? युधिष्ठिर चिन्तित हो गये।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा कि आप चिन्तित न हों। मुझे उद्धवजीने उनको

परास्त करनेका उपाय बता रखा है। वह प्रतिदिन पूजा-पाठ करनेके बाद और भोजन करनेके पहले अपने अतिथियोंकी इच्छा पूरी करता है। उसी समय में भीम-अर्जुनके साथ उसके पास जाऊँगा।

उसके अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण भीम और अर्जुनके साथ ब्राह्मणका वेश बनाकर जरासन्धके यहाँ गये। महाभारतके अनुसार तो वे लोग किलेकी चहारदीवारी लाँघकर गये, लेकिन श्रीमद्भागवतमें इसकी चर्चा नहीं है कि वे किस मार्गसे गये?

उन तीनोंको आतिथ्य-बेलामें अपने सामने उपस्थित देखकर जरासन्धने पूछा कि तुम लोगोंको क्या चाहिए ? यद्यपि वह उनका रंगढंग देखकर उन्हें पहचान गया, फिर भी आतिथ्यकी दृष्टिसे उसने कहा कि तुम्हारी क्या इच्छा है ?

श्रीकृष्णने कहा कि अजी हम लोग ब्राह्मण नहीं है। हमें अन्न नहीं चाहिए। हम तो क्षत्रिय हैं, इसलिए तुमसे युद्धका आतिथ्य चाहते हैं।

यह कहनेके बाद श्रीकृष्णने जरासन्धको अपना, भीमसेनका और अर्जुनका परिचय दे दिया।

फिर भी जरासन्ध विचलित नहीं हुआ और बोला कि अच्छा तुम लोग इस अभिप्रायसे आये हो तो तुम्हें यही मिलेगा। लेकिन कृष्ण, तुम तो मेरे सामनेसे हारकर भाग चुके हो। इसलिए तुम मुझसे क्या लडोगे ? यह अर्जुन मुझसे उम्रमें छोटा है, इसलिए मैं इससे भी नहीं लडूँगा। हाँ, यह भीमसेन जरूर मेरी बराबरीका है। इसलिए मैं इससे लड़ सकता हूँ।

इसके बाद स्वयं जरासन्धने ही भीमसेनको एक गदा दे दी। सत्ताईस दिनोंतक युद्ध होता रहा। अन्त में जब भीमसेन निराश होने लगे तब श्रीकृष्णने एक लकड़ी चीरकर उनको इशारा कर दिया कि तुम भी इसको इसी तरह चीर डालो। भीमसेनने वही किया और जरासन्धके दो टुकड़े हो गये।

देखो, यथाप्रसंग यह बताया जा चुका है कि जरासन्ध देहाध्यास था ! जराने उसको जोड़कर एक कर दिया था। अन्यथा उसके दो टुकड़े अलग-अलग थे। जैसे जड़-चेतनकी ग्रन्थि होती है, वैसे ही जराने उसकी ग्रन्थि बना दी। आत्मा और अनात्माकी सन्धिमें कर्मका फन्दा डाल दिया था। इसलिए केवल बलसे उसकी मृत्यु नहीं हो सकती थी। उसके लिए ज्ञानकी आवश्कता थी। अज्ञानका कार्य ज्ञानसे ही मिटता है। वही ज्ञान भीमसेनको श्रीकृष्णने दिया कि इसको इस प्रकार विवेकके द्वारा चीर दो—अलग-अलग कर दो। फिर अपने-आप जड़ अलग और चेतन अलग।

तो, जब जरासन्धकी मृत्यु हो गयी तब श्रीकृष्णने उसके पुत्र सहदेवको राजा बना दिया। वहाँसे वे बन्दी राजाओंके पास गये और उनको जेलसे मुक्त करवा दिया। राजाओंने उनकी बड़ी स्तुति की। उनके बाल बढ़े हुए थे, उनका वेश बन्दियोंका था। श्रीकृष्णने उनके बाल बनवाये, उनको स्नान करवाया, उनका वस्त्रभूषण बदलवाया, उन्हें रथ दिलवाया और राज्य-संचालनके लिए बहुत-सारी धन-सम्पदा दिलवायी। फिर उन सब राजाओंको बिदा किया। वे सब राजा श्रीकृष्णके भक्त बनकर युधिष्ठिरके यज्ञमें सम्मिलित हुए।

इसके बाद श्रीकृष्ण भीमसेन और अर्जुनके साथ इन्द्रप्रस्थ लौटे। दिग्विजय पूर्ण हो जानेके कारण सबको प्रसन्नता हुई। युधिष्ठिर तो इतने गद्‌गद्‌ हो गये कि कुछ बोल ही नहीं सके।

यज्ञ प्रारम्भ हुआ। उसमें श्रीकृष्णकी अग्र-पूजा हुई। उससे शिशुपालका कुछ बिगड़ता नहीं था। लेकिन वह भरी सभामें उठकर गालियाँ देने लगा।

श्रीकृष्णने उसकी सौ गालियोंको बर्दाश्त किया, क्योंकि उसके लिए उसकी माँको वरदान दे चुके थे। लेकिन जब शिशुपाल और अधिक गालियाँ देने लगा तब श्रीकृष्णने अपने चक्रसे उसका सिर धड़से अलग कर दिया। सबके देखते-देखते शिशुपालके मृत शरीरमें से एक ज्योति निकली और वह श्रीकृष्णमें समा गयी।

यह देखकर लोग आश्चर्यचकित हो गये और कहने लगे कि यह क्या ? इतने बड़े द्वेषीकी, इतनी अधिक गालियाँ देने वालेकी ज्योतिको भी भगवान् श्रीकृष्णने अपनी ज्योतिमें मिला लिया ? असलमें भगवान् निमित्त नहीं देखते, केवल इतना ही देखते हैं कि यह मेरा स्मरण कर रहा है या नहीं ?

शिशुपालकी मृत्युके पश्चात् शांतिपूर्वक यज्ञका अवभृत स्नान हुआ। उसका अद्‌भुत वर्णन है। श्रीमद्‌भागवतमें, जिसको आप लोग पढ़ सकते हैं।

इसी प्रसंगमें यह वर्णन आया है कि श्रीकृष्णने युधिष्ठिरके लिए मय दानव द्वारा एक सभा-भवन बनवा दिया था। वह सभा-भवन इतना विलक्षण था कि उसमें जल स्थलकी तरह और स्थल जलकी तरह दीखता था। उसीमें दुर्योधनको भ्रम हो गया और वह जलको स्थल समझकर उसमें गिर पड़ा। उसको गिरते देख द्रौपदी हँस पड़ी, भीमसेन भी हँस पड़े। श्रीकृष्णने भी उनको हँसनेके लिए कुछ उकसा दिया।

युधिष्ठिरने इस प्रकार उनका हँसना ठीक नहीं समझा, उनको मना भी किया, लेकिन होनीको कौन टाल सकता है ? द्वेष छोटेसे छोटे निमित्तके द्वारा आकर इतना बड़ा बन जाता है कि उसको देखकर आश्चर्यचकित रह जाना

पड़ता है। लोग जिसको मिथ्या कहते हैं, जादूका खेल कहते हैं, तुच्छ कहते हैं, उसमें से ऐसा निमित्त निकल आता है कि उससे बड़े-बड़े गुरुजनोंका, सारे वंशका संहार हो जाता है। महाभारत-युद्ध इसका उदाहरण है। उसका स्मरण करके आज भी लोगोंके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। उस महायुद्धकी नींव उसी दिन पड़ गयी।

भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी अभी पाण्डवोंके पास इन्द्रप्रस्थमें ही थे कि शिशुपालके मित्र शाल्वने तपस्या द्वारा बड़ी भारी शक्ति अर्जित करके द्वारकापर चढ़ाई कर दी। उसको भगवान् शंकरकी कृपासे मय दानव द्वारा निर्मित्त शौत्र नामक एक ऐसा विशाल विमान प्राप्त हुआ था, जो महल-सरीखा था और जिसमें सेनाके साथ युद्ध-सामग्री भी रहती थी। रुक्मिणी-नन्दन प्रद्युम्नने शाल्वका मुकावला किया। लेकिन शाल्व बड़ा मायावी था। उसके प्रहारसे प्रद्युम्न बेहोश हो गये।

उसी समय भगवान् श्रीकृष्ण बलरामजीके साथ द्वारका पहुँच गये। उन्होंने सत्ताईस दिनोंके भीषण युद्धके बाद अपनी गदासे शाल्वके विमानको तोड़ दिया और शाल्वको मार गिराया। शाल्वके बाद उसके मित्र दन्तवक्र और विदूरथ आये तथा उनको भी भगवान्ने नष्ट कर दिया।

इसके बाद यह कथा आती है कि बलरामजी कौरव-पाण्डवोंमें से किसीके भी पक्षधर न होकर तटस्थ थे और दोनों पक्षों का हित चाहते थे। इसलिए जब उन्होंनें देखा कि दोनों पक्ष युद्धकी तैयारी कर रहे हैं तब वे तीर्थयात्राके बहाने बाहर चले गये। वे यमुना-गंगाके तटवर्ती तीर्थोंका भ्रमण करते हुए नैमिषारण्य-क्षेत्र पहुँचे तो वहाँ देखा कि रोमहर्षणजी सूत-जातिमें उत्पन्न होने पर भी ब्राह्मणोंसे ऊँचे आसन पर बैठे हैं और न तो उठकर स्वागत करते हैं और न प्रणाम करते हैं। इसपर बलरामजीको क्रोध आ गया और उन्होंने उन पर कुशकी नोक से प्रहार कर दिया। होनहार ऐसा कि उतने ही प्रहारसे सूतजी मर गये।

यह देखकर ऋषि-मुनि हाहाकार करने लगे और उन्होंने बलरामजीके स्वरूपका ज्ञान होने पर भी कहा आपको इस हत्याके लिए प्रायश्चित्त करना चाहिए। बलरामजीने लोक-शिक्षाके लिए प्रायश्चित्त करना स्वीकार कर लिया। उन्होंने रोमहर्षणके पुत्र रौमहर्षणि उग्रश्रवाको पिताके रथान पर पुराणोंकी कथा कहनेके लिए प्रतिष्ठित किया और दीर्घायुष्य भी प्रदान कर दिया। उसके बाद बलरामजी ऋषियोंके कहने पर वल्वल नामक दानवका वध करके अन्य तीर्थोंकी ओर चले गये।

इस प्रसंगका तात्पर्य यही है कि बलरामजीने कथाके क्षेत्रमें सूत परम्पराको बदलकर भागवतकी परम्परा स्थापित की। उनके मनमें यही था कि जैसे श्रुतिकी, नारायणकी परम्परामें शुकदेवजी हैं, वैसे ही शेष-परम्परा भी होनी चाहिए और उसके अनुसार उग्रश्रवा भागवतके वक्ता हो गये।

अब परीक्षित द्वारा भगवान् श्रीकृष्णकी दूसरी लीलाओंका श्रवण करनेकी अभिलाषा प्रकट करने पर श्रीशुकदेवजी महाराज सुदामाका प्रसंग प्रारम्भ करते हैं।

देखो, श्रीमद्भागवतमें तो सुदामाको एक 'ब्रह्मज्ञानी, विरक्त, शान्तचित्त और जितेन्द्रिय ब्राह्मण' की ही संज्ञा दी गयी है, लेकिन दक्षिण भारतके तमिल भागवतमें उनका नाम 'कुचैल' आया है। कुचैल उसको कहते हैं, जिसके कपड़े बहुत मैले हों। गरीबीमें तो कपड़े मैले होते ही हैं। इसलिए 'कुचैल' नाम सार्थक हो सकता है। लेकिन उनके सुदामा नामका आधार क्या है ? यही आधार है कि श्रीमद्भागवतमें इस प्रसंगके जो दो अध्याय हैं, उनमें से पहले अध्यायके अन्तमें 'श्रीदामचरिते' लिखा हुआ है। इससे सिद्ध होता है कि उनका नाम 'श्रीदामा' था और श्रीदामाका ही सुदामा हो गया। वैसे व्रजमें श्रीकृष्णके एक मित्र श्रीदामा थे, जो राधारानीके भाई थे। लेकिन ये श्रीदामा या सुदामा द्वारकाके पासके ही निवासी थे और श्रीकृष्णके शिक्षा-कालके मित्र थे।

तो सुदामामें विप्रत्व भी था। ऋषित्व भी था । उनमें इन दोनों गुणोंकी स्थापना भगवान्ने की थी। वे विद्या-बुद्धिसे तो परिपूर्ण थे ही, भगवान्की आराधना, उपासना और निष्कामताके भी मूर्तिमान विग्रह थे। उनका ऐसा नियम था कि कहीं किसीसे कुछ नहीं माँगना। जिस दिन जितना और जो मिल जाय, उस दिन उसीको खा-पीकर पूरा कर देना और जिस दिन न आवे, उस दिन भूखे रह जाना। वे भरपेट भोजन न मिलनेसे इतने दुबले हो गये थे उनकी सब नस-नाड़ियाँ दीखती थीं। पहननेके लिए अच्छा कपड़ा नहीं था, फटे-चीथड़े पहने रहते थे। उनकी पत्नीकी वही दशा थी। घरमें चावल आ जाय तो पकाकर पतिको खिला दे और स्वयं भूखी रह जाय। इसी प्रकार उन दोनोंका जीवन चल रहा था।

एक समय ऐसा आया कि कई दिनोंतक कुछ भी खानेके लिए नहीं मिला। विवश होकर सुदामाकी पत्नीने उनसे प्रार्थना की—स्वामी, मैंने सुना है कि आपके मित्र श्रीपति हैं, लक्ष्मीपति हैं, साक्षात् नारायण हैं और यहाँसे पास ही द्वारकामें रहते हैं। इसलिए यदि आप उनके पास चले जाएँ तो उनकी कृपासे कम-से-कम खाने-पीनेकी व्यवस्था तो हो ही जायेगी।

लेकिन सुदामाके मनमें यह बात नहीं बैठी कि मैं कोई काम लेकर उनके पास जाऊँ। क्योंकि वे समझते थे कि भगवान् तो स्वयं सर्वज्ञ हैं, सर्वशक्ति-सम्पन्न हैं और परम दयालु हैं। मेरी स्थिति उनसे छिपी नहीं है। मेरे लिए यही स्थिति वे ठीक समझते हैं। इसलिए हमें उनकी प्रसन्नतामें प्रसन्न रहना चाहिए। इसमें अपनी ओरसे कुछ करनेकी आवश्कता नहीं है।

ऐसा सोचते-सोचते सुदामाके मनमें आया कि माँगना-लेना तो कुछ है नहीं, लेकिन द्वारका जाने पर भगवान्‌के दर्शनोंका सौभाग्य तो मिल ही जायेगा। इससे बढ़कर और लाभ क्या होगा ?

अब सुदामाने अपनी पत्नीसे कहा कि अच्छा, तुम कहती हो तो मैं चला जाऊँगा। लेकिन श्रीकृष्णको भेंट करनेके लिए कोई वस्तु तो लाओ। एकदम खाली हाथ जाना ठीक नहीं रहेगा।

यह सुनकर सुदामाकी पत्नी प्रसन्न तो हुई, लेकिन कोई वस्तु कहाँसे लाये ? घरमें तो कुछ था नहीं। वह चार घरोंसे एक-एक मुट्ठी चिवड़ा माँग लायी—उसमें कोई दाना लाल तो कोई सफेद था, कोई दाना छोटा तो कोई दाना बड़ा था। चार मुट्ठी चिवड़ा, वह भी चार तरह का ! लेकिन कोई उपाय नहीं था। सुदामाकी पत्नीने उनको एक चीथड़ेमें बाँधकर दे दिया।

सुदामा द्वारका गये। उन्होंने वहाँका वैभव और ऐश्वर्य देखा तो उनके आश्चर्यकी सीमा नहीं रही। श्रीकृष्णके यहाँ साधु-ब्राह्मणोंके लिए कोई रोक-टोक नहीं थी। इसलिए सुदामा चलते-चलते वहाँ तक पहुँच गये, जहाँसे श्रीकृष्ण उनको देख सकते थे। इसलिए श्रीकृष्णकी दृष्टि उन पर पड़ गयी। दृष्टि पड़ते ही श्रीकृष्णने रुक्मिणीको एक ओर किया और वे पलंग पर से उतरकर सुदामाकी ओर दौड़ पड़े। उन्होंने सुदामाको पकड़ लिया, छातीसे लगाया और कहा कि मित्र, तुम तो बहुत दिनों बाद मिले। इतने दिनोंतक कहाँ थे ?

देखो, श्रीमद्भागवतमें तो ऐसा ही वर्णन है कि सुदामा सीधे श्रीकृष्णके पास पहुँच गये, लेकिन श्रीनरोत्तमदासजीने जो सुदामा-चरित लिखा है, उसके अनुसार सुदामासे पहले द्वारपाल मिला और उसने श्रीकृष्णके पास जाकर इस प्रकार निवेदन किया—

सीस पगा न झगा तनमें प्रभु
जानेको आहि बसै केहि ग्रामा।
धोती फटी-सी लटी दुपटी अरु
पाँय उपाहनकी नहि सामा।।

द्वार खड़ो द्विज दुर्बल एक
रह्यो चकि सो बसुधा अभिरामा।
पूछत दीनदयालको धाम
बतावत आपनो नाम सुदामा।।

महाराज, द्वारपर एक आदमी आया है। उसके सिर पर पगड़ी नहीं है। शरीरमें बगल-बन्दी नहीं है। वह फटा-पुराना कपड़ा पहने हुए है। बड़ा दुर्बल है। उसको देखकर लोग आश्चर्य कर रहे हैं। वह आपका नाम पूछता है और अपना नाम सुदामा बताता है।

द्वारपालके मुँहसे सुदामा नाम सुनते ही श्रीकृष्ण दौड़ पड़े और सुदामासे लिपटकर बोले—

ऐसे बेहाल बिवाइन सो पग
कंटक जाल लगे पुनि जोये।
हाय महादुख पायो सखा
तुम आये इतै न कितैदिन खोये।।
देखि सुदामा की दीन दसा
करुणा करके करुणानिधि रोये।
पानी परातको हाथ छुयौ नहि
नैननके जलसों पग धोये।।

मैं इसका क्या अर्थ करूँ ? आप लोग नरोत्तमदासजीके इन सवैयोंसे परिचित होंगे। इसलिए मैं इतना ही कहकर आगे बढ़ता हूँ कि श्रीकृष्णने अपनी आँखोंके आँसुओंसे सुदामाको पाद्य और अर्घ्य दिया। ऐसे ब्राह्मण भक्त हैं श्रीकृष्ण। वैभव और ऐश्वर्य तभी शोभा पाते हैं, जब उनसे दरिद्रों तथा विद्वानोंकी सेवा हो। वैसे तो दरिद्र और विद्वान् दोनों ही नारायणके स्वरूप हैं, परन्तु दरिद्र तो एक व्यक्तिविशेषके रूपमें स्वयंतक ही सीमित रहता है और विद्वान् सैंकड़ों-हजारोंको विद्वान् बनाकर अपनी विद्याका विस्तार कर देता है। इसलिए दरिद्र-नारायणकी सेवा तो होनी ही चाहिए, परन्तु विद्वान्की सेवा विशेष रूपसे होनी चाहिए। इसीलिए हमारे शास्त्रोंके अनुसार विद्वान् ब्राह्मणको दिया गया दान धर्म एवं संस्कृतिके संरक्षण और विस्तारके लिए होता है।

तो श्रीकृष्ण सुदामाको अपने महलके भीतर ले गये। उन्होंने उनको स्नान करवाकर अपना पीताम्बर पहनाया, यज्ञोपवीत धारण करवाया, चन्दन लगवाया और फिर स्वादिष्ट भोजन करवाया। उसके बाद उनको पलंग पर बैठाकर अपनी समस्त पत्नियों सहित उनकी पूजा की।

कथावाचक लोग कहते हैं कि श्रीकृष्णकी सब पत्नियाँ आ आकर सुदामाकी पूजा करने लगीं, उनके ऊपर पुष्प चढ़ाने लगीं, उनको नैवेद्यके रूपमें एक-एक पेड़ा खिलाने लगीं और तब सुदामाजी उनको 'सौभाग्यवती भव, पुत्रवती भव, पतिप्रिया भव' कहकर आशीर्वाद देने लगे। जब सौ दो सौ-पाँच सौ पत्नियाँ पूजा कर चुकीं तब सुदामीजीने पूछा कि अभी और कितनी हैं ? श्रीकृष्णने इशारा किया कि अभी चुप रहो ! लेकिन सुदामा एक-एक पेड़ा करके भी कितने पेड़े खायें ! बादमें टुकड़ा-टुकड़ा करके खाने लगे ! जब टुकड़े-टुकड़े खाना भी कठिन हो गया तब मुँहमें लगा लगाकर छोड़ने लगे। उनके ललाटसे चन्दन पोंछने और सिरसे फूल उतारनेके लिए दास-दासियाँ लगानी पड़ीं। सुदामा 'सौभाग्यवती भव, पुत्रवती भव, पतिप्रिया भव' कहते-कहते इतने थक गये कि बाद में भव-भव बोलने लगे। फिर पत्नियोंकी सोलह हजार संख्या पूरी होते होते तो उनसे भव भव भी नहीं बोला गया, वे भो भो बोलने लगे।

लेकिन यह बात श्रीमद्भागवतमें नहीं लिखी गयी है। यह बात तो कथावाचक लोग श्रोताओंको हँसानेके लिए बोलते हैं। कभी-कभी प्रसंगानुसार हँसाना भी ठीक है, नहीं तो श्रोता लोग सोने लगते हैं।

अब जब रात हुई तब श्रीकृष्ण सुदामासे गुरुकुल-जीवनकी बातें करने लगे। श्रीकृष्णने कहा कि हम लोग गुरुकुलमें समान भावसे रहते थे। हममें छोटे-बड़ेका कोई भेद-भाव नहीं था। जैसे अन्य विद्यार्थी गुरुजीकी पाकशालाके लिए लकड़ियाँ लाते थे, वैसे ही हम लोग भी लाते थे। आपको याद होगा कि एक बार जब हम लोग वर्षाके कारण जंगलमें फँस गये थे तब गुरुजी हमारे लिए कितने चिन्तित हुए थे।

इस प्रकार श्रीकृष्णने अपने गुरुकुल-वासकी बड़ी प्रशंसा की और बातों ही बातोंमें सारी रात व्यतीत हो गयी। दूसरे दिन जब सुदामाके जानेका समय आया तब भगवान् श्रीकृष्णने सोचा कि इस मित्र ब्राह्मणके विप्रत्व और ऋषित्व दोनोंकी रक्षा करनी चाहिए। यह ब्राह्मण तो त्यागी है, निष्काम है, इसने कभी कुछ पानेके लिये मेरा भजन नहीं किया। लेकिन फिर भी इसको कोई अपेक्षा नहीं है तो क्या हुआ, इसकी पत्नीको तो अपनी दरिद्रताके निवारणकी अपेक्षा है ! जो मेरे आश्रितकी आश्रित है, उसका भी ध्यान रखना मेरा कर्त्तव्य है।

यह सोचकर भगवान् श्रीकृष्णने सुदामासे पूछा कि ब्राह्मण देवता, मेरे लिए क्या लाये हो ? अब तो सुदामा सकुचा गये। उन्होंने अपनी चार मुट्ठी चिवड़ोंवाली उस पोटलीको, जिसमें उनकी गरीबीका इतिहास लिखा था, काँखके नीचे दबा लिया, वे उसको खोलें तो कैसे खोलें, दें तो कैसे दें ?

लेकिन अन्तर्यामी श्रीकृष्णसे कुछ छिपा नहीं रहा। उन्होंने जबरदस्ती पोटली छीन ली। उसमें से एक मुट्ठी चिवड़ा निकालकर खा गये। दूसरी मुट्ठी चिवड़ा खानेके लिए तैयार हुए तो रुक्मिणीने उनका हाथ पकड़ लिया और कहा कि हम लोगोंको क्या ब्राह्मणका प्रसाद नहीं मिलेगा ? आपने जो इनका एक मुट्ठी चिवड़ा ग्रहण कर लिया, उसी से इनको संसारकी सारी सम्पदा मिल जायेगी। यदि आप दूसरी मुट्ठी चिवड़ा ग्रहण कर लेंगे तो हम लोगोंको भी इन्हींके घर जाकर इनकी सेवा करनी पड़ेगी।

यह कहकर रुक्मिणीने भगवान्‌के हाथसे लिया हुआ दूसरी मुट्ठीका चिवड़ा कुछ स्वयं खाया तथा कुछ दूसरों को दे दिया। ब्राह्मण के घरका प्रसाद सबको मिल गया।

लेकिन यह सब होने पर भी भगवान् श्रीकृष्णने सुदामाको खाली हाथ बिदा किया। मार्गमें सुदामा मन-ही-मन सोचें कि देखो, श्रीकृष्ण कितने बड़े ब्राह्मण-भक्त हैं। उनके जिस हृदयमें लक्ष्मी निवास करती हैं, उसी हृदयसे उन्होंने मुझको लगा लिया। इतना ही नहीं, जिस पलंग पर उनकी पत्नी लक्ष्मीजी सोती हैं, उसी पर उन्होंने मुझे सुलाया और अपने हाथोंसे मेरे पैर दबाकर मेरी सेवा की।

रही बात धनकी तो उन्होंने सोचा होगा यदि वे मुझे धन दे देंगे तो मैं मदमत्त होकर उनको भूल जाऊँगा और मेरी भक्ति-सम्पत्ति नष्ट हो जायेगी।

देखो, कहाँ में दरिद्र, अतिशय नीच और कहाँ श्रीनिकेतन श्रीकृष्ण ! लेकिन फिर भी उन्होंने मुझे ब्राह्मण समझकर अपनी बाहोंमें भर लिया और हृदयसे लगा लिया-

क्वाहं दरिद्रः पापीयान् क्व कृष्णः श्रीनिकेतनः।
ब्रह्मबन्धुरिति स्माहं बाहुभ्यां परिरम्भितः।। १०.८१.१६

इस प्रकार आनन्दमें मग्न होकर सुदामा अपने गाँवकी ओर जा रहे थे। इतने में वे देखते क्या हैं कि उनके सामने एक अद्भुत नगर है और उसमें बड़े-बड़े महल हैं। उन्होंने कहा कि अरे, मैं रास्ता भूलकर फिर द्वारकामें ही तो नहीं आ गया। वे इसी ऊहापोहमें थे कि उनकी पत्नी सोलहों शृंगारसे विभूषित होकर बाजे-गाजेके साथ उनके स्वागत सत्कारके लिये आ गयी।

अब सुदामाने समझ लिया कि यह सब हमारे प्यारे श्रीकृष्णकी लीला है। जैसे मनुष्य रातमें अपने घरके भीतर सो रहा होता है और बादल बाहर पानी बरसाकर चले जाते हैं, वैसे ही हमारे प्यारे श्रीकृष्ण यह नहीं दिखाते कि वे दाता हैं।

असलमें दान देनेकी पद्धति भी यही है। दान लोगोंको दिखाकर नहीं दिया जाता। वह जितना गुप्त होता है, उतना ही दाताके अन्तःकरणमें अपूर्वकी उत्पत्ति होती है।

सुदामा परमानन्दमें मग्न हो गये। उन्होंने सारा जीवन असंग रहकर, भगवान्‌की दी हुई सम्पत्तिको भगवान्‌की समझकर उसका उपभोग किया। अन्तमें भक्तिके प्रतापसे उनको भगवान्‌की प्राप्ति हो गयी।

इसके बाद श्रीमद्‌भागवतमें कथा आती है कि एक बार सर्वग्रास सूर्यग्रहण लगा और सारे भारतवर्षके लोग समन्तपंचकतीर्थ कुरुक्षेत्रमें इकट्‌ठे हुए।

सूर्यग्रहण ऐसा है मानों ज्ञानपर कोई कलंक लग गया हो। सूर्य है प्रकाशस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, सौरतत्त्व है बुद्धि और उसमें जो राग है, वैराग्य है- विरह है, मिलन है, वह है उसका कलंक। आसमानमें नवग्रह रहते हैं। आजकल तो लोग ग्रहोंकी संख्या अधिक बताने लगे हैं। जितने भी ग्रह हों, वे सब आसमानमें होंगे। लेकिन हमारे हृदयमें जो आग्रह हैं, दुराग्रह हैं, विग्रह हैं, संग्रह हैं, ये सब भी ग्रह ही हैं और हमारे ज्ञानको ढकते रहते हैं। इसीलिए कहा गया कि '**बुद्धेः फलमनाग्रहः**।' यही कारण है कि लोग सूर्यग्रहण के अवसर पर वेदोक्त समन्तपंचक तीर्थ कुरुक्षेत्रमें एकत्र होकर यज्ञ-याग करते हैं। कुरुक्षेत्र देवताओं के यज्ञका पवित्र स्थान है-'देवयज्ञं कुरुक्षेत्रं।' वहाँ जाकर लोग स्नान, यज्ञ-याग और प्रार्थना द्वारा लगे ग्रहणके कलंकको मिटाते हैं। यह ज्ञान-ग्रहण थोड़ी देरके लिए भी सहन करने योग्य नहीं है।

तो, सूर्यग्रहणके अवसरपर देशके अन्यान्य प्रान्तोंके निवासियोंके साथ द्वारका और व्रजके लोग भी कुरुक्षेत्र आये। सबका सबसे मिलना-जुलना हुआ। पुरुष पुरुषोंसे मिले और स्त्रियाँ स्त्रियोंसे मिलीं।

बहुत दिनों बाद नन्द-वसुदेवका मिलन हुआ। वसुदेवजीने आनन्द विह्वल होकर नन्दबाबाको गले लगा लिया। उन्हें एक-एक करके पिछली बातें याद आने लगीं कि कंस किस प्रकार उन्हें सताता था और कैसे उन्होंने अपने पुत्रको गोकुल ले जाकर नन्दजीके घरमें रख दिया था।

श्रीकृष्ण और बलरामजीने नन्दबाबा और यशोदा मैयाके चरणोंमें प्रणाम किया। वे उनके हृदयसे लग गये, लेकिन कुछ बोल नहीं सके। क्योंकि प्रेमातिरेकके कारण उनका गला रुँध गया। नन्द-यशोदाका भी यही हाल रहा। उन्होंने दोनों भाइयोंका प्रगाढ़ आलिंगन करके उनको अपनी गोदमें बैठा लिया। उससे उनके हृदयमें चिरकालसे न मिलनेका जो दुःख था, वह मिट गया।

रोहिणी और देवकीजो यशोदाजी से मिलीं तो उन्होंने उनको अपने अंकमें भर लिया। वे कहने लगीं कि व्रजेश्वरी यशोदा रानी, आपने और व्रजेश्वर नन्दजी ने हमारे साथ मित्रताका, आत्मीयताका, जो व्यवहार किया है, उसे हम कभी भूल नहीं सकतीं। हमारे बलराम कृष्ण के असली माँ-बाप तो आप ही लोग हैं। आप लोगोंने ही अपनी आँखोंकी पुतलियोंकी तरह इनकी रक्षा की और इनको बड़े लाड़-प्यारसे पाला-पोसा।

इधर प्रेममयी गोपियाँ भी बहुत दिनों बाद अपने प्रियतम श्रीकृष्णका दर्शन प्राप्त करके मन-ही-मन उनका आलिंगन कर रही थीं। उनकी तन्मयता देखकर श्रीकृष्ण उनके पास गये और कुशल-मंगलके उपरान्त हँसते हुए बोले—

गोपियो, तुमलोग अवश्य ही मन-ही-मन मेरा तिरस्कार कर रही होगीं और समझती होगीं कि यह कितना विश्वासघाती है, जो हमें छोड़कर चला गया। लेकिन मेरे सामने इतने बड़े-बड़े काम आ गये कि मुझे उनको पूरा करनेमें लग जाना पड़ा।

गोपियो, जीवनमें प्रेम भी चाहिए, कर्म भी चाहिए और ज्ञान भी चाहिए। यह सारी सृष्टि एकमात्र मुझ परमात्माका विलास है। जैसे मिट्टीके बर्तनोंमें मिट्टी रहती है, पानीकी लहरोंमें पानी रहता है, आगकी लपटोंमें आग रहती है, हवाके झोकोंमें हवा रहती है और सारे घटाकाश महाकाशमें आकाश रहता है, वैसे ही समस्त सृष्टि में मैं-ही-मैं हूँ। सबके भीतर व्याप्त आत्मा मेरा ही स्वरूप है और वही स्वरूप तुम्हारा भी है।

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने गोपियोंको ऐसी शिक्षा दी कि उनका जीव-कोश तत्काल नष्ट हो गया और वे उनसे एकाकार हो गयीं-

अध्यात्मशिक्षया गोप्य एवं कृष्णेन शिक्षिताः।
तदनुस्मरणध्वस्तजीवकोशास्तमध्यगन्।।१०.८२.४८

बात यह है कि गोपियोंका श्रीकृष्णके प्रति असीम विश्वास था, अनन्त प्रेम था और अगाध भक्ति थी। ऐसी श्रद्धा जहाँ होती है, वहाँ वक्ताकी वाणी सीधे हृदयमें प्रविष्ट हो जाती है और उससे तत्काल जीवनमें परिवर्तन आ जाता है। यही स्थिति गोपियोंकी हो गयी।

फिर भी उन्होंने कहा कि प्यारे श्यामसुन्दर, निःसन्देह हम जीव नहीं हैं- नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त हैं। किन्तु इतना अवश्य चाहती हैं कि जबतक हमारा यह शरीर है तबतक आपका प्रेम हमारे हृदयमें बना रहे। शरीर छूट जानेके बाद तो हम-तुम एक हैं ही—

आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्दं योगेश्वरैर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः।
संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं गेहञ्जुषामपि मनस्युदियात् सदा नः।।

१०.८२.४९

इसके बाद प्रसंग आता है भगवान् श्रीकृष्णकी पटरानियोंके साथ द्रौपदीके सम्भाषणका। द्रौपदीने रुक्मिणी, सत्यभामा, जाम्बवती, कालिन्दी, मित्रविन्दा, सत्या, भद्रा और लक्ष्मणा इन आठों पटरानियों तथा अन्यान्य पत्नियोंको सम्बोधित करते हुए कहा कि तुम लोग अपने-अपने विवाहकी कथा सुनाओ।

इस पर सबने परम प्रियतम श्रीकृष्णके प्रति भक्तिभाव प्रकट करते हुए अपने-अपने विवाहकी कथा कह सुनायी। लक्ष्मणाने कहा कि जिस प्रकार आपके पिताने मत्स्यवेधका आयोजन किया था, उसी प्रकार मेरे पिताने भी किया था। लेकिन आपके स्वयंवरकी अपेक्षा मेरे स्वयंवरकी विशेषता यह थी कि मत्स्य बाहरसे ढका हुआ था और केवल जलमें उसकी परछाईं दीख रही थी। उसको वेधनेके लिए जरासन्ध, शिशुपाल, दुर्योधन, कर्ण आदि बड़े-बड़े वीर आये—यहाँतक कि आपके वीरवर अर्जुन भी आये; किन्तु किसीसे भी लक्ष्यवेध नहीं हो सका। अन्तमें हमारे भगवानने् खेल-खेलमें लक्ष्य वेध कर दिया और उनके साथ मेरा विवाह हो गया।

यह सुनकर द्रौपदीके मनमें जो यह धारणा थी कि केवल मेरे पतिने ही लक्ष्यवेध करके मुझे प्राप्त किया है और वे धनुर्विद्यामें अद्वितीय हैं, वह जाती रही।

इसके बाद सोलह हजार पत्नियोंकी ओरसे रोहिणीने कहा कि साध्वी द्रौपदीजी, हम भगवान्‌को अपने पतिरूपमें पाकर बहुत प्रसन्न हैं। हमको कोई भोग नहीं चाहिए, सार्वभौम नहीं चाहिए, पारमेष्ठ्य नहीं चाहिए, हमें तो केवल यह चाहिए कि हमारे प्रियतमके चरणोंकी धूलि लक्ष्मीजी अपने वक्षस्थल पर धारण करती हैं, वह हमें मिलती रहे—

न वयं साध्वि साम्राज्यं स्वाराज्यं भौज्यमप्युत।
वैराज्यं पारमेष्ठ्यं च आनन्त्यं वा हरेः पदम्।।
कामयामह एतस्य श्रीमत्पादरजः श्रियः।
कुचकुंकुमगन्धाढ्यं मूर्ध्ना वोढुं गदाभृतः।।

१०.८३.४१-४२

श्रीशुकदेवजी महाराज का कहना है कि परीक्षित भगवान् श्रीकृष्णकी पत्नियोंने उनके प्रति जो प्रेमोद्‌गार प्रकट किये, उनको केवल द्रोपदी ने ही

नहीं, कुन्ती-गान्धारी-सुभद्रा और गोपियों आदिने भी सुना। वे सब की सब श्रीकृष्णपत्नियोंका अलौकिक पतिप्रेम देखकर मुग्ध हो गयीं और सबकी आँखोंमें प्रेमाश्रु भर आये।

इसके बाद व्यास, नारद, च्यवन, देवल, असित, विश्वामित्र, वसिष्ठ, भृगु, कश्यप, अत्रि, मार्कण्डेय, बृहस्पति और सनकादि महात्मा, जो सूर्यग्रहणके अवसर पर कुरुक्षेत्र आये थे, मिलने आ गये। श्रीकृष्ण-बलरामने उठकर उनका स्वागत-सत्कार किया, उनको यथास्थान विराजमान करवाया, उनका षोडशोपचार पूजन किया और फिर श्रीकृष्ण उनकी स्तुति करने लगे—

महात्माओ और सभासदो, आज हमलोगों का जीवन सफल हो गया। जिन योगेश्वरोंका दर्शन बड़े-बड़े देवताओंको दुर्लभ है, वे आज हमारे सामने हैं। केवल जलमय तीर्थ-ही-तीर्थ नहीं होते, मिट्टी या पत्थरकी प्रतिमाएँ ही देवता नहीं होतीं। वास्तवमें सन्त-पुरुष ही तीर्थ और देवता हैं। यदि घड़ीदो-घड़ी भी उनकी सेवा की जाये तो वे सारे पाप-ताप मिटा देते हैं—'घ्नन्ति मुहुर्तसेवया।'

अन्तमें भगवान् श्रीकृष्णने कहा कि जो लोग इस कफ-वात-पित्तके बने हुए शरीरको ही आत्मा समझते हैं, स्त्री आदि सम्बन्धियोंको ही अपना प्रिय समझते हैं और पंचभूतनिर्मित मूर्तियों आदिको ही पूज्य समझते हैं; किन्तु ज्ञान-दान करनेवाले महात्माओंका आदर-सत्कार नहीं करते, वे मनुष्य होने पर भी गधोंके समान ही है—

यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके
स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचि-
ज्जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः।। १०.८४.१३

सन्तोंकी ऐसी महिमा, भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे सुनकर महात्मा लोग गद्गद् हो गये। उन्होंने आपसमें कहा कि यह भगवान्का लोक-संग्रह है। उन्होंने लोक-शिक्षणके लिए ही ऐसा कहा है, जिससे कि लोगोंकी श्रद्धा सन्तोंके प्रति बढ़े, अन्यथा ये तो साक्षात् भगवान् हैं और हमारे आराध्य हैं।

इसके बाद महात्माओं ने भी भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति की और उनसे, युधिष्ठिरसे तथा धृतराष्ट्र आदिसे विदा लेकर वे जानेके लिए तैयार हुए कि इसी बीचमें वसुदेवजी वहाँ आ गये और उन्होंने महात्माओंसे प्रार्थना की कि आपलोग हमें ऐसे किसी यज्ञका उपदेश कीजिये, जिसको सम्पन्न करके हम कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जायें।

नारदजीने कहा कि महात्माओ, यह कितने आश्चर्यकी बात है कि वसुदेवजीके घरमें साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण बैठे हैं और ये कर्म-बन्धनसे छूटनेके लिए कोई कर्म करना चाहते हैं-

सन्निकर्षो हि मर्त्यानामनादरणकारणम्।
गांगं हित्वा यथान्याम्भस्तत्रत्यो याति शुद्धये।।१०.८४.३१

जब कोई वस्तु अपने बहुत पास होती है, तब उसकी महिमा समझमें नहीं आती। गंगा-तट पर रहने वाले गंगाको छोड़कर दूसरे तीर्थोंमें स्नान करके पवित्र होनेके लिए जाते हैं।

महात्माओंने कहा कि वसुदेवजी, कर्मसे छूटनेका उपाय यही है कि आप अपने कर्मके द्वारा भगवान्‌की आराधना कीजिये। आप ऋषियों और पितरोंके ऋणसे तो उऋण हैं, अब यज्ञ द्वारा देव-ऋण चुका दीजिये।

इसके बाद वसुदेवजीने उन्हीं ऋषियोंको ऋत्विज बनाकर, उनका वरण करके बहुत बड़ा यज्ञ किया। वे उसमें अपनी पत्नियोंके साथ दीक्षित हुए। यज्ञके अन्तमें अवभृथ स्नान हुआ। महात्मा लोग प्रसन्न होकर लौट गये। जितने सम्बन्धी आये थे, वे सब भी चले गये। लेकिन नन्दबाबाका दल वहीं तीन महीनों तक श्रीकृष्ण-बलराम तथा अन्य यदुवंशी लोगोंके साथ रहा। बड़ा आनन्द होता रहा। अन्तमें नन्दबाबा अपने दलके साथ बिदा होकर व्रज लौटे और श्रीकृष्णका समस्त परिवार द्वारका चला गया।

श्रीकृष्ण-बलरामका यह नित्य नियम था कि वे प्रतिदिन प्रातःकाल अपने माता-पिता देवकी-वसुदेवके पास जाकर उनके चरणोंकी वन्दना करते थे। हमारे आचार्योंका कहना है कि जो व्यक्ति प्रतिदिन अपने बड़े-बूढ़ोंको प्रणाम करता है, उसके भीतर आयु, विद्या, यश और बल इन चार वस्तुओंकी वृद्धि होती है-

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्।।

तो, अपने नित्य-नियमानुसार जब एक दिन श्रीकृष्ण-बलराम वसुदेव-देवकीको प्रणाम करने गये तब वसुदेवजीने महात्माओं द्वारा सुनी हुई महिमाके अनुसार श्रीकृष्णकी स्तुति करते हुएकहा कि तुमतो साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हो।

श्रीकृष्णने कहा कि पिताजी, जैसे गुरुजन अपने बच्चोंको तत्त्वमसि कहकर उपदेश देते हैं, वैसे ही आप मुझको उपदेश कर रहे हैं। रही बात ब्रह्म होनेकी, वह तो आप भी हैं, माताजी भी हैं, दाऊ दादा भी हैं और सारे

द्वारकावासी भी हैं। यहाँतक कि यह सारा चराचर जगत् ही ब्रह्मस्वरूप है।

इसके बाद देवकीने प्रार्थना की कि हमारे मरे हुए बेटे जहाँ कहीं हों, उन सबको लौटा लाओ। क्योंकि तुम अपने गुरु-पुत्र को लौटा लाये थे। श्रीकृष्णने माताकी आज्ञा शिरोधार्य की और वे बलरामजी के साथ योग-मायाका आश्रय लेकर सुतल लोक गये। वहाँ राजा बलिने उनका बड़ा भारी स्वागत-सत्कार और पूजन-अर्चन किया उनकी स्तुति की और उनके छहों भाइयोंको वापस भेज दिया। देवकीजी अपने उन पुत्रोंको देखकर आनन्दित हुईं और उनको स्तनपान कराया। फिर तो वे देवता हो गये और सबसे बिदा लेकर देवलोक लौट गये।

इसके बाद राजा परीक्षितने श्रीशुकदेवजीसे प्रार्थना की कि महाराज, आपने यह तो बताया ही नहीं कि मेरी दादी सुभद्राजी का विवाह मेरे दादा अर्जुनके साथ कैसे हुआ था ?

श्रीशुकदेवजी महाराज्ने कहा कि अच्छा परीक्षित, अपनी दादीके विवाहकी कथा भी सुन लो। यह तो तुम जानते ही हो कि सुभद्राजी बलरामजी और श्रीकृष्णकी बहिन थीं। बलरामजी चाहते थे कि उनका विवाह दुर्योधनके साथ कर दिया जाय। लेकिन यह बात वसुदेव-देवकी और श्रीकृष्णको नहीं जँचती थी। पाण्डवोंको भी यह सम्बन्ध पसन्द नहीं था। उन सबने आपस में सलाह की और उसके अनुसार अर्जुन साधु-वेश बनाकर वहाँ रहने लगे।

एक दिन बलरामजीने साधुवेशधारी अर्जुनको भोजन पर आमन्त्रित किया। उसी दिन सुभद्राजीसे उनका मेल-जोल हो गया और जब वे देवीकी पूजा करने मन्दिर गयीं तब वहाँसे अर्जुनने उनका हरण कर लिया।

अब तो बलरामजी बड़े क्रोधित हुए। लेकिन श्रीकृष्णने उनके पाँव पकड़ लिये और कहा कि सुभद्रा बहिन है, विवाह के योग्य है और अर्जुनसे प्रेम करती है। इसलिए यदि अर्जुन उसका हरण करके ले गया तो इससे क्या बिगड़ा है।

इसके बाद बलरामजी का क्रोध शान्त हो गया और उन्होंने अर्जुनके साथ सुभद्राका विवाह कर दिया। उसी सुभद्राके गर्भसे अभिमन्यु हुए और उनका विवाह उत्तरासे हुआ। उसी उत्तरा-अभिमन्युके तुम पुत्र हो ! इसके बाद मिथिला नगर-निवासी गृहस्थ ब्राह्मण श्रुतदेव और वहाँके राजा बहुलाश्वकी कथा आती है। दोनों ही भगवान् श्रीकृष्णके बड़े भक्त थे। यों तो भक्त भगवान्‌से मिलने जाते हैं, लेकिन हमारे भगवान् श्रीकृष्ण ऐसे हैं कि इनको भक्तोंसे मिले बिना नहीं रहा जाता। इसलिए एक दिन वे श्रुतदेव और बहुलाश्वसे मिलनेके लिए चल पड़े।

लेकिन भगवान् अकेले नहीं गये, उनके साथ व्यास, वसिष्ठ, शुकदेव, वामदेव आदि बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि भी गये। उनकी यात्रा निकली द्वारकासे और पहुँची मिथिलापुरी में। रास्तेमें लोग उनका दर्शन करते, स्वागत-सत्कार करते, पूजन करते और सत्संग करते। इस प्रकार वे लोग बड़े आनन्दसे मिथिलापुरी पहुँच गये।

मिथिला पहुँचने पर श्रुतदेव और राजा बहुलाश्व दोनों भगवान् तथा ऋषि-महर्षियोंके पास आये। उन दोनोंने एकसाथ हाथ जोड़कर प्रार्थना की कि आप लोग हमारे अतिथि बनें।

अब भगवान् क्या करें ? यदि राजाके घर जायें तो लोग कहेंगे कि लालची हैं, राजाके घर भेंट-पूजा ज्यादा मिलेगी, इसलिए उनके घर चले गये। इसी तरह यदि ब्राह्मणके घर जायें तो लोग कहेंगे कि इन्होंने ब्राह्मणका तो आदर किया, लेकिन राजाका अनादर कर दिया। राजा भी देवता है और ब्राह्मण भी देवता है। इसलिए व्यवहार दोनोंके साथ समान होना चाहिए।

भगवान् श्रीकृष्णने दोनों भक्तोंको एकसाथ सन्तुष्ट करनेके लिए उपाय निकाल लिया। अपने संकल्पसे वे स्वयं, उनके साथी ऋषि-महर्षि, सेवक, रथ और घोड़े आदि सबके सब दो दो हो गये। उनमें से एक दल गया श्रुतदेवके यहाँ और दूसरा दल गया राजा बहुलाश्वके यहाँ।

श्रुतदेवके यहाँ स्वागत-सत्कारके लिए तो और कुछ था नहीं, केवल थोड़ा सा सवाँ और शीतल जल था। बैठनेके लिए कुशका आसन था। उसी पर उसने भगवान् तथा सब ऋषि-महर्षियोंको बैठाया और दुपट्टा हिला-हिलाकर उनके सामने नाचते हुए कहने लगा कि मेरे धन्य भाग्य हैं, जो आप लोग यहाँ पधारे।

जो दल राजा बहुलाश्वके यहाँ गया, उसका बड़ा भारी स्वागत सत्कार हुआ। राजाने अपने वैभवके अनुसार उनकी सेवा-शुश्रूषा की।

दोनों भक्तोंकी परिस्थितियोंको देखते हुए भगवान्ने एक आश्चर्य और प्रकट किया। वह यह कि श्रुतदेवके घरमें केवल एक ही दिन भगवान् और उनके दलका स्वागत-सत्कार हुआ। लेकिन श्रुतदेवके घरका वह एक दिन राजा बहुलाश्वके घरके तीस दिनके बराबर हो गया।

उसी अवधिमें दोनोंने भगवान्‌की स्तुति की और भगवान्ने उनको सत्यके साक्षात्कारका मार्ग बताया। उन्होंने कहा कि घड़ेमें गंगा-जल भरो, चाहे शराब भरो, उसमें मिट्टी तो रहती ही है। घड़ा एक कार्य है, एक आकार है और एक नाम है। वह मिट सकता है, परन्तु उसकी मृत्तिका नहीं मिट सकती। इसलिए मृत्तिका ही सत्य है।

इसी प्रकार भगवान्‌ने बताया कि जो सम्पूर्ण प्रपञ्च है, यहाँतक कि श्रीनारायण, श्रीराम और स्वयं मेरी जो आकृतियाँ हैं, वे किस उपादानसे, किस तत्त्वमें बनी हैं और उसका साक्षात्कार कैसे होता है ?

इसके बाद श्रुतदेव और बहुलाश्व दोनों भगवत्स्वरूपको प्राप्त हो गये तथा भगवान् श्रीकृष्णने ऋषि-महर्षियोंके साथ उनसे बिदा ले ली। उनके घरोंसे बाहर निकलने पर दोनों दल एक होकर द्वारका लौट गये। श्रुतदेवने समझा कि भगवान् मेरे घर आये और बहुलाश्वने समझा कि भगवान् मेरे घर आये। इस प्रकार भगवान्‌ने एक साथ दोनोंको सन्तुष्ट कर दिया।

इसके बाद परीक्षितने यह प्रश्न किया कि प्रभो, परमात्मा तो निर्गुण है, निराकार है, निर्विकार है, इसलिये शब्दकी प्रवृत्ति कैसे होती है ? जो सत् भी नहीं है, सत्‌से परे हैं, असत्‌से भी परे है, उसका वर्णन वेदवाणी कैसे करती है ?

ब्रह्मन् ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तयः।
कथं चरन्ति श्रुतयः साक्षात् सदसतः परे।।१०.८७.१

श्रीशुकदेवजी महाराजने समझाया कि देखो परीक्षित, हम देहमें बैठे हैं तो हमको सृष्टि दीखती है। सृष्टिमें शरीर दीखता है। शरीरमें इन्द्रियाँ हैं, बुद्धि है, आत्मा है। ये सब कैसे प्रकट हुए ? धर्म-कर्म करनेके लिए, उसका फल भोगनेके लिए शरीर प्रकट हुआ, संसारका अनुभव करनेके लिए इन्द्रियाँ प्रकट हुईं, इनके बारेमें संकल्प-विकल्प और सद्‌भाव-भक्ति करनेके लिए मन प्रकट हुआ तथा विचार करनेके लिए बुद्धि प्रकट हुई। इस प्रकार सारे के सारे जीव धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धि करनेके लिए ही जी रहे हैं।

इस विषयको स्पष्ट करनेके लिए श्रीशुकदेवजी महाराजने एक उपाख्यान सुनाया, जो इस प्रकार है—एक बार नारदजी श्वेत-द्वीपमें चले गये थे और वहाँ उन्हें सनकादिकों का बड़ा भारी सत्संग प्राप्त हुआ था।

सनक-सनन्दन-सनातन-सनत्कुमार ये चारों समान थे। लेकिन सत्संगके समय एकको वक्ता बना देते थे और शेष तीनों श्रोता बनकर श्रवण करते थे।

सनकादिकने अपने सत्संगमें बताया कि जैसे कोई महाराजा रात्रिमें शयन करता है और प्रातःकाल होने पर वन्दीजनउसके पास जाकर जगाते हैं, वैसे ही भगवान् महाप्रलय के समय अपनी योग-निद्रामें शयन करते हैं और श्रुतियाँ मंगल-गान करके उनको जगाती हैं।

अथवा जैसे श्रीराधाकृष्ण निकुंजमें विहार कर रहे होते हैं और सखियाँ

उनका गुणगान करके उनको जगाती हैं, वैसे ही श्रुतियाँ भगवान्‌का गुणगान करके उनको जगाती हैं।

देखो, श्रीमद्‌भागवतका यह प्रसंग ऐसा है कि इस पर सबसे अधिक टीकाएँ मिलती हैं। श्रीशंकराचार्य-पक्षकी ओरसे श्रीधर स्वामीने, श्रीरामानुजाचार्य-पक्षकी ओरसे वीरराघवाचार्यने, श्रीमध्वाचार्य पक्षकी ओर से विजय ध्वजने और श्रीनिम्बार्काचार्य पक्षकी ओरसे शुकदेवने—इसप्रकार समस्त सम्प्रदाय-आचार्योंके प्रतिनिधियोंने इसपर टीकाएँ लिखीं हैं। अब आप लोग संक्षेपमें उन श्रुति-वचनोंका रसास्वादन कीजिये—

> **जय जय जह्यजामजित दोषगृभीतगुणां,**
> **त्वमसि यदात्मना समवरुद्धसमस्तभगः।**
> **अगजगदोकसामखिलशक्त्यवबोधक ते,**
> **क्वचिदजयाऽऽत्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः।।**
> **बृहदुपलब्धमेतदवयन्त्यवशेषतया ,**
> **यत उदयास्तमयौ विकृतेर्मृदि वाविकृतात्।**
> **अत ऋषयो दधुस्त्वयि मनोवचनाचरितं,**
> **कथमयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम्।।**

१०.८७.१४-१५

इस छन्दको नरपुटक छन्द बोलते हैं। श्रीमद्‌भागवतमें वेदोंका परम तात्पर्य निश्चय करनेके लिए जितनी भी स्तुतियाँ हैं, उन सबमें यह स्तुति श्रेष्ठ मानी जाती है। इसमें युक्तियोंके द्वारा, श्रुतियोंके द्वारा, अनुभवके द्वारा परम तत्त्वका निरूपण हुआ है।

श्रुतियाँ कहती हैं कि हे प्रभो, आपकी जय हो, जय हो ! हमारे हृदयमें काम-क्रोधकी, संसारकी जय हो रही है।

तब तुम स्वयं ही उन पर अपनी विजय क्यों नहीं स्थापित करतीं ? इसलिए नहीं कर पातीं कि अनेकतामें एकता दिखानेवाली मायाने हमको फँसा रखा है।

तब तुम मारो न इस मायाको ! नहीं प्रभो, यह हमारी शक्तिसे नहीं मरेगी, आपकी शक्तिसे ही मर सकती है।

अरी श्रुतियो, तुमको यह कैसे मालूम पड़ा कि मेरी शक्ति ही सबके अन्दर है ?

श्रुतियाँ बोलीं कि आप कहीं मायाके साथ और कहीं कर्म के साथ विहार करते हैं। उस समय हम सब प्राणान्त रूपसे आपका निरूपण करती हैं। नाम

चाहे अग्नि हो, इन्द्र हो—कुछ भी क्यों न हो, अलग-अलग नाम होने पर भी सबमें आप ही एक परमात्मा अनुस्यूत हैं। जो लोग आपका ध्यान नहीं करते, भजन नहीं करते, वे संसारमें भटक जाते हैं। वस्तुतः यह सृष्टि तो आपके स्वरूपमें है ही नहीं।

अन्तमें वेद 'फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः'—यह कहकर परमात्माके अतिरिक्त जितनी भी वस्तुएँ हैं, उन सबका निषेध कर देते हैं, उनको काट देते हैं और फिर कहते हैं कि प्रभो, तुम ही तुम रहो, हम मर जायें—

तू प्रभु जीवै मैं मर जाऊँ

परमात्माका साक्षात्कार हो जानेके बाद वेद नहीं रहते और अन्ततोगत्वा परमात्मामें उनका निधन हो जाता है।

तैत्तिरीयोपनिषद्में तो मनोमय कोशके सिररूपमें वेदोंका वर्णन करते हुए कहा गया है कि महाराज, हम तो आपको लखानेके लिए, आपकी पहचान करानेके लिए ही बोलते हैं। जहाँ आपकी पहचान हुई कि हमारा काम समाप्त हो गया और हम आपमें समा गये।

इस प्रकार सनकादिने प्रवचन किया, जो सम्पूर्ण वेदों, पुराणों और इतिहासोंका सार-सार है। इस प्रवचनको सुनकर नारदजी बहुत प्रसन्न हुए।

इसके बाद परीक्षितने यह प्रश्न उठाया कि समस्त भोगोंके त्यागी शंकरजी के उपासक लोग तो भोग-सम्पन्न हो जाते हैं, किन्तु लक्ष्मीपति भगवान् विष्णुके उपासक भोग-रहित हो जाते हैं-इसका कारण क्या है ?

देखो, श्रीमद्भागवत वैष्णवपुराण है। इसमें भगवान् विष्णुकी महिमाका वर्णन है। इसी तरह शिवपुराणमें भगवान् शिवकी महिमाका वर्णन है। इसमें कहीं कोई परस्पर-विरोध नहीं है। शिवावच्छिन्न चैतन्य भी ब्रह्म है और नारायणावच्छिन्न चैतन्य भी ब्रह्म है। नाम दो हैं, रूप दो हैं, किन्तु ब्रह्म तो दोनों में एक ही है।

इसलिए श्रीशुकदेवजी महाराजने परीक्षित्को बतायाकि शंकरजी जरा जल्दी प्रसन्न हो जाते हैं, आशुतोष हैं, औघड़दानी हैं। उनको अपने पास तो कुछ रखना होता नहीं, इसलिए सब कुछ अपने भक्तोंको दे देते हैं। किन्तु विष्णु भगवान्की प्रसन्नता प्राप्त होनेमें थोड़ा विलम्ब होता है।

इस सम्बन्धमें महात्मा लोग एक प्राचीन इतिहास सुनाते हैं। वह इतिहास है वृकासुरका ! उसके पेटमें वृक नामक अग्निका निवास था। उसने नारदजीसे यह सुनकर कि भगवान् शंकर जल्दी प्रसन्न हो जाते हैं, उनको प्रसन्न करनेके लिए तपस्या की। वह अपना मांस काट-काटकर हवन करने

लगा। जब सिर काटकर हवन करनेके लिए उद्यत हुआ तब शिवजीने उसका हाथ पकड़ लिया और कहा कि तू अपना सिर मत काट। यह मुझको पसन्द नहीं है। तुझे जो चाहिए, वह वर मुझसे मांग ले।

इस पर वृकासुरने यह वर मांगा कि मैं जिसके सिर पर हाथ रखूं, वह भस्म हो जाये। शंकरजीको यह वरदान अच्छा तो नहीं लगा, लेकिन उन्होंने कह दिया कि जा, ऐसा ही होगा।

यह वरदान प्राप्त होते ही वृकासुरके मनमें स्वयं गौरीजीको हर लेनेकी इच्छा हुई—''गौरीहरणलालसः।' जो विश्वासघाती और दुष्ट होते हैं, वे कब क्या कर बैठेंगे, इसका पता नहीं रहता।

वृकासुरके मनमें गौरीजीके हरणकी लालसा उत्पन्न होते ही वह शंकरजीके सिर पर हाथ रखनेके लिए दौड़ा। यह देखकर शंकरजी भाग खड़े हुए और वृकासुर उनका पीछा करने लगा।

जब यह खबर वैकुण्ठमें विष्णु भगवान्‌के पास पहुँची तब वे झट ब्रह्मचारी बनकर वृकासुरके सामने आ गये और बोले कि अरे ओ वृकासुर, जरा ठहर तो सही ! किसलिए तू दौड़ रहा है ? क्यों अपनेको इतना कष्ट दे रहा है ? तुम्हारी साँस धौंकनीकी तरह चल रही है। फिर भी तू भागा-भागा जा रहा है बता, क्या बात है ?

वृकासुर बोला कि शंकरजीने मुझको यह वरदान दिया है कि मैं जिसके सिरपर हाथ रख दूँगा, वह भस्म हो जायेगा। इसलिए मैं पहले इन्हींके सिर पर हाथ रखकर देखना चाहता हूँ।

ब्रह्मचारी वेशधारी भगवान् विष्णुने कहा कि अरे शिव तो पागल है। तुमने उसकी बातपर विश्वास कैसे कर लिया ? उसका वरदान क्या कभी सच्चा हो सकता है ? अरे, पहले परीक्षा करके तो देख ले !

वृकासुर बोला कि हाँ आप ठीक कहते हैं। पहले परीक्षा करके देख लेना चाहिए। नहीं तो व्यर्थ दौड़नेमें कष्ट ही कष्ट है। लेकिन मैं परीक्षा कहाँ करूँ महाराज ?

भगवान् विष्णुने कहा कि अरे, पहले अपने सिर पर हाथ रखकर देख ले !

अब विष्णु भगवान्‌की माया देखो ! वृकासुरने उनकी बात मान ली, अपने सिरपर हाथ रख दिया और वह वहीं जलकर भस्म हो गया।

शंकरजीका भागना बन्द हुआ। विष्णु भगवान्‌ने कहा कि आप ऐसा वरदान मत दिया कीजिये ! फिर दोनों अपने-अपने लोक चले गये।

इसके आगे श्रीशुकदेवजी महाराज परीक्षितको बताते हैं कि एक बार सरस्वती नदीके तट पर महात्माओंकी सभा हुई और उसमें यह प्रश्न उठा कि ब्रह्मा-विष्णु-महेश इन तीनों देवताओंमें सबसे बड़ा कौन है—'त्रिष्वधीशेषु को महान् ? भृगुजी प्रतिनिधि बनाये गये कि वे जाँच करके बतायें।

इसके अनुसार भृगुजी पहले ब्रह्माजीके पास गये। ब्रह्माजीने सोचा कि मेरा बेटा आया है, बड़ी खुशी की बात है। लेकिन भृगुजी ब्रह्माजीके सामने खम्भेकी तरह खड़े हो गये। उन्होंने न तो पिता ब्रह्माजीके सामने सिर झुकाया, न हाथ जोड़ा और न प्रणाम किया। भृगुजीकी यह अशिष्टता देखकर ब्रह्माजीको क्रोध आ गया। लेकिन वे करें तो क्या करें ? शाप दें या और कोई दण्ड दें ? बेटेकी बात तो सहनी ही पड़ती है। घरवाले सगे-सम्बन्धी ही ज्यादा सहन करवाते हैं। उन्हींकी ज्यादती सबसे अधिक सहनी पड़ती है। इसलिए ब्रह्माजी सब कुछ सहनकर चुप हो गये।

लेकिन भृगुजीसे कुछ छिपा नहीं रहा और वे वहाँसे लौटकर शंकरजीके पास गये। शंकरजी भृगुजीको देखकर यह कहते हुए कि मेरा भाई आया है, उनकी ओर मिलनेके लिए दौड़े ! लेकिन भृगुजी बोले कि अरे, मुझे छूना मत। तुम गलेमें खोपड़ीकी माला पहनते हो, शरीरमें चिताकी भस्म लगाते हो और सांपोंको आभूषणोंकी तरह लपेटे फिरते हो।

यह सुनकर शंकरजी को क्रोध आ गया और वे त्रिशूल लेकर भृगुजीको मारनेके लिए दौड़े। लेकिन गौरीजी ने उनके पाँव पकड़ लिए और कहा कि महाराज, ब्राह्मण हैं, भाई हैं। इनको मत मारो। शंकरजीने भृगुजी को छोड़ दिया।

वहाँसे चलकर भृगुजी विष्णु भगवान्के पास पहुँचे। उन्होंने न तो द्वारपालोंकी ओर देखा और न लक्ष्मीजीकी ओर ! वे सीधे शेषशैया पर शयन कर रहे विष्णुके पास पहुँच गये और उन्होंने उनकी छाती पर एक लात जमा दी। विष्णु भगवान्ने झट भृगुजीका पाँव पकड़ लिया और उसको सहलाते हुए कहा कि महाराज, मेरी छाती बड़ी कठोर है, आपके पाँव बड़े कोमल हैं, इसलिए आपको चोट लग गयी होगी। मुझे मालूम होता कि आप पधार रहे हैं तो मैं आपकी आगवानी करता। अब तो विष्णु भगवान्का यह विनम्र व्यवहार देखकर भृगुजी आनन्दमें मग्न हो गये, वहाँसे महात्माओंकी सभामें पहुँचे और उन्होंने उनको सब हाल कह सुनाया। सब महात्मालोग बड़े प्रसन्न हुए और बोले कि जो क्षमाशील है, सहिष्णु है, वही भगवान्का स्वरूप है। जिसको बात-बातमें क्रोध आता है, वह पूजनीय नहीं होता। अन्तमें महात्माओंने सर्वसम्मतिसे यह निश्चय किया कि विष्णु भगवान् ही पूज्य हैं।

अब कथा आती है एक द्वारकावासी ब्राह्मणकी, जिसके पुत्र हो होकर मर जाते थे। एक-एक करके उसके आठ बेटे हुए और मर गये।

वह हर मरे हुए बेटे की लाश लेकर राजा उग्रसेनके द्वार पर आता और कहता कि हमारे बेटोंकी अकाल मृत्युका कारण इस राजाका कर्म-दोष ही है। यदि राजा धर्मात्मा होता तो मेरे बेटोंकी अकाल मृत्यु नहीं होती।

जब वह ब्राह्मण अपने नवें बेटेके मरने पर उसके शवके साथ गाली देने आया तब अर्जुन वहीं थे। उन्होंने कहा कि ब्राह्मणदेवता, अब मैं तुम्हारे अगले बेटेकी रक्षा करूंगा। यहाँ बलरामजी हैं, प्रभु हैं, अनिरुद्ध हैं तो क्या हुआ ? यदि मैं तुम्हारे भावी पुत्र की रक्षा नहीं कर सका तो चितामें जलकर मर जाऊँगा।

लेकिन उस ब्राह्मणके यहाँ जो दसवाँ बेटा हुआ,वह न केवल मरा, बल्कि उसका शवभी गायब हो गया ! अर्जुनने यमपुरी आदिमें जाकर इसकी खोज की, लेकिन वह नहीं मिला। अन्तमें वे अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार चिता लगाकर उसमें जलनेके लिये तैयार हो गये।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा कि ऐसा मत करो अर्जुन ! हम लोग चलकर उसकी तलाश करेंगे। भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको महाविष्णुके लोकमें ले गये। वहाँ महाविष्णु श्रीकृष्ण-अर्जुनसे मिलकर बहुत प्रसन्न हुए।

देखो, इस प्रसंगको लेकर श्रीरामानुज सम्प्रदायके लोग कहते हैं कि हमारे महाविष्णु अथवा महानारायण कितने बड़े हैं। उनके यहाँ श्रीकृष्णको दण्डवत् प्रणाम करके ही दाखिल होना पड़ता है।

लेकिन गौड़ेश्वर सम्प्रदायके लोग इसका उत्तर यह देते हैं कि हमारे श्रीकृष्ण इतने सुन्दर हैं, इतने मधुर हैं, इतने प्यारे हैं कि महानारायणने भी उनका दर्शन करनेके लिए उनको अपने लोकमें बुला लिया !

लेकिन ये बातें तो अपने-अपने इष्टदेवके प्रति महत्त्व-बुद्धि होनेके कारण ही कही जाती हैं। भगवान् श्रीकृष्ण महाविष्णुके लोकसे ब्राह्मणके मृत पुत्रोंको साथ लेकर आये। ब्राह्मण अपने उन पुत्रोंको जीवित अवस्थामें पाकर अत्यन्त प्रसन्न हो गया।

इसके बाद दशम-स्कन्धके अन्तिम अध्यायमें भगवान् श्रीकृष्णके लीला-विहारका वर्णन आता है, उसमें सबसे अधिक मधुर बात यह बतायी गयी है कि भगवान् श्रीकृष्णकी पत्नियोंको प्रेमाधिक्यके कारण प्रेम-वैचित्य हो जाया करता था, प्रेममें विचित्तता हो जाया करती थी। विचित्तताका अर्थ होता है- विपरीत चित्तता अर्थात् भ्रम ! उन पत्नियोंको ऐसा भ्रम होता था कि वे

श्रीकृष्णके पास रहने पर भी उनके दूर चले जानेका चिन्तन करने लगती थीं। उनको ऐसा भान होने लगता कि समुद्र श्रीकृष्ण के प्रेम में ही उछल रहा है, पर्वत श्रीकृष्ण के प्रेम में ही स्थिर हो रहे है; कुररी पक्षी श्रीकृष्ण के विरह में ही विलाप कर रही है और हंस श्रीकृष्ण का संदेश लेकर ही आया है।

इस प्रकार श्रीकृष्ण-पत्नियाँ संयोगमें वियोग देखतीं और वियोगमें संयोगका अनुभव करतीं। उनका मन ऐसा हो गया था कि उनको श्रीकृष्णके सिवाय और कुछ दीखता ही नहीं था। प्रेमकी बड़ी ऊँची अवस्था उनके जीवनमें प्रकट हो रही थी।

परन्तु श्रीकृष्णकी मुख्य पत्नी रुक्मिणीकी स्थिति कुछ और ही थी। उनको मानसिक वियोगका अनुभव कभी नहीं होता था, हमेशा संयोगका ही अनुभव होता था। इसलिए जैसा कि पहले बताया जा चुका है, श्रीकृष्णने उनको एकबार उनके मानके समय किसी दूसरेसे विवाह कर लेनेकी बात कह दी थी। उसका परिणाम यह हुआ कि उनमें कुछ क्षणोंके लिए वाचिक वियोगकी भावनाका उदय हो गया और वे मूर्च्छित हो गयीं।

लेकिन गोपियाँ ऐसी थीं कि उनको न तो अपने मनसे वियोगका अनुभव होता और न किसीके कुछ कहनेसे ही विरहकी अनुभूति होती। इसीलिए श्रीकृष्णने उनको तनसे वियोग दिया और तनसे वियोग हो गया तब गोपियोंके हृदयमें व्याकुलता उत्पन्न हो गयी। व्याकुलताके बिना सच्चे प्रेमका अनुभव नहीं होता।

इस प्रकार श्रीकृष्ण-लीलामें प्रेमकी तीन घाटियाँ हैं—एक रुक्मिणीका प्रेम, दूसरा अन्यान्य पत्नियोंका प्रेम और तीसरा गोपियोंका प्रेम ! गोपियोंमें भी श्रीराधारानीका प्रेम, जिसमें श्रीकृष्ण कभी एक क्षणके लिए भी विलग नहीं होते।

अन्तमें श्रीशुकदेवजी महाराजका कहना है परीक्षित, यदुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्ण इसलिए लीला करने आये हैं कि लोग उसको सुनें, गायें और उनका चिन्तन करें। फिर उसकी मधुरतामें इस प्रकार डूब जायें कि उनको संसारका भान ही न रहे। यही कारण है कि दशम स्कन्धको निरोध-स्कन्ध कहा जाता है।

निरोधका अर्थ क्या है ? संसारमें प्राणीका मन इधर-उधर भटकता रहता है। जैसे कुत्ता दरवाजे-दरवाजे पर भटकता रहता है-कहीं उसको डण्डा मिलता है और कहीं रोटी मिल जाती है, वैसे ही मनुष्यका मन यहाँ-वहाँ भटक रहा है। इसलिए उसको एक ऐसा आश्रय चाहिए, जिससे उसकी भटकन मिट जाय। वह आश्रय है भगवान्के अंगसे निकलनेवाली अद्भुत सुगन्ध !

उनके चरणामृत का मधुररस ! उनके अनुपम सौन्दर्यका लहराता समुद्र उनका सुकुमार स्पर्श ! उनकी मधुर वंशी-ध्वनि ! उनका अलौकिक संगीत उनका दिव्य प्रेम !

इसमें मनुष्य अपनेको इस प्रकार डुबो दे कि संसारके दुःख-क्लेश उसके हृदयमें प्रवेश न कर सकें। भगवान् श्रीकृष्ण अवतार लेकर अपनी सारी की सारी लीलाएँ इसलिए करते हैं कि सबके मन उनकी ओर आकर्षित होकर उनमें निबद्ध हो जायें।

सबके अन्तमें श्रीशुकदेवजी महाराज यह जयध्वनि करते हैं कि यदुवंश-शिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णकी जय हो ! देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णकी जय हो ! नन्दनन्दन भगवान् श्रीकृष्णकी जय हो ! गोपीवल्लभ भगवान् श्रीकृष्णकी जय हो ! सबका कल्याण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णकी जय हो।

इस जय-ध्वनिके साथ दशमस्कन्ध पूरा हुआ। अब कल-परसों दो दिन शेष रह गये हैं। उनमें आपको ग्यारहवें और बारहवें दोनों स्कन्धोंका सार सुना दिया जायेगा।

ॐ शान्ति : शान्तिः शान्तिः

: १३ :

श्रीमद्भागवतके ग्यारहवें स्कन्धको 'मुक्ति-स्कन्ध' मानते हैं और यह मान्यता सर्वसम्मत है। इनमें पहलेके पाँच अध्यायोंमें भक्ति तथा भक्त लक्षण-सम्बन्ध द्वारा अविद्याजन्य मायापर विजय प्राप्त करके जीवोंको कैसे मुक्ति मिलती है—यह बात बतायी गयी है। जीव-मुक्ति पाँच अध्यायोंमें इसलिए है कि अविद्याकी भी पाँच ही ग्रन्थियाँ होती हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। उसके चौबीस अध्यायोंमें प्रकृतिके चौबीस तत्त्वोंकी मुक्ति कैसे होती है—यह बताया गया है। अन्तके दो अध्यायोंमें जो ब्रह्म-नाट्य है, नाटकका चोला उतार देना है, अभिनयका मेकअप मिटा देना है, उसको ब्रह्म-मुक्ति बोलते हैं। इस तरह इकतीस अध्यायोंमें ग्यारहवाँ स्कन्ध पूरा होता है।

इसके प्रथम अध्यायमें एक विलक्षण प्रसंग आया है। जिस प्रकार कोई योगी योगाभ्यास करना चाहे तो पहले सद्गुणोंको धारण करके दुर्गुणोंका विनाश करता है और जब मैत्री-करुणा-मुदिता-उपेक्षा आदि सद्गुणों द्वारा दुर्गुणोंका नाश हो जाता है तब वह समाधि लगानेके लिए उन सद्गुणोंका भी निरोध कर देता है। यदि सद्गुणोंका निरोध नहीं होगा तो समाधि नहीं लगेगी, क्योंकि समाधिमें वृत्तियाँ रहती नहीं हैं।

इसी प्रकार एकादश स्कन्धके पहले अध्यायमें यह बताया गया है कि भगवान् श्रीकृष्णने पहले तो यदुवंशियों तथा पाण्डवों आदिके द्वारा आसुरी शक्ति-सम्पन्न दैत्यों-दानवोंका विनाश करवाया और अन्तमें अपनी स्वरूप-स्थितिके लिए यदुवंशियों एवं पाण्डवोंका भी विरोध कर दिया।

हथकड़ी-बेड़ी चाहे लोहेकी बनी हो या सोनेकी, हाथ-पाँव तो बाँधती ही हैं। अतः दुःसंग से मुक्त होनेके लिए सत्संग है और सत्संगसे भी मुक्त होने के लिए अपनी स्वरूप-स्थिति है। इसी लीलाको प्रकट करनेके लिए भगवान् श्रीकृष्णने पहले पाण्डवोंके द्वारा दुष्ट वृत्तियों का नाश करवाया। अन्तमें रह गये यदुवंशी। वे आपसमें ही एक-दूसरेसे लड़कर नष्ट हो गये—

कृत्वा निमित्तमितरेतरतः समेतान्
हत्वा नृपान् निरहरत् क्षितिभारमीशः।११.१.२

देखो, शान्ति और दया दोनों सत्त्वगुणी वृत्तियाँ हैं। लेकिन जब इन दोनोंमें लड़ाई होती है तब योगी दयाका परित्याग करके शान्तिको स्वीकार करता है।

इसी तरह भगवान्‌ने इतरेतरको निमित्त बनाकर पहले सम्पूर्ण दुर्वृत्तियों तथा सद्‌वृत्तियोंका ध्वंस किया और फिर उसके बाद वे स्वयं अपने धाममें पधार गये।

जब विनाशका समय उपस्थित हुआ तब श्रीकृष्णके बच्चे उन महात्माओंके पास उनकी परीक्षा लेने गये, जिनकी पूजा करते थे श्रीकृष्ण ! उन बच्चोंने जाम्बवती-नन्दन साम्बको गर्भवती स्त्रीका वेश धारण करवाकर महात्माओंसे पूछा कि इसको बेटा होगा या बेटी ?

साम्बका जन्म सूर्यके प्रसादसे हुआ था, वह बड़ा सुन्दर था। उसको देखकर उत्तम कोटिकी स्त्रियाँ भी मुग्ध हो जाती थीं। लेकिन महात्मा लोग उसको पहचान गये। क्योंकि वे त्रिकालदर्शी थे, भगवान्‌की इच्छा को जानते थे-'भगवत्कोविदाः।' उन्होंने समझ लिया कि जब भगवान्‌के वंशमें पैदा होकर इन बच्चोंके मनमें इतनी अश्रद्धा आ गयी है तब अवश्य ही भगवान् इनका निरोध करना चाहते हैं, इनको समेटना चाहते हैं।

इसीलिए महात्मा लोग बोले कि मूर्खो, न बेटी होगी और न बेटा होगा। तुमने जो यह पेट कपड़े लत्ते बाँधकर फुलाकर रखा है, इसमें से एक मूसल निकलेगा और वह तुम्हारे वंशका नाशकर देगा।

अब तो वे यदुवंशी बालक बहुत डर गये। परन्तु उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णको कुछ नहीं बताया। यही एक ऐसी घटना घटी थी द्वारकामें जो श्रीकृष्णको नहीं बतायी गयी, बल्कि यों कहिये कि उनसे छिपायी गयी। वैसे तो भगवान् सब जानते थे, चाहते तो शापको अन्यथा भी कर सकते थे, बदल सकते थे; परन्तु उनकी इच्छा तो कुछ और ही थी।

उन बालकोंने उग्रसेनके सामने जाकर सारी घटना सुनायी। उग्रसेनने भी श्रीकृष्णको कुछ नहीं बताया और कह दिया कि मूसलको चूर-चूर करके समुद्र में फेंक दो। बालकोंने वैसा ही किया। उससे बन गयी ऐरका घास। मूसलकी एक बड़ी सी गाँसी बच गयी थी,जो जरा नामक व्याधको मिल गयी।

देखो, आप जराको तो जानते ही हो। जरा माने बुढापा। वह सबके जीवनमें आती ही है। सभी चीजें बूढ़ी होती हैं। जवानीका अन्त जरा ही है, बुढ़ापा ही है। गीता में भी कहा है-

जराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्।

वही जरा व्याध बनकर आ गयी और भगवान् श्रीकृष्णके लीला संवरण करने में निमित्त बन गयी। भगवान् श्रीकृष्ण सन्तुष्ट हुए कि उनके मनमें जो बात थी, वह सब पूरी हो जायेगी।

इसके बाद नारद-वसुदेवजीके संवादका प्रसंग आता है। यह बात मैं प्रारम्भसे ही कहता आया हूँ कि भगवान्के मिलनेसे काम नहीं बनता। ध्रुवको भगवान्का दर्शन हो ही गया था फिर भी उनको यक्षों पर बड़ा भारी क्रोध आ गया और महाभागवत स्वायंभुव मनुने उनका क्रोध शान्त किया। पृथुको भी भगवान्के मिलनेके बाद ही क्रोध आया। प्रचेताओंको भगवान् शंकर और भगवान् विष्णु दोनोंके दर्शन प्राप्त हुए, लेकिन उसके बाद उनको बड़ा भारी क्रोध आ गया और जब नारदजीने आकर उनको उपदेश दिया तब उन्हें तत्त्वज्ञान हुआ। इसी तरह युधिष्ठिरका शोक भगवान् श्रीकृष्णसे दूर नहीं हुआ। जब उनको भीष्मपितामहने उपदेश दिया तब वे शोक-निवृत्त हुए। इस प्रकार के अनेक उदाहरण श्रीमद्भागवतमें हैं। इसीलिए कहा गया कि यह भगवत्पुराण नहीं है। भागवत-पुराण है, भक्तोंका पुराण है। इसमें भगवान्से भी अधिक भक्तोंकी महिमा है।

देवकी और वसुदेवकी ही बात लो। दोनों भगवान्के माँ-बाप थे। भगवान्ने जन्म-ग्रहण करते ही उनको चतुर्भुजरूप में दर्शन दिया। उनके सामने ऋषियोंने भगवान्की स्तुति की। उन लोगोंने भगवान् के अनेक-अनेक चमत्कार देखे-यहाँ तक कि मरे हुए बच्चोंका वापस लाने का भी दृश्य देखा। लेकिन फिर भी उनको तत्त्वज्ञान नहीं हुआ। इसलिए भगवान्ने नारदजी के हृदयमें प्रेरणा दी और वे वसुदेव-देवकीको उपदेश देने आ गये।

बात यह थी कि नारदजीको कहीं भी न टिकनेका जो शाप दक्षने दे रखा था, वह द्वारकामें नहीं लगता था। इसीलिए वे विदा कर देने पर भी बारम्बार द्वारकामें आते रहते थे। भगवान् उनको कभी स्वर्ग की खबर लेने भेज दें तो कभी पाण्डवोंकी खबर लेने। नारदजी भी भगवान्के इतने प्रेमी कि किसी न-किसी बहाने आजाते। बात यह थी कि श्रीकृष्ण बड़े ही सुन्दर थे। इसलिए उनका दर्शन किये बिना नारदजीसे रहा नहीं जाता था।

को नु राजन्निन्द्रियवान् मुकुन्दचरणाम्बुजम्।
न भजेत् सर्वतोमृत्युरुपास्यममरोत्तमैः।।११.२.२

श्रीशुकदेवजी महाराज राजा परीक्षितसे कहते हैं कि ऐसा कौन इन्द्रियवान् प्राणी है, जो भगवान्के चरण-कमलोंकी दिव्य गन्ध और मंगलमय ध्वनिका सेवन नहीं करना चाहेगा। फिर नारदजी तो भगवान्के परमभक्त हैं।

देखो, भगवान्‌की भक्तिके लिए अधिकारी कौन है ? जिस प्रकार वाजपेय यज्ञके लिए ब्राह्मण अधिकारी है, राजसूय यज्ञके लिए क्षत्रिय अधिकारी है, वैश्यस्तोमयज्ञके लिए वैश्य अधिकारी है, निषादस्थपति यज्ञके लिए निषाद अधिकारी है और शम-दमादि साधन-चतुष्ट्य-सम्पन्न व्यक्ति वेदान्तका अधिकारी है, उसी प्रकार भक्तिका अधिकार किसको है ?

उन समस्त प्राणियोंको है, जो इन्द्रियवान् हैं। मनुष्य तो क्या पक्षी भी भगवान् श्रीकृष्णकी सुन्दरताको निहार सकता है और पशु भी भगवान् श्रीकृष्णसे प्रेम कर सकता है। फिर भला नारदजी कैसे पीछे रहें ?

तो एक दिन जब नारदजी इधर-उधरसे घूम-फिरकर आये, तब भगवान्‌ने उनको वसुदेवजीके पास भेज दिया, वसुदेवजी ने उनका बड़ा स्वागत-सत्कार किया और कहा कि महाराज, मैंने पहले जन्ममें भगवान्‌की इसलिए आराधना की थी कि वे मुझे पुत्र-रूपमें प्राप्त हों। उस समय मैं उनकी मायासे मोहित था। अब आप मुझे उस मायासे छुड़ाइये और ऐसा उपदेश दीजिये कि मेरा परम कल्याण हो।

नारदजी वसुदेवजी की बात सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। पर उनके मनमें एक बात थी। वह यह थी कि वसुदेवजीको श्रीकृष्ण का तो दर्शन होता है और मैं इनके पुत्र श्रीकृष्णका आशिक हूँ—इन पर आसक्त हूँ।

देखो, आशिक-आसक्तिका धातु तो एक ही है। ज्ञानका आदर करना चाहिए, भाषाके लिए लड़ाई नहीं करनी चाहिए। जिस किसी भाषासे ज्ञान प्राप्त होता हो, प्राप्त कर लेना चाहिए। मनुस्मृतिमें लिखा है कि यदि अन्त्यजसे भी परम धर्मका ज्ञान प्राप्त होता हो तो उससे प्राप्त करना चाहिए-

श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि।
अन्त्यादपि परमं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि।।

तो नारदजी के मनमें यह विचार था कि जब वसुदेवजी देखेंगे कि मैं उनके पुत्रपर आसक्त हूँ तब ये कहीं मुझे उपदेशका अनधिकारी न समझ लें। इसलिए उन्होंने पहले नवयोगेश्वरोंका उपाख्यान प्रारम्भ किया। उन नव योगेश्वरोंके नाम हैं—कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभाजन—

कविर्हरिरन्तरिक्षः प्रबुद्धः पिप्पलायनः।
आविर्होत्रोऽथ द्रुमिलश्चमसः करभाजनः।।११.२.२१

वे सब-के-सब परम विरक्त थे, वैराग्यकी उच्च-से-उच्च कक्षामें बैठे हुए थे। उनका वंश भी उत्तम, वैराग्य भी उत्तम और ज्ञान भी उत्तम। श्रीशुकदेवजी

महाराजने उन महात्माओंका अनुभव इस प्रकार बताया है—

त एते भगवद्रूपं विश्वं सदसदात्मकम्।
आत्मनोऽव्यतिरेकेण पश्यन्तो व्यचरन् महीम्।।११.२.२२

वे महात्मा इस चराचर विश्वको सत्-असत्, स्थूल-सूक्ष्म सबको भगवद्रूप और भगवान्को अपनेसे अभिन्न देखते थे। उनके अनुभवके अनुसार विश्व है भगवत्-कार्य, भगवत्प्रकाश्य, भगवान्से अभिन्न और भगवान् हैं आत्मासे अभिन्न।

एक बार वे नवों महात्मा परम याज्ञिक राजा निमिके यज्ञ-मण्डपमें पहुँचे। राजा निमिने उनका दर्शन करते ही अपने यज्ञको स्थगित कर दिया और यज्ञभूमिसे ऋत्विजों तथा अग्निके साथ उठकर उन महात्माओंका स्वागत-सत्कार किया। उनको सिंहासम पर बैठाया। इसके बाद राजाने पूछा-

अत आत्यन्तिकं क्षेमं पृच्छामो भवतोऽनघाः। ११.२.३०

महाराज, आप हमें ऐसे कल्याणका आदेश दीजिये, जो आत्यन्तिक हो, निरुत्तर हो। आत्यन्तिकका अर्थ यह है कि जिसके बाद और कोई कल्याण नहीं है और निरुत्तरका अर्थ है कि जिसके बाद और कुछ नहीं है। उसको आप ला-जवाब, ला-सानी भी बोल सकते हैं।

इस प्रकार जब राजा निमिने प्रश्न किया तब प्रथम योगीश्वर और साक्षात्-भगवत्स्वरूप कविने उपदेश देना प्रारम्भ किया—

राजन्, पहले इस बातको जानो कि संसारके लोग दुःखी क्यों हैं ? **'उद्विग्नबुद्धेरसदात्मभावात्'**—संसारके लोग इसीलिए दुःखी हो रहे हैं कि जो विश्वास करने योग्य नहीं है, नाशवान् है, दुःखरूप है, उसको अपना समझते हैं। यह संसार किसीका नहीं है। जिसको कोई पकड़ न सके, उसका नाम संसार है और जिसको कोई छोड़ न सके, उसका नाम आत्मा है, परमात्मा है। जो लोग संसारको पकड़नेके चक्करमें पड़े हैं, उनकी बुद्धिमें, उनके मनमें बड़ी भारी घबराहट रहती है, बड़ा भारी उद्वेग रहता है। इसकी चिकित्सा यही है कि अच्युत भगवान्के चरणारविन्दकी उपासना की जाय।

यह सारा-का-सारा द्वैत-प्रपञ्च अपने मनकी कल्पना है, जो बादमें ठूँसी गयी है। जहाँतक धर्मकी बातें हैं—जैसे माता-पिताकी सेवा करो, भाई-बन्धुओंसे प्रेम करो, दुःखी पर दया करो, आदि—ये सब ठीक हैं। लेकिन संसारके जितने भी सम्बन्ध हैं, वे सब-के-सब हमारे मनमें स्थापित किये हुए हैं। लोगोंने बताया कि यह तुम्हारी माँ है, माँ ने बताया कि यह तुम्हारा बाप है, ब्राह्मणोंने बताया कि यह तुम्हारी पत्नी है, यह तुम्हारा पति है। इस प्रकार सारे-के-सारे सम्बन्ध अध्यारोपित हैं। इसलिए कभी च्युत न होने वाली भगवच्चरणारविन्दकी उपासना ही सर्वोत्तम है।

यह सृष्टि मनकी कल्पना है। इसलिए मनको वशमें करना चाहिये। यदि इसको योगसे वशमें करना शक्य न हो तो भगवान्‌की लीलाका, उनके गुणानुवादका गान करना चाहिए-

शृण्वन् सुभद्राणि रथांगपाणेर्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके।
गीतानि नामानि तदर्थकानि गायन् विलज्जो विचरेदसंगः।।

११.२.३९

भगवान् रथांगपाणि हैं। कालचक्र उनकी मुट्ठीमें रहता है। सारी परिस्थितियाँ, सृष्टि-स्थिति-प्रलय, सब-के-सब उनके वशमें रहते हैं। उन्होंने अपने भक्त अर्जुन पर संकट देखकर रथका पहिया उठा लिया और भीष्मको मारनेके लिए दौड़ पड़े। उनको इस बातकी परवाह नहीं रही कि उन्होंने महाभारत-युद्धमें शस्त्र-ग्रहण न करनेकी प्रतिज्ञा की है और वे भीष्मकी इस प्रतिज्ञाकी रक्षाके लिए 'रथांगपाणि' बन गये—

आजु यदि हरिहिं न शस्त्र गहावौं।
तौ लाजौं गंगा जननीको सन्तनुसुत न कहावौं।।

इसलिए योगीश्वर कवि कहते हैं कि ऐसे भक्तवत्सल भगवान्‌के नामका, लीलाका गान करो, श्रवण करो। ऐसा नहीं है कि भगवान्‌के वैदिक नाम ही लिए जायँ। 'लोके च यानि गीतानि'—व्रजवासी लोग रसियामें, महात्मा लोग अपनी भाषामें भगवान्‌का नाम लेते हैं, उसीका गायन करो। भगवान्‌के नामका गान करते-करते सर्वत्र भगवद्-बुद्धि हो जायेगी, हृदयमें भगवद्-भक्तिका उदय हो जायेगा और भगवत्स्वरूपमें प्रवृत्ति हो जायेगी। फिर संसारसे वैराग्य होगा और वैराग्यके बाद वास्तविक भक्ति उत्पन्न होगी। भक्तिके बाद वैराग्य आयेगा और वैराग्यके बाद भगवान्‌का तत्त्विक बोध होगा— '**भक्तिर्विरक्ति-र्भगवत्प्रबोधः।**' और अन्तमें परम शान्तिकी प्राप्ति हो जायेगी।

इसके बाद राजा निमि द्वारा भक्तका लक्षण पूछने पर दूसरे योगीश्वर हरिजीने बताया-

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवदभावमात्मनः।।११.२.४५

भाई, यह मत छाँटो कि भगवान् इतने हैं और इतने नहीं हैं। यह अनुभव करो कि सबमें भगवान् हैं, भगवान्‌में सब हैं और भगवान् ही सबकी आत्मा हैं। फिर देखो कि तुम्हारे अन्दर कितनी समता आती है। यही उत्तम भक्तका लक्षण है।

जो ईश्वरसे प्रेम करता है, भक्तोंसे मित्रता करता है, दुःखियों पर दया करता है और विरोधियोंकी उपेक्षा करता है, वह दो नम्बरका भक्त होता है।

जो केवल भगवान्‌की मूर्तिको, उनकी अर्चाको पकड़कर बैठ जाता है और उसके सिवाय और अन्य किसीकी पूजा नहीं करता, वह प्रारम्भिक भक्त है।

यहाँ 'भक्तः प्राकृतः स्मृतः'में जो प्राकृत शब्द है, उसका अर्थ श्रीधर स्वामीने 'प्राकृतः प्रारम्भः' किया है अर्थात् अभी वह प्रारम्भिक भक्त है।

इस तरह हरिजीने आठ श्लोकोंमें तो निर्गुण भक्तका लक्षण और शेष तीन श्लोकोंमें सगुण भक्तका लक्षण बताया। सगुण भक्तका लक्षण बताते हुए वे बोले—

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठस्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात्।
न चलति भगवत्पदारविन्दाल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः।।
११.२.५३

जो त्रिभुवनके लिए भी भगवान्‌के चरणारविन्दको छोड़ना नहीं चाहता, वह भक्ताग्रगण्य है।

भगवत उरुविक्रमांङ्घ्रिशाखानखमणिचन्द्रिकया निरस्ततापे। ११.२.५४

ऐसे भक्तको कभी संसारका ताप नहीं सताता ! संसारसे दुःखी वही है, जो भगवान्‌से विमुख है। भगवान्‌की पवित्र स्मृति और दुःख दोनों एक साथ नहीं होते। अन्धकार तभीतक है, जबतक प्रकाश नहीं है।

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः। ११.२.५५

भगवान् ऐसे हैं कि यदि तुम विवशतासे भी उनका नाम लो तो वे सारे पापोंका नाश कर देते हैं। सच्चा भक्त वही होता है, जिसके हृदय-कमलमें भगवान् बैठे रहते हैं, जिसने प्रेमकी रस्सीसे भगवान्‌को बाँध रखा है और जिसके हृदयमें भगवान्‌की नखच्छटा अन्धकारका निवारण करती रहती है।

इसके बाद राजा निमिके यह पूछने पर कि माया क्या है, तीसरे योगीश्वर अन्तरिक्षने कहा कि तुम्हें परमात्मामें जो दूसरी चीजें दिखायी पड़ रही हैं—जैसे सृष्टि, स्थिति, प्रलय—उसीका नाम है माया—'एषा माया भगवतः।'

तदनन्तर राजा निमिने प्रश्न किया कि मायासे छूटनेका उपाय क्या है ? इसका उत्तर देते हुए चौथे योगीश्वर प्रबुद्धजी बोले—पहले संसारको दुःखरूप समझना चाहिए और फिर सद्गुणकी शरण लेनी चाहिए। वहाँ सद्गुरु जो साधन-भजन बताये, उनको स्मरण करते हुए भगवान्‌के नाम तथा गुणका श्रवण-कीर्तन करना चाहिए। इससे माया छूट जाती है।

इसके बाद राजा निमि द्वारा यह प्रश्न करने पर कि ब्रह्म क्या है, पाँचवें योगीश्वर पिप्पलायनने कहा—

हमारे परमेश्वरका लक्षण दुनियाको बनाकर फेंक देने वाला नहीं है। हमारा ईश्वर ऐसा नहीं है कि उसने घड़ेकी तरह दुनिया बनायी और बाजारमें बिकनेके लिए भेज दी। हमारे ईश्वरका तो इस सृष्टिके साथ, इसकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके साथ साक्षात् सीधा सम्बन्ध है। वह किसी सातवें आसमानमें विहार नहीं करता, बल्कि स्वयं इस विश्वके रूपमें प्रकट होता है। हमारा ईश्वर हमारे जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिमें तो रहता ही है, इनसे बाहर भी रहता है—

स्थित्युद्भवप्रलयहेतुरहेतुरस्य
यत् स्वप्नजागरसुषुप्तिषु सद् बहिश्च। ११.३.३५

पिप्लायनजीने आगे बताया कि जब हृदय शुद्ध होता है तभी इस ब्रह्मका साक्षात्कार होता है। लेकिन हृदय शुद्ध होता कैसे है ? भक्तिसे हृदय शुद्ध होता है-

यर्ह्यब्जनाभचरणैषणयोरुभक्तया
चेतोमलानि विधमेद् गुणकर्मजानि। ११.३.४०

भगवान्के चरणोंकी प्राप्तिकी इच्छा ही भक्ति है। क्योंकि इच्छा गर्भवती होती है, उसके पेट में भगवान्के चरणारविन्द रहते हैं। जिस तरह इच्छित वस्तु इच्छाके पेटमें होती है, उसी तरह भगवान्की प्राप्तिकी इच्छा होती है, तब भगवान्के चरणारविन्द हृदयमें आ जाते हैं। उससे चित्तके मल धुल जाते हैं, फिर तो परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है।

उसके बाद राजा निमिने कर्म-सम्बन्धी प्रश्न किया, जिसका उत्तर छठें योगीश्वर आविर्होत्रजीने देते हुए कहा—राजन्, इस संसारमें कर्म, अकर्म, विकर्मको समझना बड़ा कठिन है। इनको या तो भगवान् जानते हैं या भगवत्तत्त्वका अनुभव करने वाले महात्मा-लोग जानते हैं। अपने मनसे कल्पना कर बैठना कि यह पाप है, यह पुण्य है—अज्ञानका ही लक्षण है। परमात्माके सिवाय ऐसा कौन है, जिसको पाप और पुण्यका साक्षात्कार हुआ हो ? इसी कारण भगवान् खरा-खोटा नहीं देखते ? जो उनकी शरणमें आ जाये, उसको स्वीकार कर लेते हैं—

कोटि विप्र वध लागेहि जाहू।
आये सरन तजो नहिं ताहू।।

तुम जिस दृष्टिसे पाप-पुण्यको नापते हो, उस दृष्टिसे भगवान् नहीं नापते। उनकी अनंतता और अद्वितीयताके तराजू पर तुम्हारे पाप-पुण्य तो

रुईके फूहेके बराबर भी नहीं होते। यही कारण है कि भगवान् अपने शरणागतको स्वीकार करते हैं।

आविर्होत्रजीने आगे बताया कि वेदोक्त और शास्त्रोक्त कर्मोंके अनुष्ठानसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है-

वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसंगोऽर्पितमीश्वरे।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः।।११.३.४६

इसलिए जो व्यक्ति कर्म-बन्धनसे छूटना चाहता है, उसे चाहिए कि वह अपने कर्मके द्वारा भगवान्‌की आराधना करे। कर्म तबतक कर्म है, जबतक संसारी वस्तुओंके लिए है। लेकिन जब कर्म भगवान्‌के लिए, सर्वात्मा प्रभुकी सेवाके लिए, निःस्वार्थ भावसे होने लगता है, तब वह कर्मयोग हो जाता है।

इसके अनन्तर जब राजा निमिने भगवान्‌के अवतारके सम्बन्धमें पूछा, तब सातवें योगीश्वर द्रुमिलने कहा कि राजन्, अवतार माने होता है सोपान, सीढ़ी। ऊपर चढ़नेके लिए भी सीढ़ी चाहिए और नीचे उतरनेके लिए भी सीढ़ी चाहिए। ब्रह्मसरोवरमें उतरनेके लिए जब आप भगवान्‌के अवतारका अनुसन्धान करेंगे तब आपको ब्रह्मका साक्षात्कार हो जायेगा।

भगवान्‌ने पंचभूतोंकी सृष्टि अपने आपसे और अपने आपमें की है। जब वे उनके द्वारा ब्रह्माण्डका निर्माण करके उसमें अन्तर्यामी-रूपसे प्रवेश करते हैं, तब उन आदिदेव नारायणको 'पुरुष' कहते हैं और यही उनका पहला अवतार है। वे ही ब्रह्मारूपसे सृष्टिकी उत्पत्ति, विष्णुरूपसे सृष्टिका पालन और रुद्ररूपसे सृष्टिका संहार करते हैं। उन्होंने ही नर-नारायणके रूपमें अवतार ग्रहण किया। वे सम्पूर्ण विश्वकी रक्षाके लिए तपस्या करते हैं। उनकी तपस्या देखकर एक बार इन्द्रके मनमें यह शंका हो गयी कि ये कहीं हमारा धाम न छीन लें। इसलिए इन्द्रने उनके पास अप्सराएँ भेज दीं, वसन्त ऋतु और मलयानिलको भेज दिया। उनके आस-पास नृत्य-संगीत छिड़ गया लेकिन उनके मनमें कोई विचलन नहीं हुआ। वे शान्त भावसे सब-कुछ देखते रहे।

अब तो इन्द्रके भेजे हुए जितने भी थे, सब-के-सब डर गये कि ये कहीं हमको शाप न दे दें। परन्तु नर-नारायणने कहा कि 'डरो मत' ! और यह कहकर उन्होंने अपनी मायासे बड़ी सुन्दर-सुन्दर स्त्रियोंकी सृष्टि करके उनको दिखाया। उनमें-से उर्वशी नामकी अप्सराको वे लोग स्वर्गका आभूषण बनानेके लिए अपने साथ ले गये। इसीलिए उर्वशी कर्मकृत अप्सरा नहीं है, समुद्रमन्थनसे निकली हुई अप्सरा नहीं है। वह नारायणी है, नारायणकृत अप्सरा है। इसीसे उसका जो वंश चलता है, उसमें भगवान्‌का अवतार होता

है। पुरूरवाके साथ उसका जो सम्बन्ध हुआ, वह भी भगवान्के अवतारके लिए ही हुआ।

इसी तरह भगवान्के और भी कई अवतारोंका वर्णन किया योगीश्वर द्रुमिलने, जिसको आपलोग श्रीमद्भागवतमें देख सकते हैं।

इसके बाद राजा निमिने यह प्रश्न किया कि जिनकी कामनाएँ शान्त नहीं हैं, इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं और जो भगवान्का भजन नहीं करते, उनकी क्या गति होती है ?

इसका उत्तर देते हुए आठवें योगीश्वर चमसने बताया कि देखो राजा, भगवान्का भजन न करना, उनकी भक्ति न करना मनुष्य का बड़ा भारी अपराध है। इस संसारमें जितने भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी हैं, वे सब भगवान्के एक-एक अंगसे ही पैदा हुए हैं। परमेश्वर ही इस सृष्टिका माँ-बाप है, स्वामी है और आत्मा है-'आत्मप्रभवम्', 'ईश्वरम्।' इसलिए जो अपने माता-पिताकी तथा स्वामीकी सेवा न करे और अपने आत्मदेवका कल्याण न करे, वह बड़ा भारी पापी हो जाता है।

जिस मनुष्यकी कामना शान्त नहीं होती, इन्द्रियों पर जिसका नियन्त्रण नहीं होता, वह अपनी ही पूजामें, अपनी ही स्वार्थ-साधनामें लगा रहता है और अपने माँ-बाप को, स्वामीको तथा आत्माके स्वरूपको भूल जाता है। उसकी प्रवृत्ति हिंसामें, स्त्री-सहवासमें, द्यूतमें हो जाती है और इसी से उसका पतन हो जाता है। इसीलिए सावधान होकर भगवान्की उपासना करनी चाहिए। भगवान्की आराधनाके लिए भगवान्का ज्ञान होना भी आवश्यक है।

इसके बाद राजा निमिने यह पूछा कि किस कालमें किस रूपसे भगवान्की पूजा करनी चाहिए तब इसका उत्तर नवें योगीश्वर करभाजनने इस प्रकार दिया—

राजन्, सत्ययुग-त्रेता-द्वापर-कलियुग ये चार युग हैं। इनमें भिन्न-भिन्न रूपोंमें भगवान्का अवतार होता है। कलियुग में लोग भगवान्के नाम, गुण और लीला आदिका कीर्तन करते हैं।

यहाँ, देखो, श्रीमद्भागवतमें भगवान्की स्तुतिके जो श्लोक हैं, उनमें से एक में भगवान् श्रीरामचन्द्रकी महिमाका वर्णन है-

> **त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं**
> **धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्।**
> **मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्**
> **वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्।।११.५.३४**

अर्थात् भगवान् रामचन्द्रने देवताओंके लिए वाञ्छनीय राज्य-लक्ष्मीका परित्याग कर दिया। उनमें पिताके प्रति श्रद्धा इतनी, भक्ति इतनी कि पिता की आज्ञासे उनके चरणारविन्द वन-वन भटके और पत्नीके प्रति प्रेम इतना कि पत्नीके लिए जादूके हरिणको पहचानते हुए भी उसके पीछे-पीछे दौड़े। ऐसे भगवान् रामचन्द्रके चरणारविन्दका हम आश्रय लेते हैं।

इसी श्लोकके आधार पर अयोध्यावाले कहते हैं कि तुम्हारा यह कार्ष्णि भागवत, वासुदेव भागवत भी यही कहता है कि कलियुगमें रामकी उपासना करनी चाहिए।

करभाजनजीने आगे कहा कि अन्य सब युगोंसे कलियुग श्रेष्ठ है, क्योंकि इसमें ज्ञान, ध्यान, उपासना, यज्ञकी आवश्यकता नहीं है। इसमें तो केवल भगवान्‌के नामका संकीर्तन करो, उससे सब कुछ मिल जाता है—

कलिं सभाजयन्त्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः।
यत्र संकीर्तनेनैव सर्वः स्वार्थोऽभिलभ्यते।।११.४.३६

इस प्रकार जब नारदजीने नव योगीश्वरोंका प्रसंग पूरा किया तब उनके द्वारा वर्णित तत्त्वज्ञानका श्रवण करके देवकी-वसुदेव विस्मित हो गये और उनका मोह निवृत्त हो गया—

एतच्छ्रुत्वा महाभागो वसुदेवोऽतिविस्मितः।
देवकी च महाभागा जहतुर्मोहमात्मनः।।११.५.५१

इसके बाद यह प्रसंग आता है कि भगवान् श्रीकृष्णके पास ब्रह्मादि देवता आये और उन्होंने उनसे यह प्रार्थना की कि प्रभो, जिस कार्यके लिए हम लोगोंने आपसे प्रार्थनाकी थी, वह पूरा हो गया है। यदि आप उचित समझते हों तो आप अपने धाममें पधारें।

यह प्रार्थना करके देवता लोग तुरन्त उड़ गये। उनको डर था कि कहीं यदुवंशी हमको पकड़ न लें। क्योंकि वे बड़े उद्दण्ड हो गये हैं।

इधर उद्धवजीको पता लग गया कि भगवान् श्रीकृष्णने अपने वंशको महात्माओंसे शाप दिलवा दिया है और वे स्वयं इस लोकका परित्याग करने वाले हैं। इसलिए उद्धवजी भगवान्‌के पास आये और बोले कि मैं आपके बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता। इसलिए मुझे भी अपने साथ ले चलिये। लेकिन भगवान्‌का संकल्प यह था कि उद्धवजी यहाँ रह जायें और उनके द्वारा मेरे ज्ञानका प्रचार-प्रसार होता रहे, मेरे ज्ञानकी परम्परा चलती रहे। इसलिए भगवान्‌की प्रेरणासे उद्धवजीका मन तुरन्त बदल गया और वे बोले- मैं तो आपका उतरा हुआ कपड़ा पहनता हूँ, जूठन खाता हूँ और आपके साथ सोता-जागता, उठता-बैठता हूँ। फिर आपके बिना मैं कैसे रह सकूँगा ?

भगवान्‌ने उद्धवजीको समझाया कि तुमने जो निश्चय किया है, बिल्कुल ठीक है। मैं अवश्य जाने वाला हूँ। लेकिन तुम असंग होकर मुझमें मन लगाओ और मेरा भजन करो—

त्वं तु सर्वं परित्यज्य स्नेहं स्वजनबन्धुषु।
मय्यावेश्य मनः सम्यक् समदृग् विचरस्व गाम्।।११.७.६

देखो उद्धव, यह सारा संसार मनका विलास है। जब मनुष्यका मन चंचल होता है, तब उसे अनेकता दिखायी पड़ती है और जब वह एकाग्र होता है, तब अनेकता दिखायी नहीं पड़ती। इसीलिए सब कुछ मनोमय है, माया है और विनाशी है। इसके चक्करमें नहीं फँसना चाहिए।

उद्धव, जो मनुष्य दोष और गुण दोनोंसे परे है, वह जीवन्मुक्त महापुरुष है और जीवन्मुक्त महापुरुष संसारमें नहीं फँसता। उसका आचरण बालककी तरह होता है। वह किसीका गुण समझकर उसको ग्रहण नहीं करता और किसीका दोष समझकर उसका त्याग नहीं करता। उसकी चेष्टा बालवत् हो जाती है।

उद्धवजी ने कहा कि प्रभो, आपने जो बताया, यह तो बड़ा कठिन है। इसलिए आप इसका उपदेश इस प्रकार कीजिये कि मैं सुगमतासे समझकर साधन कर सकूँ।

भगवान् श्रीकृष्णने यदु और दत्तात्रेयके मिलनका प्रसंग सुनाते हुए कहा-राजा यदुने देखा कि पर्वतकी तलहटीमें, नदीके तट पर एक हृष्ट-पुष्ट महात्मा मस्त पड़ा है, जिसको दुनियाकी कोई परवाह नहीं है। यदु बोले कि बाबा, सारी दुनिया तो आगमें जल रही है और तुम ऐसे हो, मानो कोई गंगाजीमें रह रहा हो। बोलो, तुम्हारी आत्मामें इतना आनन्द कहाँसे आया ? तुम्हें विषय-संग तो मिलता नहीं है, फिर तुम इतने सुखी कैसे हो ?

महात्माने बताया कि यदु, तुम तो सब जानते ही हो। ब्रह्माजीने जब सृष्टि बनानी प्रारम्भ की और उनको कोई अन्य शरीर बनानेसे सन्तोष नहीं हुआ तब वे मनुष्य-शरीर बनाकर बहुत प्रसन्न हुए। मनुष्य-शरीर भगवान्‌को बहुत प्रिय है। क्योंकि यह भगवान्‌के शरीरसे मिलता-जुलता है। इसमें बुद्धिकी प्रधानता होती है। पाप-पुण्य केवल मनुष्य-योनिमें ही लगता है, पशु-पक्षीको नहीं लगता। क्योंकि इसको हाथ, बुद्धि और आनन्द भोगनेकी सामग्री मिली हुई है। जब जीव मनुष्य-योनिमें आता है, तब इसके सामने अपने आत्माका स्वरूप प्रकट हो जाता है। इसलिए मनुष्यको चाहिए कि वह अपनी बुद्धिसे, अन्वय-व्यतिरेककी युक्तिसे विचार करके अपने स्वरूपको ठीक-ठीक जान ले।

राजन्, मैं अपनी बुद्धिसे चौबीस गुरुओंका आश्रय लेकर और उनसे शिक्षा ग्रहण करके इस जगत्में मुक्त भावसे स्वच्छन्द विचरता हूँ। मेरे चौबीस गुरु हैं—पृथिवी, वायु, आकाश जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र, पतंग, भौंरा या मधुमक्खी, हाथी, शहद निकालने वाला, हरिण, मछली, पिंगला वेश्या, कुरर पक्षी, बालक, कुँआरी कन्या, बाण बनाने वाला, सर्प मकड़ी और भृंगी कीट।

मैंने पृथिवीसे क्षमा सीखी है। वायुसे असंगता सीखी है, आकाशसे व्यापकता सीखी है। जलसे तृप्तिदान करना सीखा है और अग्निसे सब-कुछ जला देना सीखा है।

बढ़ईके सामने राजाकी सवारी निकल गयी और वह अपने काममें इतना तन्मय था कि उसको राजाकी सवारीका कुछ पता ही नहीं चला। कुमारी कन्याकी चूड़ियाँ धान कूटते समय बोलने लगीं तो उसने उनको तोड़-तोड़कर फेंक दिया और केवल एक बची रहने दिया और इस प्रकार उनका बोलना बन्द हो गया। क्योंकि जहाँ बहुत लोग रहते हैं, वहाँ खटपट होती ही रहती है। मैंने देखा कि कबूतरने अपने परिवारके साथ मोह किया और उसे मर जाना पड़ा। यह भी देखा कि हाथी कैसे स्पर्शसे फँसता है, मछली कैसे चारेके चुंगलमें फँसती है और मधुमक्खियों द्वारा इक्टठा किया हुआ मधु किस प्रकार उनसे छिन जाता है। इसी प्रकार मैंने शेष गुरुओंसे भी कुछ-न-कुछ सीखा है।

देखो, दत्तात्रेयजी महाराज इन चौबीस गुरुओंका वर्णन करके यह बता रहे हैं कि मनुष्य यदि सावधान रहे तो हर चीजसे सबक ले सकता है। इसलिए बुद्धिमान मनुष्यको ऐसी दृष्टि रखनी चाहिए कि वह जहाँ जाय, जो भी देखे, उससे शिक्षा ग्रहण करे।

दत्तात्रेयजी ने बताया कि यह देह वैराग्य और विरक्तिका हेतु है। प्रजापतिने इसकी सृष्टि परमात्माके दर्शनके लिए की थी और यह फंस गया संसारमें। लेकिन यदि यह चाहे तो इससे मुक्त हो सकता है।

देखो, एक ओर तो यदु जैसा धर्मात्मा राजा और दूसरी ओर दत्तात्रेय जैसा महात्मा। यदु श्रीकृष्णके पूर्वज हैं और दत्तात्रेयजी साक्षात् भगवान् विष्णुके अवतार हैं। दोनों ही उच्च कोटिके हैं। इसलिए दोनोंके पारस्परिक संवादसे ससांरको यह तत्त्वज्ञान मिला।

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवसे कहा कि देखो, धर्मका पालन उद्देश्यपूर्वक होना चाहिए। जो यज्ञ-यागादि-रूप धर्म होता है, वह आत्माकी प्रधानतासे, त्वं-पदार्थकी प्रधानतासे होता है। उसमें कर्ता अधिकारी चाहिए

और कर्मका विधान होना चाहिए। उस विधानके द्वारा सांगोपांग सिद्ध होने पर अपूर्वकी उत्पत्ति होती है और वह अपूर्व कर्ताके अन्तकरण में रहकर समय पर फल देता है।

लेकिन भागवत-धर्म कर्ताकी प्रधानतासे नहीं, उद्देश्यकी प्रधानतासे हैं। आप जो काम कर रहे हैं, वह किस परमात्माकी पूजाके लिए है—'कस्मै देवाय हविषा विधेम ?' आप रसोई बना रहे हैं, किसके लिए ? भगवान्की सृष्टिमें भगवान्के ही स्वरूप कुछ लोगोंको भोजन करानेके लिए। अन्न किसके लिए पैदा कर रहे हैं ? सर्वरूप भगवान्के लिए। कपड़ा किसके लिए बना रहे हैं ? सर्वरूप भगवान्के लिए। लोहा किसके लिए साफ कर रहे हैं सबकी सुविधाके लिए। क्योंकि सबके रूपमें भगवान् हैं।

भागवत-धर्मकी विशेषता यह है कि इनके अनुसार सबके रूपमें हैं भगवान् और सबकी सेवाके लिए है कर्म। आप जो भी कर्म करते हों उन सबको सर्वरूप भगवान्की सेवामें समर्पित कर दीजिये। श्रीधरस्वामीने कहा कि भगवान्के लिए जो भी कर्म किया जाता है, वह धर्म हो जाता है। लेकिन कर्मकाण्डमें जो विधि-विशेषसे कर्म किया जाता है, वही धर्म होता है। भागवत-धर्म और कर्मकाण्डी-धर्ममें बहुत बड़ा अन्तर है।

भगवान्ने कहा उद्धव, संसारके रहस्यको समझकर आत्मतत्त्वका विचार करना चाहिए। क्योंकि आत्मज्ञान ही मनुष्यको इस संसारसे मुक्त करनेमें समर्थ है। जैसे लकड़ीमें आग लगने के पहले भी आग रहती है और वह मन्थनके समय निकलती है, प्रकट होती है, वैसे ही देहमें ही आत्मा और परमात्मा छिपा हुआ है। जब विवेक करके इसको निकाला जाता है तब जिस प्रकार गन्नेमें-से रस अलग निकल आता है, उसी प्रकार देहमें-से चेतन वस्तु अलग हो जाती है। इसकी तीन भूमिकाएँ हैं। एक तो यह कि मैं स्थूल-सूक्ष्म-परिच्छिन्न शरीर नहीं, इससे विलक्षण असंग, साक्षी आत्मा हूँ। दूसरी यह कि असंग साक्षी आत्मा परिच्छिन्न नहीं है, वह परब्रह्म परमात्मासे एक और अपिरच्छिन्न है। परिच्छेद सामान्यके अत्यन्ताभावका अधिकरण ही ब्रह्म है। तीसरी बात यह है कि उस परमात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। इन तीनों बातों पर विचार करते ही मनुष्यका आत्माके सम्बन्धमें जो अज्ञान है, वह दूर हो जाता है। उस अज्ञानको दूर करनेके लिए ही यह तत्त्व-ज्ञान है।

बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः।
गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धनम्।।११.११.१

आत्मामें न बन्धन है, न मुक्ति है। सत्त्वगुण-रजोगुण-तमोगुणके जो बन्धन हैं, उनके कारण ही बन्धन मालूम पड़ता है और मुक्ति भी मालूम पड़ती है।

आत्मज्ञानमें बन्धन-मुक्ति दोनों ही नहीं है। इसी शरीरमें रहकर जो इन्द्रियोंके द्वारा कर्ता-भोक्ता बन गया, वह बद्ध हो गया और जो इन्द्रियोंसे अपनेको पृथक् समझकर साक्षी रहा, उसमें किसी प्रकारका बन्धन नहीं हुआ। ये दोनों दो चीजें नहीं, बिल्कुल एक ही चीज हैं। भ्रमकालमें उसका नाम जीव है और ज्ञानकालमें उसका नाम ब्रह्म है। उसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता।

इसके बाद भगवान्‌ने बताया कि देखो भाई उद्धव, यदि तुम मुझको वशमें करना चाहते हो तो सुन लो—

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा।।११.१२.१

मैं योग-भोगसे किसीके वशमें नहीं होता। सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तप, त्याग और दक्षिणासे भी मैं किसीके वशमें नहीं होता-

यथावरुन्धे सत्संगः सर्वसंगापहो हि माम्।।११.१२.२

सम्पूर्ण आसक्तियोंको मिटाकर मुझे वशमें करनेवाला सत्संग ही है। गीध-व्याध-अजामिल-कुब्जा आदिका कल्याण सत्संगसे ही हुआ है। इसलिए सत्संग करना चाहिए। सत्संगसे लब्ध भक्तिके सिवाय दूसरा कोई भी साधन मनुष्यके कल्याणके लिए नहीं है। जब वह सत्संग-साधन करता है तब उसके हृदयमें फलरूप भक्ति आती है और उससे इसका कल्याण हो जाता है।

इसके बाद भागवतमें एक विलक्षण प्रसंग आता है, जो प्रायः दूसरे ग्रन्थोंमें नहीं दिखाई देता। एक बार सनकादि ब्रह्माके पास गये। सनकादि जन्मसे ही सिद्ध हैं, उनको बिना गुरुके ज्ञान प्राप्त है। जिस तरह वामदेवका गर्भमें ज्ञान हुआ,उसी तरह सनकादि उत्पत्तिसे ही ज्ञान-युक्त होते हैं। वैसे तो विराट् चैतन्यको भी गुरु बनानेकी जरूरत नहीं पड़ती, हिरण्यगर्भ चैतन्यको भी गुरु बनानेकी जरूरत नहीं पड़ती, ईश्वर चैतन्यको भी गुरु बनानेकी जरूरत नहीं पड़ती, गुरुकी जरूरत उनको पड़ती है, जो साधारण जीव हैं।

तो, सनकादिने ब्रह्माजीसे यह प्रश्न किया कि पिताजी, विषयोंका चिन्तन करते-करते, हमारा चित्त विषयरूप बन गया है। बाहर जितने भी विषय दिखायी पड़ते हैं, वे अनादि चित्-संस्कारसे ही दिखाई पड़ते हैं। विषय है चित्तमय और चित्त है विषयमय। जब हम विवेक करनेके लिए बैठते हैं कि हमारा मन विषयोंसे किस प्रकार अलग हो तो न विषय हमारे मनको छोड़ते हैं और न मन विषयको छोड़ता है। हम तो ध्यान करते-करते हार गये। अब आप ही बताइये कि इन दोनों का क्या रहस्य है ? इनका अलगाव किस तरहसे होगा ?

जिस समय सनकादिने प्रश्न किया, उस समय ब्रह्माजी किसी जीवके कर्मका यह चिन्तन कर रहे थे कि इसके संचितकी अनादिकालीन राशिमें-से कौन-सा प्रारब्ध लेकर इसका शरीर बनायें ? ब्रह्माजीकी बुद्धिकर्म-चिन्तनमें लगी हुई थी। इसलिए वे सनकादिके प्रश्नका उत्तर नहीं दे सके। तब क्या हुआ ?

स मामचिन्तयद् देवः प्रश्नपारतितीर्षया।
तस्याहं हंसरूपेण सकाशमगमं तदा।।११.१३.१९

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि उद्धव, सनकादिके प्रश्नोंका उत्तर न दे सकनेके कारण ब्रह्माने मेरा चिन्तन किया।मैं हंसावतार ग्रहण करके उनके सामने प्रकट हुआ। मुझे देखकर सब-के-सब आश्चर्यचकित हो गये। ब्रह्माजी अपने पुत्र सनकादिकों को साथ लेकर मेरे पास आये और बोले कि—'को भवान् ?'

देखो, आपके ध्यानमें यह बात आनी चाहिए कि हंस विवेकका देवता है। नीर-क्षीरविवेक ही हंसकी विशेषता है। वह श्वेत है—सात्त्विक है। सच्चा विवेक सात्त्विकतामें ही होता है। रजोगुणीका विवेक मलिन होता है, उसमें वासनाका पुट लगा रहता है। तमोगुणीको तो विवेक होता ही नहीं, वह अन्धा होता है। इसलिए श्वेत वर्णके विवेकी हंस-रूपमें स्वयं भगवान् प्रकट हुए।

भगवान् कहते हैं-जब ब्रह्मा और सनकादिके पूछने पर मैंने उत्तरदिया कि तुम लोग आत्माके बारेमें प्रश्न करते हो या शरीरके बारेमें ? शरीर तो सबके पृथिवी आदि पंचभूतोंसे बने होते हैं और शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धके रूपमें इन्द्रियोंसे ग्रहण होते हैं। इसलिए शरीर तो सबके एक हैं, उनके सम्बन्धमें क्या पूछना ? यदि तुम यह जानना चाहते हो कि आत्मा क्या है और मैं कौन हूँ तो आत्मा चींटीसे लेकर हिरण्यगर्भपर्यन्त, ईश्वर-पर्यन्त, ब्रह्म-पर्यन्त सबकी एक ही है और उसमें किसी तृण या प्रकृतिका भेद नहीं है।

इसलिए तुम न तो आत्माके बारेमें पूछ सकते हो, क्योंकि जो तुम्हारी आत्मा, वही मेरी आत्मा और न शरीरके बारेमें पूछ सकते हो, क्योंकि जिस पंचभूतसे बना तुम्हारा शरीर, उसी पंचभूतसे बना मेरा शरीर। वस्तुतःसब समान हैं। इसलिए तुम कौन हो—यह निरर्थक प्रश्न क्यों पूछते हो ?

पंचात्मकेषु भूतेषु समानेषु च वस्तुतः।
को भवानिति वः प्रश्नो वाचारम्भो ह्यनर्थकः।।११.१३.२३

फिर भी तुम अपने प्रश्नका उत्तर जानना ही चाहते हो तो वह इस प्रकार है। वाणीसे जो-कुछ बोला जाता है, कान से जो कुछ सुना जाता है

और आँखसे जो कुछ देखा जाता है वह सब मैं ही हूँ। मेरे सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमंजसा।।११.१३.२४

असलमें तुम लोग परिच्छिन्न इन्द्रियोंके द्वारा, परिच्छिन्न पदार्थको देखकर उसके साथ जुड़ गये हो, जबकि मन ही विषय है और विषय ही मन है। मन और विषय दोनों कभी अलग-अलग नहीं होते। इनको अलग करनेका उपाय यही है कि दोनोंको एक साथ छोड़ो—'मद्रूप उभयं त्यजेत्।' तुम अपने आत्माको परमात्माके साथ एकमें मिला दो। विषयकेसाथ अपनेको मत मिलाओ। विषय तुम्हारा विनाशी है, जड़, दृश्य है और आत्मा चेतन है। इसीलिए चेतनको चेतनके साथ मिला दो, मुझसे एक हो जाओ और मन, विषय दोनोंको अपनेसे अलग फेंक दो। इसके बाद मन और विषयको अलग करनेका प्रश्न ही नहीं है। जहाँ तुम मेरे स्वरूपमें बैठे कि सब-का-सब मेरा स्वरूप हो जायेगा।

तुम विषय और चित्तके अलगावमें अपनी साधनाकी शक्तिको क्षीण मत करो, बल्कि विषय और चित्त दोनोंसे अपना विवेक करके मेरे ब्रह्म स्वरूपमें बैठनेका प्रयास करो।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि उद्धव, इस प्रकार सनकादिका संशय मिटानेके बाद मैं उनके सामने ही अदृश्य हो गया। वास्तवमें मेरी भक्ति ही सर्वोपरि साधना है। भक्तिमें दो गुण हैं। एक तो जिस अन्तःकरणमें भक्ति रहती है, उसको शुद्ध कर देती है, उससे जीवका शोधन हो जाता है और दूसरे भजनीयके स्वरूपका बोध हो जाता है। इसलिए भक्तिसे बढ़कर जीवनको शुद्ध करनेका दूसरा कोई साधन नहीं है।

यहाँ देखो, श्रीमद्भागवतकी अपूर्वता। इसमें तत्त्वज्ञान वही है, जो उपनिषदोंमें है, ब्रह्मसूत्र में है, गीतामें है। परन्तु इसकी विशेषता यही है कि यह भक्तिके द्वारा एक ओर त्वं-पदवाच्यार्थ जीवके अन्तःकरणको शुद्ध कर देता है और दूसरी ओर स्वरूप स्पष्ट कर देता है। इसलिए श्रीमद्भागवत द्वारा प्रतिपादित भक्ति जीवके लिए उपयोगी है और उसको ईश्वरके साथ जोड़नेवाली है।

अब उद्धवजीके यह पूछने पर कि ध्यान कैसे करें, भगवान् श्रीकृष्णने बताया-

सम आसन आसीनः समकायो यथासुखम्। ११.१४.३२

उद्धव, मनुष्यको ध्यान करते समय सम होकर आसनपर बैठना चाहिए। बैठनेका स्थान समान होना चाहिए। यदि बैठनेकी जगह ऊँची-नीची होगी तो आसन ठीक नहीं जमेगा। फिर जो आसन बिछाया जाय, वह भी समान होना चाहिए। लटककर, मुँह लटकाकर या मुँहको ऊपर उठाकर नहीं बैठना चाहिए। ओंकार का उच्चारण करके बिल्कुल सीधे बैठना चाहिए। इससे प्रमाद नहीं आता, आलस्य नहीं आता, निद्रा नहीं आती।

देखो, मैंने कई लोगोंको देखा है कि जब वे ध्यानके लिए बैठते हैं तो उनका सिर लटक जाता है, उनकी साँस बढ़ जाती है। वे कहते हैं कि मैंने इतनी देर ध्यान किया। लेकिन वे ध्यान क्या करते होंगे। जब जब साँस बढ़ती है तब नींद होती है और जब सिर लटक जाता है तब प्रमाद होता है, तन्द्रा होती है। साधना तो सावधानीका नाम है। यदि आप असावधान हो गये तो साधन क्या करेंगे ? असावधानीमें तो ज्ञानका लोप हो जाता है।

तो, ध्यानार्थीको समान पर सीधे बैठकर यह चिन्तन करना चाहिए कि हृदयमें एक कमल है, जिसका मुँह नीचे लटका हुआ है। उसको ध्यान द्वारा धीरे-धीरे ऊपर उठाकर उसका मुँह खोल देना चाहिए, खिला देना चाहिए। वह कमल अष्टदल है। उसके दल अष्टधा प्रकृति हैं। उनके बीचमें कर्णिका है। कर्णिका माने गद्दी। गद्दी माने पराग होता है। परागके सुगन्धित कणोंसे मकरन्द-रस निकलता है। उसी कर्णिका पर भगवान्‌का ध्यान करना चाहिए। जड़की तरह बैठे, लेटे या खड़े भगवान्‌का ध्यान नहीं करना चाहिए। चेतन भगवान्‌का ध्यान करना चाहिए। ऐसा ध्यान करना चाहिए कि भगवान् बड़े प्रेमसे देख रहे हैं, मन्द-मन्द मुस्करा रहे हैं और हमें अपने हृदयसे लगानेके लिए हाथ फैला रहे हैं। हमारे कल्याणके लिए उनके हृदयमें बड़ी उत्सुकता है।

देखो, कई लोग कहते हैं कि प्रयत्न करने पर भी ध्यान लगता नहीं है। इसका कारण क्या है ? यही कारण है कि ध्यान करने वालोंका मन दूसरी जगह लगा रहता है। योग-दर्शनमें यह बात बतायी गयी है कि जिस समय आप भगवान्‌का ध्यान करने बैठें, उस समय ईमानदारीके साथ कह दें—'हे संसार, हे सगे-सम्बन्धियों, हे शरीर, तुम धरती पर रहो। मैं भगवान्‌के पास जाता हूँ। यदि भगवान् कहेंगे कि मेरे साथ वैकुण्ठ चलो, मेरे भीतर समा जाओ, मुझसे मिल जाओ, तो फिर मैं लौटकर तुम्हारे पास नहीं आऊँगा। मैं अपनी ओरसे सम्पूर्ण दृश्य प्रपंचका परित्याग करके अर्थात् भगवान्‌से अलग जो कुछ भी मालूम पड़ता है, उसको छोड़कर भगवान्‌से मिलनेके लिए ध्यानमें बैठा रहा हूँ।

ऐसा निर्णय करते ही आप देखना, आपका आसन स्थिर हो जायेगा, आपका मन एकाग्र हो जायेगा और आप भगवान्‌में बैठ जायेंगे। अभी तो स्थिति यह है कि आप आधे इधर तो आधे उधर हैं। आपने अपनी कमरमें एक रस्सी बाँध रखी है, जो आपको कभी इधर घसीटती है तो कभी उधर घसीटती है। योगदर्शनमें इसी का नाम 'प्रयत्न-शैथिल्य' दिया गया है।

इसलिए आप अपने प्रयत्नको दृढ़ कीजिये। आप ध्यान कीजिये कि आपके सामने शेषनाग का फन है और आप उसके साथ तादात्म्यापन्न हैं। आपकी गोदमें भगवान् हैं और आपके सिर पर शेषनाग का फन है। शेषनाग बिल्कुल अचल हैं, हिल जाये तो धरती हिल जाये। इस प्रकार ध्यान करनेसे आप देखेंगे कि आपका ध्यान कितना स्थिर होता है।

जब इस तरह भगवान्‌का ध्यान किया जाता है तब क्या होता है ? यही होता है कि 'संयास्यत्याशु निर्वाणं द्रव्यज्ञानक्रियाभ्रमः' अर्थात् संसारमें भगवान्‌के सिवाय जो दूसरी कोई वस्तु या क्रिया मालूम पड़ती है, अलग-अलग पदार्थोंका ज्ञान होता है, उस भ्रमका निवारण हो जाता है। यदि आप दो मिनट भी ठीक-ठीक भगवान्‌का ध्यान कर सकें तो संसारकी प्रीति बिल्कुल छूट जायेगी। मनकी एकाग्रतामें संसार प्रतीत ही नहीं होता, यह तो मनकी चंचलतामें ही प्रतीत होता है।

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने बताया कि उद्धव, जब मनुष्य इस प्रकार मेरी ध्यान-धारणा करने लगता है तब उसके जीवनमें तरह-तरह की सिद्धियोंका उदय होता है। वह हल्का हो सकता है, भारी हो सकता है, फैल सकता है, जो चाहे प्राप्त कर सकता है और जिसको चाहे अपने वशमें कर सकता है। आठ मुख्य सिद्धियाँ हैं और अठारह गौण सिद्धियाँ हैं। ये सब जीवनमें आ जाती हैं, लेकिन सत्पुरुषों का कहना है कि इनसे मेरी प्राप्तिमें विघ्न ही उपस्थित होता है।

संसारके लिए तो इनका नाम सिद्धियाँ हैं, लेकिन जो लोग मेरी ओर चलते हैं उनके लिए ये तुच्छ ही हैं। यह निश्चित है कि मेरा भजन-ध्यान करने वालेको ऐसी कोई सिद्धि नहीं,जो न मिल सके, लेकिन ये सब-की-सब अन्तराय हैं, मेरी प्राप्तिमें, अन्तःकरणकी शुद्धिमें, तत्त्वज्ञानमें बाधक हैं 'अन्तरायान् वदन्त्येता !' इसीलिए महात्मा लोग कभी स्वीकार नहीं करते।

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने जिस प्रकार गीतामें अर्जुनकी अपनी विभूतियोंका बोध कराया है, उसी प्रकार यहाँ श्रीमद्‌भागवतमें उद्धवके लिए भी अपनी विभूतियोंका वर्णन किया है। एक तो होता है नैसर्गिक स्वरूप और दूसरी होती है विभूति ! एक होती है भगवान्‌की विभूति और दूसरा होता है योग। गीता में आप पढ़ते हैं कि पृथिवी भगवान्‌का योग है--

एतां विभूतिं योगं च मां यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।।१०.७

पृथिवीमें जो कमल खिलता है, अन्न पैदा होता है, सुगन्ध फैलती है, वह पृथिवीका वैभव है। जल भगवान्‌का योग है, भगवान्‌से एक है पर उसमें जो तरह-तरहके स्वाद हैं, वे उसकी विभूतियाँ हैं। अग्नि भगवान्‌का योग है, पर उसमें जो परम सुन्दर, परम मधुर रूप दिखाई पड़ते हैं, वे उसकी विभूतियाँ हैं। इस प्रकार संसारमें सभी वस्तुओंमें भगवान्‌का योग भी रहता है और विभूति भी रहती है। विश्व-प्रपंचके सम्पूर्ण तत्त्व परमात्माके योग हैं और उनकी विशेषताएँ विभूतियाँ हैं। जब मनुष्य परमात्माके स्वरूप और वैभवको पहचानने लगता है तब परमात्मामें उसकी स्थिति अपने-आप ही हो जाती हैं। वह वैभव देखेगा तब भी भगवान्‌का और तत्त्व देखेगा तब भी भगवान्‌का। इस प्रकार सर्वत्र और सबमें उसको भगवान्‌का दर्शन हो जाता है।

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णके श्रीमुखसे वर्णाश्रम धर्म, यम-नियम और भक्ति-ज्ञान-कर्मयोग आदिका निरूपण सुनने के बाद उद्धवजीने तत्त्वोंकी संख्याके सम्बन्धमें प्रश्न किया। सांख्यके विषयमें भी पूछा। दोनों प्रश्न अलग-अलग हैं। तत्त्वोंके सम्बन्धमें उद्धवजीने कहा कि भगवन्, कोई महात्मा कहते हैं कि तत्त्व एक ही है, कोई कहते हैं दो हैं, कोई कहते हैं तीन हैं, कोई कहते हैं चार हैं, कोई कहते हैं पाँच हैं, कोई कहते हैं सत्रह हैं, कोई कहते हैं अट्ठाईस हैं और कोई कहते हैं छत्तीस हैं। लेकिन वास्तवमें कुल कितने तत्त्व हैं ?

भगवान् श्रीकृष्णने सबका समन्वय करते हुए कहा कि उद्धव, तत्त्वोंका निर्णय करनेवालोंको मूर्ख मत समझो ?यह शंका मत करो कि क्या ठीक है, क्या ठीक नहीं है। विचारकी अलग-अलग शैलियाँ होती हैं। उनके अनुसार एक तत्त्वका दूसरेमें और दूसरेका तीसरेमें अनुप्रवेश हो जाता है। एक दृष्टिसे वह दो दिखता है तो दूसरी दृष्टिसे एक दिखता है। महात्मा लोग सब-के-सब तत्त्वानुभवी होते हैं। वे अलग-अलग ढंगसे समझाते हैं। जैसे एक परमात्मा है, दूसरी प्रकृति है। प्रकृतिमें तीन गुण हैं। उसमें इतनी विकृतियाँ हैं, इतने विकार हैं। इस तरह तत्त्वोंकी गणना करने पर कोई एक गिनता है, कोई दो गिनता है और कोई तीन गिनता है।

सर्वन्याय्यं युक्तिमत्त्वाद् विदुषां किमशोभनम्।

जो विद्वान् जिस दृष्टिसे बोलता है, उस दृष्टिसे उसका बोलना ठीक है। वह जहाँ बैठा है, उसको वहाँसे वैसा ही दिखता है। इसलिए सबके मत न्यायसंगत हैं।

एक बार श्रीउड़िया बाबाने मुझसे पूछा कि द्रष्टा और दृश्यके बीचमें सन्धि क्या है ? मैंने कहा कि दृष्टि। एक द्रष्टा है, दूसरा दृश्य है, बीचमें दृष्टि सन्धि है। बाबा बोले कि गलत ! मैंने कहा कि तब क्या ठीक है, महाराज ? बोले कि द्रष्टा स्वरूपका अज्ञान। यदि दिक्कालादि अपरिच्छिन्न दृष्टिसे तत्त्वको तुम समझ लो तो उसमें दृष्टि नहीं द्रष्टाके स्वरूपके अज्ञानसे ही दृश्य पृथक् भासता है। इसलिए विद्वान् जहाँ बैठकर समझानेके लिए जो बात बोलते हैं, वह सब न्यायोचित है, क्योंकि सबके पक्षमें युक्ति है। इसमें खण्डन-मण्डन करनेकी जरूरत नहीं है। महात्माओंके बताये हुए किसी भी मार्गसे चलकर परमात्माको प्राप्त किया जा सकता है।

अब उद्धवजीके यह पूछने पर कि सांख्ययोग क्या है, भगवान् श्रीकृष्णने कहा—सांख्य माने तत्त्वोंकी गणना। आओ, उसकी गणना की जाये। देखो, एक होता है कार्य। यहींसे गणना प्रारम्भ करो। सबसे अन्तिम कार्य पंचभूत हैं। वैज्ञानिकोंमें कोई-कोई बताते हैं कि चार ही भूत हैं। कोई-कोई बताते हैं कि तीन ही भूत हैं और कोई-कोई कहते हैं कि एक शक्ति ही है। लेकिन ये सब मशीनी बातें हैं। हमारे पास स्वाभाविक रूपसे पाँच यन्त्र हैं—शब्द सुननेके लिए कान हैं, छूनेके लिए त्वचा है, देखनेके लिए आँखें हैं, स्वादके लिए जीभ है और गन्ध लेनेके लिए नाक है। ये पाँचों यन्त्र हमारे शरीरमें लगाये हुए हैं और हमें वस्तुओंको अलग-अलग दिखाते हैं। अब शब्द-स्पर्श-रूप-रसगन्धको ग्रहण करनेवाली हमारी पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंके मूलभूत जो तत्त्व हैं, वे भी पाँच होने चाहिए। एक शब्द और कानका मूल, दूसरा स्पर्श और त्वचाका मूल, तीसरा रूप और नेत्रका मूल, चौथा रसना और रसका मूल तथा पाँचवाँ नासिका और गन्धका मूल। इसी प्रकार तत्त्व भी पाँच होने चाहिए। इनकी पाँच ही मूलभूत तन्मात्राएँ होती हैं—शब्द तन्मात्रा, स्पर्श तन्मात्रा, रूप तन्मात्रा, रस तन्मात्रा और गन्ध तन्मात्रा। दुनियामें जितनी भी शक्ल-सूरतें हैं—चाहे पेड़की हो, पौधोंकी हो, पशु-पक्षियोंकी हो, मनुष्यकी हो, दुरात्मा-माहत्माकी हो, ग्रह-नक्षत्र आदि की हो—सब पंचभूतोंसे ही बनी हैं। इनसे ही कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड बने हुए हैं। पंचभूत बड़ी वस्तु है और ब्रह्माण्ड इनके सामने छोटे-छोटे अण्डोंके समान हैं।

सब आकृतियाँ, सब नाम और सब जातियाँ पंचभूतोंमें ही कल्पित होती हैं। इसलिए अन्तिम कार्य पाँच भूत हैं। बीचमें जो पंचतन्मात्राएँ, अहंकार और महत्तत्त्व हैं, ये अपने कारण की दृष्टिसे कार्य और कार्यकी दृष्टिसे कारण हैं। इसलिए एक तत्त्व हुआ कार्य और दूसरा तत्त्व हुआ कार्य-कारण उभयात्मक। एक तत्त्व ऐसा भी होता है, जो कारण ही होता है, कभी कार्य होता ही नहीं। जैसे प्रकृति किसीका कार्य नहीं है, सबका कारण है। लेकिन तत्त्व तीन

हैं—कारण तत्त्व, कार्य तत्त्व और कार्य-कारण तत्त्व ! चौथी वस्तु है असंग साक्षी, चेतन साक्षी, चेतन आत्मा, और कार्य-कारण तत्त्व ! चौथी वस्तु है असंग साक्षी, चेतन आत्मा, जिनसे ये प्रकाशित होते हैं। इस प्रकार सांख्यकी प्रक्रियासे यह विचार करने पर कि प्रकृतिसे कैसे सृष्टि होती है और सृष्टि कैसे प्रकृति में मिल जाती है, संसारकी वस्तुओंकी आसक्ति छूट जाती है। इस प्रकारके ध्यानसे संसारकी आसक्ति मिट जाती है। इसीको कहते हैं अन्वय व्यतिरेकसे चिन्तन। सबमें प्रकृतिका अन्वय है, सभी वस्तुओंके बिना भी प्रकृति रहती है और उसमें सब-के-सब लीन हो जाते हैं।

इसके पहले उद्धवजीके वर्णाश्रम-धर्म सम्बन्धी प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान् श्रीकृष्णने कहा-मुझ परमात्माके स्वरूपमें ही चार वर्ण और चार आश्रम बने हैं। इस संसारका ज्ञान-कान, आँख, त्वचा, नासिका और जिह्वाकी प्रधानतासे ही प्राप्त होता है। इसलिए मेरे मुखसे, शिरोभागसे जो ज्ञान-प्रधान जातियाँ पैदा होती हैं, उनको ब्राह्मण कहते हैं। इसी तरह मेरे स्वरूपमें जिनके बाहुमें बल है, जो रक्षा करते हैं, उनको क्षत्रिय बोलते हैं।

इस व्याख्याको दूसरी दृष्टिसे भी देखते हैं। विराट् पुरुषका जो विश्व-वैश्वानर रूप है, वह जाग्रतावस्था है। इसमें ब्रह्मचारी और शूद्र है। इसके ऊपर जो तैजस हिरण्यगर्भ है, जिसके संकल्पसे यह सृष्टि बनती है, उसमें योजना-प्रधान, संकल्प-प्रधान, पहलेसे सोच-विचारकर काम करने वाले वैश्य और गृहस्थका समावेश होता है। उसके ऊपर जो क्षत्रिय और वानप्रस्थ हैं, उनका समावेश प्राज्ञ एवं ईश्वरमें होता है। उनमें ऐश्वर्य भी है, प्रज्ञाका घनीभाव भी है और वे संहार-प्रधान होते हैं, उनमें सबका लय होता है। उसके ऊपर तुरीय तत्त्व है। उस तुरीय तत्त्वमें ज्ञानकी प्रधानता है, ज्ञान ही है। इसलिए ब्राह्मण-संन्यासी तुरीय तत्त्वकी प्रधानतासे कल्पित हुए हैं और जैसा कि पहले कहा क्षत्रिय-वानप्रस्थ ईश्वर और प्राज्ञकी प्रधानतासे कल्पित हुए हैं, वैश्य-गृहस्थ तैजस और हिरण्यगर्भकी प्रधानतासे कल्पित हुए हैं और शूद्र-ब्रह्मचारी विराट् वैश्वानरकी प्रधानतासे सेवाके लिए कल्पित हुए हैं। ये सब परमात्माके स्वरूप हैं।

अब यदि कोई कहे कि किसीके पाँव काट दो और सिर-ही-सिर रहे तो वह पंगु हो जायेगा। किसीके हाथ काट दो और पाँव-ही-पाँव रहे तो वह निकम्मा हो जायेगा। और सिर काट देने पर तो जीवन ही नहीं रहेगा।

चारों वर्णों और चारों आश्रमोंकी कल्पना परमात्माके विराट् विश्ववैश्वानर, हिरण्यगर्भ-तैजस, ईश्वर-प्राज्ञ और तुरीय-ब्रह्मतत्त्वकी प्रधानतासे, ज्ञान-प्रधान, शक्ति-प्रधान संकल्प-प्रधान और क्रिया-प्रधानके रूपमें की गयी है। इसी

दृष्टिसे इनके धर्मका भी निर्माण हुआ है। ब्राह्मण धर्म, क्षत्रिय धर्म, वैश्य धर्म और शूद्र धर्ममें कोई छोटा या बड़ा नहीं होता। ये चारों अंग हैं और उनकी समान-रूपसे उपयोगिता है। यह कहना कि अमुक अंग नहीं चाहिए, ठीक नहीं है। यदि शरीरमें मल-त्याग अथवा मूत्र-त्यागवाला अंग भी न हो तो शरीर किस कामका हो जायेगा ? इसलिए ये सारे-के-सारे अंग परमात्माके हैं और इन सबका अपनी-अपनी प्रकृति अपने-अपने जन्मस्थान और अपने-अपने मूल-कारणके अनुसार विभाग हुआ।

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने बताया कि ब्राह्मणमें ऐसे-ऐसे, शम-दमादि रहने चाहिए, क्षत्रियमें ऐसे-ऐसे बलवीर्य-ऐश्वर्य आदि रहने चाहिए, वैश्यमें ऐसे-ऐसे धन-वैभव, गोरक्षण-वाणिज्य चाहिए। जैसे योग्यताके अनुसार विभाग होते हैं, वैसे ही ये भगवान्‌के द्वारा किये हुए विभाग हैं। इसलिए सबको अपने-अपने धर्मका पालन करना चाहिए।

श्रीमद्‌भागवतमें धर्म-पालनकी जो विधि बतायी गयी है, वह विलक्षण है। इसमें बताया गया है कि काम तो सब करो, लेकिन इसका ध्यान रखो किसके उद्‌देश्यसे कर रहे हो ? विराट् हिरण्यगर्भ ईश्वर तुरीयरूप परमेश्वर है, उसके उद्‌देश्यसे ही सम्पूर्ण कर्म करो। परमेश्वरकी सेवाके लिए अपने निर्मल, निष्काम धर्मका पालन करें। व्यक्तिगत स्वार्थ और व्यक्तिगत भोगकी वासनासे धर्मका पालन न करें। सब अपने-अपने धर्मके द्वारा भगवान्‌की आराधना करें।

मूलाधार चक्रके द्वारा चैतन्य प्रकट होकर शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध आदिको ग्रहण करता हुआ शरीर बनाता है। जीवात्माका चैतन्य ईश्वरसे बिल्कुल पृथक् नहीं है। इसलिए जो भक्ति-भावसे परमेश्वरका अनुसंधान करता है और अपने धर्म तथा कर्त्तव्यके द्वारा सर्वात्मा-विश्वात्मा भगवान्‌की सेवा करता है, उसका परम कल्याण होता है। भगवान् सर्वरूप हैं। इसलिए पेड़-पौधोंकी भी सेवा होनी चाहिए। पशु-पक्षीकी भी सेवा होनी चाहिए। मनुष्य-देवताकी भी सेवा होनी चाहिए। जलकी भी सेवा होनी चाहिए, उसको दूषित नहीं करना चाहिए। धरतीकी भी सेवा होनी चाहिए, उसको गन्दी नहीं करना चाहिए। सूर्य और चन्द्रकी रोशनीमें भी गन्दे पदार्थ नहीं मिलाने चाहिए। वायुको भी शुद्ध रखना चाहिए। आकाशको भी शुद्ध रखना चाहिए। आप उत्तम शब्दका उच्चारण करेंगे तो आपका शब्द आकाशमें फैलेगा और उससे आकाशकी शुद्धि होगी। इसप्रकार व्यष्टि, समष्टि सबको शुद्ध करनेके लिए भागवतधर्म है, भगवच्चिन्तन है। यह परम कल्याणमय है। जो लोग इसका पालन नहीं करते वे इस संसारमें फँस जाते हैं, उनकी गति दूसरी होती है।

भागवतमें एक वर्णन यह आया है कि जब सब-का-सब परमात्माका स्वरूप है तब गुण-दोषकी दृष्टि क्या है ? इसका उत्तर यह है कि जबतक गुण-दोषकी दृष्टि न मिट जाये, तबतक यम-नियमका पालन करना चाहिए। यम माने होता है सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय और अपरिग्रह। योग-दर्शनमें यह पाँच यम बताये गये हैं। लेकिन भागवतमें बारह यम हैं— अहिंसा, सत्य, अस्तेय, असंगता, लज्जा, असंचय, आस्तिकता, ब्रह्मचर्य, मौन, स्थिरता, क्षमा और अभय। इसी तरह नियम भी बारह हैं— शौच, जप, तप, हवन, श्रद्धा, अतिथि-सेवा, पूजा, तीर्थयात्रा, परोपकार, सन्तोष और गुरु-सेवा। लोगोंके साथ व्यवहार करनेमें यम हमारे जीवनमें रहना चाहिए और व्यक्तिगत पवित्रताके लिए हमें नियमका पालन करना चाहिए। शरीरको ठीक रखनेके लिए आसन हैं, क्रियाको नियन्त्रित करनेके लिए प्राणायाम हैं और इन्द्रियोंको संयमित करनेके लिए प्रत्याहार है। मनको एक स्थानमें करनेके लिए धारणा है, अमुक कालतक वशमें करनेके लिए ध्यान है तथा अमुक वस्तुमें मिला देनेके लिए समाधि है। जब हमारा मन घोर अन्धकारमें, तमोगुणमें पड़ जाता है, तब उसका नाम नरक हो जाता है। जब हमारे जीवनमें सत्त्वगुणका उदय होता है तब स्वर्ग आ जाता है-'स्वर्ग सत्त्वगुणोदयः।'

श्रीमद्भागवतमें बताया है कि इनका बहुत वर्णन करनेकी आवश्यकता नहीं है। जबतक मनुष्यमें गुण-दोषकी विभाजक दृष्टि है और वह परमात्मामें समा नहीं जाती तबतक समझिये कि मायाका दोष बना हुआ है-

गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः। ११.१९.४५

सुनहु तात मायाकृत गुण अरु दोष अनेक।
गुण यह उभय न देखिये, देखिय सो अविवेक।।

दूसरोंका गुण और दोष रखनेकी ओरसे अपनी दृष्टि हट जानी चाहिए। लेकिन यदि अपने जीवनमें सद्गुण लाना हो तो उसके लिए प्रयास करना चाहिए। आप यह देखिये कि आपके स्वाध्यायका विषय क्या है ? आप सात्त्विक पुस्तकें पढ़ते हैं या राजसिक-तामसिक ? जल कौन-सा पीते हैं ? शुद्ध जल पीते हैं या बोतलवाला ? किन लोगोंमें रहते हैं ? किस स्थानमें रहते हैं ? कहाँ आपका जन्म हुआ है? आप क्या कर्म करते हैं ? किस वस्तुका सेवन करते हैं ? किस मन्त्रका जप करते हैं ? आपके संस्कार कैसे हैं ?

इस प्रकार आत्मनिरीक्षण द्वारा जीवनमें गुणोंका निर्माण तदनुरूप कार्य करनेसे होता है। सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है सात्त्विक पुरुषोंके संग और

उनकी उपासनासे। सात्त्विक वही है, जो शास्त्रानुसार है, जिसको बड़े-बूढ़े विद्वान् लोग सात्त्विक कहते हैं। जो कर्म वासनासे सात्त्विक बनाया जाता है, वह सात्त्विक नहीं है।

यहाँ उद्धवजीने यह प्रश्न कर दिया कि जब मूलमें एक ही तत्त्व है तब यह करो, यह न करो—ऐसा विधान क्यों ? दोष-दृष्टिके बिना तो विधान और निषेध बनता ही नहीं है। भगवन्, आपने तो मुझको यही उपदेश दिया है कि गुणकी दृष्टिसे शुभाचरणका पालन है और दोषकी दृष्टिसे अशुभाचरणका परित्याग है। इससे हमारे मनमें शंका उत्पन्न हो गयी है। इसको आप निवृत्त करनेकी कृपा कीजिये।

अब उद्धवजी की इस शंकाका उत्तर आपको कल मिलेगा कि एक ही ब्रह्म होने पर, एक ही माया होने पर, एक ही प्रकृति होने पर, एक ही पंचभूत होने पर और जीवात्माके चेतन होने पर भी गुण-दोषके विभाग किस दृष्टिसे किये हुए हैं ? कल ही आपको संक्षेपसे भिक्षु-गाथा और श्रीशुकदेवजी महाराज द्वारा प्रदत्त परमार्थका, भागवत-धर्मका सुन्दर उपदेश सुनाया जायेगा। कल तो जैसे-तैसे यह प्रवचन-यज्ञ पूरा करना ही है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

: १४ :

कल प्रसंग चल रहा था उद्धवजीके प्रश्नका। वे भगवान् श्रीकृष्णसे कहते हैं—आपका यह कथन मेरे गलेके नीचे नहीं उतरता कि गुण और दोषकी दृष्टि ही दोष है और गुण-दोषकी दृष्टिका न होना ही सबसे बड़ा गुण है। वेदमें ही विधि-निषेध मिलता है—जैसे यह करो यह मत करो, यह अच्छा है, यह बुरा है, यह पाप है, यह पुण्य है और इससे नरक मिलता है, इससे स्वर्ग मिलता है। लेकिन गुण-दोष-भेदके बिना यह संगत नहीं होगा, सब कुछ असंगत हो जायेगा। इसलिए आपका यह वचन लोगोंके लिए निःश्रेयसका हेतु कैसे हो सकता है—'निःश्रेयसं कथं ह्येनं निषेधविधिगोचरम्।'

इसके उत्तरमें भगवान् श्रीकृष्णने पहली बात यह बतायी कि उद्धव, जिस विधि-निषेधकी बात तुम करते हो वह विषय, वस्तु या क्रियाके भेदसे नहीं है, चेतन अधिकारीके भेदसे है। संसारमें जो जड़वादी लोग हैं, वे जड़ यन्त्रोंके द्वारा दोष-गुणका परीक्षण-समीक्षण करते हैं और कहते हैं कि यह विष है, यह अमृत है। लेकिन वही विष किसीके लिए औषधका काम करता है तो अमृत हो जाता है और किसीके लिए अमृत भी विषका काम करता है। इसलिए वस्तु या क्रियाको देखकर यह निश्चय नहीं किया जा सकता कि क्या हेय है क्या उपादेय है ?

धर्मार्थं व्यवहारार्थं यात्रार्थमिति चानघ।
दर्शितोऽयं मयाऽऽचारो धर्ममुद्वहतां धुरम्।।११.२१.४

मनुष्यकी जीवनयात्रा ठीक चले, उसका पारस्परिक व्यवहार शुद्ध हो, उसके द्वारा धर्मानुष्ठान सम्पन्न हो, उसमें शक्ति जाग्रत हो और वह अपने लिए उसका उपयोग कर ले-इन पाँच प्रयोजनोंसे एक ही वस्तुमें वेदने भेदकी कल्पना की है। वस्तुतः वस्तुओंमें विषमता नहीं होती।

असलमें सब ब्रह्म है, सब प्रकृति है, सब ईश्वर है, सब माया है, सब पंचभूत है। तत्त्वके विवेकसे क्रियाको परमाणु मिल जायेंगे या तो शक्ति मिल जायेगी या परमेश्वर मिल जायेगा, या ब्रह्मात्मैक्य-बोध हो जायेगा। यदि वस्तुकी दृष्टिसे अच्छे-बुरेका निर्णय करने लगोगे तो कभी नहीं कर सकोगे। इसलिए योग एक अभेदसे ही भेदकी कल्पना करता है—

वेदेन नामरूपाणि विषमाणि समेष्वपि।
धातुषूद्धव कल्प्यन्ते एतेषां स्वार्थसिद्धये।।११.२१.६

योग एक ही सम वस्तुमें विषम नाम-रूपकी कल्पना करता है कि उन-उन वस्तुओंका मैंनुष्यके जीवनमें उपयोग हो।

इसीलिए मैं पहले कह चुका हूँ कि जिसके जीवनमें निर्वेद हो, वैराग्य हो, और जिसको शान्तरस का अनुभव करना हो, उसके लिए ज्ञानयोग है। जिसको किसी वस्तु-स्थितिमें परिवर्तन करना हो, जिसमें लिप्सा हो, प्रेप्सा हो, जो कुछ पाना चाहता हो, उसके लिए कर्मयोग है और जिसके मनमें न पूर्णरूपसे वैराग्य है और न पूर्णरूपसे राग है, उसके लिए भक्तियोग है-

निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्।।
यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः।।

११.२०.७-८

बाहर ढूंढकर किसी पदार्थका अन्त नहीं पाया जा सकता। अपने अन्दर ढूंढकर और अपनेको जानकर ही सबका अन्त पाया जा सकता है। वस्तुओंकी तो यह स्थिति है कि शंख हड्डी है, परन्तु उससे भगवान्‌को अर्घ्य दिया जा सकता है। तबले और ढोलकमें चाम है लेकिन मन्दिरमें उनका प्रवेश होता है। जो वस्तु रोगीके लिए ग्राह्य होती है, वह स्वस्थके लिए त्याज्य होती है। जो पहलवान पचा सकता है उसके लिए घी उपयोगी होता है, लेकिन जो बीमार होता है उसको सूप दिया जाता है। हलवा-पूरी सबके लिए बढ़िया नहीं होती।

व्यक्तिकी योग्यता और आकांक्षा देखकर ही उसके अधिकारका निर्णय होता है और अधिकारके अनुसार चिकित्सा तथा पथ्यकी व्यवस्था होती है। पेटेण्ट दवासे काम नहीं चलता, वैद्य परीक्षा करके ही निर्णय करता है कि रोगीके लिए किस चिकित्साकी आवश्यकता है। किसीके लिए संखिया भी दवा होती है और सांपको दूध पिलाना भी विष हो जाता है। बहुत पानी हो तो उसमें सब नहा सकते हैं, कुल्ला कर सकते हैं, लेकिन थोड़ा पानी हो तो वह जूठा हो जाता है। पाँच क्विण्टल गेहूँका आटा रखा हो और बिल्ली उसमें विष्ठा कर जाये तो उसके आसपासका एक-दो-किलो आटा निकालकर फेंक सकते हैं। परन्तु यदि वह एक-दो-किलो ही हो तब उसके फेंकने की ही व्यवस्था होती है। इस तरह द्रव्यकी, शक्तिकी या क्रियाकी दृष्टिसे यदि कोई संसारमें धर्माधर्म-विभाग करना चाहे तो वह नहीं कर सकता।

अन्तमें भगवान् श्रीकृष्णने छाती ठोककर यह बात कह दी है कि वेद अनन्त हैं, अपार हैं और उसका परम तात्पर्य केवल मैं जानता हूँ, मेरे सिवाय दूसरा कोई नहीं जानता।

किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत्।
इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद् वेद कश्चन।।११.२१.४२

श्रुति क्या विधान करती है, किसका नाम लेती है, किसका अनुवाद करती है, किसका विकल्प, किसका अध्यारोप करती है—इस बातको मेरे सिवाय सृष्टिमें दूसरा नहीं जानता।

मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते त्वहम्।
एतावान् सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम्।
मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति।। ११.२१.४३

उद्धव, मैं तुम्हें स्पष्ट बता देता हूँ कि सभी श्रुतियाँ मेरा ही विधान करती हैं, मेरा ही नाम लेती हैं, मुझमें ही विकल्प करती हैं—अपवाद करती हैं। सारे वेदोंका परम तात्पर्य केवल इतना ही है कि शब्द मेरा आश्रय लेकर इस भेदको केवल जादूका खेल मायामात्र बताता है और अन्तमें इसका प्रतिषेध कर देता है। यह भेद केवल प्रतीतिमात्र है, वस्तु तत्त्वमें भेद नहीं है। भेदका निषेध करके भेद स्वयं शान्त हो जाता है।

देखो, दुनियाकी कोई मजहबी किताब ऐसी नहीं है कि वह धर्मका वर्णन करे, ईश्वरका वर्णन करे और अन्तमें यह बोलदे कि परमेश्वर ही सत्य है, मैं सत्य नहीं हूँ। अन्य सम्प्रदायोंसे विलक्षण वैदिक सत्य है।

इसके बाद तत्त्वोंकी संख्या, पुरुष-प्रकृतिका विवेक, तितिक्षु ब्राह्मणका इतिहास, सांख्ययोग और तीनों वृत्तियोंका निरूपण करते हुए भगवान्‌ने पुरूरवाका उपाख्यान सुनाया। उन्होंने कहा कि उद्धव, पहले तो पुरूरवा उर्वशीके प्रेममें फँसकर बेसुध हो गये थे। बादमें जब उन्होंने आत्मचिन्तन किया और उनके विवेकका उदय हुआ तब वे बोले-अरे मैं चक्रवर्ती सम्राट् होकर इस अप्सराका, वेश्याका खिलौना बन गया। सारी दुनिया मेरे चरणोंमें गिरती थी। लेकिन मैं इसके पीछे मारा-मारा नंगा होकर भागता फिरा और उसने मुझे इतना सताया !

अन्तमें भगवान् श्रीकृष्णने कहा कि उद्धव, दुस्संग सर्वथा त्याज्य है और सत्संग ही सर्वोत्तम है। संसारसे कितना भी भोग हो, राग हो, लेकिन जबतक सत्संगकी प्राप्ति नहीं होती, जबतक मनुष्यका हृदय निर्मल नहीं होता—

ततो दुस्संगमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान्।
सन्त एतस्यच्छिन्दन्ति मनोव्यासंगमुक्तिभिः।।११.२६.२६

सन्त लोग अपनी वाणीसे संसारकी आसक्तिको काट देते हैं। आसक्ति कट जानेके बाद असंग आत्माको, चेतनको, देशकाल-वस्तु कोई भी परिच्छिन्न नहीं कर सकती; क्योंकि यह तो देशका भी प्रकाशक चेतन है, कालका भी प्रकाशक चेतन है, वस्तुका भी प्रकाशक चेतन हैं और जो जिसका प्रकाशक होता है, वह अपने प्रकाश्यसे परिच्छिन्न नहीं होता। इसलिए यह प्रकाशक साक्षात् अद्वितीय ब्रह्म है—यह बोध हो जाता है।

सन्तो दिशन्ति चक्षूंषि बहिरर्कः समुत्थितः।
देवता बान्धवाः सन्तः सन्त आत्माहमेव च।।११.२६.३४

जब सूर्योदय होता है तब लोगोंको बाहरकी वस्तुओंके दर्शनके लिए नेत्र अपरोक्ष होते हैं, लेकिन सन्तका दर्शन होने पर अपने भीतर छिपी हुई वस्तुके दर्शनकी योग्यता आ जाती है। सन्त ही देवता हैं। सन्त ही बन्धुबान्धव हैं। सन्त ही आत्मा हैं। सन्त ही परमात्मा है।

जिनकी समझमें यह बात न आये, उनको मेरी उपासना करनी चाहिए। लेकिन पहले यह जानना चाहिए कि उपासना क्या होती है ? आचार्यसे परम्परागत उपासनाकी पद्धति सीखनी चाहिए और उसी के अनुसार उपासना करनी चाहिए। उपासना चाहे जिस प्रकार नहीं होती, वह मनःकल्पित भी नहीं होती।

उपासना सूर्यमें होती है, अग्निमें होती है, जलमें होती है, पृथिवीमें होती है, ब्राह्मणमें होती है, गायमें होती है—यहाँ तक कि आ-चाण्डाल, आ-हिरण्यगर्भ, आ-कीट-पतंग, आ-प्रकृति सबमें सर्वत्र मुझ परमात्माकी पूजा होती है। सूर्यके लिए वेदका पाठ करना चाहिए और अग्निके लिए हवन करना चाहिए।

इसके बाद किसमें कैसे पूजा करनी चाहिए-यह बताते हुए भगवान् कहते हैं कि अतिथिको भोजन कराना चाहिए, विद्वान् ब्राह्मणका सत्कार करना चाहिए और गायको हरी घास देनी चाहिए। इस प्रकार सम्पूर्ण प्राणियोंको मेरा स्वरूप समझकर उनको नमस्कार करना चाहिए।

इसी प्रकार अपने आत्मामें भी परमात्माकी पूजा होती है ! जैसे दूसरेको मारनेसे हत्या लगती है, वैसे ही अपने को मारनेसे भी हत्या लगती है। क्योंकि जैसे दूसरेकी आत्मा, वैसे ही अपनी आत्मा ! इसलिए भगवान्ने आत्मपूजा वर्णन किया और कहा कि अपनेको उपयुक्त भोग देना चाहिए—

'भोगैरात्मानमात्मनि।' गीतामें भी कहा है कि आत्माको सता-सताकर भगवान्‌की आराधना नहीं होती—

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्।। गी. १७.६

किसीने एक महात्मासे पूछा कि महाराज, हमारे ऊपर भगवान् प्रसन्न हैं, यह हम कैसे समझें ? महात्माने कहा कहा कि यदि अपने भोगसे, अपनी रहनीसे, अपने क्रिया-कलापसे अपनी मानसिक स्थितिसे अपने ऊपर प्रसन्न हो तो समझ लो कि तुम्हारे ऊपर भगवान् प्रसन्न हैं। भगवान् ने अपने लिए कोई अलग घर नहीं रखा है, तुम्हारा अन्तकरण ही उनका घर है। यदि तुम्हारा अन्तःकरण तृप्त है, सन्तुष्ट है, परमानन्दमें है तो तुम्हारे हृदयमें बैठा हुआ भगवान् भी परमानन्दमें है। उसकी तृप्ति, तुष्टिका स्थान यही है। अतः निर्वाहके लिए जो भोग आवश्यक है, वह अपने शरीरको दो। जैसे दूसरे शरीरमें भगवान्‌को तृप्त किया जाता है, वैसे ही अपने शरीरमें भी भगवान्‌को तृप्त किया जाता है। पशु, पक्षी, मनुष्य, वृक्ष, लता और भूमि-ये सब परमात्माके स्वरूप हैं। ये जड़ नहीं हैं, सब चेतन हैं। प्रकृति भी जड़ नहीं है, केवल प्रकृतिका कार्य जड़ मालूम पड़ता है।

प्रतिज्ञा और दृष्टान्तश्रुतिमें दिये हुए हैं। प्रतिज्ञा यह कि एक विज्ञानसे सर्वका विज्ञान और दृष्टान्त यह कि एक सोनाके ज्ञानसे सर्वाभूषणोंका ज्ञान। ये दोनों तबतक सिद्ध नहीं होंगे, जबतक प्रकृति परमात्मासे अन्य होकर कोई पदार्थ बनेगी। इसलिए प्रकृति परमात्माका एक नाम है, अंग है।

परमात्माके सिवाय और कोई नहीं है—इसप्रकार पूजा करनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है और उधर परमात्माका ज्ञान होता है।

श्रीउड़िया बाबाजी महाराज श्रीमद्भागवतके इन दो श्लोकोंको बोला करते थे—

न स्तुवीत न निन्देत कुर्वतः साध्वसाधु वा।
वदतो गुणदोषाभ्यां वर्जितः समदृङ् मुनिः।।
न कुर्यान्न वदेत् किञ्चिन्न ध्यायेत् साध्वसाधु वा।
आत्मारामोऽनया वृत्त्या विचरेज्जडवन्मुनिः।।

भा० ११.११..१६-१७

इनमें भी भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवजीको उपदेश दिया है कि अच्छा-बुरा सोंचे नहीं, अच्छा-बुरा बोले नहीं और अच्छा-बुरा करे नहीं। इसी प्रकार अपने आत्मस्वरूप परमात्मामें मग्न होकर महात्माको विचरण करना चाहिए।

परस्वभावकर्माणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत।
विश्वमेकात्मकं पश्यन् प्रकृत्या पुरुषेण च।।
परस्वभावकर्माणि यः प्रशंसति निन्दति।
स आशु भ्रश्यते स्वार्थादसत्यभिनिवेशतः।।११.२८.१-२

भगवान् कहते हैं कि सबका अपना-अपना स्वभाव होता है। बिच्छू डंक मारता है, साँप डँसता है, गाय दूध देती है, वृक्ष फलता है, नदियाँ बहती हैं और चन्द्रमा-तारे चमकते हैं। अपने-अपने स्वभावको लेकर सब इस संसारमें आते हैं। उनकी न प्रशंसा करनी चाहिए और न निन्दा करनी चाहिए।

प्रकृतिकी दृष्टिसे देखो तब भी सब एक हैं और आत्माकी दृष्टिसे देखो तब भी सब एक हैं। जो इनकी निन्दा-स्तुतिमें लग जाता है, उसको आत्मचिन्तन नहीं होता, भगवच्चिन्तन नहीं होता और तत्त्व-पदार्थका चिन्तन नहीं होता। वह तो लोगोंके गुण-दोषमें उलझकर ईश्वरको भूल जाता है।

हमें एक महात्माने बताया था कि जितने प्राणी होते हैं, उन सबमें गुण तो बहुत होते हैं, परन्तु एकाध दोष भी होता है। वे दोष वैसे ही होते हैं— जैसे माँ अपने बच्चेके शरीरमें काला तिलक कर देती है, डिठौना लगा देती है, जिससे कि किसीकी नजर न लग जाये। इसीलिए भगवान् सबके जीवनमें एकाध दोष भी डाल देते हैं। वह डिठौनेकी तरह देखने लायक नहीं होता। महाकवि कालिदासका वचन है—

एकोऽपि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवांकः।

इसका अर्थ है कि बहुत सारे गुणोंमें एक दोष डूब जाता है, वैसे ही जैसे चन्द्रमाकी आह्लादमयी रश्मियोंमें उसका कलंक डूब जाता है। इसी प्रकार दोष-ही-दोष देखने वाला स्वयं दोषी हो जायेगा और गुण-ही-गुण देखनेवाला स्वयं गुणी हो जायेगा। इसलिए—

प्रत्यक्षेणानुमानेन निगमेनात्मसंविदा।
आद्यन्तवदसज्ज्ञात्वा निःसंगो विचरेदिह।।११.२८.९

घड़ा-वगैरह प्रत्यक्ष दीखते हैं, टूट जाते हैं और उनका नाश देखनेमें आता है, सावयव घटका नाश होता है और सावयव पृथिवीके नाशका अनुमान होता है तथा आकाशकी उत्पत्ति एवं विनाश दोनों शास्त्रसे सुने जाते हैं और आत्मानुभूतिसे आत्मातिरिक्तका अत्यन्ताभाव अनुभवमें आ जाता है। इसलिए आद्यन्तवान् पदार्थोंके अन्दर न फँसकर, निस्संग होकर इस विश्वसृष्टिमें रहना चाहिए और अपनी असंगताका निश्चय कर लेना चाहिए। असंगता कोई बोझ नहीं है, जिसको हम अपने चित्तमें हमेशा ढोते रहें। असंगता अपना स्वरूप है, अपनी सहजता है।

जैसे भगवद्विषयक निश्चयसे आत्म-समर्पण हो जाता है, वैसे ही ब्रह्मात्मैक्य-सम्बन्धी निश्चयसे द्वैत-प्रपंचका बोध हो जाता है। बोधसे बाध होता है। यह निश्चयरूप है। इसकी प्रक्रिया बतायी गयी कि किस प्रकार मनुष्यको विवेक करना चाहिए और विवेक करके देह क्या है, आत्मा क्या है, इसको अलग-अलग करना चाहिए। जबतक आत्मा और देह-ये दोनों एकमें मिले रहते हैं, इनका अलगाव-विवेक नहीं किया जाता तबतक मनुष्य देहके धर्ममें, देहके अधर्ममें, देहके नरक-स्वर्गमें, देहके राग-द्वेषमें, देहके सुख-दुःखमें फँसा रहता है।

महात्माओंका सत्संग इस फँसावको तोड़नेके लिए है। लेकिन यदि कोई यह कहे कि आओ, हम तुमको अजर-अमर बना देते हैं तो कभी उसके चक्करमें नहीं पड़ना चाहिए। क्योंकि 'यद् जन्यं तद् अनित्यं'—जो आकृतियाँ बनती हैं वे मिटती हैं, लेकिन तत्त्व न बनता है, न मिटता है। नाम रखे जाते हैं और बदल जाते हैं, लेकिन वस्तु कभी बदलती नहीं है। इसलिए जब ब्रह्मा-विष्णुकी आकृतियाँ बनीं तब उनकी आयु निश्चित हो गयी। ब्रह्माण्डका विध्वंस होने पर उसमें ब्रह्मा-विष्णु-महेशकी जितनी भी आकृतियाँ हैं, वे सब ईश्वरके साथ एक हो जाती हैं। इसी तरह तत्त्वज्ञानसे अविद्याकी उपाधि बाधित होने पर प्रत्येक विशेष निर्विशेष परमात्माके साथ एक हो जाता है।

हमारे एक महात्माने बताया कि यदि तुम निर्विकारताकी कल्पना करते हो तो निर्विकार परमात्मासे एक हुए बिना कभी निर्विकार हो नहीं सकते। जिसमें काम है, क्रोध है, लोभ है, मोह है शान्ति है, शृंगार है, अद्‌भुत है, बीभत्स है, उसके साथ एक होकर तुम कभी निर्विकार नहीं हो सकते। निर्विकार होने के लिए निर्विकारसे एक होना पड़ेगा। जो निर्विकार सत्यको स्वीकार नहीं करता, वह तो परमात्माको भी स्वीकार नहीं करता।

इसलिए सिद्धियोंके चक्करमें न पड़कर, देहको अमर बनानेके फेरमें न पड़कर सत्संगके द्वारा, विवेकके द्वारा, आत्मानुभूतिके द्वारा जो द्वैत-प्रपंच दिखाई पड़ रहा है, इसको बाधित करो। बाधित करनेका अर्थ मिटाना नहीं होता। क्योंकि यह वस्तु-स्वरूपमें तात्त्विक नहीं है, केवल प्रातीतिक है, प्रातिभासिक है।

इसके बाद उद्धवजीने कहा कि महाराज, आपने जो बताया कि किसीकी निन्दा न करो, स्तुति न करो, तत्त्वरूपसे सबको एक देखो— यह लोगोंके लिए बहुत दुर्गम है। मैं इस तत्त्वको जीवनमें लाना बहुत कठिन समझता हूँ। इसलिए आप मुझको तो सीधी-सादी कोई बात बताइये।

भगवान्‌ने कहा कि उद्धव ठीक है। अपने दिलकी बात तुमने कह दी।

अब सुनो, मैं बड़ी खुशीसे तुमको सीधी-सादी बात बताता हूँ। सबसे बढ़िया धर्म यह है-

कुर्यात् सर्वाणि कर्माणि मदर्थं शनकैः स्मरन्।
मय्यर्पितमनश्चित्तो मद्धर्मात्ममनोरतिः।।११.२९.९

मेरे भक्तको चाहिए कि वह अपने सारे कर्म मेरे लिए ही करे और धीरे-धीरे मेरे स्मरणका अभ्यास बढ़ाये। ऐसा करने पर कुछ ही दिनोंमें उसके मन और चित्त मुझमें समर्पित हो जायेंगे।

इति सर्वाणि भूतानि मद्भावेन महाद्युते।
सभाजयन् मन्यमानो ज्ञानं केवलमाश्रितः।।
ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिंगके।
अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक् पण्डितो मतः।।
नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात्।
स्पर्धासूयातिरस्काराः साहंकारा वियन्ति हि।।

११.२९.१३-१५

उद्धव, जो साधक केवल ज्ञानदृष्टिका आश्रय लेकर सम्पूर्ण प्राणियों और पदार्थोंमें मेरा दर्शन करता है, उन्हें मेरा ही रूप मानकर उनका सत्कार करता है तथा ब्राह्मण, चाण्डाल, चोर, सूर्य, चिनगारी, कृपालु एवं क्रूरमें समदृष्टि रखता है, उसे ही सच्चा ज्ञानी समझना चाहिए। जब निरन्तर सभी नर-नारियोंमें मेरी ही भावना की जाती है तब थोड़े ही दिनोंमें साधकके चित्तसे स्पर्धा, ईर्ष्या, तिरस्कार और अहंकार आदि दोष दूर हो जाते हैं।

देखो, गीतामें भी भगवान्‌ने यही कहा है कि जो मुझको सब भूतोंमें और सब भूतोंको मुझमें देखता है, वह योगी है, समदर्शी है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।६.२९

तो, सबमें एक मुझ परमेश्वरका दर्शन करो और यह भी देखो कि सब मुझमें नहीं है—'वदन्ति तत् तत्त्वविदः'। मैं ही जीव हूँ, मैं ही ईश्वर हूँ, मैं ही जगत् हूँ। एक ही सत्य-स्वरूप मैं सबमें हूँ। सत्य क्या है ? जो सबमें अखण्ड सत्ता है, प्रत्यक्चैतन्याभिन्न है, उसीका नाम है सत्य।

जो इस सत्यकी भावना करेगा, वह किसीसे स्पर्धा नहीं करेगा, वह किसीसे यह होड़ नहीं लगायेगा कि मैं तुमसे आगे बढ़ता हूँ। किसी के गुणमें दोष-बुद्धि नहीं करेगा। किसीका तिरस्कार नहीं करेगा, उसका अहंकार नष्ट हो जायेगा।

उद्धव, सबसे सुगम उपाय है समस्त प्राणियोंके प्रति भगवद्भाव। भगवद्भाव करनेवाला यह अनुभव करे कि फूल अपनी सुन्दरता और सुगन्धसे ईश्वरकी पूजा कर रहा है। यह पृथिवी और इसके सर्वगन्ध भगवान्‌की पूजामें संलग्न हैं। जलका सम्पूर्ण रस भगवान्‌की पूजामें संलग्न है। तेजका समग्र प्रकाश भगवान्‌को प्रकाशित करनेमें लगा हुआ है। वायु अपने स्पर्शके द्वारा भगवान्‌की पूजा कर रहा है। आकाश अपने शब्दके द्वारा भगवान्‌की पूजा कर रहा है। भगवान् ही पूजाकी सामग्री है और भगवान्‌की ही पूजा हो रही है। तुम स्वयं अपने आपमें अमृतका अनुभव कर रहे हो। इसलिए किसीसे भेदभाव मत करो।

अरे बाबा, ब्राह्मण, कसाई, चोर,सूर्य, चिनगारी, क्रूर और अक्रूरके द्वारा जो खेल हो रहा है, होने दो। खेल तो खेल ही है। 'खे' माने आकाश, शून्य, ब्रह्म। इसलिए 'खे' लीयते'—सारा-का-सारा खेल आकाशमें, शून्यमें, ब्रह्ममें लीन हो जायेगा।

अन्ततोगत्वा यह सब-का-सब मनोविलास है, शून्य भित्ति पर चित्र है, परब्रह्म परमात्मा विलास है, आत्माका उल्लास है। जो इसमें समदृक् है, उसीका नाम पण्डित है। भक्ति भावका अर्थ ही यह है कि यह देखो श्याम,यह देखो श्याम, श्याम-ही-श्याम ! जहाँ सर्वत्र अपने इष्टका दर्शन नहीं होता, वह भक्ति क्या है ? इसलिए सर्वत्रसर्वमें भगवान्‌का जो दर्शन है, उसीको भागवत-धर्म बोलते हैं और यह यदि किसी भी प्रकार जीवनमें आ जाये तो समझ लो कि भागवत-धर्मका अवतरण हो गया।

परन्तु यदि कोई कुत्तेके खदेड़ने पर भयभीत होकर भाग रहा हो और उसके मनमें यह भाव हो कि मैं भागकर भगवान्‌के चरणोंमें लिपट जाऊँगा तो उसका कुत्तेके भयसे भागना भी भागवत-धर्म ही है। भक्तिमें यह नहीं देखा जाता कि निमित्त क्या है, यह नहीं देखा जाता कि क्रिया क्या है, यह देखा जाता है कि उद्देश्य क्या है। अधिकारी-प्रधान होता है स्मार्त-धर्म और उद्देश्य-प्रधान होता है भागवत-धर्म। जो इसको जीवनमें उतार लेता है, वह परमकल्याण का भाजन हो जाता है।

अन्तमें भगवान्‌ने उद्धवसे कहा-जब मनुष्य हाथ जोड़कर मेरी ओर मुँह करके खड़ा हो जाता है, अपने आपको मुझे समर्पित कर देता है तब उसके कर्त्तव्य समाप्त हो जाते हैं और वहाँसे मेरा कर्तव्य प्रारम्भ होता है।

मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो मयाऽऽत्मभूयाय च कल्पते वै।।

११.२९.३४

'विचिकीर्षितो मे—इसका अर्थ है 'विशिष्टं कर्त्तुं इष्टः' अर्थात् मैं उसको एक विशिष्ट शिष्टके रूपमें बना देना चाहता हूँ। फिर तो वह मुझसे एक हो जाता है, मेरी आँखोंसे देखता है, मेरे कानसे सुनता है और मेरी बुद्धिसे विचार करता है। उसके अपने कान नहीं होते, अपनी नाक नहीं होती, अपनी आँखें नहीं होतीं।

देखो बाबू, जहाँतक ईश्वरसे मतभेद रखोगे, दुःखी रहोगे। आपको दुःख होता ही तब है, जब आप ईश्वरकी राय से अपनी राय नहीं मिलाते। जहाँ ईश्वरके मत-से-मत मिला कि सारे दुःख मिट जाते हैं।

अब भगवान्‌का उपदेश सुनकर उद्धवजी गद्‌गद् हो गये।वे उनके पाससे जाना नहीं चाहते थे। उनकी आँखोंमें आँसू भरे हुए थे, शरीरमें रोमांच हो रहा था। वे बारंबार श्रीकृष्णके चरणोंमें गिर पड़ते थे। लेकिन श्रीकृष्णको अपनी लीला संवरण करनी थी। इसीलिए उनकी आज्ञासे उद्धव बदरीनाथ चले गये।

इधर लीला-संवरण करनेके लिए उद्यत भगवान् श्रीकृष्णकी सलाहसे यदुवंशी लोगोंने यह निश्चय किया कि अब द्वारका में तो शापवश उपद्रव होने लगे हैं, इसलिए शापमुक्त होनेके लिए प्रभास क्षेत्रमें चलना चाहिए क्योंकि वहाँ दक्षके शापसे चन्द्रमाको मुक्ति मिली थी।

उनका यह निश्चय कितना आश्चर्यजनक था कि भगवान्‌के धाम द्वारकामें तो शाप-मुक्ति नहीं होगी और प्रभास-क्षेत्रमें जानेसे शाप-मुक्ति हो जायेगी। उनको भगवान्‌के धाममें तो श्रद्धा नहीं रही और प्रभास क्षेत्र में श्रद्धा हो गयी।

लेकिन भगवान्‌की इच्छा ही ऐसी थी, इसलिए प्रभास-क्षेत्र जानेपर सब लोगोंने स्नान-तर्पण तो किया, लेकिन जब खाने-पीनेका समय आया तब न जाने क्या-क्या खाया और पीया-'भुक्त्वा पीत्वा च वारुणीम्।' इससे उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी और वे आपसमें लड़ने लगे। उनमें अनेक दल हो गये। वहाँ और कोई अस्त्र-शस्त्र तो था नहीं, वही एरका घास खींच-खींचकर एक दूसरेको मारने लगे।

बलरामजी और भगवान् श्रीकृष्णने उनको समझाने का प्रयास किया। लेकिन जब बुद्धि विपरीत हो जाती है तब अपना हितैषी भी शत्रु लगने लगता है। इसलिए उन लोगोंने राम-कृष्णपर भी आक्रमण कर दिया। फिर तो राम-कृष्णने भी एरका उठाया और उससे वे उनका संहार करने लगे। विनाशका समय तो उपस्थित था ही। सब-के-सब वहीं समाप्त हो गये। श्रीकृष्णके सामने ही उनके उच्छृंखल पुत्र-पौत्र तथा सगे-संबंधी ध्वस्त हो गये।

जैसा कि पहले कहा चुका है, भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञासे उद्धव बदरीनाथ चले गये थे। द्वारकामें केवल अनिरुद्धके पुत्र वज्रनाभ रह गये थे। प्रभास-क्षेत्रमें जबसब लोगोंके शरीर पूरे हो गये तब बलरामजीने समाधि लगा ली। प्रभास-क्षेत्रमें, जहाँ उन्होंने समाधि लगाकर अपने शरीरका परित्याग किया था, वहाँ उनकी शेषगुफा अभी भी है। श्रीकृष्ण भगवान् पीपलके पेड़के नीचे बैठ गये थे। वहाँ उनका एक पाँव दूसरे पाँव के ऊपर था। उनको हरिण समझकर जरा व्याधने बाण मारा और वह बाण उनको लग गया। जरा माने बुढ़ापा होता है। यह जरा व्याध सबके पीछे ही रहता है।

जैन लोगोंमें यह बात प्रसिद्ध है कि कर्मका फल सबको भोगना पड़ता है। वे ईश्वरको तो मानते नहीं, सबको जीव ही मानते हैं। उनमें पाँच बातें नहीं मानी जातीं—ईश्वर, वेद, ब्राह्मण, होमात्मक यज्ञ और तीर्थ-स्नानसे शुद्धि। वे लोग कहते हैं कि श्रीराम और श्रीकृष्ण आदिको भी कर्मका फल लगता है। श्रीरामचन्द्रने जिस बालिको छिपकर बाण मारा था, वही बालि जरा व्याध बना और उसने श्रीकृष्णके पाँवमें बाण मारा।

परन्तु यह बात जीवके लिए सच्ची हो सकती है, ईश्वरके लिए नहीं। ईश्वर कर्मफलका भोक्ता नहीं होता। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते।।४.१४

इसका अर्थ है कि ईश्वर तो कर्मफलका अभोक्ता होता ही है। जो इस बातको जानता है, वह स्वयं भी कर्म और कर्मफलसे मुक्त हो जाता है। इसलिए यह कहना कि ईश्वरको कर्मका फल भोगना पड़ता है, बिल्कुल गलत है।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, तुम जानते हो कि जिन भगवान् श्रीकृष्णने अपने मृत गुरुपुत्रको यमलोकसे सशरीर लौटा लिया था और स्वयं तुमको ब्रह्मास्त्र-दग्ध होने पर भी बचा लिया था, उन्होंने अपने शरीरको क्यों नहीं रख लिया ? भगवान्ने सोचा कि यदि मैं शरीर रख लूंगा तो संसारमें जो सन्त-महात्मा और ज्ञानी लोग होंगे वे भी कहेंगे कि हम लोगोंको भी अपने शरीरको रख लेना चाहिए। उनका शरीर-प्रेम बना रहेगा, जबकि उनके लिए आदर्श यही है कि वे शरीर रखनेकी चेष्टा न करें।

तथाप्यशेषस्थितिसम्भवाप्ययेष्वनन्यहेतुर्यदशेषशक्तिधृक्।
नैच्छत् प्रणेतुं वपुरत्र शेषितं मर्त्येन किं स्वस्थगतिं प्रदर्शयन्।।
११.३१.१३

इसके बाद कथा आती है कि भगवान्‌का जो रथ था, वह घोड़ों सहित उड़ गया। उसके साथ भगवान्‌के आयुध भी चले गये। सारथि दारुकको उन्होंने समझा दिया कि तुम द्वारका जाकर वसुदेवजी और उग्रसेन आदिको सब समाचार कह देना। इसके अनुसार दारुकने वहाँ जाकर कह दिया। फिर तो वहाँ हाहाकार मच गया। बलरामजीकी पत्नियाँ उनके शरीरके साथ सती हो गयीं। श्रीकृष्णकी पत्नियोंको उनका शरीर नहीं मिला, इसलिए वे साथमें तो सती नहीं हुईं, अपने-आप ही प्रज्वलित हो गयीं।

देखो, भगवान्‌का श्रीविग्रह भौतिक दृष्टिसे एक था, आधिदैविक दृष्टिसे दूसरा था और आध्यात्मिक दृष्टिसे तीसरा था। आध्यात्मिक दृष्टिसे तो श्रीकृष्ण सबके आत्मा हैं—'आत्मानं अखिलात्मनाम्।' जन्ममरण उनका स्पर्श नहीं करता। आधिदैविक दृष्टिसे उनका श्रीविग्रह दिव्य है, चिन्मय है, मंगलमय है और उसके धारणा-ध्यानसे प्राणियोंका कल्याण होता है। उस दैवी शरीरका कभी भी दाह नहीं होता, इसीलिए उसको उन्होंने जलाया नहीं, उसके साथ ही अपने धाममें प्रवेश किया—

लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमंगलम्।
योगधारणयाऽऽग्नेय्यादग्ध्वा धामाविशत् स्वकम्।।११.३१.६

लौकिक दृष्टि से भगवान्‌का जो श्रीविग्रह था, उसके बारेमें पुराणोंमें अनेक प्रकारकी कथाएँ आती हैं। पद्मपुराणमें यह कथा है कि उनका भौतिक विग्रह समुद्रमें बहता हुआ जगन्नाथपुरीतक गया। वहाँ भीलोंने पकड़कर उसकी पूजा की और उसके बाद राजा इन्द्रद्युम्नने उसी विग्रहके लिए जगन्नाथपुरीका मन्दिर बनवाया। यह कथा आप नीलाचलपुरीके माहात्म्य-विभागमें देख सकते हैं।

महाभारतमें तो स्पष्ट रूपसे लिखा है कि लोगोंको भगवान् श्रीकृष्णका शरीर प्राप्त हुआ—

तपः शरीरे रामस्य वासुदेवस्य चोभयोः।
अन्विष्य दाहयामास पुरुषैराप्तकारिभिः।।

इस प्रकार भगवान्‌के विग्रहकी गति लौकिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक दृष्टिसे अलग-अलग हुई। सभी दृष्टियोंसे भगवान्‌ने अपने जगन्मंगलमय श्रीविग्रहकी स्थापना लोगोंके हृदयोंमें करके अपने परमधाममें गमन किया।

इसके बाद बारहवां स्कन्ध प्रारम्भ होता है। इसमें श्रीशुकदेवजी महाराजने कलियुगके राजाओंका उनके नाम ले-लेकर वर्णन किया और यह बताया कि कलियुगमें कैसे अधर्मकी वृद्धि हुई।

तदनन्तर कलियुगके दोषोंसे बचनेका उपाय बताते हुए श्रीशुकदेवजी महाराजने परीक्षितको बताया कि यद्यपि कलियुग दोषोंका खजाना है, परन्तु इसमें एक बहुत बड़ा गुण है। वह गुण यही है कि इसमें श्रीकृष्णका नाम-संकीर्तन करने मात्रसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। सत्ययुगमें भगवान्‌का ध्यान, त्रेतामें यज्ञाराधन और द्वापरमें भगवान्‌की पूजासे जो फल मिलता है वह कलियुगमें केवल उनका कीर्तन करनेसे प्राप्त हो जाता है—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसंगः परं व्रजेत्।।
कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्।।

१२.३.५१.५२

देखो, राजाश्रय भी परमात्मा है, धर्माश्रय भी परमात्मा है, कालाश्रय भी परमात्मा है और प्रलयाश्रय भी परमात्मा है।

श्रीशुकदेवजी महाराजने परीक्षितको चार प्रकारके प्रलय बताये-एक नित्य प्रलय, दूसरा नैमित्तिक प्रलय, तीसरा प्राकृत प्रलय और चौथा आत्यन्तिक प्रलय। आत्यान्तिक प्रलयका ही नाम मोक्ष है। लेकिन यह मोक्ष कहींसे आता-जाता नहीं है और न कुछ होता-हवाता है, नित्य मुक्त है।

एक बार श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजसे मैंने पूछा कि महाराज, जीवन्मुक्ति बड़ी कि विदेह-मुक्ति ? वे बोले कि देखो भाई, दोनोंमें से कोई भी बड़ी नहीं है। अविद्याकी निवृत्तिसे उपलक्षित-अविद्याकी निवृत्ति होने पर जो स्वयं-प्रकाश, अधिष्ठानस्वरूप, प्रत्यक्‌चैतन्याभिन्न अद्वितीय ब्रह्म है वह अपनी आत्मा है और उसी आत्माका नाम मुक्ति है। वह कहीं से प्राप्त नहीं होती, केवल अज्ञानकी निवृत्तिमात्रसे उपलक्षित आत्माका नाम ही मुक्ति है।

यह आत्यन्तिक मुक्ति परीक्षितको तब प्राप्त हुई जब श्रीशुकदेवजी महाराजने अन्तमें उनको इस प्रकारका उपदेश किया।

अहं ब्रह्म परं धाम ब्रह्माहं परमं पदम्।
एवं समीक्षन्नात्मानमात्मन्याधाय निष्कले।।
दशन्तं तक्षकं पादे लेलिहानं विषाननैः।११.१२
न द्रक्ष्यसि शरीरं च विश्वं च पृथगात्मनः।।१२.५.११.१२

परीक्षित, तुम अनुसंधान करो कि यह जो त्वं पद, अंह-पद का लक्ष्यार्थ साक्षी शुद्ध चेतन है, यही परंब्रह्म सर्वाधिष्ठान अद्वितीय तत्त्व है और वह तुम स्वयं हो। कहो कि मैं वह हूँ, मैं वह हूँ। ऐसा मत सोचना कि कहीं ईश्वर

तुम्हारे अन्दर व्याप्त है अथवा तुम ईश्वरके अन्दर व्याप्त हो। यहाँ तो दोनों एक हैं, अभिन्न हैं। इसे फिरसे सुन लो कि तुम ईश्वर और ईश्वर तुम। यह नहीं कि जीव ईश्वरमें ईश्वर जीवमें मिलकर एक हो गया। जीव ईश्वरसे और ईश्वर जीवसे मिलकर एक नहीं होता। तत्त्वतः दोनों मुक्त हैं। इस प्रकार अपनी आत्माका अनुसंधान करो परीक्षित, और अनुभव करो कि आत्मा साक्षात् ब्रह्म है।

अब सारी दुनिया को छील-छीलकर, काट-कटकर, दुरुस्त करने वाला तक्षक-जिसको विश्वकर्मा कहो, काल कहो या सर्प कहो, भले आकर तुम्हारे पैरोंमें डँस ले, लेकिन तुमको बिल्कुल मालूम नहीं पड़ेगा और तुम देखोगे कि यह शरीर अथवा विश्व तुमसे पृथक् नहीं है। तुम्हारी दृष्टि इस प्रकार हो जायेगी कि तुम शरीर अथवा विश्वको अपनेसे पृथक् नहीं देखोगे।

यह उपदेश करनेके बाद श्रीशुकदेवजी महाराजने राजा परीक्षितसे पूछा—क्योंजी, तुमने मेरी बातोंको मन लगाकर सुना और तुम्हारे अज्ञानका नाश हुआ ?

परीक्षितने कहा कि हाँ महाराज, मेरे अज्ञानका नाश हो गया। आपने मुझको ज्ञान-विज्ञानका उपदेश किया, साक्षात् परब्रह्म परमात्मा भगवान्का उपदेश किया और इस अन्धकारसे मुझे पार कर दिया। अब मैं अपना मन और वाणी अपने-आपमें निरुद्ध करता हूँ—

अज्ञानं च निरस्तं मे ज्ञानविज्ञाननिष्ठया।।११.६.७

भवता दर्शितं क्षेमं परं भगवतः पद्म्।।१२.६.७

इसके बाद परीक्षितने श्रीशुकदेवजी महाराजकी पूजा की और वे तुरन्त उनसे विदा लेकर सबके देखते-देखते वहाँसे चले गये। उधर परीक्षित गंगा-किनारे आसन लगाकर बैठ गये और परमात्माका चिन्तन करने लगे। इस सृष्टिमें जो पैदा होते हैं, उनके साथ काल लगा ही रहता है। इसलिए तक्षक आया और उसने डँस लिया। उससे परीक्षितका शरीर भस्म हो गया। लेकिन उनका शरीर तो पहले ही ज्ञानाग्नि-दग्ध हो गया था।

देखो, राजा परीक्षितका शरीर पहले ब्रह्मास्त्रसे दग्ध हुआ था और तब भगवान्ने बचाया था। अब जब ब्राह्मणके वाक्यास्त्रसे-ब्रह्मदण्डास्त्रसे परीक्षितका शरीर दग्ध हुआ तब श्रीमद्भागवतके द्वारा बचाया गया। लेकिन ज्ञानाग्नि-दग्ध होने पर बचे हुए शरीरका लौकिक अग्नि दाह नहीं होता, इसलिए अलौकिक अग्नि से राजा परीक्षितका दाह हुआ। वाङ्मय शापका वाङ्मय निवारण हुआ। राजा परीक्षित मुक्त हो गये।

श्रीशुकदेवजी महाराज के प्रस्थानके बाद सूत-शौनक संवाद प्रारम्भ हो गया। सूतजी कहते हैं कि जब परीक्षितके पुत्रने सर्प-यज्ञ किया और उसमें तक्षक भस्म होने लगा तब बृहस्पतिने उसका निवारण कर दिया।

इसके बाद शौनकजीके पूछने पर सूतजीने वेदोंका विभाजन कैसे हुआ और उनकी शाखा-प्रशाखाएँ कैसे फैलीं, इनका वर्णन किया।

बीचमें एक प्रसंग यह आ गया कि वैशम्पायनसे कोई हिंसा हो गयी। उसका प्रायश्चित्त स्वयं न करके उन्होंने अपने शिष्योंको प्रायश्चित्त करनेके लिए कह दिया और वे सब प्रायश्चित्त करने लगे। उसी समय वैशम्पायनके दूसरे शिष्य याज्ञवल्क्यने उनसे कहा कि गुरुदेव, आपके वे तीतर-बटेर सरीखे छोटे-छोटे नन्हें-मुन्ने शिष्य क्या प्रायश्चित्त करेंगे ! मैं आपका ऐसा शिष्य हूँ जो अकेले ही प्रायश्चित्त कर लूँगा। इसपर वैशम्पायन नाराज हो गये और बोले कि तुम मेरे इन ब्राह्मण, ब्रह्मचारी शिष्योंको तुच्छ समझकर इनका अनादर करते हो तो जाओ मेरी पढ़ायी विद्या तुम्हारे काम में नहीं आयेगी। छोड़ दो मेरी पढ़ायी विद्याको। याज्ञवल्क्यने गुरुकी आज्ञा मानकर उनकी पढ़ायी विद्याका परित्यागकर दिया। उसके बाद उन्होंने तपस्या, पूजा व आराधना की। सूर्य प्रसन्न हुए उन्होंने याज्ञवल्क्यको उन मन्त्रोंका उपदेश किया, जो किसीको प्राप्त नहीं हुए थे। फिर उनके द्वारा यजुर्वेद की शाखाएँ चलीं।

इसके अनन्तर शौनकजीके पूछने पर सूतजीने भगवान्‌के अंगों, आभूषणों और आयुधोंके सम्बन्धमें बताया कि पुरुषरूप भगवान्‌के चरण पृथिवी हैं, मस्तक स्वर्ग है, नाभि अन्तरिक्ष है, नेत्र सूर्य है, नासिका वायु है और कान दिशाएँ हैं।

भगवान् अपने वक्षस्थल पर कौस्तुभ-मणिके बहाने जीव-चैतन्यरूप आत्मज्योतिको और श्रीवत्सरूपसे उसकी प्रभाको धारण करते हैं। उनकी वनमाला माया है, पीताम्बर छन्द है और यज्ञोपवीत प्रणव है। उनके कुण्डल सांख्ययोग-रूप हैं और वे मुकुटके रूपमें ब्रह्मलोकको धारण करते हैं। मूल प्रकृति ही उनकी शेष-शैया है और धर्म, ज्ञान आदि युक्त उनका नाभि-कमल है।

इसी प्रकार वे प्राणतत्त्व-रूप कामोदकी गदा, जलतत्त्व-रूप पांचजन्य शंख और तेजस्तत्व-रूप सुदर्शन-चक्र धारण करते हैं। उनका खड्ग निर्मल आकाशरूप है, ढाल अज्ञानरूप है, शार्ङ्गकाल-रूप है और तरकस कर्म-रूप है। इन्द्रियाँ ही भगवान्‌के बाण हैं और क्रियाशक्ति-युक्त मन रथ है।

भगवान्‌की पूजा का स्थल सूर्य-मण्डल अथवा अग्नि-मण्डल है, अन्तःकरणकी शुद्धि मन्त्र-दीक्षा है और समस्त पापोंको नष्ट कर देना ही भगवान्‌की पूजा है।

इस प्रकार सूतजीने शौनकादि ऋषियोंको पंचरात्र आदि तन्त्रोंके अनुसार लक्ष्मीपति भगवान्‌के पूजन-आराधन का विधान बताया।

इसके बाद शौनकजीके पूछने पर सूतजीने मार्कण्डेय ऋषिकी कथा प्रारम्भ की। उन्होंने बताया कि मृकण्ड ऋषिके पुत्र मार्कण्डेयजी भगवान्‌की आराधना करते थे। उनको किसी प्रकार की कोई कामना नहीं थी। असलमें जो भगवान्‌से अपनी किसी कामना की पूर्ति कराना चाहता है वह उस काम्य वस्तुको भगवान्‌की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण समझता है अथवा भगवान्‌के सामने आने पर उनसे स्वयं भगवान्‌को न माँगकर कोई खिलौना माँगता है। तो यह भगवान् का आदर नहीं हुआ।

मार्कण्डेयजीके मनमें कोई वर लेनेकी इच्छा नहीं होने पर भी जब नर-नारायण उनके पास आये और उनकी स्तुतिसे प्रसन्न होकर वर माँगनेके लिये बोले तब मार्कण्डेयजी ने प्रार्थना की कि महाराज, आपका दर्शन हो गया, मुझे दूसरी कोई चीज चाहिए नहीं। लेकिन आपकी माया क्या होती है, यह मैं देखना चाहता हूँ। कृपा करके एक बार अपनी माया दिखा दीजिये।

मार्कण्डेयजीकी बात सुनकर भगवान्‌को बड़ा आश्चर्य हुआ। लेकिन उन्होंने कहा कि अच्छा, मेरी माया देख लेना।

एक दिन मार्कण्डेयजी सायंकाल सन्ध्या-वंदन करने के लिए जब सुभद्रा नदीके तटपर बैठे थे तब उनको मालूम पड़ा कि समुद्र चारों ओरसे दुनियाको डुबाता हुआ उनकी ओर आ रहा है। इतनेमें लहरें आयीं और मार्कण्डेयजी उसमें बह गये। लेकिन मरे नहीं। उन्होंने सारी दुनियाको डूबते-बहते देखा। कभी उनको समुद्री जन्तु निगल जायँ तो कभी कोई दूसरे निगल जाएँ, परन्तु फिर उनको उगल भी दें। इस प्रकार वे कल्पोंतक भ्रमण करते रहे। अन्तमें उन्होंने देखा कि एक टीले पर पीपलका पेड़ है और उसके पत्ते के दोनेमें कोई छोटा-सा बालक सो रहा है।

देखो, इस प्रसंगमें वेद भगवान्‌की एक बात ! वे कहते हैं कि अरे ! ओ मनुष्यो, तुम्हारा यह गाँव पीपलके पेड़ पर बसा है और जैसे पीपलके पत्तेपर एक बूँद पानी लटक रहा हो और मालूम पड़े कि अब गिरा, तब गिरा-ऐसी ही तुम्हारी यह आयु है।

तो मार्कण्डेयजी ने देखा कि बालक अपने पैरका अँगूठा चूस रहा है। यहाँ महात्माओंने यह कहा है कि वह बालक साक्षात् बालगोपाल भगवान् थे।

अपने पैरका अँगूठा इसलिए चूस रहे थे कि देखें इसमें ऐसा कौन सा स्वाद है कि लोग इसके जल ले-लेकर पीते रहते हैं।

मार्कण्डेयजी जब उस बालकके पास गये तब उसकी साँसके साथ उसके पेटके भीतर चले गये। उन्होंने भीतर जाकर कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंको देखा। यहाँतक कि उनको सुभद्रा नदी और अपना आश्रम भी दिखाई पड़ा। उन्होंने अपनेको ध्यान करते हुए भी देखा।

इसके बाद वे बालककी साँसके रास्ते ही बाहर निकल आये। जब उस बालकको प्रणाम करने चले तो वहाँ न कोई बालक था और न दूसरा कोई दृश्य था। उन्होंने देखा कि वही-का-वही स्थान है, वही दिन है, वही समय है और वे पहलेकी तरह बैठकर सन्ध्या-वन्दन कर रहे हैं।

उन्होंने सोचा कि अरे, मैंने यह सब क्या देखा ? फिर उनकी समझमें आ गया कि यही तो मायाका खेल है। उसने परमात्माको ढक लिया, सत्यको ढक लिया और जो नहीं है उसको जादूके खेलकी तरह प्रकट कर दिया। मार्कण्डेयजी बड़े ही आश्चर्यचकित हुए। वे फिर भगवान्के उपासना-ध्यानमें लग गये।

एक दिन भगवान् गौरी-शंकर उनके पाससे निकले तो गौरीजीने शंकरजीसे कहा कि स्वामी, देखो यह विद्वान् ब्राह्मण बड़ी भारी तपस्या कर रहा है, चलो इसको कुछ वर दे दें। वे लोग वहाँ गये तो मार्कण्डेयजी ध्यानमें इस तरह मग्न थे कि उन्होंने उनको देखा ही नहीं। शंकरजीने अपने संकल्पसे उनका ध्यान तोड़ दिया। अब मार्कण्डेयजीने आँखे खोलीं तो देखा कि सामने भगवान् गौरीशंकर खड़े हैं। माकण्डेयजीने उनको प्रणाम किया और उनकी पूजा-स्तुति की। शंकरजीने कहा कि अब वर माँगो। मार्कण्डेयजीने उत्तर दिया कि महाराज, एक बार वर माँगकर इतना माया का खेल देख लिया। उससे मेरी बड़ी दुर्दशा हुई। अब आपसे क्या माँगें ? फिर भी आप मुझे एक वर यह दे दीजिये कि भगवानमें, आपमें और महात्माओंमें मेरी अचल भक्ति हो !

भगवान् शंकर बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने उनको तीन्रों वर तो दिये ही, उनके अतिरिक्त यह वर भी दे दिया कि तुम्हारी दीर्घायु होगी और तुम पुराणाचार्य बनोगे।

अब सूतजी श्रीमद्भागवतकी विषय-सूची और श्लोक संख्या बताने के बाद कहते हैं—

सर्ववेदान्तसारं यद् ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम्।
वस्त्वद्वितीयं तन्निष्ठं कैवल्यैकप्रयोजनम्।।१२.१३-१२

श्रीमद्भागवतमें वेदान्तका सार है। वेदान्तका सार क्या है ? उसकी पहचान क्या है ? सम्पूर्ण ब्रह्मात्मैकत्व अर्थात् ब्रह्म और आत्माकी एकता ही वेदान्तका सार है और यही उसकी पहचान है। उसमें कार्यके रूपमें, विशेषणके रूपमें कुछ द्वैत है ? नहीं-नहीं, वह अद्वितीय वस्तु है उसमें किञ्चित् भी द्वैतका सम्पर्क नहीं है। अच्छा तो सायुज्य आदि हैं ? नहीं, केवल कैवल्य है। श्रीमद्भागवतका प्रयोजन एकमात्र कैवल्य है, एकमात्र मुक्तिस्वरूपका बोध है। उसीमें श्रीमद्भागवतकी परिसमाप्ति है। फिर भी कहते हैं-

सर्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते।
तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित्।।१२.१३.१५

इस सर्व वेद-वेदान्तके सार श्रीमद्भागवतमें यदि किसीका प्रेम हो गया, उसके रसामृतसे किसीकी तृप्ति हो गयी तो फिर कहीं भी उसकी रति नहीं होगी, वह कहीं भी नहीं रमेगा। उसको संसारसे वैराग्य हो ही जायेगा, भगवान्से तो प्रेम हो ही जायेगा, दूसरे शास्त्रोंमें उसकी प्रीति नहीं रहेगी और उसकी प्रीति केवल श्रीमद्भागवतमें होगी।

अन्तमें सूतजी ने शौनाकादि ऋषियोंको बताया कि श्रीमद्भागवत महापुराण सम्पूर्ण पुराणोंका तिलक है, वैष्णवोंका परम धन है और इसमें ज्ञान-भक्ति-वैराग्य सहित नैष्कर्म्यका आविष्कार किया गया है। 'तच्छृण्वन् विपठन् विचारणपरो'—इसका जो श्रवण करता है, पठन करता है, विचार करता है, उसे भगवान्की भक्ति प्राप्त हो जाती है और वह मुक्त हो जाता है।

श्रीमद्भागवतको कोई व्याकरणादि विद्या द्वारा नहीं समझ सकता। यह भगवान्की भक्तिसे ही समझमें आता है-

भक्त्या भागवतं ग्राह्यम् नाभ्यासेन न विद्यया।

यदि कोई चाहे कि मैं विद्यासे या अभ्याससे श्रीमद्भागवतको ग्रहण कर लूंगा तो यह सम्भव नहीं है। श्रीमदभागवत तो केवल भक्त्यैकग्राह्य है—एकमात्र भक्तिके द्वारा ही इसका ग्रहण हो सकता है। इसके बाद भगवान्की वन्दनाके साथ-साथ श्रीशुकदेवजी महाराजकी वन्दना है। श्रीशुकदेवजी महाराज अपने परमानन्दमें मग्न हैं और द्वैत तो उनके अन्दर है ही नहीं। उन्होंने लोक-कल्याणके लिए केवल करुणाके वश होकर श्रीमद्भागवत-पुराण सुनाया। पहले भगवान् नारायणके हृदयमें करुणा उमड़ी और उन्होंने ब्रह्माको इसेका उपदेश दिया। उसके बाद ब्रह्मामें प्रविष्ट होकर स्वयं

नारायणने ही नारदको इसका उपदेश किया। फिर भागवत रूपसे नारदमें प्रविष्ट होकर स्वयं नारायण ही नारद हो गये। फिर नारदरूप नारायणने व्यासको उपदेश किया स्वयं भागवतमय व्यास नारायण हो गये। फिर नारायण-रूप व्यासने श्रीशुकदेवजी को उपदेश किया और श्रीशुकदेव नारायण हो गये। इस प्रकार नारायणने ही अनेक-अनेक रूप धारण करके श्रीमद्भागवतका श्रवण कराया। अन्तमें भगवान् नारायणने अपने स्वरूपभूत परीक्षितको, जिनके शरीरके मर जाने पर भी जिनकी आत्मामें स्वयं श्रीकृष्ण प्रविष्ट हो गये थे, श्रीशुकदेवजी का रूप धारण करके यह श्रीमद्भागवत महापुराण सुनाया। इसलिए श्रीमद्भागवत सम्पूर्ण पुराणों में रत्न है।

इसकी कथाके अन्तमें परम्पराके अनुसार दो श्लोक बोले जाते हैं—

भवे भवे यथा भक्तिः पादयोस्तव जायते।
तथा कुरुष्व देवेश नाथस्त्वं नो यतः प्रभो।।
नामसंकीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम्।। १२.१३.२२-२३

प्रभो, तुम मेरे स्वामी हो। जन्मजन्ममें तुम्हारे चरणोंकी भक्ति मेरे हृदयमें बनी रहे-ऐसी कृपा मेरे ऊपर करो। क्योंकि मैं तुम्हारा दास हूँ।

जिनके नामका संकीर्तन अचिन्त्य अमंगलको नष्ट करनेवाला है और जिनके चरणोंमें आत्म-समर्पणपूर्वक प्रणाम करनेसे समस्त दुःखोंका शमन हो जाता है, उन भगवान् श्रीहरिको मैं नमस्कार करता हूँ।

देखो भगवान्के नामका श्रवण करो, वर्णन करो या संकीर्तन करो, उससे सारे पाप-ताप नष्ट हो जाते हैं। पाप का नाश होता है नामोच्चारणसे और पापके फल दुःखका नाश होता है भगवान्को प्रणाम करनेसे। नाम-संकीर्तनसे पाप-नाश और प्रणाम करनेसे प्रारब्ध-नाश, दुःख-नाश—'मेटत कठिन-कुअंक भालके।'

जिसके प्रारब्धमें दुर्भाग्य और दारिद्र्य लिखा हुआ है, उसका निवारण भी भगवान्के चरणोंमें किये हुए प्रणामसे हो जाता है। भगवान्का नाम पाप और पाप के फल दुःखका नाश कर देता है।

इसलिए आइये, हम लोग तीन बार भगवान् श्रीहरि को प्रणाम करते हुए बोलें—

तं नमामि हरिं परम् ! तं नमामि हरिं परम् !!
तं नमामि हरिं परम्!!!

अब आप लोगोंसे दो बात और कह देता हूँ। इस सत्संगके आयोजक

श्रीलक्ष्मीनिवासजी बिरला और उनकी सौभाग्यवती श्रीमती ने अबकी बारका विषय इतना बढ़िया चुना कि मुझे बोलनेमें आनन्द आया। मैं समझता हूँ आप लोग भी मेरे आत्म-स्वरूप होनेके कारण श्रीमद्भागवतकी चर्चासे आनन्दित हुए हैं। इसकी ध्वनि जो वातावरणमें फैली उससे औरोंके लिए भी आनन्दका विस्तार हुआ। श्रोता-वक्ता सबको भगवान्‌के सम्बन्धमें श्रवण और मनन करनेका अवसर मिला।

आप लोगोंने बड़ी शान्तिसे कष्ट उठाकर श्रवण किया। आप लोग घरमें बढ़िया-बढ़िया फर्नीचर छोड़कर यहाँ घास पर बैठे। हवा तेज चली, धूल उड़ी, लेकिन आप लोग विचलित नहीं हुए। घास पर बैठने पर कोई कीड़ा-मकोड़ा काट गया होगा तो उसको भी आप लोगोंने सह लिया। अनेक असुविधाओंमें तपस्या करके आपलोगोंने श्रीमद्भागवतका श्रवण किया। इसलिए मैं तो आप लोगोंका कृतज्ञ हूँ। कि आपके निमित्तसे भगवान्‌के लिए, भागवतके लिए मेरा कुछ समय निकला और मेरी वाणीका सदुपयोग हुआ।

यह आप लोगोंकी महिमा है, आपका बड़प्पन है कि आप लोग मुझे ऊपर बैठा देते हैं और स्वयं नीचे बैठकर श्रीमद्भागवत का श्रवण करते हैं। जो ऊपर बैठता है, वह बड़ा नहीं होता, बड़ा तो वह होता है, जो दूसरेको अपनेसे ऊपर बैठाता है। उसकी उदारता सर्वथा सराहना करने योग्य होती है।

मैं फिर कहता हूँ कि आप लोगोंने मुझको ऊपर बैठाकर और श्रीमद्भागवत श्रवण करानेका सौभाग्य प्रदान करके मुझपर बड़ी कृपा की है। इसके लिए मेरा हृदय आप लोगोंके प्रति बहुत-बहुत कृतज्ञ है। श्रीलक्ष्मीनिवासजी बिरला और उनकी धर्मपत्नीने तो अगले सालके लिए भी सत्संगकी योजना बना ली है। इसलिए भगवान्‌ने हम सब लोगोंको स्वस्थ रक्खा तो अगले वर्ष भी इन्हीं दिनों भगवत्सम्बन्धी श्रवण-वर्णनका सौभाग्य प्राप्त होगा। भगवान् करे, श्रीलक्ष्मीनिवासजी बिरला और उनकी श्रीमतीके मनमें ऐसे सद्विचार तथा सत्संकल्प बार-बार आते रहें, जिससे लोगोंको संसार-चिन्तनसे छुटकारा पाकर भगवच्चिन्तन करनेका अवसर प्राप्त हो।

श्रीकृष्णचन्द्र भगवान्‌की जय !



भागवतामृत

यह श्रीमद्भागवत मुख्य रूपसे भगवत्पुराण नहीं है–भागवत पुराण है। **'भागवतानां पुराणं भागवतपुराणम्'**–जिसमें भगवान्‌से भी अधिक उनके भक्तोंकी महिमाका वर्णन होता है। उसका नाम भागवतपुराण होता है। स्वयं भगवान्‌ने श्रीमुखसे अपने भक्तोंकी महिमा कही है, इसलिए **'भगवता प्रोक्तं'**से भी **'भागवतम्'** बनता है। इसलिए भगवान्‌के द्वारा कहा हुआ भक्तोंकी महिमा–रूप यह श्रीमद्भागवत है।

श्रीमद्भागवतका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है कि यह सृष्टि भगवान्‌से हुई है, भगवान्‌में है और भगवान्‌में मिल जायेगी। जो वस्तु जिससे पैदा होती है, जिसमें रहती है और जिसमें लीन हो जाती है, उससे अलग नहीं होती। श्रीमद्भागवतका कहना है कि यह प्रपञ्च परमात्मासे पृथक् नहीं है, परमात्माका स्वरूप है, परमात्माका विलास है, परमात्माका उल्लास है, परमात्मा की लीला है।

श्रीमद्भागवत इसी आनन्दका सन्देश लेकर आया है। वह मनुष्यके हृदयमें ज्ञान जाग्रत करके उसको पापसे, तापसे मुक्त करता है। यह केवल पापको ही निवृत्त नहीं करता, उसके फल तापको भी निवृत्त करता है।

आइये! परमपूज्य महाराजश्री द्वारा भागवतामृतके पावन प्रसादका रसपान करें।

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति
सत्साहित्यप्रकाशनट्रस्ट

आनन्द कानन प्रेस
टेढ़ीनीम, वाराणसी • फोन : 2392337